



दिगम्बर जैन सिद्धांत दर्पण

—यानी—

प्रो० हीरालाल जी के आक्षेपों का निराकरण

[द्वितीय अंश]



लेखक—

विविध दिगम्बर जैन विद्वान्

सम्पादक—

श्रीमान पण्डित रामप्रसाद जी शास्त्री बम्बई

प्रकाशक—

दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई

(जुहारुमल मूलचन्द, स्वरूपचन्द हुकमचन्द द्वारा)

प्रथम बार ५००  वीर सं० २४७१  मूल्य स्वाध्याय

१२ दिसम्बर सन १९४४

❋ विषय-सूची ❋

ग्रन्थ के सम्पादक श्रीमान पं० रामप्रसाद जी शास्त्री बम्बई के बहुत अस्वस्थ हो जानेके कारण लेखों का क्रम यथोचित न बन सका अतः लेखक महानुभाव इस क्रमको किसी और दृष्टि से न अवलोकन करें।

भूल— २४९ से २५२ तक पृष्ठ संख्या के स्थान पर २५३ से २५६ तक की पृष्ठ संख्या भूल से दुबारा छप गई है। पृष्ठ ३२० पर दूसरे कालम की अन्तिम पंक्तिमें "पुंल्लिङ्गेनैव" शब्दके पहले 'द्रव्यतः' शब्द रह गया है। पाठक महानुभाव सुधार करलेवें।



प्रस्तावना

श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी साहिब एम० ए०, एल-एल० बी० ने दो ट्रैक्ट पुस्तक और एक पत्रक प्रकाशित किया है। दो पुस्तकों में से प्रथम पुस्तक 'शिवभूति और शिवार्य'। जिसका प्रतिवाद मैंने हिन्दी जैनबोधक शोलापुर पत्र में प्रकाशित कराया। परन्तु उस का प्रतिवाद प्रोफेसर हीरालाल जी ने जैनबोधक के उससे आगे के अङ्क में किया। अनन्तर उसका प्रतिवाद मैंने जैनबोधकके दो अङ्कों में किया। जिसका कि प्रतिवाद आजतक फिर कोई भी आपने किया नहीं है। दूसरी पुस्तक 'जैनधर्म का एक विलुप्त अध्याय' है। उसके बहुत कुछ अंशों का प्रतिवादन श्रीमान पं० दरबारीलाल जी कोठिया न्यायतीर्थ सरसावा ने अनेकान्त पत्र में प्रकाशित कराया है। ये दोनों प्रतिवाद तथा पं० परमानन्द जी शास्त्री द्वारा 'शिवभूति और शिवार्य' पुस्तक का प्रतिवाद स्वरूप लेख जो कि अनेकांत में प्रकाशित हुआ है; ये सभी लेख प्रोफेसर हीरालाल जीकी इन दोनों पुस्तकों के साथ 'दिगम्बरजैन सिद्धांत दर्पण' इस ट्रैक्ट पुस्तक में मुद्रित हैं।

तथा दूसरी पुस्तक के अवशिष्ट अंश का प्रतिवाद मैंने ही किया है जो कि मेरे ट्रैक्ट के साथ पूर्व में ही इस प्रस्तुत पुस्तक में मुद्रित है।

तीसरा पत्रक—'क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के शासनों में कोई मौलिक भेद है?' जो प्रोफेसर साहब ने प्रकाशित कराकर अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलन समिति बनारस में सुनाकर निर्णयार्थ रक्खा है। उसी के प्रतिवाद स्वरूप यह ट्रैक्ट पुस्तक है। आपकी जो पुस्तकें जिनका कि प्रतिवाद जैनबोधक और अनेकान्त में हो चुका है तथा दूसरी पुस्तक के कुछ अंश का प्रतिवाद मेरे ट्रैक्ट के साथ पूर्व में है। ये दोनों पुस्तकें केवल श्री प्रोफेसर हीरालाल जी साहब के मनोनीत इतिहासाभास कल्पना के विषय हैं। इस लिये श्री बम्बई दिगम्बर जैन समाज की दृष्टि में ये दोनों पुस्तकें इतनी नहीं खटकीं जितना कि यह (क्या दि० और श्वेताम्बर शासनों में कोई मौलिक भेद है?) पत्र खटका है।

कारण कि इसका लिखान ऐसे ढङ्ग का है कि बिना विशेष विचार के 'श्री षट्खण्डागम का विषय सामान्य दृष्टि में दिगम्बर जैन सिद्धान्त के मुख्य विषयों से विपरीत सा प्रतीत होने लगता है। दूसरे श्री कुन्दकुन्द स्वामी सरीखे प्रधान आचार्यों द्वारा

प्रतिपादित मुख्य दिगम्बर जैन सिद्धान्त के विषयों को इन्हीं आचार्यों की कृति बतलाकर इन्हीं आचार्यों द्वारा मिलाया हुआ पीछे का अर्वाचीन प्रतीत कराता है। तथा इन्हीं श्री कुंदकुन्द आदि प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों को गुणस्थान व्यवस्था और कर्म-सिद्धांत व्यवस्था की अनभिज्ञता और पक्षपात की भी प्रतीति कराता है।

इस लिये इस पत्रक का विषय दिगम्बर जैन धर्म के सिद्धांतों के लिये और प्राचीन आचार्यों के कथन के लिये पूरा खतरनाक (भयंकर) है। यह बात बम्बई दिगम्बर जैन समाज की दृष्टि में बहुत खटकी।

इसी पर से इस समाज ने विचार किया कि यदि इस पत्रक का प्रतिवाद समाज के विद्वानों द्वारा नहीं कराकर प्रकाशित किया गया तो यह पत्रक भविष्य में बहुत ही हानिकारक होगा। क्योंकि समाजमें हमेशा आगामी विरोधपक्ष रहेंगे ही। इसका निर्णय क्या? बस इसी विषयको लक्ष्यमें रखकर उस पत्रक के प्रतिवाद के लिये उस पत्रक की नकलें अपने निवेदन पत्रों के साथ मुद्रित कराई और समाज के सभी विद्वानों और उचित सज्जनों के पास भेजीं। सभी से प्रतिवाद तथा पत्रक के विरुद्ध में सम्मतियां मगाईं।

उस सपत्र पत्रक की नकल पहुंचते ही सद्धर्म श्रद्धालु विद्वानों और पंचायतियों तथा सज्जनों द्वारा प्रतिवाद और तद्विषयक सम्मतियां धड़ाधड़ आने लगीं। इनमें से सर्वप्रथम सम्मति श्रीमान पण्डित लालाराम जी शास्त्री मैनपुरी और श्रीमान पण्डित श्रीलाल जी शास्त्री अलीगढ़ की सम्मति अनेक विद्वानों की सम्मति के साथ आई। ट्रैक्टों में प्रथम ट्रैक्ट श्रीमान पं० अजितकुमार जी शास्त्री मुलतान का आया। यह ग्रीष्म ऋतु की विकट गर्मीमें बड़े ही परिश्रम से लिखा गया है। जोकि युक्तियुक्त स्व-आगम तथा परआगमों की प्रधानता लिये अपने ध्येय का साधक है। दूसरा ट्रैक्ट श्रीमान न्यायालंकार पं० मक्खनलाल जी शास्त्री मोरेना का प्राप्त हुआ। जो कि मोरेना के विद्वानों की सम्मति-सम्मत विशालकाय आगम और युक्तियुक्त है। जिस का कि प्रकाशन छोटे साइज में समुदाय रूप ट्रैक्ट सम्मति-पुस्तक से अलग हुआ है।

अनन्तर श्रीमान न्यायाचार्य पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी के तत्वावधान में सागर के प्रधान विद्वानों का लिखा हुआ ट्रैक्ट आया। इसी तरह क्रम से न्यायाचार्य श्रीमान पण्डित माणिकचन्द जी सहारनपुर, श्रीमती विदुषी चन्द्राबाई जी आरा, श्रीमान पूज्य श्री १०८ मुनि वीरसागर जी महाराज और पूज्य श्री १०८ आदिसागर जी मुनिराज की सम्मति-सम्मत उज्जैन, श्रीमान पूज्य ब्रह्मचारी सुन्दरलाल जी कैराना, न्यायज्योतिष विद्वान श्री पण्डित नेमिचन्द्र जी आरा, श्री पण्डित शिखरचन्द जी शास्त्री ईसरी, श्री न्यायतीर्थ पण्डित सुमेरचन्द जी बी० ए०, एल-एल० बी० सिवनी, श्री १०५ भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति जी बूंदी, श्री पण्डित राजधरलाल जी व्याकरणाचार्य पपौरा, उदासीन श्री प्यारेलाल जी इंदौर, पण्डित श्री इन्द्रलाल जी शास्त्री जयपुर, न्यायतीर्थ पं० जीवंधर जी शास्त्री इन्दौर, श्री पण्डित शान्तिराज जी शास्त्री नागपुर के छोटे छोटे ट्रैक्ट आये तथा और भी कुछ ट्रैक्ट श्री पूज्य मुनियों सम्मत तथा पूज्य आर्यिकाओं सम्मत अन्य श्रद्धालु श्रावकों के लिखे हुए आये हैं, जो कि अपनी अपनी बुद्धि और परिश्रम अनुगत

प्रकृत विषय के साधक हैं।

विस्तारकाय ट्रैक्टों में श्रीमान पूज्य श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज का ट्रैक्ट अपने मुख्य विषय को लिये हुए हिन्दू शास्त्र, ईसा ग्रन्थ, मुसलमान पुस्तकों के उद्धरणों से दिगम्बर जैनधर्म की मुख्य प्राचीनता का समर्थक है। दूसरा श्रीमान पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक सूरसिंह जी महाराज का आगम और युक्तियों से भरपूर अपने उद्देश की सिद्धि को लिये हुये है। तीसरा पंडितों में तर्कतीर्थ पं० झम्मनलाल जी शास्त्री भिंड का ट्रैक्ट है जिसमें आगम और युक्ति को लिये वैद्यक शास्त्रों के अनुसार नपुंसकलिंग की भेद-प्रभेद सहित सत्ता का अच्छी तरह से समर्थन किया गया है। चौथा ट्रैक्ट लेख पण्डित पन्नालाल जी सोनी शास्त्री ब्यावर का है। इसमें आगम प्रमाण इतने प्राचुर्य में हैं कि जितना किसी भी बड़े ट्रैक्ट में नहीं हैं। तथा युक्ति और परशास्त्रों के हवाले से अपने ध्येय से परिपुष्ट है। यह इनकी अतिक्लिष्ट रुग्ण अवस्था का लिखा हुआ परम परिश्रम साध्य कार्य है जो कि धर्म की सच्ची लगनी का द्योतक है।

इस प्रकार श्री साधु, साध्वी, त्यागी, विद्वान, विदुषी तथा श्रद्धालु महानुभावों के जो ट्रैक्ट लेख आये हैं वे सभी निरभिमान वृत्ति से विद्वत्तापूर्ण हैं। जो कि अपने धर्मबन्धु वर्ग के स्थितिकरण अंग के साधक हैं। उन सबका मैं हृदय से स्वागत करता हूं तथा यहां की समाज भी बड़े उदार भाव से उन का स्वागत करती है। इन ट्रैक्टों के सिवाय साधु तथा त्यागी और विद्वानों तथा पंचायतों के सज्जनों की जो जो सम्मतियां आई हैं उनका भी उदार भाव से स्वागत है। उन सम्मतियों में जैसे कि आचार्य महाराज श्री १०८ चा० चक्रवर्ती शान्तिसागर जी महाराज की सम्मति तथा विद्यावारिधि श्री पण्डित खूबचन्द जी शास्त्री आदि विद्वानोंकी सम्मतियां हैं। वे जैसी की तैसी इस ट्रैक्ट पुस्तक के साथ मुद्रित हैं। इनके सिवाय और जो सम्मतियां हैं वे ग्राम-नगर के नाममात्र से उल्लिखित हैं। यदि हम अवशिष्ट सम्मतियों को भी त्यागियों और विद्वानों की तरह प्रकाशित करते तो ट्रैक्ट पुस्तक का कलेवर बहुत ही विशाल हो जाता। अतः विशालताके भय से अन्य सम्मतियों के नाम मात्र ही ट्रैक्ट पुस्तक में रक्खे हैं। इस विषय में सम्मति-दाताओं को कुछ अनौचित्य प्रतीत हुआ हो तो साधन-पारवश्य के सम्बन्ध से क्षमा प्रार्थना की यहां संगतता है। जो एक सुदृष्टि का विषय है।

परिशिष्ट की उपादेयता

इस ट्रैक्ट समुदाय पुस्तक में मेरे ट्रैक्ट के साथ जो परिशिष्ट भाग है वह प्रोफेसर हीरालाल जी द्वारा लिखे गये जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १० किरण २ दिसम्बर १९४३ के 'क्या तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके टीकाकारों का अभिप्राय एक ही है?' तथा जैन सिद्धांत भास्कर भाग ११ किरण १ जून १९४४ के 'क्या षट्खण्डागम सूत्रकार और उनके टीकाकार वीरसेन स्वामी का अभिप्राय एक ही है?' इन दो लेखों का और ईस्वी सन् १९४३ में प्रकाशित भारतवर्षीय अनाथ रक्षक सोसायटी दर्यागंज देहली के अष्टपाहुड़ की भूमिका के अनुपपन्न विषयों का समाधान है। जो कि ट्रैक्ट लेख से सम्बन्धित हो कर भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। कारण कि उसमें प्रोफेसर हीरालाल जी साहब की जो कुछ शंकायें अवशिष्ट थीं उनका भले प्रकार परिमार्जन है

तथा श्री कुन्दकुन्द स्वामी और श्री उमा-स्वामी को श्वेताम्बर मत के अभिप्राय की कोटि में, घसीटने वाले महाशयों के मन्तव्यों का भी अच्छे प्रकार से से परिमार्जन उस परिशिष्ट में किया गया है।

अतः ट्रैक्ट की समकक्षा में अवतरित वह परिशिष्ट भाग भी पाठक महोदय तथा अपने मन्तव्योंको परीक्षा की कसौटी पर परखने वाले इच्छुक महानुभावों को उपादेय दृष्टि का ही विशेष परिणाम है। इस लिये वह स्थिर उपेय है।

श्री प्रोफेसर हीरालाल जी के सम्बन्ध में

सस्नेह अनुरोध—श्रीमान प्रिय साधर्मी बंधु प्रोफेसर हीरालाल जी साहब द्वारा उभय ट्रैक्ट पुस्तक और मन्तव्यत्रय सूचक पत्रक व समाचारपत्रों द्वारा जो प्राश्निक कोटि को लेकर मन्तव्य उपस्थित किये गये हैं उनका आगम और युक्तिपरक साहाय्य पूज्य त्यागीवर्ग तथा अन्य विशिष्ट विद्वानों के ट्रैक्ट लेखों में और मेरे परिशिष्ट विशिष्ट ट्रैक्ट लेख में पर्याप्त समाधान है। उसका प्रश्नमार्जन दृष्टि से आप अवश्य ही मनन करेंगे। मनन करने पर भी फिर कहीं शंकांकुर रह जाय तो उसे समक्ष में या मौखिक रूप से अपने समाज के जिस किसी विद्वान से अर्थात् जिन किन्हीं विद्वानों में से आप शंकाओं के मार्जन के लिये अपनी दृष्टि से योग्य समझते हों उनसे उस विषय को शास्त्रार्थ या वितंडा का रूप न देकर साधर्म्य भाव दृष्टि से वीतराग कथा के रूप में स्वस्थ शांत वातावरण से परिप्लुत होकर निर्णयकोटि पर अवश्य आरूढ होंगे। यह मेरा मुख्य मैत्रीभाव का अनुरोध है।

क्षमा—मैंने श्रीमान पण्डित अजितकुमार जी साहब शास्त्री मुलतान को सानुनय व साग्रह सूचना दे दी है कि विद्वानों के किसी भी ट्रैक्ट लेख या सम्मति में कोई भी मेरी दृष्टि से बाह्य रहा हुआ कटुक व अप्रिय शब्द हो उसे फौरन निकाल देना। यह उक्त अनुनय श्री पण्डित अजितकुमार जी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया है। इस लिये बहुधा ट्रैक्ट वगैरह में वह बात न रहेगी फिर भी मनुष्य प्रकृतिस कदाचित कहीं वह बात रह गई हो तो उसे स्वाभाविक परिणति न समझ कर क्षमाभाव से सहन करने की दृष्टि रखेंगे तथा मदजन्य भी वैसी बात हो तो उसे भी मैत्रीय सम्बन्ध से दृष्टिगत करेंगे। कारण कि मैत्रेय भाव हितकर पथ्यरूप ही होता है।

सत्कार्य का उत्साह—श्री बम्बई समाज की तरफ से जो आपकी शंकाओं के निमार्जन का प्रकृत विषय उपस्थित किया गया है वह साधर्म्य संबन्ध से स्थितिकरण सम्यक्त्वांग का विषय है तथा प्रभावना का भी विषय है। अतः इसके विषय में आप कुछ भी विपरीत भाव न लाकर अपने धवला-सम्पादन के कार्य में किसी भी प्रकार औदासिन्य-जन्य शैथिल्य भाव न लावें। बल्कि उस कार्य में विशेष उत्साह और दिलचस्पी हासिल कर उसे यथा शक्ति अवश्य सम्पादन करें। श्रीबम्बई दि० जैन समाज ने आपके पाजीशान (सन्मान) को गिराने की दृष्टि से यह कार्य नहीं किया है। किंतु आपके प्रति सद्भावना की दृष्टि को लेकर यह आपकी मंतव्यरूप शंका मार्जन का कारण उपस्थित किया है। ऐसी मर्मभेदी मार्मिक शंकाओं का उत्थान आप सरीखे विद्वानों के आश्रय बिना होता भी कैसे? वह भविष्य में शायद न भी हो ऐसे सदाशय को लेकर आपका जो यह शंका रूप कार्य होवे तो उसे बम्बई

समाज हीन दृष्टि से नहीं देखती। किन्तु उस शंका मार्ग का मार्जन कर निसर्ग शुद्ध सिद्धांत को उसी निसर्ग शुद्धता के रूप में स्थिर चाहती है। इसी मुख्य अभिप्राय को लेकर यह कार्य अति आवश्यक समझकर बम्बई समाज ने अपने हाथ में लिया है और उसका अचूक कारणों से इसे निर्वाह भी करना पड़ा है। समाज के इसी पवित्र उद्देश को लक्ष्य में रखकर आप अवश्य ही सच्चे दिल से समाज के इस कार्य की सराहना करेंगे और अपने सम्पादकीय सुन्दर और निर्दोष कार्य में दृढ़ उत्साही ही रहेंगे। तथा शंकाओं का समाधान होने से लेखों द्वारा अपने शुद्ध स्वाभाविक सरल हृदय का परिचय भी अवश्य देंगे। जिससे कि विश्वसनीय विषय को लेकर आप समाज के विश्वास पात्र बनें। जो कि स्वपर कल्याण का उत्तम और संबद्ध सन्मार्ग है।

मुख्य सहायक और उनके कार्यकी सच्ची हकीकत और उनके प्रति साधुशब्द-सद्भाव

श्री बम्बई दिगम्बर जैन समाज ने श्री प्रोफेसर हीरालाल जी के मन्तव्यों के समाधान का जो श्रेष्ठ कार्य सम्पादन किया है उसमें मुख्यक सहायक दृष्टि से विचार किया जाय तो उसका श्रेय श्रीमान् भाई निरञ्जनलाल जी खुर्जा वाले को है। कारण कि और जो सहायक वर्ग है वह सर्व इन्हीं महापुरुष के उद्योग परिश्रम और सच्ची श्रद्धा का परिणाम है। इस कार्य के लिये इन्हीं ने स्थानीय पण्डितों को सम्मत किया और समाज के मुख्य कार्यकर्ताओं को समाज के इस कार्य को समझा कर उनका सहयोग इस के लिये मिलाया तथा-ट्रैक्ट प्रकाशन की साधन जो जो द्रव्य सम्पादन, पत्र व्यवहार-पैम्फलेट प्रकाशित करा कर योग्य स्थानों पर उचित समय पर भिजवाने आदि के जो कुछ भी मुख्य साधन सामिग्री है उसके मुख्य विधाता ये ही हैं। जबसे बम्बई समाज द्वारा यह कार्य प्रारम्भ हुआ है तब से तथा उसके पहले भी सतत अपने गृह सम्बन्धी कार्यों को गौण कर इसी कार्य के लिये सतत चिन्तापूर्वक अपने तन मन को समर्पित कर दिया है। इस कार्य के सम्पादन की परिसमाप्ति किस तरह से जल्दी हो इस बातके अत्यन्त विचार और कार्य संलग्नता में अपनी तबीयत का भी विचार न करके बुखार की हालत में भी बराबर इनका उद्योग सतत प्रवर्तित हो रहा है-समाज के पूज्य त्यागियों को, विद्वानों को, और पञ्चायतों को तथा समाज के मुखियाओं को शंका-समाधान के ट्रैक्ट और सम्मतियां मंगाने के पत्र व्यवहारमें इन्हीं का मुख्य हाथ रहा है। तथा अभी तक इस कार्य के साधन जो कुछ भी हैं उनको जुटानेके लिये जी जान से इनका सर्व व्यवस्था पूर्वक उद्योग और परिश्रम चालू ही है इस लिए इनको जितना साधुवाद प्रयुक्त किया जाय उतना थोड़ा है।

मेरी दृष्टि में तो ये पुरुष आज बम्बई में न होते तो शायद ही इस कार्य का आयोजन बम्बई समाज द्वारा होता। इनमें एक और भी बड़ा गुण है कि जो किसी भी कार्य को करते हैं वे अपना नाम न रख कर ही अपना कर्तव्य समझ करके ही करते हैं। तथा धार्मिक सामाजिक कार्य में ये इतने तल्लीन रहते हैं कि अपने मानापमान का भी कुछ खयाल नहीं करते। ये अपने कार्यमें हमेशा श्रीमान् सेठ सुन्दरलाल जी प्रधान मुनीम फर्म सेठ जुहारमल जी मूलचन्द जी से तथा मुझ से और पण्डित उल्फतराय जी रोहतक और पण्डित उल्फतराय जी भिंड, सेठ फकीर भाई जी लाला पोस्तीलाल जी, आदिसे सम्मति लेकर

कार्य करते हैं। इनकी इस दिलचस्पी को वहां का समाज तथा कार्यकर्ता गण बड़ी आदर की दृष्टि से देखते हैं।

इस मुख्य कार्य के आर्थिक आदि साधनों में इनका सहयोग जितना सेठ सुन्दरलाल जी साहब मुनीम तथा पं० [illegible] रोहतक और सेठ फकीर भाई ने दिया है उतना मुझ से नहीं बना है मैं तो प्रायः मुख्यतया अन्य विद्वानोंकी तरह ट्रैक्ट लिखने के कार्य में ही लगा रहा हूं। इस लिये इनके सहयोग देने वाले ये तीन महानुभाव ही विशेष साधुवाद के पात्र हैं।

तथा मुख्यतया वे महानुभाव साधुवाद के पात्र हैं कि—जिनने अपना द्रव्य इस कार्य के लिये प्रदान किया है। और जिन्हों ने मन, वचन और काय से इस कार्य में सहयोग दिया है वे भी उस साधुवाद के अनुगत हैं। सब से मुख्य साधुवाद तो इस बम्बई समाजको है जिसकी छत्रछाया में यह सत्कार्य सम्पादन हुआ है।

मेरे द्वारा ट्रैक्ट लिखनेके कार्य में मुख्य प्रेरक

इस शंका समाधान विषयक मेरे ट्रैक्ट में श्री [illegible] जी फतेपुर और श्रीमान् भाई तनसुखलाल जी काला व श्रीमान् भाई निरञ्जनलाल जी खुर्जा की सातह प्रेरणा रही है उसी का यह प्रतिफल है कि बीमारी की हालत में भी इसके लिए मैं कम हो गया अतः इनकी प्रेरणा का सच्चे दिल से मैं स्वागत करता हूं।

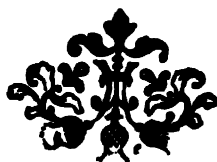
प्रस्तावना के सहयोगी सहायक

यह प्रस्तावना जिस रूप में इस समय तैयार हुई है उसका सहयोग श्रेय कुछ श्रीचिरञ्जीवि पुत्र लक्ष्मीचन्द्र को है अतः इस कार्य में यह सस्नेह प्रेरणा के सिवाय और क्या हो सकता है।

कार्य त्रुटि के दृष्टिकोण का विचार

प्रथम पुस्तक सम्पादन का कार्य ही एक महान कार्य है उसमें भी शंका समाधान का जो धार्मिक पवित्र कार्य है वह कितने महत्व का कार्य है उसका विचारशील विवेकी महानुभाव ही अन्दाजा कर सकते हैं। ऐसे महान कार्य में मनुष्य-प्रवृत्ति से अनेक त्रुटियों का होना सम्भवित है तथापि उन त्रुटियों को दूर करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार भरसक माहात्म्य शक्तियों को लेकर प्रयत्न किया है फिर भी उस अपनी प्रकृति निसर्गता से उनका रह जाना सम्भव है उसके लिये विवेकी पुरुषों द्वारा जो कर्तव्य निश्चित है उसका मैं सहर्ष स्वागत करूंगा। क्योंकि यह भी तो प्रकृत मनुष्य कार्य है।

रामप्रसाद जैन शास्त्री बम्बई
सम्पादक—जैन सिद्धान्त दर्पण



मेरे भी दो चार शब्द

श्रीमान बाबू हीरालाल जी एम० ए० संस्कृत प्रोफेसर ऐडवर्ड कालेज (वर्तमान-मौरेस कालेज नागपुर) ने जो अपने विचार भारतीय प्राच्य सम्मेलन बनारस में गत वर्ष प्रगट किये थे जिनको बाद में आपने ट्रैक्ट रूप में प्रकाशित भी कराया। उसके विचारणार्थ बम्बई दिगम्बर जैन पंचायत ने जो कार्यवाही की उसके फलस्वरूप यह ग्रंथ (द्वितीय अंश) आपके करकमलों में है।

संयोग से इस ग्रन्थ का प्रकाशन मेरे सुपुर्द किया गया। मैंने इसको एक सामाजिक संस्था का अंग समझकर मुद्रण (छापने) के लिये ले लिया। अतएव इसके छापने में कोई व्यापारिक नीति नहीं अपनाई गई। तदनुसार इस विषय में जो कुछ त्याग किया जा सकता था किया, किन्तु इसके प्रकाशन में आशातीत विलम्ब हुआ उसके अनेक कारण रहे।

१-यथेष्ट सुयोग्य कम्पोजीटर न मिल सके।

२-बीच बीच में कागज आदि की टूट रही।

तीसरा सबसे प्रबल कारण कम्पोज होने योग्य प्रेस कापी का न होना रहा। जिस प्रकार वक्तृत्व एक कला है वह चाहे जिस व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती। लाखों व्यक्तियों में से कुछ एक मनुष्य ही वक्ता (व्याख्यानदाता) हुआ करते हैं। ठीक इसी प्रकार लेखन भी एक कला है जो कि हर एक शिक्षित व्यक्ति के हाथ नहीं लगती। यह नियम संसार के इतर विद्वानों के समान हमारे दिगम्बर जैन विद्वानों पर भी लागू है जिसका मुझे बहुत कुछ अनुभव इस पुस्तक के छापने में हुआ है।

अधिकांश विद्वानों की युक्तियां तथा आगम-प्रमाण बहुत अच्छे होते हुए भी उनका वाक्यविन्यास विशृङ्खलित, अव्यवस्थित, पुनरुक्तपूर्ण तथा वैरस्य, लालित्य शून्य भाषा से पूर्ण था, वाक्यों का जोड़-तोड़ कहां होना चाहिये इस पर ध्यान नहीं दिया गया था। कुछ के अक्षर सुवाच्य न थे और २-१ बड़े लम्बे लेख ऐसे भी थे जिनमें भाषा सम्बन्धी त्रुटियां पद-पदपर थीं। कुछ महानुभावोंकी मातृभाषा हिन्दी न होने के कारण त्रुटियां थीं। यदि उन लेखों को ज्योंका त्यों छाप दिया जाता तब तो यह ग्रन्थ समाज के लिये लाभप्रद न होता तथा वे विद्वान भी जनता में उपहासास्पद होते। इस कमी को दूर करने में मुझे अकेले ही जुटना पड़ा। दुर्भाग्य से मुझे यहां पर किसी अन्य व्यक्ति का सहयोग न मिल सका। चूंकि यह भार मैं ले चुका था और मुझे यह उस समय ज्ञात न था कि मुझे प्रेस कापी के लिये भी असीम श्रम करना पड़ेगा, अपना उत्तरदायित्व निभाने के लिये मुझे अपने अन्य कार्य भी छोड़ देने पड़े। अंग्रेजी (Only English) की ऐफ० ए० परीक्षा देने की तयारी कर रहा था उसको छोड़ दिया, पता नहीं उसके लिये मुझको अवसर फिर मिल सकेगा या नहीं। अपने तथा बालबच्चों के स्वास्थ्य की ओर भी उपेक्षित सा रहा एवं इस पुस्तक के छापने में अपने कुछ स्थायी ग्राहकों की भी उपेक्षा करनी पड़ी।

फिर भी समय की कमी तथा स्वास्थ्य (मस्तिष्क) की गिरावट एवं श्रीमान लाला निरंजनलाल जी की शीघ्र प्रकाशित कर देने के लिये तीव्र प्रेरणा रूप

आने वाले प्रायः दैनिक पत्रों के कारण मैं अपने उक्त कार्य में यथेच्छ सफल नहीं हो पाया। संभव है तीन तीन बार प्रूफ संशोधन करने पर भी अशुद्धियां रह गई होंगी। यह अपनी परिस्थिति स्पष्ट करने के लिये अपनी स्थिति पाठकों के समक्ष रक्खी है। पाठक महानुभाव मेरी विवशता का अनुभव कर त्रुटियों के लिये क्षमा करेंगे ऐसी आशा है।

लेखों को सुधारते समय लेखक के मूलभाव की ओर ध्यान रक्खा गया और इसी कारण शक्तिभर उनके भाव में परिवर्तन नहीं होने दिया गया फिर भी प्रमादवश कहीं कुछ हो गया हो तो लेखक महानुभावों से क्षमा याचना है वे मेरी नीयत पर कोई अविश्वास न करें।

मैं अनेक कारणों से बाधित होकर इस समय ग्रन्थ को शीघ्र न छाप सका इसका सबसे अधिक कष्ट श्रीमान ला० निरंजनलाल जी बम्बई वालों को उठाना पड़ा क्योंकि मुझे जहां तक ज्ञात है आपके तथा श्रीमान पण्डित रामप्रसाद जी शास्त्रीके अथक उद्योग से इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये दिगम्बर जैन पञ्चायत बम्बई तयार हुई और स्थान स्थान से प्रो० हीरालाल जी के ट्रैक्ट का प्रतिवाद तथा उस पर सम्मति मंगाने के लिये आप लोगों को ही पर्याप्त श्रम करना पड़ा। (चूंकि मैं बम्बई से बहुत दूर हूं अतः नहीं जान सका कि इस कार्य में प्रमुख भाग और किन सज्जनोंने लिया है अतः जिनका नाम-उल्लेख करना रह गया हो वे मेरी अनभिज्ञता का ख्याल करके क्षमा करें। मेरे साथ पत्र-व्यवहार उक्त दोनों सज्जनों का ही होता रहा अतः मैं इस कार्यका मूल इनको ही समझता हूं) किन्तु वीर शासन महोत्सव कलकत्ता से लौटते हुए श्रीमान पण्डित रामप्रसाद जी शास्त्री शिखर जी पर इतने बीमार हुए कि अब तक आप स्वास्थ्य लाभ न कर सके। (श्री जिनेन्द्र देवकी भक्ति शक्ति आपको शीघ्र स्वस्थ बनावे) अतः ला० निरंजनलाल जी पर ही समस्त भार आ पड़ा। लेखक महानुभाव अपने लेखों को पुस्तकरूप में शीघ्र देखना चाहते थे उधर उत्सुकताभी प्रकाशित ग्रन्थ देखने के लिये तीव्र अभिलाषी थे और वे सब के सब ला० निरंजन लाल जी को ही लिखते व कहते थे अत एव ला० निरंजनलाल जी प्रायः ग्रन्थ को शीघ्र समाप्त कर देनेकी प्रेरणा वाले पत्र मुझे प्रतिदिन भेजते रहते थे।

मैं उनके पत्रों से बहुत घबराता था क्योंकि मैं अनेक प्रयत्न करने पर भी छपाई की रफ्तार न बढ़ा सका इसका विशेष कारण युद्ध समय होने के कारण मनुष्य की दुर्लभता है। अतः मैं लाला निरंजन लाल जी के पत्रों से झुंझला जाता था और उत्तर में उनको कड़े शब्द भी लिख देता था किन्तु धर्म-अनुरागवश उन्हों ने कटुता अनुभव न की इसका मैं आभारी हूं।

अनेक लेखों में कुछ कटु शब्दों का प्रयोग था उसमें मैंने शक्तिभर परिवर्तन किया है किन्तु फिर भी कुछ रह गया हो तो सम्पादक जी, प्रकाशक जी तथा प्रोफेसर हीरालाल जी मुझे क्षमा करें।

यह ग्रन्थ वर्तमान समय में तथा विशेषकर भविष्य में दिगम्बर जैनसमाज के स्थितिकरण को बहुत उपयोगी होगा ऐसी आशा है। अत एव इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन महानुभावों ने सहयोग दिया है वे सब धन्यवाद के पात्र हैं।

अजितकुमार जैन शास्त्री
अकलंक प्रेस, मुलतान सिटी

—०—



वक्तव्य

विश्ववन्द्य श्री १००८ भगवान महावीर के मुक्त हो जाने पर उनका शासनभार संसारविरक्त, जगत-हितैषी तपोधन विद्वान आचार्य महाराजों के ऊपर आया। उन्होंने विश्व कल्याण की पवित्र भावना से न सिर्फ जैन शासन की रक्षा की अपितु उसका बहुत भारी व्यापक प्रचार भी किया। इसके सिवाय उन्होंने भविष्य में जैनसिद्धान्त को सुरक्षित रखने के दूरदर्शी विचार से अनेक अमूल्य ग्रन्थरत्नों की रचना भी की जिनके कारण आज भी भगवान महावीर का दिव्य उपदेश हमको पढ़ने सुनने को मिलता है।

यद्यपि बारहवर्षी अकाल के कारण जैन संघ के दो भाग हो गये थे और विपद्ग्रस्त साधुओं का शिथिलाचार फैलने लगा था परन्तु भाग्योदय से उस आड़े समय में श्री कुंदकुंदाचार्य जैसे अलौकिक तपस्वी प्रगट हुए उन्होंने भगवान महावीर के शासन की बागडोर सम्भाली और फैलने वाले शिथिलाचार को बड़ी कड़ाई से रोककर प्राचीन जैन-संस्कृति की रक्षा की। श्री कुन्दकुन्दाचार्य का तपोबल जहां असाधारण था जिसके कारण वे विदेह क्षेत्र में दैवी सहायता से पहुंचकर भगवान सीमन्धर स्वामी का साक्षात दर्शन कर आये थे, वहीं उनका सैद्धान्तिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान भण्डार भी बहुत विशाल था, उनकी वाणी में अतिशय था और उनकी लेखनी अद्भुत शक्ति रखती थी, इसी कारण उन्होंने जिन 'समयसार' आदि ग्रन्थों की रचना की है वे अनुपम हैं। उनकी इस अनुपम रचना का अनुमान इसी पर से लगाया जा सकता है कि जिस काठियावाड़ प्रान्त में आज से २०-२५ वर्ष पहले श्री कुन्दकुन्दाचार्य को मानने वाला एक भी व्यक्ति नहीं था उसी काठियावाड़ में श्रीकान जी स्वामि द्वारा समयसार का प्रवचन सुनकर हजारों व्यक्ति श्री कुंदकुंदाचार्य के भक्त बन गये हैं।

किन्तु यह भी कुछ समय का प्रभाव है कि उन ही कुन्दकुन्दाचार्य को आज प्रोफेसर हीरालाल जी कर्मसिद्धान्त से अनभिज्ञ, असत्यपक्षपाती, अप्रामाणिक बतलाने का साहस कर रहे हैं।

हम नहीं चाहते कि दिगम्बर जैन समाज के शान्त वातावरण को अशांत बनाया जाय किन्तु जैन समाजका दुर्भाग्य है जब कि धवलग्रन्थ के सम्पादनसे यश प्राप्त करने वाले प्रो० हीरालाल जी ने षट्खंडागम, भगवती आराधना आदि पुरातन आर्ष ग्रंथों की साक्षी देकर दिगम्बर जैन आम्नाय की मूल मान्यताओं पर ही कुठाराघात किया तब वातावरण शांत कब रह सकता था।

"यदि महाव्रती साधु वस्त्रधारक होते हों, केवली

भगवान भोजन करते हों और स्त्रीपर्याय से भी मुक्ति प्राप्त होती हो तो फिर दिगम्बर जैन ग्रन्थों, दिगम्बर जैन मन्दिरों, दिगम्बर जैन तीर्थों तथा दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की पृथक् आवश्यकता ही नहीं रहती फिर तो श्वेताम्बरी सिद्धान्त को ही वास्तविक जैन शासन मानना चाहिये।" इस विचार ने बम्बई दि० जैन पंचायत का मौन भंग किया और उसे इस दिशा में कुछ अपना कर्तव्य निभाने का संकेत किया।

तदनुसार जो कुछ हलचल हुई और जो कुछ उसका परिणाम हुआ वह आपके हाथों में है। मैं दिगम्बर जैन समाज का या बम्बई दिगम्बर जैन पंचायत का एक तुच्छ सेवक हूं किन्तु उस सेवक के नाते भी मैं कुछ सेवा इस विषय में नहीं कर पाया हूं। यह महान कार्य तो श्रीमान पं० रामप्रसाद जी शास्त्री, भाई निरंजनलाल जी मुजां वाले, पण्डित जयन्तप्रसाद जी रोहतक, सेठ फकीरचन्द भाई आदि सज्जनों के उद्योग का मधुर फल है। अतः ये महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

इसके सिवाय जिन जिन पूज्य त्यागियों ने, विद्वानों ने और पंचायतों ने अपने कर्तव्य का पालन करके प्रोफेसर जी के लेख के विरोध में अपने युक्तिपूर्ण लेख और सम्मतियां भेजकर बम्बई पंचायत को अनुगृहीत किया है उनको भी धन्यवाद है। तथा अन्य सज्जन भी जो इस शुभ कार्य में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से सहायक हुए हैं। वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

हमको हर्ष और सन्तोष है कि हमारा यह प्रयत्न दिगम्बर जैन आम्नाय की वर्तमान में तथा भविष्य में रक्षा का एक अच्छा अवलम्बन प्रमाणित होगा

हम जैसे हीन शक्ति, अल्पज्ञों के कार्य त्रुटिशून्य नहीं हो सकते अतः इस कार्य में जो त्रुटि किसी सज्जन को दीख पड़े वे क्षमा करें। यह कार्य शुभ सद्भावना से किया गया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति इसको उसी ख्याल से अवलोकन करे।

विनीतः—

सुन्दरलालजैन

फर्म—जुहारमल मूलचन्द

सभापति—दिगम्बर जैन पंचायत बंबई।



आवेदन

जगतवन्दनीय श्री १००८ भगवान महावीर का जीवमात्र को शान्ति सुख का दाता वाङ्मय अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य श्री भद्रबाहु के समयतक एक धारा के रूप में प्रवाहित होता रहा तब तक जैन संघ के भीतर न कोई विकार आया और न इसमें कोई संघ भेद ही हो पाया। परन्तु उसी समय भारतवर्ष के उत्तर प्रांत में बारह वर्ष का लगातार घोर अकाल पड़ा। उस दुष्काल के कारण उत्तर प्रांतीय जैन साधुओं में परिस्थिति वश शिथिलाचार घर कर गया वे उग्र परीषह-विजयी न रह सके अतएव नग्नवेश को छोड़ कर कौपीन (लंगोटी) पहनने लगे तथा श्रावकों के घर से भोजन मांगकर खाने के लिये लकड़ी के पात्र भी अपने पास रखने लगे। अतएव जैनसाधु का स्वतन्त्र, स्वाधीन, सिंहवृत्तिरूप आदर्श नग्नवेश उस

में मुक्त होगया। वे अपने मित्र वेश के इतने आदी बन गये कि अकाल चले जाने पर भी उनसे वह विकृतरूप और शिथिल—आचार उनसे न जा सका।

परन्तु दक्षिण प्रान्तीय जैनसाधु अपनी पुरातन निर्ग्रन्थ साधुचर्या का पालन करते रहे। जैन साधुओं के इसी शिथिलाचार और स्वच्छ—आचार (नग्न रूप) के कारण अखंड जैनसंघ के दिगम्बर, श्वेताम्बर रूप में ऐसे दो खंड हुए कि वे फिर मिलकर कभी एक रूप न हो सके। दिगम्बर आम्नाय की रक्षा श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बहुत उत्तम ढङ्ग से की। वे एक आदर्श वीतराग विद्वान साधु थे। आध्यात्मिक विषय के प्रकांड पण्डित थे। उनके मन, वचन काय में वीतरागता एक रस रूपसे बहती थी। विदेह क्षेत्र में दिव्य महात्मा से आकर उन्हों ने श्री १००८ तीर्थंकर सीमन्धर स्वामी के साक्षात् दर्शन किये थे। उनकी अनुपम प्रभावशालिनी वीतरागता व उनकी ओज तेजपूर्ण वाणी को हम आज भी उनके रचे हुए समयसार आदि ग्रन्थ रत्नों में ओत प्रोत पाते हैं। वे विक्रम संवत की प्रथम शताब्दी में हुए हैं।

किन्तु इनमें भी पहले श्रीधर सेनाचार्य के शिष्य श्री पुष्पदन्त, भूतबलि आचार्य ने षट्खण्डागम की रचना की थी जिसकी विशाल टीकाएं धवल, जयधवल, महाधवल हैं। श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों की रचना इससे लगभग ५०० वर्ष पीछे वीर सं० ६८० में हुई थी।

यद्यपि दिगम्बर श्वेताम्बर संघों को मिला देने के लिये यापनीय संघ कायम हुआ था जिसके साधु नग्न रहते थे किन्तु श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों को मानते थे परन्तु यापनीय संघ भी दिगम्बरीय श्वेताम्बरीय मतभेद की गहरी खाई को न पाट सका।

मुसलमानी बादशाहों का शासन भारतवर्ष के लिये अन्धकार का था उसके बाद जब १९ वीं शताब्दी में भारत का शासन ब्रिटिश सरकार ने सम्भाला, ज्ञान की ज्योति फिर से चमकने लगी किंतु इस शिक्षा में पाश्चमी रंग आ गया पुरातन संस्कृति अनाथिनी जैसी हो गई। अस्तु।

बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य शिक्षा से शिक्षित भारतीय विद्वानों ने भारतीय प्राचीन संस्कृति को नवीनता में ढालने का यत्न किया। तदनुसार २५-३० वर्ष पहले जैन संस्कृति को भी बदल डालने का प्रयत्न किया गया। स्वर्गीय बाबू अर्जुनलाल जी सेठी बी० ए० जेल से मुक्त होकर जब बाहर आये थे तब उनने दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायों को एक कर देने के विचार से डार्विन के विकासवाद सिद्धांत को आदर्श मानकर अटपटे सिद्धांत गढ़ कर (जैसे- भगवान ऋषभदेव में ज्ञान का विकास कम था वह क्रमशः बढ़ते बढ़ते अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर में अधिक विकसित हुआ और भगवान महावीर से भी अधिक ज्ञान आज कल के शिक्षित लोगों में है आदि।) फिर स्त्रीमुक्ति, शूद्रमुक्ति आदि पर कुतर्कता पूर्ण लेख लिखे। उस समय एक सत्योदय पत्र इन ही विचारों के प्रचार के लिये निकाला गया था किन्तु दिगम्बर जैन विद्वानों ने उन लेखों, ट्रैक्टों का युक्तियुक्त निराकरण किया अतः सेठी जी अपने प्रयत्न में असफल रहे।

अब २५-३० वर्ष पीछे उसी से मिलता जुलता प्रयत्न हमारे प्रोफेसर हीरालाल जी एम० ए० ने (जो कि पहले ऐडवर्ड कालेज अमरावती में संस्कृत के अध्यापक थे अब मौरिस कालेज नागपुर में

संस्कृत के टीचर हैं अनेक प्राकृत जैन ग्रन्थों का सम्पादन करने के कारण नागपुर युनिवर्सिटी ने आपको 'डाक्टर' की उपाधि दी है) किया है। आपने भी स्त्रीमुक्ति, सग्रंथमुक्ति, केवलीकवलाहारका समर्थन किया है और वह समर्थन दिगम्बर जैन ग्रंथों के आधार से करना चाहा है। वे अपने कार्य में कितने असफल रहे हैं यह बात तो यह ग्रंथ बतलावेगा किन्तु हम तो पाठकों को यहां पर स्पष्ट रूप से यह बतलाना चाहते हैं कि प्रोफेसर साहब के मनमें यह विचार बहुत पहले से थे और उन विचारों को साधार बनाने के लिये उन्होंने षट्खण्ड आगम की धवला टीका को अपना हथियार बनाना चाहा। दिगम्बर जैन सिद्धांत को निर्मूल करने के लिये आपने ६३ वें सूत्र को बदल डालने की कोशिश की और उसके हिन्दी भाषा के अर्थ का अनर्थ कर डाला।

चूंकि प्रोफेसर साहब धवला ग्रन्थ का सम्पादन कर रहे हैं। यद्यपि इस ग्रंथ की भाषा टीका पण्डित लोग करते हैं परन्तु वह आपकी देखरेख में ही छपता है और ग्रंथ पर आपका ही नाम अंकित रहता है तथा ६३ वें सूत्रकी भाषा टीका एवं टिप्पणी की तरह कुछ रद्दोबदल आप करना चाहें तो वह भी कर देते हैं। इसके सिवाय आपने अन्य ग्रंथों का भी सम्पादन किया है अतएव जैनजनता आपके वाक्यों को अर्जुनलाल जी सेठी की अपेक्षा वजन देती है। इसके अतिरिक्त आपने 'भारतीय प्राच्य सम्मेलन काशी' के गत अधिवेशन (सन १९४४) में जो "क्या दिगम्बरीय श्वेताम्बर सिद्धान्तोंमें मौलिक भेद है?" शीर्षक लेख पढ़कर सुनाया और जिसे बाद में आपने ट्रैक्ट रूप में प्रकाशित भी कराया उसमें आपने सर्वोच्च एवं आद्य दिगम्बर जैन सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खण्डागम के तथा भगवती आराधना आदि अन्य प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रमाण देकर स्त्रीमुक्ति, केवली कवलाहार एवं महाव्रती साधु का वस्त्रधारक रूप तथा उस सम्बन्ध वेशसे मुक्ति भी सिद्ध करने का यत्न किया जिन बातों का (स्त्रीमुक्ति, सग्रन्थमुक्ति, केवली कवलाहार, साधु का वस्त्र परिधान) हमारे पूर्व, प्राचीन, प्रख्यात विद्वान आचार्यों श्री पुष्पदन्त भूतबली, श्री कुन्दकुन्द समन्तभद्र, अकलंकदेव, विद्यानन्दि, पूज्यपाद आदि ने अनेक मनोहर युक्तियों से निषेध करके प्राचीन जैन संस्कृति की रक्षा की है धवला के सम्पादक महानुभाव उसके विरुद्ध आज क्या कुछ लिख, कह रहे हैं इस बात से जैन जनता क्षुब्ध हो गई। क्योंकि यदि प्रोफेसर जी के सिद्धान्त सचमुच पूर्ण सत्य हैं तब तो दिगम्बर जैन ग्रन्थ, दिगम्बर जैन मन्दिर एवं दिगम्बर जैन मान्यता व्यर्थ, निस्सार, निष्प्रयोजन ठहरती है फिर तो यों कहना चाहिये श्री समंतभद्र आदि आचार्यों तथा श्री टोडरमल जी आदि विद्वानों से बढ़कर खोजी विद्वान प्रोफेसर हीरालाल जी हुए। इन बातों की ओर बम्बई दिगम्बर जैन पंचायत का ध्यान आकर्षित हुआ।

बम्बई जिस प्रकार भारतवर्ष में व्यापार का केंद्र है उसी प्रकार दिगम्बर जैन समाज का भी केंद्र समझना चाहिये क्योंकि दि० जैन समाज के नेता सेठ जुहारमल मूलचंद (श्रीमान सेठ भागचंद्र जी सोनी) स्वरूपचंद्र हुकुमचन्द्र (सरसेठ हुकमचंद्र जी) संघपति सेठ घासीलाल पूनमचंद आदि की दुकानें बम्बई में मौजूद हैं उनके मुनीम सेठ सुंदरलाल जी

जैसे महानुभाव बम्बई में निवास करते हैं। अतः दिगम्बर जैन संस्कृति की जड़ पर प्रोफेसर हीरालाल जी द्वारा कुठाराघात होते देख बम्बई पंचायत में बहुत क्षोभ फैला। उस क्षोभ को शांत करने के लिये तथा इस विषय का अकाट्य निर्णय कराने के लिये उसने निश्चय किया।

तदनुसार बम्बई पंचायत की ओर से प्रोफेसर साहब के उक्त लेख की प्रतिलिपि छपाकर विचारार्थ दिगम्बर जैन विद्वानों, पूज्य आचार्यों, मुनियों, आर्यिकाओं, ऐलकों, क्षुल्लकों, ब्रह्मचारियों तथा अन्य संसार-विरक्त महानुभावों के पास भेजी गई और उस लेख के युक्तिपूर्वक निराकरण के लिये प्रेरणा की गई। तथा प्रत्येक दिगम्बर जैन पंचायत से प्रोफेसर साहब के विचारों के विषय में सम्मति मंगाई गई।

हर्ष है कि दिगम्बर जैन समाज के पूज्य संयमी संघ ने तथा विद्वानों ने परिस्थिति की गम्भीरताका अनुभव करके बंबई पंचायत के अनुरोध को स्वीकार करके अपनी लेखनी इस विषय पर चलाई और पंचायतों ने अपनी सम्मतियां भेजीं।

उनमें से श्रीमान पं० मक्खनलाल जी शास्त्री का लेख आद्य अंशके रूपमें पहले प्रकाशित हो चुका है। यह द्वितीय अंश आपके समक्ष है, तृतीय अंश जिसमें अन्य शेष पूज्य त्यागियों, विद्वानों के युक्तियुक्त लेख तथा पंचायतोंकी सम्मतियां संकलित हैं आपके सामने आने वाला है।

प्रोफेसर साहब के विचार

जनता आश्चर्य में है कि धवलशास्त्र के संपादक श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी ने जैन आर्ष ग्रन्थों के प्रतिकूल अपनी विचार धारा किस प्रकार प्रगट की है? परन्तु जो महानुभाव प्रोफेसर साहब के विचारों से परिचित थे उनको इस विषय में आश्चर्य नहीं हुआ।

प्रोफेसर साहब ने 'जैन इतिहास की पूर्वपीठिका और हमारा अभ्युत्थान" शीर्षक एक पुस्तक लिखी है जिसके अन्तिम भागमें आपने जैनसमाज के विषय में अपने विचार प्रगट किये हैं। उन विचारोंमें प्रायः वे सब बातें हैं जो ब्र० बा० अर्जुन लाल जी सेठी आदि ने प्रचार में लानी चाही थीं किन्तु आगम-विरुद्ध होने के कारण जैन समाज ने उन बातोंका जोरदार आवाज से विरोध किया था।

जो महानुभाव देखना चाहें वे उक्त पुस्तक के "समाज-संगठन" शीर्षक अन्तिम प्रकरण को पढ़ें। इस प्रकरणमें आपने विधवाविवाह, जातिपांति भंग, दस्सा बीसा भेद लोप, वर्णव्यवस्था लोप आदि बातों का खुला समर्थन किया है।

अतः प्रोफेसर साहबने जो कुछ लिखा है वह यों ही सहसा नहीं लिख डाला किन्तु अन्य सुधारकों के समान ही उन्हों ने सब कुछ समझ बूझ कर लिखा है अतएव प्रोफेसर साहब जहां जैन साहित्य सेवा की दृष्टि से आदर के पात्र हैं वहां आगम प्रतिकूल विचार प्रगट करने के कारण पर्याप्त आलोचना के भी पात्र हैं।

आशा है आप अपनी इस खरी आलोचना को धैर्य गाम्भीर्य के साथ अवलोकन और मनन करेंगे।

इस पुण्यकार्य में निम्नलिखित महानुभावों की सहायता प्राप्त हुई है।

(१) प्रथम ही श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागरजी महाराज के चरणों में शतशः मस्तक झुकाकर उन्हें कोटिशः धन्यवाद है, आप पूज्य श्री ने बंबई दि०

जैन समाज के प्रति जो आपने उद्गार बताए हैं इसके लिये स्थानीय समाज आपकी पूर्ण ऋणी है आपने जो आशीर्वाद दिया है उसके लिये और भी बहुत आभारी है। आपने धर्म रक्षार्थ जो ट्रेक्ट लिखकर भेजा है वह बहुत ही सराहनीय और आदरणीय है। श्री जिनेन्द्रदेवसे यही प्रार्थना है कि श्री आचार्यमहाराज चिरायु हों और आपकी तपश्चर्या दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई समाज व धर्मके कल्याणका साधनरूप हो आपके प्रसाद से जो जैन समाज की प्रभावना हो रही है वह अकथनीय है। आपके अभिप्राय स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं।

(२) श्री १०८ वीरसागर जी, आदिसागर जी, सन्मतिसागर जी, सुमतिसागर जी महाराज, श्री आर्जिका जी महाराज, श्री १०५ ऐलक जी महाराज, श्री १०५ स्वरूपचन्द जी, व श्री १०५ असरफीलाल जी महाराज क्षुल्लक, व १०५ क्षुल्लक जी महाराज सूरसिंह जी व श्री भट्टारक जी देवेन्द्रकीर्ति जी महाराज व ब्रह्मचारियों को भी कोटिशः धन्यवाद है आप श्रीमानों की तरफ से जो धर्मरक्षार्थ ट्रेक्ट तथा सम्मतियां आई हैं वह सराहनीय तथा आदरणीय हैं। आशा है कि आप श्रीमान आगामी समयों पर धर्मरक्षार्थ हमको यथायोग्य सदुपदेश देते रहेंगे।

(३) श्री पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी आदि उदासीन महोदयों को धन्यवाद है जिन्होंने स्थानीय समाज की इच्छा ट्रेक्ट, सम्मति द्वारा भेजकर पूरी की है इसके लिये हम आपके पूर्ण आभारी हैं।

(४) श्रीमान वादिगज केशरी पं० मक्खनलाल जी मुरेना न्यायालंकार के हम बहुत आभारी हैं। इन्होंने सबसे पहिले हमारी प्रार्थना पर लक्ष्य देकर महत्त्वशाली ट्रेक्ट लिखकर भेजा है। समाज धर्म के प्रति आपके कितने योग्य परिणाम हैं सो ट्रेक्ट से मालूम हो जाता है इसके लिये आपको हार्दिक धन्यवाद है।

(५) पं० अजितकुमार जी मुलतान वालों के हम बहुत आभारी हैं जिन्होंने ट्रेक्ट द्वारा हमारे उत्साह को बढ़ाया है सो भी सराहनीय है। और निजी समय धर्म रक्षार्थ समझ कर इस ट्रेक्ट में बहुत लगाया है।

५००) पांच सौ रुपया व्यय करके भी जो प्रूफ संशोधन नहीं हो सकता था। वह आपने अमूल्य समय खर्च करके यों ही किया है और ट्रेक्ट छापने में हर तरह की तकलीफों का सामना करते हुए सहर्ष ट्रेक्ट को बहुत सुन्दरता के साथ छाप कर प्रकाशित किया है, इस लिये स्थानीय समाज आपको बहुत आभारी है और कोटिशः धन्यवाद देती है।

(६) हम समूह रूप पं० पन्नालाल जी सोनी, पं० कस्मनलाल जी; पं० इन्द्रलाल जी व श्रीलाल जी, पं० खूबचन्द, पं० सुमेरचन्द जी आदि महानुभावों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं कि इन सज्जनों ने हमारी सूचना को मान देते हुए अपना समय इस कार्य में लगा कर जो ट्रेक्ट व लेख तथा सम्मति भेजकर हमारी समाज के उत्साह को बढ़ाया है इस के लिये हम आप सब महानुभावों के पूर्ण आभारी हैं और आशा रखते हैं कि धर्मरक्षार्थ अपना विद्वत्ता का चमत्कार बराबर बताते हुए समाज सेवा चालू रक्खेंगे।

(७) हम सभी पंचायतियों को व उन महानुभावों को धन्यवाद देते हैं कि जिन्होंने स्थानीय समाज की सूचना पर लक्ष्य देकर निजी सम्मति व पंचायती द्वारा सम्मति भेजी है इस लिये हम सबके

आभारी हैं। आशा है समय समय पर धार्मिक कार्य में इसी तरह सहयोग देवेंगे।

(८) श्रीमान सरसेठ हुकमचन्द जी साहब इन्दौर को धन्यवाद देते हैं कि आपने इस विषय में अपना अमूल्य समय निकाल कर कष्ट उठाते हुए हमको उत्साहित रक्खा है। समय समय पर आपकी ओरसे पत्र, तार, टेलीफोन द्वारा नई २ सूचना मिली है जिससे इस कार्य में पूरी मदद मिली है। आप समाज के कार्यों में तन मन धन से पूर्णतया सहयोग देते हैं। बम्बई की दिगम्बर जैन समाज इसी बात को ध्यान में रखते हुए आपके प्रति पूर्ण आदरभाव रखती है। ट्रेक्ट के खर्च में आपने दो हजार रुपये की तार से मंजूरी दी थी जैसा पहले समाज के [illegible] बार पत्रों द्वारा प्रकाशित हो चुका है। [illegible] सहयोग तथा [illegible] [illegible] [illegible]नीय है।

(९) रायबहादुर सर सेठ भागचन्द जी सोनी अजमेर निवासी को जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है। सर सेठ साहब ने इस विषय में जितना सहयोग रखा है वह सराहनीय है। शंकासमाधान के महत्वपूर्ण विषय में आपने जो उदारता बतलाई है वह बहुत ही सराहनीय है। आपने उत्तर में लिखा था कि असेम्बली की मीटिंग चालू होगी उस समय भी जरूर पहुंचूंगा। समाज समझे कि आपके कितने धार्मिक भाव हैं। आपकी देव, शास्त्र, गुरु की तरफ जितनी लगन है वह सराहनीय व धन्यवादार्ह है। प्रोफेसर हीरालालजी के विषयमें स्थानीय समाज की तरफ से आपकी ही फर्म के नाम से पत्र-व्यवहार चालू है। श्री जी से प्रार्थना है कि हमारे समाज के ऐसे नररत्न महापुरुषों के परिणाम धर्म प्रति दिन दूने बढ़ते हुए धर्म रक्षार्थ होवें।

(१०) हम रायसाहब मोतीलाल जी रानी वाले ब्यावर निवासी को धन्यवाद देते हैं कि आपने शंकासमाधान के समयपर आने की सहर्ष स्वीकारता दी थी।

(११) हम स्थानीय दिगम्बर जैन समाज बम्बई को कोटिशः धन्यवाद देते हैं कि जिसकी छत्र छाया में यह महान कार्य सुन्दर रूप से निर्विघ्न रूप से समाप्त हुआ है। स्थानीय समाज ने जो यह कार्य किया है वह समयानुसार धर्मरक्षार्थ व देव शास्त्र गुरु के अवर्णवाद को दूर करने वाला है इस लिये उसे जितना धन्यवाद दिया जावे वह थोड़ा है। इस कार्य के चालू करने में पत्रों में व प्राइवेट सैकड़ों पत्र समाज के नाम प्रशंसात्मक रूप से विद्वानों के व पंचायतों के व मुनि महाराजों के आये हैं। स्थानीय समाज ने ट्रेक्ट छपाकर व शंकासमाधान करने के लिये समय समय पर पत्र-व्यवहार करके जो महान पुण्य कार्य किया है इसके लिये हम हार्दिक प्रशंसा करते हुए कोटिशः धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि भविष्य में कभी हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से ऐसा समय आ पड़े तो निडर हो निःसंकोच रूप में न्याय मार्ग का अनुसरण करते हुए धर्मरक्षार्थ तन मन धनसे अपना कर्तव्य पालन करने में कमी न रखेगी।

(१२) श्रीमान पं० रामप्रसाद जी साहब को बहुत ही हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिन्हों ने अपनी अस्वस्थता में भी रात दिन इस कार्य में बड़ा परिश्रम उठाया है और ट्रैक्ट का सम्पादन किया है। साथ में पं० उल्फतराय जी रोहतक निवासी का धन्यवाद है कि आपने जो इस कार्य में सहायता दी है वह

बहुत ही सराहनीय है। समाज ने आप लोगों की जिम्मेवारी पर यह काम छोड़ दिया था पर आप सज्जनों ने विशेषतः पं० रामप्रसाद जी साहब ने पं० अजितकुमार जी की सलाह के साथ बड़ी चतुरता के साथ चालूकर कार्य किया है यह सब श्रेय आपको ही है। पं० रामप्रसाद जी साहबने बहुत कमजोर होने पर भी जो कार्य सम्पादन किया है इसके लिये वे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। श्री जी से प्रार्थना है कि आप शीघ्र नीरोग हों।

(१३) श्रीयुत सुन्दरलाल जी मुनीम, सेठ जुहारमल जी मूलचन्द जी के हम बहुत आभारी हैं। जिन्होंने पंचायत की जिम्मेवारी को बड़ी योग्यता से सम्भाला है और बड़ी सुन्दरता, चातुर्य से इस महान कार्य को बहुत सरलता से निभाते हुए निर्विघ्न समाप्त किया है। आपकी प्रणाली बहुत ही मनमोहक चातुर्य पूर्वक है। हर तरह सब विचार रखते हुए सबको साथ में लेते हुए कार्य करने के परिणाम आपके बहुत ही सराहनीय हैं इस लिये आपको धन्यवाद है और आगामी धर्म रक्षार्थ ऐसे ही आप लोग लगन रखते हुए कार्य चलावेंगे ऐसी मुझे आशा है।

(१४) श्रीयुत भाई परमेष्ठीदास जी मेरठ वालों को हार्दिक धन्यवाद है कि आपसे ७००) मांगनी करनेपर आपने जरूरत पड़नेपर यह रकम ही क्या पूरी रकम तक देने के उद्गार बताये। आपने कहा-"धर्म कार्य रुकते नहीं, चालू करो।" इतनी छोटी उम्र होते हुए आपके परिणाम बड़े उदार रूप हैं। आपने धर्म के कार्य में एक साल में तीस हजार रुपये दिये है अतः बहुत ही प्रशंसा योग्य हैं। श्री जिनवर से प्रार्थना है कि आपके परिणाम दिन दूने धर्म रक्षार्थ बढ़ते रहें।

(१५) स्थानीय फकीरचन्द भाई को धन्यवाद है आप बहुत ही सरल परिणामी, दानी, सन्तोषी, स्त्री होने पर भी ब्रह्मचारी रहने वाले हैं तथा सामाजिक कार्यों में तन-मन-धन से हमेशा तैयार रहते हैं। स्थानीय गुलालवाड़ी के मन्दिर में आपकी बहुत देख रेख रहती है और इस ट्रैक्ट के सम्बन्ध में जिन किसी भाई को शंका थी उन सबके पास जाकर उन की शंका को दूर कर सबको एक सम्मिलित किया है यह परिश्रम सराहनीय है।

(१६) अन्त में ट्रैक्ट छपाने के लिये नियत की गई कमेटी के सदस्य पं० रामप्रसाद जी, पं० लालाराय जी, पं० मक्खनलाल जी मुरैना, पं० अजितकुमार जी मुलतान और मैं (निरंजनलाल) उसमें से पूर्व चारों महानुभावों को पूर्ण धन्यवाद है कि आपकी चतुर मंना ने बहुत ही परिश्रम करके यह ट्रैक्ट छपाया है।

भवदीय—
निरंजनलाल जैन खुर्जा वाला,
बम्बई

—×—



-: प्राक्कथन :-

दिगम्बर जैनधर्म में कुछ समयसे एक सुधारका-भास दल पैदा हो गया है उसके द्वारा मर्यादाको अतिक्रम करने वाले सामान्यवाद ने इतने पैर फैला लिये हैं कि विशेषता को लिये हुए जो दिगम्बर जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त थे उनको उड़ाने के लिये अनेक साधनाभासों का आविष्कार किया है।

श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी साहब ने जो 'शिवभूति और शिवार्य' पुस्तक प्रकाशित की तथा 'जैन धर्म का विलुप्त इतिहास' और द्रव्यस्त्री को मोक्ष, सचेलक को मोक्ष और केवली के भूख-प्यास की वेदना' इन तीन मन्तव्यों को लेकर पत्रक का प्रकाशन तथा उनकी ऐसी ही चर्चा का समाचारपत्रों में होना यह सर्व विषय उनकी प्रवृत्ति को सामान्य-वाद की तरफ जाने की सूचना दे रही है। परन्तु इनके विषय में यह एक खास बात अवश्य ही ऐसी प्रतीत होती है कि इनके जो कुछ अपने अभिप्राय हैं वे ग्रंथों की भूमिका में नहीं रखकर उनसे अलग ही जुदी जुदी पुस्तकों, पत्रक तथा समाचार पत्रों में रक्खे हैं परन्तु रक्खे इस ढङ्ग से हैं कि उनको पढ़कर लोगों का अभिप्राय इनकी वृत्ति को सामान्यवाद की तरफ ले जाता है। परन्तु ये अपने मन्तव्यों को शंका का रूप देकर उनके समाधान के इच्छुक हैं। इससे इनकी प्रवृत्ति सामान्यवाद की तरफ चली ही गई हो यह निश्चय कोटि की बात नहीं है।

इसी बात को लेकर बम्बई समाज ने इनकी शंकाओं के मार्जन का कार्य जो कि ट्रैक्ट रूप में प्रकाशित हो रहा है वह अपने हाथ में लिया है। ऐसा होने से एक ढेले द्वारा दो पक्षी उड़ाने सरीखी बात हो जायगी। अर्थात प्रोफेसर साहब की शंकायें निर्मूल होने से उनका समीचीन मार्ग में स्थितिकरण, दूसरा प्राचीन मार्ग की निर्दोषता सिद्ध होने से सामान्य बुद्धि वालों के मतिभ्रम का अभाव।

ये सब बात तभी ठीक हो सकती है जब कि प्रोफेसर साहब के मन्तव्य शंका के रूप में हों। हाल में उनके द्वारा जो कार्यप्रणाली है वह इस रूप में दीखती है। इसी लिये वह अन्य सुधारका-भासों की तरह सर्वथा सामान्यवादी एकांत से हों यह बात नहीं घटती। इसके विषय में सबल प्रमाण सिर्फ यही है कि आपके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की भूमिका (प्रस्तावना) में ऐसी कोई भी गन्ध नहीं है। बल्कि भूमिकाओं में तो आपने उन्हीं बातों की पुष्टि की है जो कि दिगम्बर जैन धर्मकी खास मान्य-ता को लियेहुये है। अतः मालूम होता है कि आपका ख्याल अभी उस सामान्यवाद में प्रोफेसर नेमिनाथ उपाध्याय और लाला जगतप्रसाद जी एम० ए०, बी० एस-सी०, सी० आई० ई०, ए० जी० पी० एण्ड आई० की तरह नहीं। इन दोनों ने स्वसम्पादित ग्रन्थों में जो इनके मत के विरुद्ध गाथाये हैं उनको क्षेपक बतलाकर दिगम्बर जैन धर्म की मान्यताओं को

ही एक दम उड़ाने का प्रयत्न किया है। ये लोग अपने मन्तव्यों को इंगलिश भूमिका में लिखा करते हैं अतः हिन्दीजानकारों को इनकी इन-असलीयतों की जानकारी नहीं मालूम पड़ने पाती।

भारतवर्षीय अनाथरक्षक जैनसोसायटी दरयागंज देहली से प्रकाशित हुए अष्टपाहुड की भूमिका के हिन्दी अनुवाद पढने से मालूम हुआ है कि इस ग्रन्थ की भूमिका और इस ग्रंथ का अनुवाद इङ्गलिशभाषा में लाला जगत्प्रसाद जी ने किया है। इन्हों ने जो भूमिका में विषय लिखा है वह बड़ी होशियारी के साथ इसी विषय को लेकर लिखा है कि-श्रीकुन्दकुन्द स्वामी प्राचीन आचार्य थे उनके समय में ऐसी कट्टरता को लिये पार्टीबन्दी नहीं थी इस लिये अचेलकत्व की और स्त्रियों की और शूद्र की मोक्ष निषेध की जो गाथायें हैं-वे सभी स्वामी कुंदकुंदाचार्य की न होकर पीछे से किसी की मिलाई हुई हैं। श्री लाला जगत्प्रसादजी ने जो कुछ यह विषय लिखा है वह प्रोफेसर नेमिनाथ आदिनाथ आदि के आश्रय से लिखा है विशेष परीक्षा करके नहीं लिखा है।

वास्तव में देखा जाय तो ऐसा लिखान मशाय कोटि का नहीं है इसीलिये इन लोगों ने निःशङ्कता से प्रस्तावना में यह विषय रखा है। इस दृष्टि से प्रोफेसर साहब की और इन लोगों की वृत्ति में बहुत ही अन्तर है। श्री प्रोफेसर हीरालाल जी साहब की कृति की अपेक्षा इन लोगोंकी कृति-दिगम्बर जैनधर्म के मन्तव्यों के लिये बहुत ही हानिप्रद है। इसलिये इनके मन्तव्यों के खण्डन का और इनकी अनर्गल प्रवृत्ति का प्रतिरोध करनेका कार्य दिगम्बरजैन समाज के लिये प्रथम कर्तव्य है।

इनके मन्तव्यों का खण्डन करने का विषय-तो पण्डित रामप्रसादजी शास्त्री ने अपने परिशिष्ट भाग में कुछ लिया है तथा औरभी विद्वान उसका खण्डन विशेषरूप से कर सकेंगे परन्तु इस अनर्गल प्रवृत्ति को रोकने का कार्य तो समाज का कार्य है इस लिये इस विषय में समाज जो उचित उपाय समझे सो करे। इस विषयमें एक विचारणीय आश्चर्य जनक विषय यह है यह इङ्गलिश पढ़े हुए विद्वान् अमूढ़ जैन धर्म के मर्म को न समझ कर ऐसी पद्धति का अनुसरण करें तो वैसी खटकने की जैसी बात नहीं है परन्तु सिद्धान्त के मर्मज्ञ होकर पण्डित कहला कर अमर्मज्ञों की श्रेणी में सम्मिलित होकर उनकी पीठ ठोकें और वैसा ही अनुकरण करें तो यह खटकने का विषय है। मेरी समझ से यह गुरु संस्कार का ही यहां दोष है।

पं० उल्फतराय शास्त्री, भिण्ड

—०—

सविनय निवेदन

श्रीमान बा० हीरालाल जी एम० ए० प्रोफेसर एडवर्ड कालेज अमरावती (वर्तमान में मोरिसकालेज नागपुर) के हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि "स्त्री मुक्ति, केवली कवलाहार तथा मुनि का वस्त्र परिधान श्री १०८ दिगम्बर जैन आचार्य पुष्पदन्त भूतबली विरचित षट्खण्डागम से सिद्ध होता है।" इन विचारों की पुष्टि में आपने अपनी ओर से एक ट्रैक्ट-बिल और दो ट्रैक्ट प्रकाशित किये तथा इनकी एक २

प्रति श्री ऐलकपन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन बम्बई में भी आपकी भेजी हुई प्राप्त हुई।

इनको देखकर माननीय पं० रामप्रसाद जी शास्त्री मैनेजर सरस्वती भवन, निरञ्जनलाल जी खुर्जावाले तथा मेरे हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस विषय पर दि० जैनसमाज में पत्रों द्वारा व्यक्तिगतरूप से चर्चा चली तो वह समाज के लिये लाभदायक न होगी। आवेशवश कोई महानुभाव भाषा समिति का पालन न कर सकें और कटु वाक्योंका प्रयोग कर जावें जिससे शान्ति के स्थान पर क्षोभ और भी बढ़ जावे। अतः सुन्दर उपाय यह ही रहेगा कि दि० जैनसमाजके पूज्य त्यागियों तथा विद्वानोंसे उन ट्रैक्टों का युक्तियुक्त उत्तर मंगाकर उन सब को स्थानीय पंचायतकी ओर से एकही ग्रंथ में प्रकाशित कर दिया जाय और उस ग्रन्थ की एक २ प्रति प्रत्येक दिगम्बर जैन मन्दिर, ग्रन्थभण्डार तथा अन्य संस्थाओं को भेज दी जावे यदि अन्यसमाज की मांग आवे तो उसपर उचित समझा जाय वहां भेजी जावे। इस तरह प्रोफेसर साहब की शंका दूर हो जायगी और दि० जैन समाजको भी स्थायी लाभ होगा। यदि मौखिक चर्चा का भी समुचित अवसर हो तो कुन्थलगिरि, इन्दौर आदि किसी स्थान पर उसके लिये भी उचित प्रबन्ध किया जावे।

सौभाग्य से उसी समय दिगम्बर जैनसमाज के नेता श्रीमान रावराजा सरसेठ हुकमचन्द जी इन्दौर व रायबहादुर सरसेठ भागचन्द जी सोनी आनरेरी लैफ्टीनेन्ट ओ० बी० ई० अजमेर (सभापति भा० दि० जैन महासभा) यहां पर पधारे हम आपके पास गये और अपने पूर्वोक्त विचार आपके सामने रक्खे आपने हमारी भावना शुद्ध समझकर हमको पूर्णतया आश्वासन दिया और कहा कि आपके हृदय में जो देव, गुरु, शास्त्र के अवर्णवाद दूर करने की भावना उत्पन्न हुई है हम हर तरह से आपसे सहमत हैं और तन मन धन से सहयोग देने को तैय्यार हैं ट्रैक्ट में तात्विक भावना रखते हुए आक्षेपादि से रहित मिष्ट भाषा में पूज्य त्यागियों तथा विद्वानों के लेख रहने चाहियें पत्रों में इस विषय में अधिक चर्चा न होने पावे। ऐसा होने से प्रो० हीरालाल की शंका दूर हो जायगी और समाज में भी शांति व धार्मिक श्रद्धान बना रहेगा।

हमने उनको पूर्ण आश्वासन दिया कि ऐसा ही होगा।

तत्पश्चात दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई ने इस कार्य को सुसम्पन्न करने के लिये एक कमेटी स्थापित की पत्रव्यवहार करनेका भार 'जुहारमल मूलचन्द' को दिया गया आपके मुनीम श्रीमान सेठ सुन्दरलाल जी ने इस विषय में अच्छा कर्तव्य—पालन दिखाया है आपने इस कार्यमें श्रीमान निरंजनलालजी खुर्जावाले से सहयोग प्राप्त किया तदनुसार भाई निरंजन लाल जी ने इस दशा में बहुत सुन्दर काम कर दिखाया आपका परिश्रम प्रशंसनीय है। सेठ परमेष्ठीदास जी ने आर्थिक सहायता के विषय में पूर्ण आश्वासन दिया तथा पूरा सहयोग दिया आपको कोटिशः धन्यवाद है।

बम्बई पंचायत के अनुरोधपूर्ण प्रेरणा पर जो पूज्य त्यागीवर्ग ने तथा मान्य विद्वन्मण्डली ने प्रोफेसर हीरालाल जी के ट्रैक्टों का युक्तियुक्त उत्तर लिख कर जो अपना कर्तव्य पालन किया है तदर्थ उनको भूरिशः धन्यवाद है। और जिन श्रीमानों ने इस धार्मिक कार्य में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया है

उनको धन्यवाद है। श्रीमान सेठ सुहालमल मूलचंद जी, उनके मुनीम सेठसुन्दरलालजी, माननीय पण्डित रामप्रसाद जी शास्त्री तथा भाई निरंजनलाल जी ने अपने उत्तरदायित्व को बहुत अच्छे ढंग से निभाया है एतदर्थ आपको धन्यवाद है।

पण्डित अजितकुमार जी शास्त्री मुलतान वालेने ट्रैक्ट छापने का कार्य बड़ी भक्ति से तन मन धन से संलग्न होकर किया है उनका यह कार्य बहुत सराहनीय है अतः उनको भी धन्यवाद है।

हम श्री जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना करते हैं कि यह धार्मिक प्रयास सफल हो और मान्यवर प्रोफेसर साहब का संशय दूर हो जिससे वह भविष्य में और भी अधिक सिद्धान्त ग्रन्थ का उद्धार कर सकें।

माननीय पण्डित रामप्रसाद जी शास्त्री ने जो ट्रैक्ट लिखा है उसका मैं हृदयसे समर्थन करता हूं।

निवेदक:—

उग्रसेनरायजैन (रोहतक) बम्बई।

—o—

कुछ ज्ञातव्य बातें

वीरशासन महोत्सव कलकत्ता में बहुत से विद्वान संमिलित हुए थे। उस समय प्रो० हीरालाल जी आये हुए थे, अतः विद्वत्परिषद् में यह विचार हुआ कि जिन विषयों को लेकर प्रो० हीरालालजी ने चर्चा उठाई है उनके विषय में चर्चा करने के लिये यदि वे तैयार हों तो आमने सामने बातचीत का हो जाना अच्छा है। रूपरेखा बनाते समय यह निश्चय हुआ कि विद्वत्समाज की ओर से एक वक्ता ही बोले तदनुसार यह अधिकार पं०राजेन्द्रकुमारजी, प्रधानमन्त्री संघ को दिया गया।

करीब एक बजे प्रो० हीरालाल जी सा० प्रेमीजी व बैरिस्टर जमनाप्रसाद जी जज के साथ जैनभवन के विद्वानों के निवास स्थान पर पधारे। तदनन्तर सब मिलकर वहां से व्याख्यान भवन में गये। वहां पहुंचकर चर्चा किस क्रम से की जाय यह तय किया गया। निश्चय हुआ कि प्रो० हीरालालजी की ओर से वे स्वयं चर्चा करेंगे और दूसरी ओरसे पं०राजेंद्रकुमार जी चर्चा करेंगे। तथा जिस उत्तर को दूसरी ओर का विद्वान लिखकर चाहेगा वह लिखकर दे दिया जायगा। मध्यस्थ का काम पं० कन्हैयालाल जी मिश्र 'प्रभाकर' को सर्व सम्मति से सौंपा गया। जो अपने समय तक उन्हों ने बड़ी योग्यता से निभाया।

चर्चाका प्रारम्भ प्रो०हीरालालजी ने किया। उन्होंने बतलाया कि ऐसा नियम है कि ओरिटियल कान्फ्रेंस में कुछ विषय विद्वानों में परस्पर चर्चा के लिये रखे जाते हैं। इस साल मैं इस सभाके प्राकृत व जैनधर्म विभाग का अध्यक्ष था। अतः मैंने सोचा कि जिन कारणों से दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो फिरके हैं उन कारणोंपर विचार करनेके लिये चर्चा उठाई जाय। ये तीन विषय स्त्री मुक्ति, सवस्त्र सिद्धि और केवली कवलाहार हैं। दिगम्बर परम्परा में ये तीनों बातें स्वीकार नहीं कीगई हैं किन्तु श्वेताम्बर इन्हें मानते हैं अतः मैंने दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों पर से इनको कान्फ्रेंस में बतलाने का प्रयत्न किया था।

इस पर पहले से मैंने एक पर्चा छपवाया था जिसका उद्देश्य चर्चा था, प्रचार नहीं। मैंने इसका प्रचार नहीं किया। किन्तु किसी प्रकार से वह पर्चा बम्बई पंचायत को मिल गया। अतः उसने इसका प्रचार किया है।

मैं दूसरे विद्वानों की सहायता से धवलग्रंथ का सम्पादन करता आ रहा हूं। प्रारम्भ में इस विषय को बिल्कुल नहीं जानता था। उस समय जो विद्वान अनुवाद करते थे उन्हीं की सलाह पर ही मुझे निर्भर रहना पड़ता था। धवल के प्रथम भाग के ९३ वें सूत्र में 'संजद' पद उस समय के विद्वान पं० फूलचन्द जी व पं० हीरालाल जी की सलाह से ही जोड़ा गया था। अभी पं० फूलचन्द जी के साथ जैन सन्देश में वेद वैषम्य को लेकर बड़े ही अच्छे ढंग से चर्चा चल रही है। अब भी यदि वेद वैषम्य सिद्ध हो जाय तो मेरी सब शंकाएं दूर हो जायगी।

इस पर प० राजेन्द्रकुमार जी ने कहा कि मैं प्रो० सा० के इस कथन से सहमत नहीं कि प्रो० सा० ने उक्त परचा चर्चा के लिये छपवाया था। ऐसे प्रमाण हैं जिन से यह सिद्ध किया जा सकता है कि उन्होंने उक्त परचे का प्रचार भी किया। जब वे ओरिंटियल कान्फ्रेंस में बनारस आये थे तब तक उन्होंने बनारस के विद्वानों के पास व मेरे पास वह परचा नहीं भेजा था किन्तु दूसरी जगह वे इसके पहले ही परचा भेज चुके थे। एक पत्र में हमें केवल इतना ही मालूम हुआ था कि वे किसी गंभीर विषय पर चर्चा करना चाहते हैं। मैं भी उस समय बनारस आ गया था। प्रो० सा० के आने पर दिन के दस बजे मैं, पं० कैलाशचन्द्रजी व पं० फूलचन्द्र जी उनसे मिलने के लिये गये। किन्तु मालूम हुआ कि वे पं० सुखलाल जी के साथ पार्श्वनाथ विद्याश्रम में भोजन के लिये गये हुए हैं।

तब हम लोग वहीं कुर्सियों पर बैठ गये। सामने टेबुल रखी थी उसपर हम लोगों की दृष्टि गई। देखा कि कुछ छपे हुए परचे रखे हुए हैं। उठाकर देखा तो ये वे ही परचे निकले जिनमें स्त्रीमुक्ति आदि की सिद्धि की गई थी। आप लोग भले ही उसे पाप समझें किन्तु हम लोगों ने उनमें से कुछ परचे उठाकर अपनी जेबों में रख लिये। साथ ही यह निश्चय किया कि जब तक प्रो० सा० स्वयं इस विषय की चर्चा नहीं करेंगे तब तक इस विषय की चर्चा को नहीं छेड़ना चाहिये।

इसके बाद वे शाम को आमन्त्रित होकर विद्यालय में भी आये। उन्हों ने और और विषयों पर अनेक चर्चाएं भी की किन्तु इस विषय में अक्षर भी नहीं कहा। हां रात्रि को जब वे पं० फूलचन्द्र जी को लेकर शहर घूमने गये तब अवश्य उन्होंने पं० जी को एक परचा दिया। यद्यपि खुले अधिवेशन में अन्त में इस चर्चा का प्रारम्भ प्रो० हीरालालजी ने किया था। मैं, पं० कैलाशचन्द्रजी व पं० फूलचन्द्र जी इसके विरोध में भी बोले थे किन्तु वहां इतना कम समय मिला जिससे इसकी विस्तृत चर्चा न की जा सकी। इसके बाद मैं व पं० कैलाशचन्द्र जी दूसरे दिन प्रो० सा० से मिले थे। कुछ विचार विनिमय के बाद हम ने चुप्पी साध ली

थी। आशा थी कि प्रो० सा० अपने विचारों को स्वयं बदल लेंगे। किन्तु अब स्थिति ऐसी आ गई है जिससे इधर ध्यान देना आवश्यक है।

"जैनसन्देश" (३०-११-४४)

प्रो० साहब के वक्तव्य पर मेरा स्पष्टीकरण

'जैन सन्देश' के ३० नवम्बर के अंक में ,'प्रो० हीरालालजी से चर्चा" शीर्षक लेख छपा है। जिसमें उन्हों ने प्रारम्भ में 'मैं इस विषय को बिलकुल नहीं जानता था, उस समय जो विद्वान काम करते थे, उन्हीं की सलाह पर ही मुझे निर्भर रहना पड़ता था' आदि अपना वक्तव्य प्रगटकिया है, वह बहुत भ्रामक और असत्य है। सच बात यह है कि प्रथम दो भागों का अनुवाद अमरावती पहुंचने के पूर्व ही मैं उज्जैन में कर चुका था, उसमें मूल, अर्थ या टिप्पणी में कहीं भी मैंने 'संजद' पद ९३ वें सूत्र में नहीं जोड़ा था। अमरावती पहुंचने पर वहां की व्यवस्थानुसार प्र० भाग के अनुवाद की प्रेस कापी करने का काम पं० फूलचन्द जी को सौंपा गया। उक्त स्थान के विचारार्थ सामने आने पर मैंने अपनी ओर से जोड़ने का विरोध ही किया था और इसी कारण सूत्र में वह पद जोड़ा भी नहीं जा सका। अनुवाद में कैसे जुड़ गया यह आप दोनोंही जानें, क्योंकि अनुवाद की प्रेस कापी करने तथा प्रूफरीडिंग और छपने को आर्डर देने के आप दोनों ही क्रमशः जिम्मेदार हैं। इसी सूत्र के 'आवको-विशिष्ट-मनुष्यगतौ' पद का जो भ्रामक अर्थ छपा है, उसके जिम्मेवार आप दोनों ही हैं। प्रमाण के लिये मेरे हाथ का अनुवाद अभी भी देखा जा सकता है।

पं० हीरालाल शास्त्री उज्जैन,
"जैन सन्देश"

-: कतिपय सम्मतियां :-

(१)

पूज्य श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी महाराज—

श्री १०८ परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर महाराजने प्रो०हीरालालजी की शंकाओं के सम्बन्ध में कहा है कि "प्रो० हीरालाल जी केवली श्रुतकेवली या गणधर तो हैं ही नहीं परन्तु दि० जैन सिद्धान्त के ऐसे ज्ञाता भी नहीं हैं जिनके कि वचन को प्रामाणिक दृष्टि से माना जा सके। अत एव उनकी शंकाओं के सम्बन्धको लेकर विद्वान् लोग जो इतना अधिक प्रयत्न कर रहे हैं और उन्हें महत्व दे रहे हैं सो हमारी समझमें ठीक नहीं है। दि० जैन-सिद्धान्त का ज्ञान रखने वाला कोई भी विद्वान १स्त्री-मुक्ति, २ केवलिभुक्ति, ३ औरसवस्त्रसंयम एवं मोक्षके निरूपण को सत्य एवं आगमानुकूल नहीं मान सकता यह तीनों ही विषय आगम एवं युक्ति से बाधित हैं।

द०- खूबचन्द जैन कुन्थलगिरि,
३-११-४४

(२)

श्री परमपूज्य स्वर्गीय १०८ आचार्य चंद्रसागर श्री महाराज की परोक्ष सम्मति

श्रीमान सेठ तनसुखलाल जी काला से हमारा वार्तालाप होने पर यह ज्ञात हुआ कि श्री आचार्य चन्द्रसागर जी महाराज ने प्रो० हीरालाल जी अमरावती वालों के विषय में ऐसा वक्तव्य दिया था (जब कि हमने उनसे सम्मति मांगने को पत्र दिया था) कि —

"ऐसे व्यक्तियोंको जबाब देना उचित नहीं ऐसे तो दिगम्बर धर्म के प्रति सैकड़ों कहते आये हैं। कहां उनका ज्ञान और कहां पूर्वज आचार्योंका ज्ञान। ऐसे संशयालु तो बहुत हैं उनको कुछ भी जबाब नहीं देना दिगम्बर जैनधर्म में कहीं भी किसी जगह इनके कहे हुए विषय नहीं हैं, न मिल सकते हैं। इन्होंने दि० जैन धर्म पर बहुत बड़ा भारी कुठाराघात किया है। इनके कहनेसे कुछ नहीं हो सकता श्रद्धानी सन्य कभी भी दि० जैनधर्म के मन्तव्यों से चलायमान नहीं हो सकते। एक क्या सैकड़ों कहें तो कुछ धर्म में शिथिलता नहीं आ सकती। इनके विचार धर्म के प्रति कैसे हैं इस जानकारीके लिए उनके द्वारा प्रकाशित अन्य पुस्तकों से जान लेना चाहिये फिर ज्ञात हो जायगा कि इनके परिणाम धर्म के प्रति कितने श्रद्धास्पद हैं। श्री १०८ कुंदकुन्दाचार्य के प्रति जो भाव बतलाये हैं वह तो हद के बाहर लिखे हैं। श्री आचार्य के प्रति महान अन्याय किया है। देवशास्त्र, गुरु का जो अवर्णवाद किया है इसका फल आगामी काल में अवश्य ही सहन करना होगा।

निरंजनलाल जैन,

(३)

श्रीमान रावराजा, रईसुद्दौला, सर सेठ हुकमचन्दजी की सम्मति

प्रोफेसर हीरालाल जी अमरावती वालों ने जो दिगम्बर जैन धर्म के विपरीत विषय की सब से प्रथम महान से महान उच्चकोटि के ग्रन्थ श्री षट् खण्डागम धवल के जरिये पुष्टि की है वह बिलकुल अयुक्त है ऐसा करना दिगम्बर जैनी के हाथों से दिगम्बर जैनधर्म के लिये भविष्य में बहुत भयानक, कटुक फलदायी होगा जिस विषय को आपने लिखा है वह निम्नप्रकार है।

(१) परमपूज्य श्री १०८ आचार्य कुंदकुंद स्वामी को लिखा है कि उन्हों ने कर्मसिद्धांत का विचार कर के नहीं लिखा है।

(२) स्त्री पर्याय से मुक्त हो सकती है।

(३) सवस्त्र मुनि हो सकते हैं।

(४) केवली कवलाहारी होते हैं।

यह सब देव शास्त्र गुरु का अवर्णवाद रूप है। जो स्वामी कुन्दकुन्द आचार्य पंचमकाल में विदेहक्षेत्र जाकर तीर्थंकर महाराज के पादानुमूल में धर्म श्रवण करते हैं उनके प्रति अज्ञानी बतलाना बड़ा भयानक अवर्णवाद है कहां पहले पूर्वजोंका ज्ञान, कहां आपजी छद्मस्थों का ज्ञान। उनके चरणों की तुलना न कर सकनेवाले ऐसा लिखें सो बहुत गैरवाजबी है इससे हमारा तथा हमारी समाज का मन बहुत दुखी है। और यह चारों विषय दि० धर्म के प्रति बहुत हानिकारक हैं। ऐसा विषय न तो कभी सुना है और न हो किसी हालत में दि० धर्म में आया है तथा न ही माने जा सकते हैं आप जैसे सज्जनों से ऐसा होना

उचित नहीं। आप हमारी समाज के विद्वानों में है अपना मत पृथक् लिखें पर शास्त्रों में अपनी तरफ से कोई शब्द मिलाना ठीक नहीं है। जैसा कि 'संजद' शब्द आपने अपनी तरफसे जोड़ा है जिसका खुलासा पं० हीरालाल उज्जैन वालों ने सब पेपरों में किया है कि मेरे हाथ की असली कापी में यह संजद पद नहीं लिखा है। मुझसे कहा गया परमैंने नहीं लिखा था' तो आपको ऐसा करना ठीक नहीं हम आशा करते हैं कि स्वाध्याय प्रेमी सज्जन इन विषयों से सावधानी-पूर्वक स्वाध्याय करेंगे इन विषयों को दिगम्बर धर्म के बाहर समझेंगे।

स्वरूपचन्द हुकमचन्द, इन्दौर

श्रीमान पं० खूबचन्द जी शास्त्री की सम्मति

केवलिकवलाहार, स्त्रीमुक्ति, और सवस्त्रमुक्ति, ये तीनों ही विषय दिगम्बर जैनागमके सर्वथा विरुद्ध हैं साथ ही दि०जैनागम की यह मान्यता युक्तियुक्त एवं अनुभवमें उतरने वाली है। मालूम होता है प्रो० हीरालाल जी ने दि० जैनाम्नाय तथा उसके आगम प्रतिपादित विषयोंका रहस्य समझा नहीं है।

ह०खूबचन्द जैन।





जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय

[प्रोफेसर हीरालाल जैन, [illegible]]

(नोट-इस लेखके बीच में जो अंक दिये हुये हैं वे नीचे की टिप्पणी के हैं)

मैंने अपने 'शिवभूति और शिवार्य' शीर्षक लेख में[1] मूलभाष्य में उल्लिखित बोटिक संघ के संस्थापक शिवभूति को एक ओर कल्पसूत्र स्थविरावलीके आर्य शिवभूति से और दूसरी ओर दिगम्बर ग्रन्थ आराधना के कर्ता शिवार्य से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जिसमें उक्त तीनों नामों का एक ही व्यक्ति से अभिप्राय पाया जाता है जो महावीर के निर्वाण से ६०६ वर्ष पश्चात् प्रसिद्धि में आये। मूल भाष्य की जिन गाथाओं पर से मैंने अपना अन्वेषण प्रारम्भ किया था उनमें की एक गाथा में शिवभूति की परम्परा में 'कोडिन्नकुट्टवीर' का उल्लेख आया है[2]। अतः प्रस्तुत लेख का विषय शिवभूति अपर नाम शिवार्य के उत्तराधिकारियों की खोज करना है।

इस सम्बन्ध में मेरे प्राथमिक अन्वेषण से निम्न लिखित बातें प्रकाश में आती हैं—

१-स्थविरावली के अनुसार शिवभूति के शिष्य और उत्तराधिकारी 'भद्र' हुए[3]।

२-श्रवणबेल्गोला के एक लेखानुसार भद्र या श्रीभद्र ही भद्रबाहु के नाम से प्रसिद्ध हुए और उन्हीं के शिष्य चन्द्रगुप्त थे[4]।

३-ये ही वे भद्रबाहु थे न कि उनसे पूर्ववर्ती, जिन्होंने श्रवणबेल्गोला शिलालेख नं० १ के अनुसार द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी की और उज्जयिनी से दक्षिण देश को प्रस्थान किया। इन भद्रबाहु को 'स्वामि' की विशेष उपाधि दी गई है[5]।

---

१ नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल, नं० ६

२ बोडिअसिवभूईओ बोडिअलिंगस्स होइ उप्पत्ती। कोडिन्नकुट्टवीरा परम्पराफासमुप्पन्ना ॥१४८॥

३ थेरस्स णं अज्जसिवभूइस्स कुच्छसगुत्तस्स अज्जभद्दे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥२०॥ × × × ते वंदिऊण सिरसा भद्द वंदामि कासवगुत्तं ॥२॥

४ देखो शिलालेख नं० ४० (६४) [श्री] भद्रस्स र्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः। श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः ॥४॥ चन्द्रप्रकाशोज्वल-सान्द्र-कीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः। यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनां।

५ गौतमगणधर-साक्षाच्छिष्य-लोहार्य-जम्बू-विष्णुदेवापराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाख-प्रोष्ठिल-कृत्तिकार्य-जयनाम-सिद्धार्थ-धृतिषेण--बुद्धिलादि-गुरुपरम्परीणक्रमाभ्यागत--महापुरुषसन्तति-समवद्योतितान्वय-भद्रबाहुस्वामिना उज्जयिन्यामष्टाङ्गमहानिमित्ततत्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसंवत्सर कालवैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्व्वस्संघ उत्तरापथाद्दक्षिणापथम्प्रस्थितः .....।

४-दिगम्बर जैन साहित्यमें जो आचार्य स्वामी[६] की उपाधि से विशेषतः विभूषित किये गये हैं वे आप्त मीमांसा के कर्ता समन्तभद्र ही हैं। कथाओं की परम्परा उनका शिवकोटि या शिवायन से भी संबंध स्थापित करती है[७]। कहा जाता है कि समन्तभद्र ने शिवकोटि के निर्माण किये हुए मन्दिर में प्रवेश किया और वहां की शिवप्रतिमा में से चन्द्रप्रभ की प्रतिमा प्रगट की[८]। यह भी कहा गया है कि उन्हों ने अपनी धर्मयात्रा पाटलीपुत्र से प्रारम्भ की और वहां से वे मालवा, सिन्ध और ठक्क देशों में परिभ्रमण कर अन्ततः कांचीपुर करहाटक में पहुंचे[९]।

५-श्वेताम्बर पट्टावलियों में सामन्तभद्र की प्रसिद्धि चन्द्रकुल के आचार्य तथा वनवासी गच्छके संस्थापक के रूप में पाई जाती है।[१०]

६ देखो रत्नकरण्ड श्रावकाचार, भूमिका पं० जुगलकिशोर मुख्तार कृत पृ० ८।

"स्वामी, यह वह पद है जिससे 'देवागम' के कर्त्ता महोदय खास तौर से विभूषित थे और जो उन की महती प्रतिष्ठा तथा असाधारण महत्ता का द्योतक है। बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानों ने उन्हें प्रायः इसी (स्वामी) विशेषण के साथ स्मरण किया है और यह विशेषण भगवान समन्तभद्र के साथ इतना रूढ़ जान पड़ता है कि उनके नामका प्रायः एक अंग हो गया है। इसी से कितने ही बड़े बड़े विद्वानों तथा आचार्यों ने, अनेक स्थानों पर, नाम न देकर, केवल स्वामी पदके प्रयोग द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है और इससे यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि 'स्वामी' रूप से आचार्य महोदय की कितनी अधिक प्रसिद्धि थी।"

७ 'तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बित-देहयष्टिः। संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तद-लञ्चकार' ॥११॥ (श्रवण बेल्गोला लेख नं० १०५ (२५४).). 'शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवा-यनः शास्त्रविदां वरिष्ठौ।' (विक्रान्त-कौरवीय नाटक।)

८ तां कृत्वाष्टमश्रीमच्चन्द्रप्रभजिनेशिनः। तम-स्तमोरिव रश्मिभिर्भासितं संस्तुतेः ॥ वाक्यं याव-त्पठत्येवं स योगी निर्भयो महान्। तावत्तल्लिङ्गकं शीघ्रं स्फुटितं च ततस्तराम् ॥ निर्गता श्रीजिनेन्द्रस्य प्रतिमा सुचतुर्मुखी। संजातः सर्वतस्तत्र जयकोलाहलो महान् ॥६६-६८॥ कथा ४, समन्तभद्रस्वामिनः कथा आराधना-कथाकोष, नेमिदत्त कृत।

९ पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता। पश्चान्मालव-सिन्धुटक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे ॥ प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं। वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं ॥७॥ श्रवण-बेल्गोला लेख नं० ५४ (६७)। इसे नेमिदत्त ने आराधना कथाकोष में भी उद्धृत किया है।

१० श्रीवज्रशाखा-धुरि वज्रसेनान्नागेंद्रचन्द्रादिकुल-प्रसूतिः। चांद्रे कुले पूर्वगतश्रुताढ्यः सामंतभद्रो विपिनादिवासी ॥६॥ (गुरुपर्वक्रमवर्णनम्, गुण-रत्नसूरि कृत।) सिरिवइजसेणसूरी चाउद्दसमो चंद-सूरि पंचदसो। सामंतभद्दसूरी सोलसमो रण्णवास-रई ॥६॥ श्रीचन्द्रसूरिपट्टे षोडशः श्रीसामंतभद्रसूरिः। स च पूर्वगत-श्रुतविशारदो वैराग्यनिधिर्निर्ममतया देवकुलवनादिष्वेवावस्थानात् लोके वनवासीत्युक्तस्त-स्माच्चतुर्थं नामवनवासीति प्रादुर्भूतं ॥६॥ (तपा-गच्छ पट्टावली)। निर्ग्रंथः श्रीसुधर्माभिगणधरतः कोटिकः सुस्थिताद्यांश्चचंद्रः श्रीचन्द्रसूरेस्तदनु च वन-वासीति सामन्तभद्रात् ॥२१॥ (श्रीसूरिपरम्परा)। और भी देखो—पट्टावली सारोद्धार (१६) श्री गुरु पट्टावली (१६) (पट्टावली समुच्चय मुनिदर्शनवि-जयकृत)।

अब हमें यह देखने का प्रयत्न करना चाहिये कि उक्त बातों का निष्कर्ष क्या निकलता है। भद्र और भद्रबाहु का एकीकरण तो श्रवणबेल्गोला के लेख नं० ४० (६४) से सहज ही हो जाता है, क्योंकि वहां स्पष्टतः कहा गया है कि भद्रबाहु का ही पूर्वनाम भद्र या श्रीभद्र था।११ ऐसी कोई बात भी नहीं पाई जाती जिससे इस अभिन्नता का कोई विरोध उत्पन्न हो। समंतभद्र और सामंतभद्र इन दो नामों में तो प्रायः कोई भेद ही नहीं है। अकार का ह्रस्वत्व या दीर्घत्व कोई महत्व नहीं रखता। सामंतभद्र के सम्बंध में यह जो कहा गया है कि उन्होंने बनवासी गच्छ स्थापित किया, उससे उनका सम्बन्ध दक्षिण देश से स्पष्ट है, क्योंकि उत्तर कर्नाटक देशका ही नाम बनवासी था। यही नाम उस देशके प्रमुख नगर 'क्रौंचपुर' का भी था जो तुङ्गभद्रा की शाखा-नदी वरदा के तटपर स्थित था १२। बनवासी गच्छ की स्थापना का इतिहास समंतभद्र संबंधी दिगम्बर कथानकों के प्रकाश में अच्छा समझ में आ जाता है जिसके अनुसार समंतभद्र ने अपनी धर्मयात्रा पाटलीपुत्र से प्रारम्भ की, पश्चात् उन्होंने मालवा, सिंध और ठक्क (पंजाब) में भी धर्मप्रचार किया और फिर वे कांचीपुर और करहाटक में जा पहुंचे। इनमें का अंतिम स्थान निस्संदेह रूप से बंबईप्रांत के सतारा जिले का 'कराड' ही होना चाहिये और तब मेरे मतानुसार कांचीपुर कर्नाटक का क्रौंचपुर होना चाहिये, न कि मद्रास के निकट तामिल देशीय कांची उक्त पद्य में१३ वैदिश संभवतः कांचीपुर का विशेषण है और वेदवती नदी का बोधक है जो उसी वरदा का दूसरा नाम पाया जाता है जिसके तट पर क्रौंच-पुर स्थित था। यह विशेषण खासकर प्रस्तुत नगर को उसी नाम के अन्य प्रसिद्ध नगर से पृथक् निर्दिष्ट करने के लिये लगाया गया जान पड़ता है।

समंतभद्र के संबंध में जो दिगम्बर परम्परा में अन्य बातें पाई जाती हैं उन्हें यदि हम समन्तभद्र के संबंध में श्वेताम्बर उल्लेखों के प्रकाश में देखें तो वे अच्छी समझ में आने लगती हैं। समंतभद्र के शिवकोटि के मन्दिर में प्रवेश १४ करने का यह अर्थ समझा जा सकता है कि वे शिवभूति या शिवार्य के संघ में शिष्य रूप से प्रविष्ट हुए। एवं शिव प्रतिमा में से चन्द्रप्रभ की प्रतिमा प्रकट करना १५ इस बात का सांकेतिक वर्णन हो सकता

---

११ ऊपर फुटनोट नं० ४ देखिये।

१२ देखिये Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India, by Nundolal Dey.

१३ ऊपर फुटनोट नं० ६ देखिये। वैदिशको मालवा की विदिशा नगरी के अर्थ में लेने से प्रसंग ठीक नहीं बैठता, क्योंकि मालवा का उल्लेख पद्य में पहले ही आ चुका है। इसी लिये श्रवणबेल्गोला लेखों को पहले पहल अनुवादित करने वाले लुईस राइस साहब ने उसका अर्थ 'out of the way Kanchi' अर्थात् दिशा से दूर की कांची किया था। मि० आय्यंगर उसका अनुवाद करते हैं 'the far off city of Kanchi' अर्थात् बड़ी दूर का कांची नगर।

१४ स योगी लीलया तत्र शिवकोटिमहीभुजा। कारितं शिवदेवोरुप्रासादं संविलोक्य च ॥२०॥ आदि (आराधना कथाकोष)

१५ देखिये ऊपर फुटनोट नं० ८

है कि शिवार्य के संघ में उन्होंने चन्द्र शाखा का वनवासी गच्छ स्थापित किया। भक्तामर स्तोत्र के कर्ता मानतुङ्ग इसी चंद्रकुल में समंतभद्र से चार पीढ़ी पीछे हुए कहे गये हैं, १६ तथा अपभ्रंश काव्य करकंड-चरिउ के दिगम्बर कर्ता कनकामरमुनि ने भी अपने को चंद्रगोत्रीय प्रकट किया है १७।

सामंतभद्र का जो काल श्वेताम्बर पट्टावलियों में बतलाया गया है वह भी उक्त अभिमत्य के अनुकूल पड़ता है। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार वज्रसेन का स्वर्गवास वीर निर्वाण से ६२० वर्ष पश्चात् हुआ और उनके उत्तराधिकारी चंद्रसूरि और उनके सामंत भद्रसूरि हुए १८। इस प्रकार वे सहज ही उन शिवार्य के लहुरे समसामयिक समझे जा सकते हैं जिन्होंने वीर निर्वाण से ६०६ वर्ष पश्चात् संघ स्थापित किया था १६। यह समय आप्तमीमांसा के कर्ता समंतभद्र के लिये भी अनुकूल सिद्ध होता है२०।

इस प्रकार स्थविरावली के भद्र और दिगम्बर लेखों के भद्रबाहु को एक व्यक्ति एवं श्वेताम्बर पट्टावलियों के सामन्तभद्र और दिगम्बर साहित्य के समन्तभद्रको भी एक ही व्यक्ति सिद्ध करने के पश्चात् अब देखना यह है कि क्या उक्त प्रकार से प्रकट हुए दो व्यक्ति भी एक ही सिद्ध हो सकते हैं? इसके लिये हमें श्रवणबेल्गोल के प्रथम शिलालेख पर ध्यान देना चाहिये जो कि सब से प्राचीन है, अतः भद्रबाहु के सम्बन्धमें सब से अधिक प्रामाणिक आधार है। इस लेख को सावधानी से पढ़ने पर इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहता कि उज्जैनी में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी करने वाले भद्रबाहु प्राचीन पांच श्रुतकेवलियों में से नहीं हैं, किन्तु उनसे बहुत पीछे उसी आम्नायमें होनेवाले दूसरे ही आचार्य हैं २१। अतः इन्हें दूसरे भद्रबाहु जानना चाहिये, और जिस दुर्भिक्ष की उन्हों ने भविष्य वाणी की थी वह वही होना चाहिये, जिसका उल्लेख आवश्यकचूर्णि में मिलता है। इस लेख के अनुसार वज्रस्वामी के समय में एक बड़ा घोर दुर्भिक्ष पड़ा जिसके कारण वज्रस्वामी ने दक्षिण को विहार किया २२। पट्टाव-

१६ देखिये पट्टावली समुच्चय

१७ चिरु वियवरवंसुप्पण्णएण। चंदारिसिगोत्तें विमलएण॥ वइरायइं हुयइं दियंबरेण। सुपसिद्धणाम-कणयामरेण॥

आदि (करकंडचरिउ १०, २८, १-८)

१८ स च श्रीवज्रसेनो ××× सर्वायुः साष्टाविंशतिशतं १२८ परिपाल्य श्रीवीरात् विंशत्यधिक षट्शत ६२० वर्षान्ते स्वर्गभाक्। ××× श्रीवज्रसेनपट्टे पञ्चदशः श्रीचन्द्रसूरिः। तस्माच्चन्द्रगच्छ इति तृतीयं नाम प्रादुर्भूतं। ×× श्रीचन्द्रसूरिपट्टे षोडशः श्री सामन्तभद्रसूरिः।

१६ छव्वाससयाइं नवुत्तराइं तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स। तो बोडियाण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पण्णा॥ १४५॥ आदि (आवश्यक मूलभाष्य).

२०. देखिये-पं० जुगलकिशोरकृत स्वामीसमन्तभद्र पृ० ११५ आदि. दिगम्बर परम्परानुसार समन्तभद्र विक्रम की दूसरी शताब्दि में हुए थे।

२१. देखिये-ऊपर फुटनोट नं० ५.

२२ इतो य वइरसामी दक्खिणावहे विहरति। दुब्भिक्खं च जायं बारसवरिसगं। सव्वतो समंता छिन्नपंथा। निराधारं जादं। ताहे वइरसामी विज्जाए आहडं पिंडं तद्दिवसं आणेति। (आवश्यकसूत्रचूर्णि, भा० १, पत्र ४०४, निर्युक्ति गा० ७७५ की वृत्ति)

लियों के अनुसार वज्रस्वामि वज्रसेन के पूर्ववर्ती थे और वीर निर्वाण के ४९६ से ५८४ वर्ष पश्चात तक जीवित रहे २३। यह समय समन्तभद्र के काल से लगाहुआ आता है और सामंतभद्र इन्हींके पौत्र शिष्य थे। यही नहीं, वीरवंशावली२४ के अनुसार वज्रस्वामि ने अपना चातुर्मास दक्षिण देश के तुंगिया नामक स्थान पर किया था जो संभवतः तुंगभद्रा नदी के समीप था जहां हमने समंतभद्र के कौंचपुर या कांचीपुर की भी स्थिति निश्चित की है। यह स्थान श्रवणबेल्गोला के कटवप्र से भी बहुत दूर नहीं है जहां लेखानुसार आचार्य प्रभाचन्द्र ने शरीरांत किया था।

दूसरा महत्वपूर्ण संकेत इस शिलालेख से यह प्राप्त होता है कि भद्रबाहु की उपाधि स्वामि थी जो कि साहित्य में प्रायः एकान्ततः समंतभद्रके लिये ही प्रयुक्त हुई है। यथार्थतः बड़े बड़े लेखकों जैसे विद्यानन्द २५ और वादिराजसूरि २६ ने तो उनका उल्लेख नाम न देकर केवल उनकी इस स्वामि उपाधि से ही किया है और यह वे तभी कर सकते थे जब कि उन्हें विश्वास था कि उस उपाधि से उनके पाठक केवल समंतभद्र को ही समझेंगे, अन्य किसी आचार्य को नहीं। इस प्रमाण को उपर्युक्त अन्य सब बातों के साथ मिलाने से यह प्रायः निस्सन्देह रूपसे सिद्ध हो जाता है कि समंतभद्र और भद्रबाहु एक ही व्यक्ति हैं।

इस प्रकार भद्र, सामंतभद्र, समंतभद्र और भद्रबाहु के एक ही व्यक्ति सिद्ध हो जाने से हम कुछ ऐसे निष्कर्षों पर पहुंचते हैं जो हमें चकित कर देते हैं। इन निष्कर्षोंमें से एक तो यह है कि हमें कुन्दकुन्द को उन्हीं भद्रबाहु द्वितीय के शिष्य स्वीकार करना पड़ता है जो दिगम्बर सम्प्रदाय के भीतर अन्य कोई नहीं स्वयं आप्तमीमांसा के कर्ता समंतभद्र ही हैं। कुन्दकुन्द ने अपने बोधपाहुड में स्पष्टतः अपने को भद्रबाहु का शिष्य २७ कहा है जो अन्य

२३ श्रीसौधर्मगणिपट्टे त्रयोदशः श्रीवज्रस्वामी यो बाल्यादपि जातिस्मृतिभाग् नभोगमनविद्यया संघरक्षाकृत् दक्षिणस्यां बौद्धराज्ये जिनेन्द्रपूजानिमित्तं पुष्पाद्यानयनेन प्रवचनप्रभावनाकृत् देवाभिवंदितो दशपूर्वविदामपश्चिमो वज्रशाखोत्पत्तिमूलं। तथा स भगवान × × × सर्वायुरष्टाशीति ८८ वर्षाणि परिपाल्य श्रीवीरात् चतुरशीत्यधिकपंचशत ५८४ वर्षान्ते स्वर्गभाक्।

२४ जैन साहित्य संशोधक, खंड १, अंक ३, परिशिष्ट, पृ० १४। पुनः श्रीवज्रसूरि उत्तर दीशि थकी विहरता दक्षिण पंथि तुंगिया नगरइं चौमासइं रह्या।

२५ स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्। विद्यानंदैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै॥

(आप्तपरीक्षा उपसंहार)

२६ स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते॥

(पार्श्वनाथ चरित)

२७ सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं। सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥६१॥ बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं। सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयउ॥६२॥

कोई नहीं उक्त भद्रबाहु द्वितीय ही हो सकते हैं। इस एकीकरण में केवल यह कठिनाई उपस्थित हो हो सकती है कि कुन्दकुन्द ने अपने गुरु भद्रबाहु को बारह अंगों के विज्ञाता, चौदह पूर्वों के विपुल विस्तारक श्रुत ज्ञानी कहा है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हमारे प्रस्तुत भद्रबाहु उनसे पूर्ववर्ती भद्रबाहु प्रथम से पृथक् होते हुए भी अनेक शिलालेखों में श्रुतज्ञानी कहे गये हैं २८।

यही बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम श्वेताम्बर आगम की दश निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु के संबंध में विचार करते हैं। ये निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु भी श्रुतकेवली कहे गये हैं, २९ किन्तु यह तो अब सिद्ध है कि ये भद्रबाहु प्रथम नहीं हो सकते, क्योंकि उन्होंने अपनी आवश्यक निर्युक्ति में ऐसी घटनाओं और व्यक्तियों का का उल्लेख किया है जिनका समय महावीर से लगा कर निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् तक उन्होंने स्वयं बतलाया है ३०। उन्होंने आर्य वज्र को भी बहुत प्रशंसा की है जिनका समय वीर निर्वाण से ४९६ से लगाकर ५८४ तक पाया जाता है, एवं उन्हीं के समकालीन ३१ आर्य रक्षित का भी उल्लेख किया है। इन सब उल्लेखों पर से ऐसा अनुमान है कि उक्त निर्युक्ति के कर्ता स्वयं निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् हुए हैं और सम्भवतः आर्यवज्र से भी उनका संपर्क रहा है। जिनके विषय में उन्होंने कुछ व्यक्तिगत बातें भी बतलाई हैं, एवं उन्हें श्रुत को दो खंडों-कालिक और दृष्टिवाद में विभाजित करने वाले भी कहा है। ये दो भाग आर्यरक्षित द्वारा पुनः चार भागों में विभाजित किये गये थे ३२। मेरे मतानुसार निर्युक्तियों के कर्ता और कुन्दकुन्द के गुरु, आप्तमीमांसा के कर्ता एवं वनवासी गच्छ के संस्थापक व चंद्रकुल के नायक तथा द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षकी भविष्यवाणी करके दक्षिण की यात्रा करने वाले आचार्य सब एक ही व्यक्ति हैं, और वह व्यक्ति था शिवार्य का शिष्य।

शिवार्य के गौरव को बढ़ाने वाला इतना ही यश नहीं है। उनके मुकुट में एक और तेजस्वी मणि जड़ा हुआ मिलता है जिसकी ओर अब हम दत्तचित्त होंगे। जरा हम तत्वार्थाधिगम भाष्य की प्रशस्ति ३३ पर तो ध्यान दें। यहां कहा गया है कि

---

२८ उदाहरणार्थ देखिये फुटनोट नं० ४। श्र० वे० लेख नं० १०८ (२५८) पद्य ८-९ भी देखिये।

२९ येनैषा पिंडनिर्युक्तिर्युक्तिरम्या विनिर्मिता। द्वादशांगविदे तस्मै नमः श्रीभद्रबाहवे॥ (पिंडनिर्युक्ति-मलयगिरि टीका)। दसकप्पव्वहारा निज्जूढा जेण नवमपुव्वाओ। वंदामि भद्दबाहुं समपच्छिमसयलसुयनाणिं॥ (ऋषिमंडलसूत्र)

३० चोद्दस सोलसवासा चोद्दस वीमुत्तरा य दुण्णि सया। अट्ठावीसा य दुवे पंचेव सया य चोआला॥७८२॥ पंचसया चुलसीओ छच्चेव सया नवुत्तरा हुंति। नाणुप्पत्तीए दुवे उप्पन्ना निव्वुए सेसा॥७८३॥

३१ श्रीवीरात् त्रयस्त्रिंशदधिक-पंचशत ५३३ वर्षे श्रीआर्यरक्षितसूरिणा श्रीभद्रगुप्ताचार्यो निर्यामितः स्वर्गभाग्। (तपागच्छपट्टावली)

३२ आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ७६३-७७८

३३ वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण। शिष्येण घोषनन्दि क्षमणस्यैकादशांग-

(शेष ७ वें पृष्ठ पर देखें)

उसके कर्ता उमास्वाति शिवश्रीके प्रशिष्य तथा घोषनन्दिके शिष्य थे। इन दो आचार्योंमें से अभी तक किसीका भी कोई खास पता नहीं चल सका। शिवश्री का शिवार्य के साथ सहज ही एकीकरण हो जाता है। श्री और आर्य तो सम्मान सूचक शब्द हैं। उनको छोड़ दोनोंमें नाम एक ही है। इसके अतिरिक्त शिवश्री के शिष्य घोषनन्दि के नाम में जो नन्दि नामांश पाया जाता है वही शिवार्य के गुरुओं के नाम में भी विद्यमान है तथा वह नंदि संघ के आचार्योंमें सुप्रचलित रहा है, जबकि श्वेताम्बरसम्प्रदाय के प्राचीन नामों में तो उसका प्रायः सर्वथा ही अभाव पाया जाता है ३४। प्रशस्ति में जो दूसरी बात जानी जाती है वह यह है कि उमास्वाति का जन्म न्यग्रोधिका में हुआ था। चूंकि शिवार्य के संघ की स्थापना के स्थान रहवीरपुर को मैं अहमदनगर जिले का 'राहुरी' नामक स्थान अनुमान कर चुका हूं। अतएव मैंने उसी प्रदेश में इस नाम की भी खोज की जिसके फलस्वरूप उसी जिले में 'निघोज' नामक स्थान का पता चला जो राहुरी से बहुत दूर भी नहीं है। यह निघोज उमास्वाति की जन्मभूमि न्यग्रोधिका हो सकता है।

भाष्य की प्रशस्ति में निम्नलिखित बातें भी ध्यान देने योग्य हैं—

१- उमास्वाति के आगमशिक्षक वाचनाचार्य मूल थे।

२- यद्यपि उमास्वाति का जन्म न्यग्रोधिका में हुआ था, किंतु वे विहार कर कुसुमपुर (उत्तर में पाटलीपुत्र) पहुंचे।

३- कुसुमपुर में उन्होंने तत्त्वार्थाधिगम भाष्य रचा।

४- यह भाष्य उन्होंने जिस ग्रन्थ पर रचा वह उन्होंने उससे पूर्व दुःखार्त और दुरागम से लोगों की मति भ्रांत हुई देखकर गुरुक्रमागत अर्हद्वचन को अच्छी तरह सोच समझ कर संगृहीत किया था।

ये वक्तव्य तब तक पूर्णतः समझ में नहीं आते जब तक कि उस समय में उपस्थित हुई संघ की समस्त परिस्थिति पर विचार न किया जाय। शिवार्य के उत्तराधिकारी हुए भद्रबाहु द्वितीय और उनके पश्चात् हुए कुन्दकुंदाचार्य। शिवार्य के द्वितीय शिष्य घोषनंदि के शिष्य थे उमास्वाति जो स्वतः कुन्दकुन्द के समसामयिक प्रतियोगी थे। कुन्दकुन्द

(६ ठे पृष्ठ का शेषांश)

विदः ॥१॥ वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य। शिष्येण वाचकाचार्य—मूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥२॥ न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि। कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥३॥ अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य। दुःखार्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥४॥ इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्। तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥ यस्तत्त्वार्थाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम्। सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥६॥ इस प्रशस्ति पर पं० सुखलाल संघवी का वक्तव्य भी देखिये—तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका पृ० ४ आदि।

३४ आराधना में उल्लिखित शिवार्य के गुरुओं के नाम हैं—जिननन्दि, सर्वगुप्त और मित्रनन्दि जिन के सम्बन्ध में देखिये मेरा लेख शिवभूति और शिवार्य।

ने संघ के शासन में तथा मुनियों के आचार में कुछ गम्भीर परिवर्तन उपस्थित किये। जब कि शिवार्य ने समस्त आर्जिकाओं और विशेष परिस्थिति में कुछ मुनियों को भी वस्त्र धारण करने की अनुमति दी थी ३५। तब कुन्दकुन्द ने उस व्यवस्था को अनियमित समझा और समस्त मुनियों को बिना किसी अपवाद के नाग्न्य आवश्यक ठहराया ३६। स्त्रियों के लिये तो स्पष्टतः यह नियम लगाया नहीं जा सकता था, अतः वे मुक्ति के अयोग्य ठहराई गई और उन की संघ में स्थिति केवल उमेदवारों के रूप में रखी गई ३७। अपने गुरु आप्तमीमांसा के कर्ता के एक गूढार्थ कथन जिसके अनुसार आप्त को दोष और आवरण से मुक्त होना चाहिये ३८ का विस्तार करके कुन्दकुन्द ने यह उपदेश दिया कि केवलज्ञानी समस्त सुख और दुख की वेदना के परे होता है, ३९ ऐसा समझना चाहिये। वे केवल इन विचारों को प्रगट करने मात्रसे सन्तुष्ट नहीं हुये। जान पड़ता है उन्होंने यह प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया कि संघ का प्रत्येक सदस्य उनकी मान्यताओं के अनुसार विश्वास व आचरण करे। जो वैसा नहीं कर सके या करना नहीं चाहते थे वे संघ से बहिष्कार ठहराये गये। इससे संघ में बड़ी उग्र परिस्थिति निर्माण हुई प्रतीत होती है, विशेषतः संघ के उन सदस्यों में जो शिवार्य के अपवाद मार्ग में आते थे और प्राचीन आगम को भूलना और छोड़ना नहीं चाहते थे। संभवतः उमास्वाति ने इस मध्यभाग का नायकत्व ग्रहण किया। इसी तीव्र परिस्थिति में जब कि उभय पक्ष में विचारधारा तेजी से चल रही थी, उन्होंने तत्वार्थसूत्र की रचना की जिसमें उन्हों ने केवलीमें भूख और प्यास की वेदना को सैद्धान्तिक रूप से प्रतिपादित किया ४० किन्तु मुनियों के वस्त्र धारण का या स्त्रियों की मुक्ति का कोई विषय व्यक्त रूप से उपस्थित नहीं किया, यद्यपि इसके लिये निग्रन्थों के भेदों में ४१ तथा मुक्तात्माओं के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न दृष्टियों से चिन्तन में ४२ गुंजाइश रक्खी। इस ग्रंथ को उमा-

---

३५ देखिये भगवती आराधना, गाथा ७९-८३, व मेरा लेख 'शिवभूति और शिवार्य' फुटनोट ५

३६ बालग्गकोडिमित्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं। भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि। जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स। सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ निरायारो॥ णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो। णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥२३॥ (सुत्त पाहुड)

३७ जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सा वि संजुत्ता। घोरं चरियचरित्तं इत्थीसु ण पव्वया भणिया॥२५॥ (सुत्तपाहुड)

३८ दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्। क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥४॥ स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥६॥ (आप्तमीमांसा)

३९ सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं। जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं॥ (प्रवचनसार, १, २०) जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं। सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य॥३७॥ (बोधपाहुड)

४० देखो तत्वार्थसूत्र, ९, ८-१०

४१ ,, ,, ९, ४६-४७

४२ ,, ,, १०, ९

स्वाति ने सम्भवतः समझौते के लिये प्रस्तुत किया। किंतु कुंदकुंद और उनके सहयोगियों ने संभवतः उसी प्रयोजन से एक संघ की बैठक करके उसे अस्वीकार कर दिया ४३। इसका परिणाम यह हुआ कि उन परिवर्तनों के विरोधियों को संघ छोड़ना पड़ा, या यों कहिये, वे संघ में से निकाल दिये गये, जिससे उन्हों ने अपना पृथक् संघ स्थापित किया जो याप-नीय संघ ४४ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इन्हीं कटु अनुभवों की स्मृति लेकर उमास्वाति संभवतः संघयात्रा करने योग्य अपने युवावस्थ साथियों को लेकर उत्तर को चले गये ताकि वे वहां के संघ से सम्पर्क स्थापित कर सकें। इस प्रकार उमास्वाति कुसुमपुर पहुंचे और वहां ही उन्होंने वे सब बातें स्पष्ट कर दीं जिन्हें सूत्रों में पूर्वोक्त अनि-वार्य संकट को टालने की दृष्टि से अस्पष्ट रखी थीं।

इस प्रकार अपने समस्त प्रतिपक्षियों को दूर कर देने के पश्चात् कुन्दकुन्द ने अपूर्व परिपूर्णता के साथ अपने संघ का पुनर्निर्माण प्रारम्भ कर दिया। अपनी मान्यताओं के जरा भी विरुद्ध जाने वाली व पुरानी व्यवस्था का कुछ भी स्मरण कराने वाली समस्त बातों को उन्होंने कठोरता के साथ दबा दिया। उन्होंने स्वयं अपना पूर्व नाम पद्मनन्दि ४५ बदल दिया। क्योंकि स्वयं वह नाम नन्दिसंघ का स्मरण कराता था। सम्भवतः उन्होंने समस्त पूर्व आगमों के अध्ययन का भी निषेध कर दिया और सच्चे आगम के सर्वथा लोप हो जाने की मान्यता को जन्म दिया और बहुत से पाहुड स्वयं लिख लिखकर उस कमी को पूरा किया ४६। तब से उनके लिखे हुए ये पाहुड ही समस्त धार्मिक एवं दार्शनिक बातों पर अद्वितीय प्रमाण ठहराये गये। उन्होंने अपने संघ का नाम मूल संघ रखा, क्योंकि उनका यह मत था कि जिस सिद्धान्त व आचार का उन्होंने विधान किया है, वही ठीक अन्तिम तीर्थंकर की व्यवस्था-नुसार मौलिक सिद्ध होता है ४७। यह भी संभव

४३ ऐसा जान पड़ता है कि कुन्दकुन्द ने उक्त विषय संघ की सम्मति के लिये जिस प्रकार उप-स्थित किया वह प्रवचनसार १, ६० की गाथा में सुर-क्षित है—णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगद-घादीणं। सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥

४४ यापनीय संघ की जानकारी के लिये देखिये डा० उपाध्ये का लेख—'Yapaniya Sangha, a Jaina Sect' (Bombay University Journal, May 1933) और पं० नाथूराम प्रेमी का 'यापनीय साहित्य की खोज' (जैन साहित्य और इतिहास)। यापनीय संघ का किस प्रकार मूलसंघ में अन्तर्भाव कर लिया गया और उसका साहित्य मूल संघ में किस प्रकार स्वीकार्य ठहराया गया, इस विषय पर मैं एक अलग लेख लिख रहा हूं।

४५ तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः। श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः ॥६॥ (श्रवणबेल्गोला शिलालेख नं० ४० (६४)।

४६ परम्परानुसार कुंदकुंद ने चौरासी पाहुड लिखे। इनमें से कोई बारह अभी उपलब्ध हैं। देखिये प्रवचनसार की भूमिका-डा० उपाध्ये कृत, पृष्ठ २४ आदि।

४७ हिंसारहिये धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥९०॥
(मोक्षप्राभृत)

है कि यह नाम उन्हें इस कारण और भी सूझ पड़ा क्योंकि यह उन श्रावकाचार्य का भी नाम या उपनाम था जिन्होंने उमास्वाति को पढ़ाया था और संभवतः स्वयं उन्हें भी पढ़ाया होगा। अतएव अप्रत्यक्ष रूप से वे उनकी स्मृति भी स्थिर करना चाहते होंगे।

समन्तभद्र को कुंदकुंदाचार्य के गुरु मानने में एक कठिनाई अब भी शेष रह जाती है और वह यह है कि शिलालेखों और पट्टावलियों में बराबर समन्तभद्र का नाम कुन्दकुन्द के पश्चात् उल्लिखित किया जाता है, पूर्व नहीं। पीछे के लेखकों की इस प्रवृत्ति का कारण मेरी समझ में यह आता है कि उन का कुंदकुंद को इस युग के समस्त आचार्यों में प्रथम और प्रधान बतलाने में स्वार्थ था, अतएव पूर्व के समस्त इतिहास को अंधेरे में डालने का खास तौर से प्रयत्न किया गया। दूसरी एक बात यह भी है कि कुंदकुंदाचार्य से पश्चात् भी एक नहीं, अनेक समन्तभद्र हुए हैं ४८। रत्नकरण्ड श्रावकाचार को उक्त समन्तभद्र प्रथम की ही रचना सिद्ध करने के लिये जो कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं ४९ उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह मत दृढ़ हो गया है कि यह उन्हीं ग्रन्थकार की रचना कदापि नहीं हो सकती जिन्होंने आप्तमीमांसा लिखी थी, क्योंकि इसमें दोष का ५० जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकार के अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता ५१। मैं समझता हूं कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार कुंदकुंदाचार्य के उपदेशों के पश्चात् उन्हीं के समर्थन में लिखा गया है। इस ग्रंथ का कर्ता उस रत्नमाला के कर्ता शिवकोटि का गुरु भी हो सकता है जो आराधना के कर्ता शिवभूति या शिवार्य की रचना कदापि नहीं हो सकती ५२। इन पीछे के समन्तभद्र के साथ जो स्वामिपद भी जोड़ दिया गया है और पूर्ववर्ती समंतभद्र के सम्बन्ध की अन्य घटनाओं का समावेश भी बतलाया गया है वह या तो भ्रांति के कारण हो सकता है या जानबूझ कर किया गया हो तो भी आश्चर्य नहीं।

इस लेख में खोजपूर्वक जो निष्कर्ष निकाले गये हैं वे संक्षेपतः इस प्रकार हैं—

१- आवश्यक मूल भाष्य के अनुसार जिन शिवभूति ने बोटिक संघ की स्थापना की थी, वे स्थविरावली में उल्लिखित आर्य शिवभूति, तथा भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य, एवं उमास्वाति के गुरु शिवश्री से अभिन्न हैं।

२- स्थविरावली में आर्य शिवभूति के जो भद्र नामक शिष्य और उत्तराधिकारी का उल्लेख है, वे

---

४८ पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने कोई छह समंतभद्र नाम के आचार्यों का परिचय कराया है जिसके लिये देखिये रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भूमिका पृ० ५-६।

४९ देखिये उपर्युक्त ग्रंथ

५० क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मांतकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥
(रत्नकरण्ड श्रावकाचार, १)

५१ देखिये आप्तमीमांसा श्लोक ४ और ६ पर विद्यानन्द की अष्टसहस्री टीका। आप्तमीमांसा का श्लोक ९३ भी देखिये जहां वीतराग मुनि में सुख दुख की वेदना स्वीकार की गई है और उसी बात पर वहां की युक्ति निर्भर की गई है—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥

५२ रत्नमाला, सिद्धांतसारादि संग्रह में (मा० दि० जैन ग्रंथ २१ भूमिका)।

निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु, द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी के कर्ता व दक्षिणापथ को विहार करने वाले भद्रबाहु तथा कुंदकुन्दाचार्य के गुरु भद्रबाहु एवं वनवासी संघ के प्रस्थापक सामंतभद्र तथा आप्त मीमांसा के कर्ता समंतभद्र से अभिन्न हैं।

३- कुन्दकुन्दाचार्य ने संघ में कुछ विप्लवकारी सुधार उपस्थित किये जो एक दलविशेष को ग्राह्य नहीं थे। उनके नायक उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र की रचना समझौते के लिये की, किन्तु समझौता हो नहीं सका। इसलिए उमास्वाति कुसुमपुर के संघमें जा मिले और वहां उन्होंने तत्त्वार्थाधिगम भाष्य रचा।

४- कुन्दकुन्दाचार्य के नियमों के कारण जिन्हें संघ छोड़ना पड़ा, या जो संघ में निकाले गये उन्हों ने अपना एक पृथक् संघ बनाया जो यापनीय संघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

५- कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने मतों के विरोधमें आने वाली समस्त प्राचीन मान्यताओं को तथा तत्-सम्बन्धी साहित्य को भी सर्वथा दबा देने का प्रयत्न किया और अपने संघ को मूल संघ के नाम से प्रसिद्ध किया।

६- शिला लेखों व पट्टावलियों में कुन्दकुन्द के पश्चात् जिन समंतभद्र का उल्लेख पाया जाता है वे आप्तमीमांसा के कर्ता व शिवार्य के प्रसिद्ध शिष्य से पृथक हैं। वे रत्नकरण्ड श्रावकाचार के कर्ता तथा रत्नमाला के कर्ता शिवकोटि के गुरु हो सकते हैं।

७- शिवार्य ने अपने संघ की रचना वीर निर्वाणमें ६०९ वर्ष पश्चात् की थी। उसके पश्चात् अनुमानतः २० वर्ष उनके, और २० वर्ष उनके उत्तराधिकारी समंतभद्र या भद्रबाहु द्वितीय के और जोड़ देने से कुन्दकुन्दाचार्य और उमास्वाति का समय वीर निर्वाण से लगभग ६५० वर्ष पश्चात् सिद्ध होता है।



शिवभूति और शिवार्य

(प्रोफेसर हीरालाल जी एम० ए० अमरावती)

आवश्यक मूलभाष्य की १ बहुधा उल्लिखित कुछ गाथाओं के अनुसार बोटिक संघ की स्थापना महावीर के निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् रहवीरपुर में शिवभूति के नायकत्व में हुई। बोटिकों को बहुधा दिगम्बरों से अभिन्न माना जाता है, अतः श्वेताम्बर पट्टावलियों में वीरनिर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है।

अब हमें यह देखने की आवश्यकता है कि क्या इन शिवभूति का श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों में से किसी के साथ एकत्व स्थापित किया जा सकता है? श्वेताम्बरों द्वारा सुरक्षित आचार्यों की पट्टावलियों में कल्पसूत्र-स्थविरावली सबसे प्राचीन समझी जाती है। इसमें हमें फग्गुमित्त के उत्तराधिकारी धनगिरि के पश्चात् शिवभूति का उल्लेख मिलता है २। ये ही शिवभूति मूलभाष्य में उल्लिखित शिवभूति से अभिन्न प्रतीत होते हैं जिसके प्रमाण निम्नलिखित है—

---

१ छव्वाससयाइं नवुत्तराइं तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
तो बोडियाण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पन्ना ॥१४५॥
रहवीरपुरं नयरं दीवगमुज्जाणमज्जकण्हे य।
सिवभूइस्सुवहिम्मी पुच्छा थेराण कहणा य ॥१४६॥
ऊहाए पन्नत्तं बोडिय सिवभूइ-उत्तराहि इमं।
मिच्छादंसणमिणमो रहवीरपुरे समुप्पन्नं ॥१४७॥
बोडियसिवभूईओ बोडियलिंगस्स होइ उप्पत्ती।
कोडिन्नकुट्टवीरा परंपराफासमुप्पन्ना ॥१४८॥

इन गाथाओं का ठीक अनुवाद इस प्रकार होता है—जब वीर निर्वाण के पश्चात् ६०९ वर्ष समाप्त हो गये तब बोटिकों की दृष्टि रहवीरपुर में उत्पन्न हुई। रहवीर नगर के दीपक उद्यान में आर्य कृष्ण थे तब शिवभूति ने उपधि सम्बन्धी प्रश्न उठाया जिसपर थेरों ने अपने अपने विचार प्रकट किये। ऊहापोह के पश्चात् उन शिवभूति प्रधान थेरों ने 'बोटिक' स्वीकार किया। इस प्रकार रहवीरपुर में यह मिथ्या दर्शन उत्पन्न हुआ। बोटिक शिवभूति से बोटिक लिंग की उत्पत्ति हुई और कौडिन्यकुट्टवीर उनकी परम्परा के स्पर्श से उत्पन्न हुए।

नोट—उपलब्ध पाठ की गाथा १४७ में 'उत्तराहि' पाठ ठीक नहीं प्रतीत होता। उसके स्थान पर 'उत्तरेहि' पाठ रहा जान पड़ता है जिसका अर्थ होता है 'प्रधानैः'। उत्तरा पाठ या तो भ्रम से या जान

(शेष दूसरे कालम के नीचे देखिए)

बूझकर उत्तरा से शिवभूति की बहिन की कल्पना करके इस मत का हास्य करने की दृष्टि से उत्पन्न हुआ जान पड़ता है।

२ थेरस्स णं अज्जफग्गुमित्तस्स वासिट्ठगुत्तस्स अज्जसिवभूइ थेरे अंतेवासी कुच्छसगुत्ते ॥१॥ xx
वंदामि फग्गुमित्तं च गोयमं धणगिरिं च वासिट्ठं।
कुच्छं सिवभूइं पि य कोसिय दुज्जंत कण्हे य ॥१॥

१—दोनों नाम बिल्कुल एक हैं।

२—यद्यपि स्थविरावली में आचार्यों के समयका उल्लेख नहीं किया गया तथापि अन्य पट्टावलियों का समय का भी उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार स्थविरावली के शिवभूति का वही समय पड़ता है जो मूलभाष्य के शिवभूति का कहा गया है।

३—मूलभाष्य में शिवभूति का सम्बन्ध एक और आचार्य से बतलाया गया है जिनका नाम कोट्ट था उसी प्रकार कोट्ट का उल्लेख स्थविरावली के पश्चाद्भाग में शिवभूति के साथ साथ किया गया है।

४—समयसुन्दर ने अपनी स्थविरावली की टीका में कहा है कि शिवभूति के एक ही बोटक नामक शिष्य ने निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् दिगम्बर संघ की स्थापना की थी ३। इस कथन का मूल भाष्य के तथा जिनभद्रगणि, कोट्याचार्य और मलयगिरि जैसे टीकाकारों की परम्परा के वृत्तांत से विरोध पड़ता है जिससे ऐसा ज्ञात पड़ता है कि उक्त कथन स्थविरावली के शिवभूति को बोटिकसंघ के संसर्ग से बचाने के लिये जान बूझकर गढ़ा गया है। किन्तु उससे केवल यह अभिन्नता पूर्णतः सिद्ध हो जाती है।

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि क्या इन आर्य शिवभूति का दिगम्बर सम्प्रदाय के किसी आचार्य के साथ एकत्व सिद्ध होता है? उक्त नाम एक ऐसा हमें आराधना अथवा भगवती आराधनाके कर्ता का स्मरण दिलाता है जिनके साथ उक्त एकत्व कदाचित् सम्भव हो, क्योंकि इन आचार्य का नाम ग्रंथ में शिवार्य पाया जाता है जिनके तीन गुरुओं के नाम आर्य जिननन्दिगणि, शिवगुप्तगणि और आर्य मित्रनन्दि कहे गये हैं ४। इन नामोल्लेख में इतना तो स्पष्ट है कि 'आर्य' नाम का अंश नहीं किन्तु एक आदरसूचक उपाधि थी जो स्थविरावली में सभी आचार्यों के नामों के साथ लगी हुई पायी जाती है। अतः शिवार्य आर्य शिव के समरूप है जिसका एकत्व आर्य शिवभूति के साथ बैठना कठिन नहीं है, क्योंकि नाम के उत्तरार्ध को छोड़ कर उल्लेख करना एक साधारण बात है, जैसा कि रामचन्द्र के लिये राम, कृष्णचन्द्र के लिये कृष्ण व भीमसेन के लिये भीम के उल्लेखों में पाया जाता है। फिर यह 'आर्य' उपाधि स्थविरावली में तो साधारण है, किन्तु दिगम्बर पट्टावलियों में प्रायः अप्राप्य है और उक्त उल्लेखों के अतिरिक्त कदाचित् ही उसका उपयोग पाया जाता है। मुझे केवल वीरसेन के गुरु आर्यनन्दि का स्मरण आता है जिनका नामोल्लेख धवला टीका की प्रशस्ति में आर्य शब्द पूर्वक किया गया है इसके अतिरिक्त शिवार्य के ग्रन्थ आराधना का दिगम्बर साहित्य में कुछ असाधारण स्थान है। यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द की परम्परा

---

३ शिवभूतिशिष्यः एको बोटकनामाऽभूत्। तस्मात् वीरात् सं० ६०९ वर्षे बोटकमतं जातं दिगम्बरमित्यर्थः।

४ अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणंदीणं।
अवगमिय पादमूलं सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥२१६१
पुव्वायरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए।
आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥२१६२

का तो है नहीं क्योंकि उसमें अपवाद रूप से मुनियों के लिये वस्त्रधारण करने का भी विधान है ४। और उसे कुन्दकुन्द से पश्चात्काल का सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु दूसरी ओर वह दिगम्बर सम्प्रदाय से पृथक् भी नहीं किया जा सकता क्योंकि परम्परा से उसका सम्बन्ध इस सम्प्रदाय के साथ पाया जाता है। इस के एक टीकाकार हैं अपराजित सूरि जो 'आरातीय-सूरि-चूडामणि' थे, ६ और आरातीय को सर्वार्थ-सिद्धिकार ने सर्वज्ञ तीर्थंकर व श्रुतकेवली के समान ही प्रामाणिक वक्ता माना है ७। उसके अन्य टीकाकार हैं अमितगति और आशाधर जिनका दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में विशेष मान है ८। इसके अतिरिक्त शिवार्य के गुरुओं के नामों में जो नन्दि शब्द पाया जाता है उससे भी उस ग्रन्थ का दिगम्बरों के साथ सम्बन्ध प्रकट होता है, क्योंकि उन्हीं में नन्दि संघ की बड़ी प्राचीन सत्ता पाई जाती है और नन्दि नामान्त भी खूब प्रचलित मिलता है, जब कि श्वेताम्बर पट्टावलियों में इस नामान्त का उपयोग बिलकुल ही नहीं मिलता, तथा पश्चात् काल में भी उसका उपयोग क्वचित् ही पाया जाता है। है। प्राय श्वेताम्बर पट्टावलियों पर दृष्टि डालने से मुझे तो केवल दो ही नाम इस प्रकार के दिखलाई दिये—एक इन्द्र-नन्दि और दूसरे उदयनन्दि। ये दोनों ही पन्द्रहवीं शताब्दी से भी पश्चात्-कालीन हैं ९।

शिवार्य के तीन गुरुओं में से एक जो सर्वगुप्त गणी थे वे आश्चर्य नहीं वे ही सर्वगुप्त हों जिनका उल्लेख श्रवणबेल्गोला नं० १०५ (२५४) में चार आचारांग धारियों के पश्चात् एवं कुन्दकुन्दाचार्य से पूर्व किया गया है १०। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने

४ जस्स वि अव्वभिचारी,
दोसो तिट्ठाणिओ विहारम्मि।
सो वि हु संथारगदो,
गेण्हेज्जोस्सग्गियं लिंगं॥८०॥
आवसधे वा अप्पाउग्गे,
जो वा महड्ढिओ हिरिमं।
मिच्छजणे सजणे वा तस्स हु,
होज्ज अववादियं लिंगं॥८१॥

६ चन्द्रनन्दिमहाप्रकृत्याचार्यप्रशिष्येण आरातीयसूरिचूडामणिना नागनन्दिगणिपादपद्मोपसेवा-जातमतिलवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरण-धीरेण लब्धयशःप्रसरेणापराजितसूरिणा श्रीनन्दि-गणिनावचोदितेन रचिता।

(विजयोदया टीका)

७ त्रयो वक्तारः सर्वज्ञतीर्थंकरः इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्च।

(स० सि० १, २०)

८ भगवती आराधना की और भी टीकाओं आदि के लिये देखो पं० नाथूराम कृत 'जैन साहित्य और इतिहास पृ० २३ आदि।

९ पट्टावली समुच्चय—मुनि दर्शन विजय कृत, पृ० २१ और ३७।

१० ततः सर्वगुप्तो महिधर-धनपालो महावीर-वीरौ। इत्याद्यनेकसूरिष्वथ सुपदमुपेतेषु दीव्यत्तपस्या-शास्त्राधारेषु पुण्यादजनि स जगतां कौण्डकुन्दो यतीन्द्रः॥१०॥

भावपाहुड़ की गाथा ५३ में शिवभूति का उल्लेख बड़े सन्मान से किया है और कहा है कि वे महानुभाव तुष-माष का घोषणा करते हुए भावविशुद्ध होकर केवलज्ञानी हुये ११। प्रसंग पर ध्यान देने से यहां ऐसे ही मुनि से तात्पर्य प्रतीत होता है जो द्रव्यलिंगी न होकर केवल भावलिंगी मुनि थे। वे शिवभूति अन्य कोई नहीं वे ही स्थविरावली के शिवभूति आराधना के कर्ता शिवार्य ही होना चाहिये। भगवती आराधना की गाथा ११२० में तुष और तंदुल की उपमा देकर संगत्याग द्वारा मोहमल को दूर करने की आवश्यकता बतलाई गई है १२ जिसके प्रकाश में ही भावपाहुड़ की गाथा का अर्थ स्पष्ट समझ में आता है।

इस तुष-माष अथवा तुष-तंदुल वाले सिद्धान्तकी और भी भद्रबाहुकृत आवश्यक नियुक्तिसे तुलना है। नियुक्ति के अनुसार महावीरस्वामी के केवलज्ञान प्राप्त होने से लगातार ५८४ वर्ष में सात निह्नव उत्पन्न हुए। इनमें का अंतिम निह्नव निर्वाण से ५८४ वर्ष पश्चात् दशपुर नगर में गोष्ठामाहिल के इस उपदेशसे उत्पन्न हुआ कि जीव कर्म से स्पृष्ट तो है पर बन्धता नहीं है १३। इसे ही मूलभाष्यकार ने इस प्रकार समझाया है कि जैसे कंचुक उसके धारण करने वाले पुरुषको स्पर्श तो करता है पर उसे बांधता नहीं है, उसी प्रकार कर्म का जीव के साथ स्पृष्ट किन्तु अबद्ध होने का सम्बन्ध है १४। आवश्यक नियुक्ति की वृत्ति में मलयगिरि ने बताया है कि आर्यरक्षित के तीन उत्तराधिकारी थे दुर्बलिका पुष्यमित्र, गोष्ठामाहिल और फल्गुरक्षित। गोष्ठामाहिल को वाग्लब्धि प्राप्त थी, फिरभी आर्यरक्षितने अपने पश्चात् गणधर दुर्बलिका पुष्यमित्र को नियुक्त किया, जिससे गोष्ठामाहिल को क्षोभ हुआ १५। स्थविरावली के अनुसार पुष्यमित्र के पश्चात् फग्गुमित्र (फग्गु रक्षित), उनके पश्चात् धनगिरि और उनके पश्चात् शिवभूति हुए थे। शिवार्य ने सम्भवतः गोष्ठामाहिल के उसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर भगवती आराधना में कहा है कि जब तक तुष दूर नहीं किया जायगा तब तक तंदुलका भीतरी मैल साफ नहीं किया जा सकता और उनकी इसी भावशुद्धि की कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाहुड़ में प्रशंसा की है। भावपाहुड़ की गाथा ५१ में शिवकुमार नामक भावश्रमण का उल्लेख है जो युवतिजन से वेष्टित होते हुए भी विशुद्धमति रह

११ तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥५३
(भा० पा०)

१२ जह कुंडओ ण सक्को,
सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स।
तह जीवस्स ण सक्कं
मोहमलं संगसत्तस्स ॥११२०॥ (भ० आ०)

१३ बहुरय पएस अव्वत्त,
समुच्छ दुग तिग अबद्धिआ चेव।
सत्तेए निण्हगा खलु,
तित्थंमि उ वद्धमाणस्स ॥ ७७८ ॥

१४ पुट्ठो जहा अबद्धो कंचुइणं कंचुओ समन्नेइ।
एवं पुट्ठमबद्धं जीवं कम्मं समन्नेइ ॥१४३॥
(मू० भा०)

१५ देखिये—आवश्यक नियुक्ति गाथा ७७७ की वृत्ति

संसार के पार उतर गये १६। इसका जब हम भगवती आराधना की ११०८ से १११६ तक की गाथाओं से मिलान करते हैं जहां स्त्रियां और भोग-विलास में रहकर भी उनके विष से बच निकलने का सुन्दर उपदेश दिया गया है १७ तो हमें यह भी सन्देह होने लगता है कि यहां भी कुन्दकुन्द का अभिप्राय इन्हीं शिवार्य से हो तो आश्चर्य नहीं। उनके उपदेश का उपकार से उनमें सद्भाव मान लेना असम्भव नहीं है।

इस विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुंचते हैं—

१-बोटिक संघ के संस्थापक कहे जाने वाले शिवभूति स्थविरावली के प्रतिष्ठित आचार्यों में से एक थे।

२-उन्होंने पीछे नन्दिसंघ में प्रवेश किया होगा और उस संघ के आगम का उन्होंने जिननन्दि, सर्वगुप्त और मित्रनन्दि इन तीन आचार्यों से उपदेश पाया।

३-जब ये शिवभूति स्वयं अनुक्रम से संघ के नायक हुये तब उन्होंने सम्भवतः उस संघ में कुछ परिवर्तन उपस्थित किये जिनके कारण उनके अनुयायी बोटिक कहलाये।

४-उन्होंने मुनि-आचार पर आराधना, मूलाराधना या भगवती आराधना की रचना की जिसमें उन्होंने अपना नाम शिवार्य प्रकट किया है इस ग्रन्थ में ऐसा शासन पाया जाता है जो कुन्दकुन्द के शासन से पूर्वकालीन सिद्ध होता है।

५-कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाहुड में जिन भावश्रमण शिवभूतिका उल्लेख किया है वे संभवतः ये ही शिवभूति या शिवार्य हैं।

अब आगे यह प्रश्न उठता है कि क्या जिस स्थान पर शिवभूति के संघ की स्थापना हुई कही जाती है उसका भी कोई पता चल सकता है? उक्त स्थान का दिगम्बरोंसे सम्बन्ध होनेके कारण दक्षिण भारत में ही उस स्थान के पाये जाने की सम्भावना प्रतीत होती है जिसे मूल भाष्य के कर्ता ने रहवीरपुर कहा है—विशेष कर दक्षिण पश्चिम प्रदेश को गुजरात से लगाकर कोकण तक का वह भाग जहां पर षट्खण्डागम सूत्रों की रचना के सम्बन्ध में चहल पहल पाई जाती है १८। इस भूभाग पर दृष्टि डालने से हमें एक राहुरी नामक स्थान का पता चलता है जो अहमदनगर से मनमाड़ की ओर पन्द्रह मील व तीसरा रेल्वे स्टेशन है। इसी स्थान का रहवीरपुर (-पुरी) के साथ समीकरण सम्भव प्रतीत होता है। भाषाशास्त्र के नियमानुसार रहवीरपुरी नाम का भ्रष्ट होकर राहुरी बन जाना कठिन नहीं जान पड़ता।

१६ भावसवणो य धीरो,
जुवईयणवेढिओ विसुद्धमई।
णामेण सिवकुमारो,
परित्तसंसारिओ जादो ॥५१॥ (भा० पा०)

१७ अदयम्मि जायवाहूय,
उदएण व लिप्पदे जहा पउमं॥
तह विसएहिं ण लिप्पदि,
साहू विसएसु उसिओ वि ॥११०८॥
सिंगारतरंगाए विलासवेगाए जोव्वणजलाए।
विहसियफेणाए मुणी णारिणईए ण वुड्ढंति ॥१११६॥

१८ षट्खण्डागम, भाग १, भूमिका, पृष्ठ १३ आदि

अब बोडिक, बोटिक अथवा बोटक शब्द का अर्थ समझना शेष रहा है। समयसुन्दर का यह वक्तव्य कि वह शिवभूति के एक शिष्य का नाम था किसी भी आधार से प्रमाणित नहीं पाया जाता। श्वेताम्बर और दिगम्बर नामावलियों में कहीं भी बोटिक या बोटक जैसा नाम नहीं दिखाई देता। किसी अन्य टीकाकार ने भी इस बात का समर्थन नहीं किया। इसके विपरीत मूल भाष्य में उस शब्द का शिवभूति के तथा एक और दूसरे शब्द लिंग के विशेषण रूप में उल्लेख किया गया है जिससे सूचित होता है कि बोटिक किसी ऐसी उपाधिविशेष का नाम था जिसका विधान शिवभूति ने पहले पहल किया होगा। मूलभाष्य में यह भी कहा गया है कि शिवभूति ने कण्ह आदि अपने साथियों से उपधि के सम्बन्ध में विचार किया था। मूलाराधना में देखने से विदित होता है कि शिवार्य ने मुनियों के लिये गमनागमन करने व उठाने धरने आदि सब क्रियाओं में प्रतिलेखन के उपयोग पर बड़ा जोर दिया है। उन्होंने इसे ही मुनि धर्म का चिन्ह और लिंग कहा है। इस प्रतिलेखन के ये गुण भी बतलाये गये हैं कि वह धूलि व पसीने से मैला नहीं होना चाहिये और उसे मृदु, सुकुमार और लघु भी होना चाहिये १९। इन गुणों तथा दिगम्बर मुनियों के सुप्रसिद्ध आचार से हम यह समझ सकते हैं कि यहां शिवार्य ने अपने अनुयायियों को एक पिच्छिका रखने का उपदेश दिया है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उस समय बटेर के पंख सुलभ जान पड़े और उन्हीं का शिवार्य और उनके अनुयायियों ने उपयोग किया होगा। बटेर के लिये संस्कृत शब्द है 'वर्तक' जो कि प्राकृत में साधारणतः वट्टक, वटक, वडक या बडग हो जायगा। श्री सुधर्म स्वामी से आठ पीढ़ियों के पश्चात् नवमी पीढ़ी के आर्य सुहस्ति के समय से श्वेताम्बर सम्प्रदाय लिये प्रयोग किये जाने वाले कोटिक, कौटिक, कोडिश आदि शब्द के सादृश्य से यही बटक बोटिक आदि रूपों में परिवर्तित हुआ जान पड़ता है २०।

१९ इरियादाणणिक्खेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे
उब्भवण-परियत्तण-पसारणाकोट्टणामासे ॥९८॥
पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिण्हं च होइ सयपक्खे
विस्सासियं च लिंगं संजयपडिरूवदा चेव ॥९९॥
रजसेदाणमगहणं मद्दवसुकुमालदा लहुत्तं च।
जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥१००॥

२० श्री सुधर्मस्वामिनोऽष्टौ सूरीन् यावत् निर्ग्रंथाः साधवोऽनगारा इत्यादि सामान्यार्थाभिधायी ख्यातिरासीत्। नवमे च तत्पट्टे कौटिका इति विशेषार्थावबोधकं द्वितीयं नाम प्रादुर्भूतम्।

(तपागच्छ पट्टावली, ९)

क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासनों में कोई मौलिक भेद है ?

(प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०, एल-एल० बी०)

जैन समाज के दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो सम्प्रदाय मुख्य हैं। इन सम्प्रदायों में शास्त्रीय मान्यता सम्बन्धी जो भेद है उनमें प्रधानतः तीन बातों में मतभेद पाये जाते हैं। एक स्त्रीमुक्ति के विषय पर, दूसरे संयमी मुनि के लिये नग्नता के विषय पर और तीसरे केवलज्ञानी को भूख प्यास आदि वेदनाएं होती हैं या नहीं इस विषय पर। इन विषयों पर क्रमशः विचार करने की आवश्यकता है।

१. स्त्रीमुक्ति

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि जिस प्रकार पुरुष मोक्ष का अधिकारी है, उसी प्रकार स्त्री भी है। पर दिगम्बर सम्प्रदाय की कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा स्थापित आम्नाय में स्त्रियों को मोक्ष की अधिकारिणी नहीं माना गया। इस बात का स्वयं दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य शास्त्रोंसे कहां तक समर्थन होता है यह बात विचारणीय है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने ग्रन्थों में स्त्रीमुक्ति का स्पष्टतः निषेध किया है। किन्तु उन्हों ने व्यवस्था से न तो गुणस्थान चर्चा की है और न कर्म सिद्धांत का विवेचन किया है, जिससे उक्त मान्यता का शास्त्रीय चिंतन शेष रह जाता है। शास्त्रीय व्यवस्था से इस विषय की परीक्षा गुणस्थान और कर्मसिद्धांत के आधार पर ही की जा सकती है। तदनुसार जब हम विचार करते हैं तो निम्न परिस्थिति हमारे सन्मुख उपस्थित होती है—

१. दिगम्बर आम्नाय के प्राचीनतम ग्रन्थ षट्खंडागम के सूत्रों में मनुष्य और मनुष्यनी अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनों के अलग अलग चौदहों गुणस्थान बतलाये गये हैं। देखो सत्प्र. सूत्र ९३; द्रव्यप्र. ४९, १२४-१२६; क्षेत्र प्र. ४३, स्पर्शन प्र. ३४-३८, १०२-११०; काल प्र. ६८-८२-२२७-२३४; अन्तर प्र. ४७ ५७, १९८-१६०; भाव प्र. २२, ४९, ४३-८०, १५५-१६१)।

२. पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि टीका तथा नेमिचन्द्र कृत गोम्मटसार ग्रन्थ में भी तीनों वेदों से चौदहों गुणस्थानों की प्राप्ति स्वीकार की गई है। किन्तु इन ग्रन्थों में संकेत यह किया गया है कि यह बात केवल भाववेद की अपेक्षा से घटित होती है। इसका पूर्ण स्पष्टीकरण अमितगति व गोम्मटसार के टीकाकारों ने यह किया है कि तीनों भाववेदों का तीनों द्रव्यवेदों के साथ पृथक् पृथक् संयोग हो सकता है जिससे नौ प्रकार के प्राणी होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य द्रव्य से पुरुष होता है वहां तीनों वेदों में से किसी भी वेद के साथ क्षपक श्रेणी चढ़ सकता है।

३ किन्तु यह व्याख्यान सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि—

(१) सूत्रों में जो योनिनी शब्दका उपयोग किया गया है वह द्रव्य स्त्री को छोड़ अन्यत्र घटित नहीं हो सकता।

(२) जहां वेदमात्र की विवक्षा से कथन किया गया है, वहां ९ वें गुणस्थान तक का कथन किया गया है, क्योंकि उससे ऊपर वेद रहता ही नहीं है।

(३) कर्मसिद्धांत के अनुसार वेद-वैषम्य सिद्ध नहीं होता। भिन्न इन्द्रिय सम्बन्धी उपांगों की उत्पत्ति का यह नियम बतलाया गया है कि जीव के जिस प्रकार के इन्द्रिय ज्ञान का क्षयोपशम होगा उसी के अनुकूल वह पुद्गलरचना करके उसको उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति करेगा। चक्षु-इन्द्रिय आवरण के क्षयोपशम से कर्ण इन्द्रिय की उत्पत्ति कदापि नहीं होगी और न कभी उसके द्वारा रूप का ज्ञान हो सकेगा। इसी प्रकार जीव में जिस वेद का बंध होगा उसी के अनुसार वह पुद्गल रचना करेगा और तदनुकूल ही उपांग उत्पन्न होगा। यदि ऐसा न हुआ तो वह वेद ही उदय में नहीं आ सकेगा। इसी कारण तो जीवन भर वेद बदल नहीं सकता। यदि किसी भी उपांग सहित कोई भी वेद उदय में आ सकता तो कषायों व अन्य नोकषायों के समान वेद के भी जीवन में बदलने में कौन सी आपत्ति आ सकती है?

(४) नौ प्रकार के जीवों की तो कोई संगति ही नहीं बैठती, क्योंकि द्रव्य में पुरुष और स्त्रीलिंग के सिवाय तीसरा तो कोई प्रकार ही नहीं पाया जाता, जिसमें द्रव्यनपुंसक के तीन अलग भेद बन सकें। पुरुष और स्त्रीवेद में भी द्रव्य और भाव के वैषम्य मानने में ऊपर बतलाई हुई कठिनाइयों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रश्न खड़े होते हैं। यदि वैषम्य हो सकता है तो वेद के द्रव्य और भाववेद का तात्पर्य ही क्या रहा? किसी भी उपांग विशेष को पुरुष या स्त्री कहा ही क्यों जाय? अपने विशेष उपांग के बिना अमुक वेद आवेगा ही किस प्रकार? यदि आ सकता है तो इसी प्रकार पांचों इन्द्रिय ज्ञान भी पांचों द्रव्येन्द्रियों के परस्पर संयोग से पच्चीस प्रकार क्यों नहीं हो जाते? इत्यादि।

इस प्रकार विचार करने से जान पड़ता है कि या तो स्त्रीवेद से ही क्षपक श्रेणी चढ़ना नहीं मानना चाहिये और यदि माना जाय तो स्त्रीमुक्ति के प्रसंगसे बचा नहीं जा सकता। उपलब्ध शास्त्रीय गुणस्थान विवेचन और कर्मसिद्धांत में स्त्रीमुक्ति के निषेध की मान्यता नहीं बनती।

संयमी और वस्त्रत्याग

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यतानुसार मनुष्य वस्त्रत्याग करके भी सब गुणस्थान प्राप्त कर सकता है और वस्त्र का सर्वथा त्याग न करके भी मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। पर प्रचलित दिगम्बर मान्यतानुसार वस्त्र के सम्पूर्ण त्याग से ही संयमी और मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। अतएव इस विषय का शास्त्रीय चिंतन आवश्यक है।

१-दिगम्बर सम्प्रदाय के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ भगवती आराधना में मुनि के उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का विधान है, जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है देखो गाथा (७९-८३)।

(२) तत्वार्थसूत्र में पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों का निर्देश किया गया है जिनका विशेष स्वरूप सर्वार्थ-सिद्धि व राजवार्तिक टीका में समझाया गया है (देखो अध्याय ९ सूत्र ४६-४७)। इसके अनुसार कहीं भी वस्त्रत्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता। बल्कि

बकुश निर्ग्रंथ तो शरीर संस्कार के विशेष अनुवर्ती कहे गये हैं। यद्यपि प्रतिसेवना कुशील के मूलगुणों की विराधना न होनेका उल्लेख किया गया है, तथापि द्रव्यलिंग से पांचों ही निर्ग्रन्थों में विकल्प स्वीकार किया गया है "भावलिंगं प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्था लिंगिनो भवन्ति। द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः। (त. सू. ९, ४७ स. सि.) इसका टीकाकारों ने यही अर्थ किया है कि कभी कभी मुनि वस्त्र भी धारण कर सकते हैं। मुक्ति भी सग्रन्थ और निर्ग्रन्थ दोनों लिंगों से कही गई है। "निर्ग्रन्थलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया" (त. सू. १०, ९ स. सि.) यहां भूतपूर्वनय का अभिप्राय सिद्ध होने से अनन्तर पूर्वका है।

(३) धवलाकार ने प्रमत्तसंयतोंका स्वरूप बतलाते हुए जो संयम की परिभाषा दी है उसमें केवल पांच व्रतों के पालन का ही उल्लेख है—"संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः।"

इस प्रकार दिगम्बर शास्त्रानुसार भी मुनिके लिये एकान्ततः वस्त्रत्याग का विधान नहीं पाया जाता। हां कुंदकुन्दाचार्य ने ऐसा विधान किया है, पर उसका उक्त प्रमाण ग्रन्थों से मेल नहीं बैठता।

३—केवली के भूख प्यास आदि की वेदना।

कुन्दकुन्दाचार्य ने केवली के भूख प्यास आदि की वेदना का निषेध किया है। पर तत्वार्थसूत्रकार ने सफलता से कर्मसिद्धान्तानुसार यह सिद्ध किया है कि वेदनीयोदय जन्य क्षुधा-पिपासादि ग्यारह परीषह केवली के भी होते हैं (देखो अध्याय ९ सूत्र ८-१७) सर्वार्थसिद्धिकार एवं राजवार्तिककार ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मोहनीय कर्मोदय के अभाव में वेदनीय का प्रभाव जर्जरित हो जाता है इस से वे वेदनायें केवली के नहीं होतीं। पर कर्मसिद्धांत से यह बात सिद्ध नहीं होती। मोहनीय के अभाव में रागद्वेष परिणति का अभाव अवश्य होगा पर वेदनीय-जन्य वेदना का अभाव नहीं हो सकेगा। यदि वैसा होता तो फिर मोहनीय कर्म के अभावके पश्चात वेदनीय का उदय माना ही क्यों जाता? वेदनीय का उदय सयोगी और अयोगी गुणस्थान में भी आयु के अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है। इसके मानते हुए तत्सम्बन्धी वेदनाओं का अभाव मानना शास्त्रसम्मत नहीं ठहरता।

दूसरे समन्तभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा में वीत राग के भी सुख और दुःख का सद्भाव स्वीकार किया है यथा—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखा-
त्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ता-
भ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥९३॥

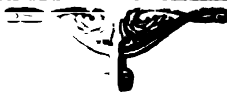
—×—

(नोट—ऊपर के तीनों लेख श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी के हैं। इनमें से पूर्वोक्त दो लेखों का उत्तर श्रीमान पं० रामप्रसाद जी शास्त्री ने अपने लेख के परिशिष्ट में तथा जैनबोधक पत्र में एवं पण्डित दरबारीलाल जी न्यायाचार्य व पण्डित परमानन्द जी शास्त्री सरसावा ने अनेकांत में दिया है। जैनबोधक और अनेकान्त के वे लेख इस ग्रन्थ में पं० रामप्रसाद जी शास्त्री के लेख के पीछे उद्धृत हैं। तीसरे लेख का उत्तर समस्त विद्वानों ने लिखा है।)



(२)

श्री॰ान पं॰ रामप्रसा॰ जी शास्त्री बम्ब॰



* श्री वीतरागाय नमः *

श्री दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण

२

[श्रीमान् प्रोफेसर हीरालाल जी साहब एम० ए०, एल-एल० बी० के 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय', 'स्त्री-मुक्ति', 'संयमी और वस्त्र-त्याग', 'केवली के भूख-प्यास की वेदना' इन चार विषयों पर क्रमानुसार विचार]

मंगल श्लोक

श्रीमान सत्वहितंकरो गुणधरो यः कुन्दकुन्दप्रभुः।
भक्तानामभिवांछनीयसुखदः सत्कार्यकार्यादभुतः ॥
श्रीसीमंधरतीर्थभक्तिवशगः श्रीभद्रबाहुप्रभोः ।
शिष्यः प्राभृतकादिशास्त्रजनकस्त्रायात स नः श्रीगुरुः ॥१॥

[जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय]

श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी साहब एम० ए०, एल-एल० बी० नागपुर ने 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' नामक पुस्तक प्रकाशित की है। इस पुस्तक का सम्बन्ध 'शिवभूति और शिवार्य' नामक पुस्तक से बहुत घनिष्ठ है, अर्थात्—उस पुस्तक की यदि सार्थकता सिद्ध हो गई होती तो इस पुस्तक की भी सार्थकता अवश्य सिद्ध हो सकती थी। परन्तु उस पुस्तक विषयक विचार से मैंने जैन-बोधक के वीर निर्वाण २४७० संख्या ११-१२-१४-१५ के इन ४ अंकों में यह अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया है कि—जो उस पुस्तक से 'शिवभूति और शिवार्य' को एक समझा गया है वह किसी भी हेतु और प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता। जब यह बात सिद्ध हो गई है और उसका प्रतिवाद आजतक प्रोफेसर जी साहब से नहीं हो सका है तो फिर उस पुस्तक से सम्बन्ध रखने वाली इस पुस्तक की स्थिति किसी भी प्रकार नहीं ठहर सकती। अर्थात्—मूलो नास्ति कुतः शाखा' इस वस्तुस्थिति की स्थिति इस पुस्तक की सत्ता को सिद्ध करती है। तथापि इस पुस्तक में कई बातें ऐसी हैं कि जिन पर विचार करने से इस पुस्तक की असारता के साथ उस 'शिवभूति और शिवार्य' नाम की पुस्तक की असारता विशेषतया पुष्ट होगी।

दूसरे इस पुस्तक के खण्डन से श्रीमान पूज्य श्री १०८ आचार्यवर कुन्दकुन्द स्वामी की अति प्राचीनता भी सिद्ध होगी जिसका कि सम्बन्ध 'स्त्री-मुक्ति आदि' तीन विषयों के खण्डन में मुख्यतया साधन है। इसी मुख्य विषय को लक्ष्य में रखकर इस पुस्तक-विषयक विचार के खण्डन की सफलता समझी गई है। इस लिये प्रथम—इस पुस्तक के विचार करने का प्रयत्न है जोकि इस प्रकार है—

प्रथम ही इस पुस्तक में आपने जो यह लिखा है कि 'श्वेताम्बर मूल भाष्य की गाथा में 'कोडिन्न कुट्टवीरा' का उल्लेख आया है, अतः 'शिवभूति-शिशार्यके उत्तराधिकारियोंकी खोज करना है।'

यहां पर सबसे पहले तो विचार यह है कि 'कोडिन्न कुट्टवीरा' से जो आपने श्री कुंदकुंद स्वामी को समझ रखा है, वह बिलकुल ही निराधार है। कारण कि कल्पसूत्र की स्थविरावली में मालूम हुआ है कि 'कोडिन्न' का अर्थ 'कौडिन्य' गोत्र है। जोकि 'अवभूति' और 'सुप्रभ' गणधर का गोत्र माना गया है। और 'कुट्ट' शब्द का कुछ भी अर्थ होता नहीं। इससे यह मालूम पड़ता है कि यहां पर 'कुट्ट' की जगह 'कुच्छ' शब्द होना चाहिये। 'कुच्छ' शब्द का अर्थ 'कुत्स्य' गोत्र हो सकता है। और 'वीरा' शब्द का अर्थ—श्री वीर स्वामी के गोत्र का उद्भावक यानी सूचक 'कश्यप' गोत्र हो सकता है। इस तरह सब शब्दोंका अर्थ 'कौडिन्य, कुत्स्य, कश्यप इन गोत्रों के आचार्य परम्परा के स्पर्श से हुए, ऐसा उस गाथा के उत्तरार्द्ध* का अर्थ हो सकता है, न कि उस शब्द का अर्थ 'कुंदकुंद' हो सकता है। कारण कि 'कुंदकुंद' अर्थ के लिये इस पुस्तक भरमें कोई आगम, युक्ति, शिलालेख आदि एक का भी प्रमाण नहीं दिया है, दूसरे 'कोडिन्न कुट्टवीरा' यह शब्द बहुवचनान्त है तथा 'उप्पन्ना' यह क्रिया भी बहुवचन है। इससे भी यह पता लगता है कि इन वाक्यों से बहुतसे आचार्य ग्रहण किये हैं। अतः 'कोडिन्न कुट्टवीरा' से जो आपने श्री कुन्दकुन्द स्वामी को समझ रक्खा है वह सर्वथा निर्मूल है। कारण कि कुन्दकुन्द स्वामी का सम्बन्ध यहां कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता, किन्तु तत तद् गोत्रीय आचार्यों में ही यह 'कोडिन्न कुट्टवीरा' शब्द सम्बन्ध रखता है।

आगे आप लिखते हैं कि—स्थविरावलीके अनुसार शिवभूति के शिष्य और उत्तराधिकारी 'भद्र' हुए। इस लिखावट में आपने 'भद्र' से द्वितीय 'भद्रबाहु' को समझा है, जिसकी कि पुष्टि आपने 'श्रवण बेलगोला शिलालेख नं० ४० (६४) में की है। परन्तु उस शिलालेख का अर्थ आपने बिलकुल ही उल्टा (विपरीत) किया है। शिलालेख नीचे लिखे अनुसार इस प्रकार है—

श्री भद्रः सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः।
श्रुत-केवलि-नाथेषु चरमः परमो मुनिः॥
चन्द्रप्रकाशोज्वलसान्द्रकीर्तिः, श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः। यस्य प्रभावाद् वनदेवताभि-
राराधितः स्वस्य गणो मुनीनाम्॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि सर्व तरफ से जो श्री शोभा या लक्ष्मीकर भद्र श्रेष्ठ हैं और श्रुतकेवलियों में अन्त के उत्कृष्ट मुनि हैं। और चन्द्रप्रकाश के समान उज्वल (धवल) महान कीर्ति के धारक जिनके

---

* कोडिन्न कुट्टवीरा परम्परा फासमुप्पन्ना।
(मूलभाष्य श्वेताम्बर)

(भद्रबाहु प्रथम के) शिष्य श्री चन्द्रगुप्त राजा हुए जिसके (भद्रबाहु के) प्रभाव से वनदेवताने उनके मुनियों का गण (समूह) सम्मानित किया।

इस शिलालेख में स्पष्ट है कि शिलालेखस्थ भद्रबाहु प्रथम थे जोकि अन्तिम श्रुतकेवली थे। न कि शिवभूति के शिष्य या दूसरे 'भद्रबाहु' थे।

दूसरे शिलालेख में आपने भद्रबाहु को द्वितीय भद्रबाहु समझ रक्खा है—वह भी ठीक नहीं है। दूसरा शिलालेख निम्न प्रकार है—

श्री गौतमगणधरसाक्षात् शिष्य लोहाचार्य-जम्बु-विष्णुदेवापराजित-गोवर्द्धनभद्रबाहु-विशाख-प्रोष्ठिल-कृतकार्य--जयनाम-सिद्धार्थधृतिषेण-बुद्धिलादि-गुरु-परम्परीण--क्रमागत-महापुरुष-संततिसमवद्योतिता-न्वय-भद्रबाहु-स्वामिना उज्जयिन्यामष्टाङ्गमहानिमित्त-तत्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादश-सम्वत्सरकाल-वैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्वसङ्घ उत्तरपथा-द्दक्षिणपथं प्रस्थितः इत्यादि।

इस शिलालेख में गोवर्द्धन के पास एक भद्रबाहु शब्द का उल्लेख है। उनको तो प्रोफेसर साहब ने प्रथम भद्रबाहु समझा है। परन्तु आगे 'महापुरुष-सन्तति समुद्योतितान्वय-भद्रबाहु स्वामिना' शब्द से दूसरे भद्रबाहु को समझ रक्खा है। वह एक व्याकरण की अजानकारी का और ऊपरकी परिस्थिति पर गहरी दृष्टि नहीं देने का परिणाम है। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में अष्टांग महा निमित्त ज्ञानी कोई भी दूसरे भद्रबाहु नहीं हुए हैं, किन्तु पंचम श्रुतकेवली जो श्रीभद्रबाहु स्वामी हुए हैं वे ही अष्टांग निमित्त के पूर्ण ज्ञाता थे। कारण कि वे श्रुतकेवली थे। इस लिये त्रिकालदर्शी महानिमित्त के वे ही ज्ञाता हो सकते हैं।

व्याकरणके हिसाबसे 'महापुरुष संतति' जो शब्द है वह विभक्ति रहित समास के अन्तर्गत है, उसको सप्तमी तत्पुरुषी समास के सम्बन्ध से विग्रह में 'महापुरुषसंततौ' या 'महापुरुषसंततिषु' ऐसा विग्रह करने पर और 'समुद्योतितान्वय' के साथ 'भद्रबाहु-स्वामिना' शब्द होने से प्रथम भद्रबाहु स्वामी ही परिगणित हो सकते हैं। क्योंकि उनने अपने पीछे की मुनि परम्परा को दुष्काल से भ्रष्ट होते हुए बचाया था। इसी लिये 'समुद्योतितान्वय' यह विशेषण उनके लिये लागू पड़ता है, क्योंकि अन्वय शब्द का अर्थ 'पश्चात् कालीन गण-गच्छ' होता है या अन्वय शब्द का 'अनुपूर्वीसे चला आया गण गच्छ' भी अर्थ होता है। उस गण गच्छ को जिनने भ्रष्टाचार से बचाकर रक्षण किया था। इस लिये वे 'समुद्योतितान्वय' विशेषण वाले हुए।

सम्राट चन्द्रगुप्त के समय में कथानक से इन्हीं भद्रबाहु स्वामी का वर्णन प्रसिद्ध है, न कि किन्हीं शिवभूति के शिष्य भद्रबाहु का। दिगम्बर सम्प्रदाय में तो कोई भी शिवभूति के शिष्य 'भद्रबाहु' नहीं हुए हैं। क्योंकि दिगम्बर सम्प्रदाय के किसी भी शिलालेख या ग्रन्थ में इस तरह का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। यदि इन उपर्युक्त शिलालेखों में कहीं पर शिवभूति के शिष्य 'भद्रबाहु' का वर्णन पाया जाता तो प्रोफेसर साहब की कल्पना को कुछ टेका भी मिलता। परन्तु वैसा कहीं भी वर्णन न होने से यह एक असंबद्ध कल्पना ही है। जैसी कि आपने श्री समन्तभद्र स्वामी के विषय में कल्पना की है।

आश्चर्य है कि उस कल्पना से द्वितीय भद्रबाहु को कल्पित कर समन्तभद्र स्वामी के साथ सम्बन्ध आप ने जोड़ा है। जिसका अनेकान्त के वर्ष ६ किरण ११-११ पत्र ३३० में श्रीमान पं० दरबारीलाल जी न्यायतीर्थ कोठिया ने अकाट्य युक्तियों से खण्डन किया है। जो कि बड़े महत्व का होने से इस ट्रैक्ट के साथ मुद्रित है। अतः इस विषय को पुनरुक्त और विस्तार भय से चर्चित नहीं किया है।

उपर्युक्त सब कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में दूसरे कोई भी पूर्ण निमित्त ज्ञानी भद्रबाहु नहीं हुए तथा समन्तभद्र और भद्रबाहु एक व्यक्ति नहीं थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के हिसाब से 'शिवार्य' ने ही समन्तभद्र के संघ में प्रवेश किया, जिनने कि भगवती आराधना नामक महान ग्रन्थ का निर्माण किया, न कि शिवभूति के संघ में समन्तभद्र स्वामी ने प्रवेश किया था।

चन्द्रवंश उनका राजर्षि चन्द्रगुप्त की परम्परा में हो सके तो भले ही संभवित हो, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में तो समन्तभद्र स्वामी के चन्द्रवंश का कहीं भी उल्लेख नहीं है। 'वनवासी' यानी वे प्रायः वन में ही रहा करते थे। इस लिये श्वेताम्बरग्रन्थ कथित समन्तभद्र स्वामी के ये दो विशेषण इस रीति से संभवित हो सकते हैं। वास्तव में देखा जाय तो 'नुक्ताके हेर फेर से खुदा जुदा हो जाता है।' इस दृष्टि से विचार किया जाय तो श्वेताम्बरों के 'सामंत भद्र' और दिगम्बरों के 'समन्तभद्र' जुदे ही सिद्ध हो सकते हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय के लेखों से स्पष्ट है कि समन्तभद्र स्वामी ने अपनी अटूट जिनभक्ति रूप स्तोत्र की सामर्थ्य से चमत्कार दिखलाकर शिवकोटि राजा (शिवार्य) को अपना परम शिष्य बनाया था। फिर मालुम होता है कि शिवार्य ने भी अपना कोई शिष्य बनाया हो जोकि बहुत करके 'घोषनन्दी' थे। तथा घोषनंदी ने भी अपना कोई शिष्य बनाया हो जिनका कि नाम उमास्वाति प्राय होगा जो कि पहले श्वेताम्बर रहे होंगे फिर उनने घोषनंदी का शिष्य बन कर कुछ भाग दिगम्बर सम्प्रदाय का और कुछ भाग श्वेताम्बर मान्यताओं का स्वीकार किया होगा। उनने ही उमास्वामी के तत्वार्थसूत्र को अपने ढांचे में कुछ इधर उधर करके टीका लिखी होगी जिसका कि नाम भाष्य है।

कारण कि तत्वार्थसूत्र की रचना तो समंतभद्र स्वामी से पहले उमास्वामी कर चुके थे। क्योंकि उसके ऊपर समन्तभद्र स्वामी का एक गंधहस्ति महाभाष्य लिखा गया था। ऐसा कथन लघु समंतभद्र का अष्टसहस्री टिप्पण+ में और हस्तिमल्लि कवीश्वर का विक्रम कौरव नाटक× में पाया जाता है इस कथन से स्पष्ट सिद्ध है कि श्रीसमन्तभद्र की शिष्य-परम्परा में घोषनंदी तक पूर्ण दिगम्बर परम्परा रही। क्योंकि

\+ इह हि खलु पुरा स्वोपज्ञनिरवद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधर-प्रत्येक-बुद्ध-श्रुतकेवलि-दशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिः भगवद्भिरुमास्वामिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्वार्थाधिगमस्य मोक्ष-शास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नतः स्याद्वाद-विद्याग्रगुरवः श्री स्वामिसमंतभद्राचार्याः॥

× तत्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तकः।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः॥

'नन्दिसंघ' खास दिगम्बरों का माना जाता है उसकी परम्परा घोषनंदी तक समन्तभद्र की परम्परा में रही अनन्तर घोषनंदी के शिष्य ब्राह्मण उमास्वाति ने उनकी परम्परा को बदल दिया और शायद यापनीय संघ की उत्पत्ति उन्हीं उमास्वाति ब्राह्मण से हुई हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी अपने को श्री श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी का साक्षात् शिष्य लिखते हैं। षट् प्राभृत के बोधप्राभृत में इस विषयक-गाथा—

सद्दवियारो हूओ-भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥

अर्थ—शब्द विकार रूप परिणत हुआ और जिसे श्री जिनेन्द्र भाषा सूत्रों में कहा है वह उसी प्रकार भद्रबाहु के शिष्य (मैंने) जाना है।

इस गाथा में ग्रन्थकर्ता ने अपनी लघुता के साथ अपने वचनों की प्रमाणता सूचित की है। अब वह आगे की गाथा में इस बात को सूचित करते हैं कि वे भद्रबाहु स्वामी कौन से थे।

—गाथा—

बारस अंग वियाणं चउदस पुव्वंग विउल वित्थरणं
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू+ भयवओ जयओ ॥६२॥

अर्थ—जो द्वादशांग के विज्ञान से युक्त हैं और चौदह पूर्वांग के महान विस्तार को करने वाले हैं ऐसे श्रुतज्ञानी गमकोंके गुरू भगवान भद्रबाहु जयवंत रहो।

+ जैसा सूत्र का अर्थ होता हो वैसे ही अर्थ को जाने उसे 'गमक' कहते हैं। इस शब्द से ग्रन्थकार ने भद्रबाहु को अपना गुरू प्रगट किया है यह ६१वीं गाथा के भाव से स्पष्ट है।

इन दो गाथाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस षट्प्राभृत अथवा अष्टप्राभृत ग्रन्थ के कर्ता जो कोई हैं वे श्री भद्रबाहु स्वामी के साक्षात् शिष्य हैं और भद्रबाहु स्वामी वे ही हैं जोकि अंतिम श्रुत-केवली हैं।

जो वीतरागी मुनि अपनी लेखनी से जिस बात को लिखते हैं वह बात सर्वथा सत्य होती है उसके लिये दूसरे प्रमाण शिलालेख ताम्रपत्र आदि सामग्री कुछ भी कार्यकारी नहीं गिनी जाती।

श्री प्रोफेसर साहिब को जिस तरह श्वेताम्बर की यापनीय भाष्य के अन्त में लिखी प्रशस्ति प्रमाण है उसी प्रकार इस ग्रंथ-लिखित जो ऊपर की गाथा हैं वे भी प्रमाण माननी चाहिये और उनके प्रकाश में ही श्री ग्रन्थकर्ता कुन्दकुन्द स्वामी का समय निश्चित समझना चाहिये। क्योंकि अन्य कल्पित घटित प्रमाणों से स्वयं ग्रन्थकर्ता द्वारा लिखित प्रमाणों की जो कीमत है वह दूसरे की कदापि भी नहीं होती।

इन उपयुक्त गाथाओं के आश्रय से यह बात स्पष्ट सिद्ध है कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी—अभी प्राप्त दिगम्बर परम्पराके प्राचीन आचार्य श्रीधरसेनाचार्य पुष्पदन्त और भूतबली से भी प्राचीन हैं। इस लिये उनकी परम्परा श्री धरसेनाचार्य पुष्पदन्त भूतबली और उमास्वामी आदि से बहुत ही प्राचीन है। श्री षट्खंडागम में भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो उसके सूत्रों में कुन्दकुन्द परम्परा का ही अनु-करण है। जिसका कि रहस्य प्रोफेसर हीरालालजी की समझ में नहीं आया है यदि बारीक दृष्टि से आप विचार करते तो यह विषय आप जान लेते। अस्तु।

षट्खंडागम आदि सूत्रों का विषय श्री कुन्दकुन्द स्वामी के अभिप्रायों से किस प्रकार सम्बद्ध है उसका स्पष्टीकरण इस आगे के लिखे लेख के अनुसार है।

प्रोफेसर हीरालाल जी एम० ए०, एल एल० बी, ने उपर्युक्त दो पुस्तकों के अलावा "अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलन" (१२वां अधिवेशन बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय) में एक परचा अध्यक्ष की हैसियत से विचारार्थ रक्खा उसमें 'स्त्रीमुक्ति, संयमी और वस्त्रत्याग, केवली के भूख प्यास की वेदना' इन तीन बातों का मतभेद दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मुख्यतया बतलाया। परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में अन्यमत के लिंग से मुक्ति नहीं होती, केवलज्ञान अवस्था में केवली को उपसर्ग नहीं होता इत्यादि और भी बहुत सी बातों में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में मुख्य मतभेद हैं। अस्तु, यहां आपने मुद्रित परचे में तीन ही मुख्य बातें ली हैं उन्हीं पर क्रमशः विचार किया जाता है।

स्त्री-मुक्ति

आपने षट्खंडागम के सूत्रों को बहुत प्राचीन माना है इस लिये आपने सूत्रों के आधार से ही द्रव्यस्त्री के १४ गुणस्थानों का समर्थन कर मुक्ति का समर्थन किया है। इसमें प्रथम ही षट्खंडागम के सत्प्ररूपणा सूत्र ९३वें का हवाला दिया है। सूत्र निम्न प्रकार है—

सम्मामिच्छा-इट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-
संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

इस सूत्र का आशय यह है कि नियम से पर्याप्त मनुष्यणी के सम्यक्दृष्टि १ असंयत सम्यग्दृष्टि २ संयतासंयत ३ ये तीन गुणस्थान होते हैं।

श्री वीरसेन स्वामी इस सूत्र की व्याख्या संस्कृत भाषामें करते हैं, उसमें प्रथम पंक्ति—'हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किं नोत्पद्यन्त इति चेन्न, उत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्षात्।

इस पंक्ति का आशय यह है कि हुण्डावसर्पिणी काल में स्त्रियों में क्या सम्यग्दृष्टि नहीं उत्पन्न होते हैं?—(समाधान) ऐसा नहीं है उत्पन्न होते हैं। (शंका) यह बात कैसे जानी? (समाधान) इसी आर्ष प्रणीत सूत्र के आधार से यह बात जानी गई है।

यहां सबसे पहले यह बात उपस्थित होती है कि वीरसेन स्वामी को इस सूत्र की व्याख्या में ऐसी पंक्ति लिखने की क्या जरूरत पड़ी, क्या हुण्डावसर्पिणी काल में दिगम्बर या श्वेताम्बर किसी भी आगम में स्त्रियों की पर्याप्त अवस्था में कहीं पर सम्यक्त्व का निषेध पाया जाता है? यदि कहीं भी निषेध पाया जाता हो तो किसी वादी कृत शंका का समाधान यहां उपयुक्त था परन्तु ऐसी बात कहीं भी पाई नहीं जाती फिर श्री वीरसेन स्वामी को ऐसी शंका उठाकर समाधान करने की क्यों जरूरत पड़ी। मेरी समझ में इस शंका और समाधान में भीतरी कुछ रहस्य अवश्य है। जो कि प्रोफेसर साहब की दृष्टिगत नहीं हुआ। इसी कारण उनने इस पंक्ति का असली अर्थ नहीं किया।

इस पंक्ति का असली अर्थ वास्तविकता को लिये हुए इस प्रकार हो सकता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें स्त्रीपर्याय के लिये कुछ एक खास अवस्थाओं के

निषेध का वर्णन है, यथा—श्वेताम्बर-प्रवचन सारोद्धार तीसरा भाग पत्र ५४४-५४५ में एक गाथा निम्न प्रकार से दर्ज है—

अरहंत चक्कि केसव बलसंभिन्नेय चारणे पुव्वा,
गणहरपुलायआहारगं च न हु भवियमहिलाणं।

इस गाथा का आशय यह है कि—स्त्रियों को अरहंतपद और चक्रवर्ति, नारायण, बलभद्र, संभिन्न-श्रोतार्ऋद्धि, चारणऋद्धि, पूर्वश्रुत, ये प्राप्त नहीं होते तथा स्त्रियां गणधर नहीं होतीं पुलाक, आहारक ये कोई भी बातें उन्हें प्राप्त नहीं होतीं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जब स्त्रियों के लिये खास ऐसा कथन है तो स्त्री अवस्था में 'अरहंत' पद उनको नहीं होना चाहिये परन्तु उनके यहां चतुर्विंशति तीर्थंकरों में पन्द्रहवें श्री मल्लिनाथ भगवान को 'मल्लिबाई' तीर्थंकर माना है। यह बात उपर्युक्त गाथा से विरुद्ध जाती है, इस लिये उसका समाधान वे इस प्रकार करते हैं कि हुंडावसर्पिणी काल में कुछ अछेरे (अपवाद) हुआ करते हैं उनमें से यह एक अछेरा हुआ है। अछेरा भी होता है वह असम्भव का नहीं होता है। फिर भी यह अछेरा इतना ऊंचा कि चक्रवर्ति, नारायण आदि का न होकर एक दम तीर्थंकर (ऊंचीसे ऊंची पदवी) का आश्चर्य। अस्तु।

उनके यहां मल्लिबाई तीर्थंकर हुई इसी बात को मन में रख कर श्वेताम्बरों की तरफ से जो शंका उठाई गई है उसका इस सूत्र में समाधान है। श्वेताम्बरों की तरफ से भी यह शंका क्यों उठाई गई उसका समाधान इस प्रकार है कि सूत्र में तीन गुणस्थानों का सद्भाव पर्याप्त अवस्था में बताया गया है परन्तु मल्लिबाई ने तीर्थंकर पदवी का पहले बंध करके जन्म लिया और तीर्थंकर प्रकृति का बंध सम्यक्त्व के सद्भाव में ही होता है इस लिये उनका सम्यक्त्व सहित जन्म लेना सिद्ध होने से अपर्याप्त दशा में स्त्री को सम्यक्त्व आ जाता है इसी भाव को मन में रख कर 'सम्यग्दृष्टयः [illegible]त्पद्यन्त' शंका की गई है। उसका समाधान—'इतिचेत्', नोत्पद्यन्ते' ऐसा चाहिये था परन्तु इसे बिना समझे ही-'इतिचेत्, उत्पद्यन्ते' किया है। यह सब 'सम्यग्दृष्टयः, पद पर और 'उत्पद्यन्ते' क्रिया पर नहीं लक्ष्य देनेका परिणाम है। 'सम्यग्दृष्टयः' का अर्थ सम्यग्दर्शन-विशिष्ट 'उत्पद्यन्ते' उत्पन्न होते हैं, ऐसा अर्थ होने से उत्पन्न दशा के पूर्व की दशा में यानी गर्भाधान के समय में अपर्याप्तता स्वयमेव आ जाती है, अतः सूत्र में 'पर्याप्तता' होने से शंकाकार को शंका का स्थान मिल जाता है। और उसका समाधान 'नोत्पद्यन्ते' क्रिया से ठीक बैठ जाता है।

यह सब लिखने से यहां प्रकरणगत बात यह सिद्ध हो जाती है कि स्त्री पर्याय में 'अरहंत' होने आदि की शक्ति नहीं है फिर मोक्ष की वार्ता तो बहुत दूर है।

षट्खण्डागम सत्प्ररूपणा योगद्वार योगमार्गणा प्ररूपणा पत्र ३३२ सूत्र ९३ में—'संजदासंजद' शब्द के आगे 'ट्ठाणे' के ऊपर १ का अंक देकर नीचे टिप्पण दिया है कि—'अत्र 'संजद' इति पाठशेषः प्रतिभाति।' मालूम पड़ता है कि यह टिप्पण धवला-टीका की 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेदिति चेन्न' इस पंक्ति को देख कर दिया है। इस वाक्य का यह अर्थ होता है कि इसी ९३वें के के आर्षप्रणीत सूत्राधार से द्रव्यस्त्री को मोक्ष सिद्ध

होगी, परन्तु ऐसी बात नहीं है 'इतिचेन्न' इस पंक्ति से ऊपर का पूर्वार्ध वाक्य लिख कर आगे समाधान दिया है। वह इस प्रकार है—

'सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः।' इसका आशय यह है कि वस्त्र सहित होने से अप्रत्याख्यान कषाय का उदय होता है अतः 'संयम' छट्ठा गुणस्थान आदि नहीं होता है। इसके आगे शंकाकार ने शंका की है कि—

'भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इतिचेन्न'।

इसका आशय यह है कि वस्त्रसहित होने पर भी उनके भाव संयम अविरुद्ध है अर्थात् हो सकता है। इस जगह यह बात उपस्थित होती है कि यदि सूत्र में 'संजद—संयत' यह पाठ होता तो शंकाकार अवश्य ही ऐसी शंका करता कि—सूत्रे 'संजद, इति पदस्य सद्भावः कथं' अर्थात् सूत्र में संयत यह पद क्यों है। परन्तु ऐसी शंका नहीं करके 'भावसंयमस्तासा मित्यादि, शंका की है इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि सूत्र में 'संजद' शब्द नहीं है।

तथा आगे इसी प्रकरण के पत्र ३३३ की चौथी लाइन में 'कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानि, ऐसी शंका की है। यहां पर 'उपस्थितं परित्यज्य अनुपस्थिते मानाभावात्' इस न्याय को छोड़ कर 'संजद' के स्थान में चतुर्दश गुणस्थान लिया है। इससे भी ज्ञात होता है कि सूत्र में 'संजद' शब्द नहीं है।

इस सब निष्कर्ष से मालूम होता है कि जिस धवला की पंक्ति से प्रोफेसर साहब ने सूत्र में 'संजद' टिप्पण दिया है वह पंक्ति उस रूप में नहीं है किन्तु अशुद्ध है। वह पंक्ति—'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां न निर्वृत्तिः। सिद्ध्येदितिचेन्न' ऐसी होनी चाहिये।

इसका आशय यह है कि इसी आर्षसूत्र से द्रव्यस्त्रियों को मोक्ष नहीं होता। यह धवलाकार का कथन है। इस पर शंकाकार अपने मन में आगे के सूत्रों की तथा अनिमित्त में भावप्रधान की धारणा हृदयमें रख कर शंका करता है कि—'सिद्ध्येत' द्रव्यस्त्री को मोक्ष सिद्ध होगा। उसकी शंकाका समाधान श्रीवीरसेन स्वामी ने 'इतिचेन्न' शब्द करके आगे दिया है।

इस सब कथन में यह बात भले प्रकार समझ में आजाती है कि सूत्र में 'संजद' शब्द नहीं है। जब सूत्र में 'संजद' शब्द ही नहीं है तो फिर यह बात अनायास ही सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्री के पांच गुण स्थान तक ही होते हैं दूसरे सूत्रमें पर्याप्त शब्द पड़ा है, वह अच्छी तरह से सिद्ध करता है, कि-द्रव्य स्त्री का ही यहां ग्रहण है क्योंकि पर्याप्तियां सब पुद्गल द्रव्य ही हैं उनसे जो स्त्रीका शरीर बना है वह द्रव्य स्त्रीका ही बोधक है।

यहां एक विशेष बात और है कि सूत्रमें 'पर्याप्त' शब्द तो है ही उसमें यदि 'संजद' शब्द और भी होता तो फिर श्री वीरसेन स्वामी शंका का उत्थापन करके भाव स्त्रीका प्रतिपादन करते हुए समाधान नहीं करते

अर्थात्— पर्याप्तसे तो द्रव्य स्त्रीको समझकर और वहां छट्ठा गुणस्थान वाचक 'संजद' शब्द देख कर भाव स्त्री शब्द लिख कर समाधान नहीं करते। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि सूत्रमें 'संजद' शब्द है ही नहीं। इसी लिये श्री वीरसेन स्वामी ने भावस्त्री का प्रतिपादन करके स्वतः उठाई हुई शंका का समाधान किया है। इस सब लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यस्त्री के आदि के पांच ही गुणस्थान होते हैं।

इस सूत्र का मुख्य तात्पर्य भी यही है।

आगे भावस्त्रीवेदमें १४ गुणस्थान कैसे हो सकते हैं और भाव वेद इस ग्रन्थ में कहां से आया, इस बात के निर्णय के लिये क्षेत्रानुगम 'मनुष्य प्ररूपणा' पत्र ७२ देखिये—

'मणुसगईए मणुस मणुसपज्जत्तमणुसणीसु मिच्छाइट्ठि पहुडि जाव अजोगकेवली केवडिखेत्ते लोगस्स असंखेज्जदिभागे ॥११॥

स्पर्शानुगम 'मनुष्य स्पर्शप्ररूपणा' पत्र २१६

'मणुसगईए-मणुस-मणुसपज्जत-मणुसिणीसु मिच्छादिट्ठीहि केवडियं खेत्तं पोसिदं, लोगस्स असंखेज्जदिभागो' ॥ ३४ से ३८ सूत्र तक।

कालानुगमें 'मनुष्यकाल प्ररूपणा'—

'मणुसगईए-मणुस-मणुसपज्जत्त मणुसिणीसु मिच्छादिट्ठी केवचिरं कालादोहोंति, णाणाजीवं पडुच्च सव्वद्धा' ॥६८॥

अन्तरानुगम 'मनुष्य अन्तरप्ररूपणा' पत्र ४६ सूत्र ४७ से ५५ तक

'मणुस्सगईए मणुस-मणुसपज्जत्त मणुसिणीसु मिच्छादिट्ठीणमंतर केवचिरं कालादो होदि णाणाजीवं पडुच्च णत्थि अंतरं णिरंतरं'।

भावानुगम मनुष्यभावप्ररूपणा' पत्र २१३—

'मणुसगईए-मणुस-मणुसपज्जत मणुसणीसु, मिच्छादिट्ठिपहुडि जाव अजोगकेवलित्ति ओघं ॥२२

अल्पबहुत्वानुगम 'मनुष्याल्पबहुत्व प्ररूपणा'—

'मणुसगईए-मणुस मणुसअपज्जत्त मणुसिणीसु तिसु अद्धासु उवसमापवेसणेण तुल्लाथोवा'। सूत्र ५३ से ८० तक।

इन सब सूत्रों में केवल-मणुसिणी-(मनुष्यनी) को ही लिया है और सत्प्ररूपणा के ६३ वें सूत्र में पर्याप्त मनुष्यनी को ही लिया है। केवल मनुष्यनी के वाले सूत्रों में चौदह गुणस्थान बतलाये हैं। परन्तु सत्प्ररूपणा के ६३ वें सूत्र में पर्याप्त मनुष्यनी के पांच ही गुणस्थान बतलाये हैं।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जिस जगह केवल मनुष्यनी का ग्रहण किया है वहां भावमनुष्यनी का ही ग्रहण है, नहीं तो जैसे ऊपर के क्षेत्रानुगम आदि प्ररूपणा के सूत्रों में 'मनुष्य पर्याप्त' को ग्रहण किया है, उसी तरह वहां पर्याप्त मनुष्यनी का भी ग्रहण होता है, परन्तु वहां पर वैसा ग्रहण किया नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वहां पर भावस्त्री का ही ग्रहण है जोकि उन सूत्रों से ही यह द्रव्यस्त्री और भावस्त्री का भेद स्वयं सिद्ध होता है। और जब यह बात इन सूत्रों से स्पष्ट सिद्ध हो जाती है तो द्रव्यवेद में भाववेद का परिवर्तन भी अनायास ही सिद्ध हो जाता है। जब ऐसी बात इन सूत्रों से सिद्ध हो जाती है तो फिर यह स्पष्ट है कि इन ग्रन्थकार का कथन श्री कुन्दकुन्द स्वामी के मत से और उनकी परम्परा में गोम्मटसार ग्रन्थ के रचयिता और उसके टीकाकार तथा अमितगति आदि जितने भी आचार्य भावस्त्री को १४ गुणस्थान मानने वाले हैं, उनके कथन से मिलता हुआ है।

फिर यह जो प्रोफेसर साहब का कहना है कि 'कुन्दकुन्दाचार्यने अपने ग्रंथोंमें स्त्री-मुक्ति का स्पष्टतः निषेध किया है। किन्तु उन्होंने व्यवस्था में न तो गुणस्थान चर्चा की है और न कर्मसिद्धान्त का

विवेचन किया है जिससे उक्त मान्यता का शास्त्रीय विवेचन शेष रह जाता है।' यह सब कथन कपूरवत उड़ जाता है। क्योंकि यह बात यानी श्री कुन्दकुन्द स्वामी का कथन षट्खण्डागम के उन्हीं सूत्रों से सिद्ध हो जाता है जिनका कि उल्लेख प्रो० साहब ने भी कुन्दकुन्द के कथन के विरुद्ध में दिया है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वह श्री कुन्दकुन्दाचार्य का व्याख्यान सन्तोषजनक ही नहीं किन्तु पूर्ण सन्तोषजनक है।

श्री प्रोफेसर साहब ने द्रव्यस्त्री को सिद्ध करने की पुष्टि में ४ हेतु दिये हैं, उनका क्रम से निराकरण निम्न प्रकार है।

१—'सूत्रों में जो योनिनी शब्द का उपयोग किया गया है वह द्रव्यस्त्री को छोड़ अन्यत्र घटित ही नहीं हो सकता।'

यह पहला हेतु आपका सर्वथा अयुक्त है। क्योंकि षट्खण्डागम के सूत्रों में मनुष्यिणी के लिये कहीं भी 'योनिनी—योनिमती' का उपयोग नहीं किया गया है। ऊपर सत्प्ररूपणा आदि के जितने भी सूत्र दिये हैं उनमें तथा अन्य दूसरे सूत्रों में किसी जगह पर भी यह योनिनी शब्द उपयुक्त नहीं किया गया है। षट्खण्डागम के सूत्रों में केवल तिर्यञ्चनियों के लिये ही 'योनिनी—योनिमती' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसके कुछ नमूने के सूत्र निम्न प्रकार हैं—

द्रव्य प्रमाणानुगम तिर्यञ्चगति प्रमाणप्ररूपणा पत्र २२८ सूत्र ३३ —

'पंचेन्दिय तिरिक्ख—जोणिणीसु मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया असंखेज्जा'।

'क्षेत्र प्रमाणानुगतितिर्यञ्च क्षेत्र प्ररूपणा' पत्र ६६ सूत्र ६—

'पंचिंदिय तिरिक्ख पंचिंदय—तिरिक्खपज्जत्त—पंचिंदियतिरिक्ख जोणिणीसु मिच्छाइट्ठि पहुदि जाव संजदासंजदा केवडि खेत्ते लोगस्स असंखेज्जदिभागे'।

'स्पर्शानुगम तिर्यञ्च स्पर्शप्ररूपणा' पत्र २११—

'पंचिंदियतिरिक्ख पंचिंदियतिरिक्ख पज्जत्त—जोणिणीसु मिच्छाइट्ठी हि केवडियं खेत्तं फोसिदं लोगस्स असंखेज्जदिभागो ॥२६॥

'कालानुगम तिर्यञ्चकाल प्ररूपणा' पत्र ३६७—

'पंचिंदियतिरिक्ख- पंचिंदियतिरिक्खपज्जत्त-पंचिंदियतिरिक्खजोणिणीसु मिच्छाइट्ठी केवचिरं कालादो होंति णाणाजीवं पडुच्च सव्वद्धा' ॥५७॥

'अन्तरानुगम तिर्यञ्च अन्तरप्ररूपणा' पत्र २७ सूत्र ३६—

'पंचिंदियतिरिक्ख-पंचिंदियतिरिक्खपज्जत्त-पंचिंदियतिरिक्ख—जोणिणीसु मिच्छाइट्ठीणमंतरं केवचिरं कालादो होदि णाणाजीवं पडुच्च णत्थि अंतरं णिरंतरं' ॥३६॥

'भावानुगम तिर्यक् प्ररूपणा' पत्र २१०—

'तिरिक्खगदीए तिरिक्ख—पंचिंदयतिरिक्ख—पंचिंदियपज्जत्त पंचिंदियतिरिक्ख-जोणिणीसु मिच्छाइट्ठि पहुदि जाव संजदासंजदाणमोघं' ॥११॥

इस प्रकार ऊपर के सब सूत्रों में तिर्यञ्चनियों के लिये 'योनिनी' शब्द आया है। परन्तु मनुष्यनियों को न तो षट्खण्डागम में ही कहीं 'योनिनी' शब्द देखा है और न कहीं गोम्मटसार में ही देखने को यह शब्द मिला है। श्री प्रोफेसर साहब जो योनिनी

शब्द से स्त्री के लिये द्रव्यस्त्री समझ रहे थे वह बात इस प्रकरणमें न होनेसे आपका पहला हेतु यहां कुछ भी सार नहीं रखता अतः सर्वथा निस्सार है।

२—'जहां वेदमात्रकी विवक्षा से कथन किया गया है वहां आठवें गुणस्थान तक का ही कथन किया गया है, क्योंकि उससे ऊपर वेद रहता ही नहीं है।'

इस हेतु के लिखने का आपका आशय यह है कि जब वेद ८ वें गुणस्थान से आगे है ही नहीं तो फिर भावस्त्री के वेद की अपेक्षा १४ गुणस्थान कैसे संभवित हो सकते हैं?

उसका स्पष्ट उत्तर यह है कि उपशम और क्षपक श्रेणी आठवे गुणस्थान से मड़ती है। जिस भाव-स्त्रीवेदी ने क्षपक श्रेणी माड़ी है वह नियम से ऊपर के गुणस्थानों को धारण करता है क्योंकि क्षपकश्रेणी के साथ ऊपर के गुणस्थान धारण का अविनाभावी सम्बन्ध है; अर्थात् जिसने क्षपक श्रेणी माड़ी है वह नियम से ऊपर के गुणस्थान प्राप्त कर मोक्ष जायगा

वेद का उदय नवमें गुणस्थान के सवेद भाग तक माना है आठवें तक ही नहीं माना है। क्योंकि सत्प्ररूपणानुयोगद्वार वेदमार्गणा प्ररूपणा पत्र ३४८

इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णि मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टित्ति॥१०७॥

पत्र ३४६ सूत्र—

'णवुंसयवेदा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणि-यट्टित्ति ॥१०८॥

इत्यादि षट्खण्डागम के अनेक सूत्र होने से वेद का सद्भाव नवमें गुणस्थान तक है।

३—"कर्मसिद्धान्त के अनुसारवेद-वैषम्य सिद्ध नहीं होता। भिन्न इन्द्रिय सम्बन्धी उपांगों की उत्पत्ति का यह नियम बतलाया है कि जीव के जिस प्रकार इन्द्रिय ज्ञान का क्षयोपशम होगा उसी के अनुसार वह पुद्गल रचना करके उसको उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति करेगा। चक्षु-इन्द्रिय आवरण के क्षयोपशम से कर्ण-इन्द्रिय की उत्पत्ति कदापि नहीं होती और न कभी उसके द्वारा रूपका ज्ञान हो सकेगा। इसी प्रकार जीव में जिस वेदका बन्ध होगा उसी के अनुसार वह पुद्गल-रचना करेगा और तदनुकूल ही उपांग उत्पन्न होगा। यदि ऐसा न हुआ तो वह वेद ही उदय में नहीं आ सकेगा। इसी कारण तो जीवनभर वेद बदल नहीं सकता। यदि किसी भी उपांग सहित कोई भी वेद उदय में आ सकता तो कषायों व अन्य नोकषायोंके समान वेद के भी जीवन में बदलने में कौन सी आपत्ति आ सकती है।"

उत्तर—यह तीसरा हेतु आपने वेद-वैषम्य के नहीं सिद्ध करने में दिया है वह अपनी सत्ता कुछ भी सिद्ध नहीं करता। कारण कि प्रथम तो यह वेदवैषम्य की बात आगम प्रमाण से सिद्ध है। क्योंकि षट्-खण्डागम के सूत्रों से यह बात अच्छी तरह सिद्ध की जा चुकी है कि पर्याप्त मनुष्यिनी अर्थात द्रव्य स्त्री के पांच ही गुणस्थान हो सकते हैं। और मनुष्यिनी यानी भावस्त्री के १४ गुणस्थान हो सकते हैं। दूसरे सत्प्ररूपणा अनुयोग द्वार वेद मार्गणा प्ररूपणा पत्र ३४५ सूत्र ॥१०५-१०६॥

'णेरइया चदुसुट्ठाणे सु सुद्धा णपुंसयवेदा॥१०५

तिरिक्खा सुद्धा णपुंसगवेदा एइंदियप्पहुडि जाव चउरिंदियात्ति॥१०६॥

इन दो सूत्रों में 'सुद्धा णपुंसय वेद' यह शब्द आया है। इसका तात्पर्य किसी दूसरे वेद में दूसरे वेदका मिश्रण नहीं होता अर्थात् "जहां जो द्रव्यवेद है वहां वह ही भाववेद है, मिश्रण नहीं है।" यह बात इन जीवों में उक्त 'शुद्धा' शब्द सिद्ध करता है। परन्तु इन सूत्रों के आगे के जो सूत्र हैं उनमें 'शुद्धा' शब्द नहीं है। अतः यह बात अनायास ही सिद्ध हो जाती है कि शेष जीवों के वेद-वैषम्य है। देवोंमें जो वेदवैषम्य है वह क्वचित है, बाहुल्यमें नहीं है ऐसा गोम्मटसार ग्रन्थ की टीका में स्पष्ट है।

गोम्मटसार मूल जीवकांड वेदमार्गणा की गाथा २७०, पत्र १०६।

पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेणदव्वे पायेण समा कहिं विसमा ॥२७०॥

भावार्थ—पुरुष स्त्री नपुंसक वेद के उदयमें भाव पुरुष, भाव स्त्री, भाव नपुंसक वेद होता है और नाम कर्म के उदय से द्रव्यवेद होते हैं। ये भाव और द्रव्य वेद प्रायः सम होते हैं और कहीं कहीं विषम वेद भी होते हैं अर्थात्-विषम में कहीं द्रव्यवेद पुरुष तो भाववेद स्त्री है आदि। इस कथनसे मालूम पड़ता है कि जो कथन इस विषय का षट्खण्डागम सूत्रों में है वह ही गोमटसार तथा गोमटसार की टीका और सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक आदि दि०आम्नाय के सभी ग्रन्थों में है।

इस तरह वेद-वैषम्य आगम-प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है तथा प्रत्यक्ष में भी पुरुषायित क्रिया, पुरुष का पुरुष के साथ व्यभिचार देखने में और नाटक आदि स्थलों में पुरुष को स्त्री के वेष में तथा स्त्री को पुरुषके वेष धारण करने से तथा उन वेषोंमें वैसे ही हावभाव आदि के देखने से यह बात सभी बाल गोपाल के अनुभवगम्य है।

इस विषय में इन्द्रिय और इन्द्रिय विषय ज्ञान के साथ में जो आपने समानता दिखायी है वह भी आगम और अनुभव सिद्धान्त से अयुक्त है। कारण कि इन्द्रिय विषय ज्ञान तत् तत् इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम का विषय है और द्रव्येन्द्रिय की रचना उस उस नाम कर्म के उदय-जन्य कार्य का परिणाम है, इस लिये वहां तो विषमता होने का कोई भी प्रश्न ही नहीं है। कारण कि वहां तत् तत् इन्द्रिय ज्ञानावरण का और तत् तत् इन्द्रिय नाम कर्म का विषय नहीं है। परन्तु वेद में तो दोनों जगह अर्थात् द्रव्यवेद और भाववेद में द्रव्य और भाव-उदय का विषय है। इस लिये उभयस्थलों में अर्थात् इन्द्रिय और वेद के विषयमें कारण और कार्य की समानता का दृष्टान्त प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

दूसरे—आवरण कर्म का अर्थ अपने अपने गुण का ढकना होता है। मोहनीय का अर्थ व्यामोहन करना होता है। आवरण रूप ढक्कन का जिस २ प्रदेश में अभाव होगा उस २ प्रदेश में वह गुण प्रगट होगा और वह अपने मार्ग से प्रगट होगा जैसे कि प्रकाश किसी आच्छादन से आच्छादित है इस लिये प्रकाश के प्रदेश बाहर नहीं जाते परन्तु उस आच्छादन पटादि में जिस २ जगह से छिद्र हो जाते हैं उस २ जगहके मार्गसे प्रकाश प्रतिभास बाहर को पड़ता है। ठीक यह दृष्टान्त इन्द्रिय विषयज्ञान का और द्वार रूप द्रव्येन्द्रियका है।

परन्तु मोहनीय कर्म का यह विषय नहीं है क्योंकि मोहनीय का मोहित करना विषय है इस

लिये वह अपने मार्ग को छोड़ कर कुमार्ग में भी जाता है। वेद का विषय चारित्र मोहनीय कर्म का कार्य है इस लिये अपने मोहित करने के स्वभाव से योग्य स्थान को छोड़ कर अयोग्य स्थान में भी प्रवृत्त करा सकता है। इस लिये वेद वैषम्य का होना स्वाभाविक है, परन्तु इन्द्रिय ज्ञान का और द्रव्येन्द्रिय का वैषम्य संभवित न होनेसे इन्द्रिय और वेद विषय का दृष्टांत किसीभी तरहसे संभवित नहीं हो सकता।

इस तरह आगम और अनुभव से संभवित स्पष्ट सिद्ध है कि- द्रव्य वेद के साथ भाव वेदका वैषम्य हो सकता है- और ऐसा होने से भी कुंद कुंद स्वामी का जो कथन है वह गुणस्थान- और कर्म सिद्धान्त की अनुस्मृतिके अनुसरण को लिये हुए है अर्थात जो उन ने द्रव्यस्त्री को मोक्षका निषेध किया है वह वास्तविक है तथा जिन पूज्यपाद (देवनंदी) अकलंक देव नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती, विद्या-नंदी आदि आचार्यो ने इस विषय का कथन किया है वे चाहे भी कुंद कुंद स्वामी की शिष्य परंपरा के हों, चाहे न भी हों परन्तु इस विषय में सभी का एक मत है और वह षट् खंडागम आगम के भी अविरुद्ध है तथा अनुभवगम्य है इस लिये प्रामाणिक है।

(क) ४- "नौ प्रकार के जीवोंकी तो कोई संगति ही नहीं बैठती, क्योंकि द्रव्य में पुरुष और स्त्रीलिंग के सिवाय तीसरा तो कोई प्रकार ही नहीं पाया जाता, जिससे द्रव्य-नपुंसक के तीन अलग भेद बन सकें।"

समाधान—इस कथन से आपका यह कहना है कि संसार में कोई द्रव्य-नपुंसकलिंग ही नहीं है फिर नपुंसक के साथ भाववेद के सम्बन्ध के तीन वेद न होने से नौ वेद ही नहीं बनते हैं। ऐसा मानना तथा आपका लिखना आगम और प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध है। कारण कि आगम श्री गोम्मटसार जीव-कांड की २७० गाथा में 'णामोदयेण दव्वे' इस वाक्य में 'द्रव्य-नपुंसक' वेद सिद्ध है। द्रव्य-नपुंसक वेद को ही नपुंसकलिंग कहते हैं।

षट्खण्डागम सत्प्ररूपणा पत्र ३४३—
'णपुंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्टित्ति ॥१०३॥

पत्र ३४६ सूत्र—'तिरिक्खा तिवेदा असण्णि पंचिंदियप्पहुडि जाव संजदासंजदात्ति ॥१०७॥ मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टित्ति ॥१०८

इत्यादि सूत्रों से स्पष्ट है कि भाववेद नपुंसक होता है और जब भाववेद नपुंसक होता है तो द्रव्य-वेद नपुंसक भी अवश्य होता है। यदि आप षट्-खण्डागम के आधार से भाववेद नपुंसक मानते हों और द्रव्यवेद नपुंसक न मानते हों तो फिर आपको उसका द्रव्यवेद पुरुषवेद या स्त्रीवेद जरूर मानना होगा क्योंकि भाववेद को किसी द्रव्यवेद का आश्रय तो अवश्य चाहिये। ऐसा मानने से 'वदतो व्याघात' नाम का दूषण आपके वचन में आवेगा। अर्थात वेद-वैषम्य नहीं मानते थे सो वह मानना स्वयमेव आ जायगा। गोम्मटसार जीवकांड की २७४ वीं गाथा में भी नपुंसकलिंग की सिद्धि होती है। अतः शास्त्राधार से नपुंसकलिंग (वेद) अवश्य ही सिद्ध है।

प्रत्यक्ष में मनुष्यगति के द्रव्य नपुंसक (हीजड़ा) सर्वत्र पाये जाते हैं, जिनका मुख्य धन्धा गाना-बजाना है, उनके न तो पुरुष का लिंग होता है और न स्त्री का लिंग होता है, किन्तु पुरुष और स्त्री लिंग की

आकृति में जुदा विलक्षण छिद्रमात्र लिंग होता है।

इस सब उपर्युक्त लिखावट से सिद्ध है कि द्रव्य-नपुंसक यानी नपुंसकलिंग अवश्य है। उसके होने से नपुंसक के तीन वेद सम-वैषम्य से सिद्ध होने के कारण लिंग भेद से नौ प्रकार के प्राणी सिद्ध हो ही जाते हैं।

(ख) ४—"पुरुष और स्त्रीवेद में भी द्रव्य और भाव के वैषम्य मानने में ऊपर बताई हुई कठिनाई इयोंकि अतिरिक्त और भी अनेक प्रश्न खड़े होते हैं।

समाधान—द्रव्य और भाववेद के वैषम्य में कोई भी कठिनाई उपस्थित नहीं होती यदि कोई कठिनाई उपस्थित होती तो वह प्रदर्शित करनी थी, परन्तु आपने एक भी उपस्थित नहीं की। अतः कैसे समझा जाय कि उसके मानने में कोई कठिनाई है।

(ग) ४—"यदि वैषम्य हो सकता है तो वेद के द्रव्य और भाववेद का तात्पर्य ही क्या रहा? किसी भी उपांग विशेषको पुरुष या स्त्री कहा क्यों जाय"?

समाधान—वेद वैषम्य होने से द्रव्य से स्त्री का लक्षण गर्भधारण करना है और पुरुष का गर्भ धारण कराना है। और उनके भाग जुदे २ स्पष्ट हैं ही तथा ऊपर शास्त्रीय प्रमाण और अनुभव से वहां वेद-वैषम्य सिद्ध हो ही चुका है। वैषम्य के होने पर भी उपांग विशेषों से अर्थात् गर्भ धारण करने और कराने के मार्गरूप चिन्हों से स्त्री और पुरुष जुदे २ कहे जा सकते हैं। अर्थात् उन के कहने में कोई भी अड़चन नहीं आसकती।

(घ) ४—"अपने विशेष उपांग के बिना अमुक वेद उदय में आवेगा किस प्रकार? यदि आ सकता है तो इसी प्रकार पांचों इंद्रिय ज्ञान भी पांचों द्रव्ये-न्द्रिय के परस्पर संयोग से पच्चीस प्रकार क्यों नहीं हो जाते? इत्यादि।"

समाधान—अपने विशेष उपांग के बिना भी अमुक वेद का उदय मोहनीय कर्म के उदय से आ सकता है। और इंद्रियज्ञान में क्षयोपशम का विषय होने से वैषम्य नहीं हो सकता यह बात अच्छी तरह से सिद्ध की जा चुकी है। अतः वेद में नौ भेद हो सकते हैं, इंद्रियों में २५ भेद नहीं हो सकते। यह बात शास्त्रीय प्रमाणों से और अनुभव से सिद्ध है।

इस प्रकार के विचार से स्पष्ट सिद्ध है कि द्रव्य-स्त्री चौदह गुणस्थानों की और मोक्षकी अधिकारिणी नहीं हो सकती। स्त्रियों में शास्त्रीय प्रमाणों के अलावा और भी अनुभवगम्य लज्जा, क्रमाष्ट गुणिता आदि ऐसे कारण हैं जोकि पूर्ण संयम के बाधक हैं। पूर्ण संयम के बिना मोक्ष का होना किसी प्रकार भी संभवित नहीं होता।

शास्त्रकार जो श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती हैं जिनका कि ग्रन्थ गोम्मटसार कर्मसिद्धांत और गुण-स्थान चर्चा के आधार पर अवलम्बित है, उनने द्रव्यस्त्री के नीचे के तीन संहनन ही गोम्मटसार कर्म-कांड की गाथा ३२ में लिखे हैं। और कठिन तप-श्चर्या में उत्कृष्ट संहनन ही काम आ सकते हैं और उत्कृष्ट से उत्कृष्ट तपश्चर्या के बिना मोक्ष हो नहीं सकती यह एक अनुभव का विषय है। अतः संहननों में उत्कृष्ट संहनन वज्रवृषभनाराच संहनन है। यह ही उत्कृष्ट से उत्कृष्ट तपश्चर्या और ध्यान का साधन हो सकता है।

इसी कारण पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में और अकलंकदेव ने राजवार्तिक में मोक्ष को

पहले वज्रर्षभनाराच संहनन से होना लिखा है जोकि अनुभव सिद्ध है, क्योंकि अनादि काल से आत्मारूप घर में घुसकर आत्मा के साथ अभेद भाव से रहने वाले कर्मरूप आस्तीन के सर्प सरीखे दुश्मनों को निकालने के लिये कठिन मजबूत साधन होने ही चाहिये। इस लिये गोम्मटसार और सर्वार्थसिद्धि आदि प्रामाणिक ग्रंथों में जो इस विषय का कथन है वह अनुभव सिद्ध भी है।

तथा उनने अपनी आगम-सम्बन्धी गुरुपरम्परा से भी अवश्य लिखा ही होगा। इस लिए उनके वचन अन्यथा नहीं हो सकते। षट्खण्डागम में भी यह संहनन का विषय इस तरह आ जाता यदि उस की कथन शैली उस दृष्टि से की जाती जैसी कि अन्य ग्रन्थों में इस विषय की है। ग्रन्थकर्ताओंकी पदार्थ-प्रतिपादनमें जुदी जुदी शैली होती है, इस लिये एक ही विषय को कहने वाले षट्खण्डागम में और गोम्मटसार में शैली जुदी जुदी है। सम्भव है कि किसी शैली में कोई पदार्थ का कथन कहीं सामान्य से भी आ जाता है, कहीं किसी पदार्थ का कथन विशेषता से भी आ जाता है। अतः ग्रंथ की जुदी पद्धति के कथन से सब बातचीत सर्वत्र ही आ जाय इसका कोई भी नियम नहीं है। अतः स्त्रियों को मोक्ष निषेध में जिन आचार्यों ने जो जो कथन किया है वह आर्ष होने से तो प्रामाणिक है ही तथा अनुभवगम्य होने से भी प्रामाणिक है। इस तरह द्रव्यस्त्री को मोक्ष निराकरण प्रकरण पूर्ण हुआ।

संयमी और वस्त्र-त्याग

इस विषय में प्रोफैसर हीरालाल जी साहिब का वक्तव्य निम्न प्रकार है-

"श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यतानुसार मनुष्य वस्त्र त्यागकरके भी सब गुणस्थान प्राप्त कर सकता है और वस्त्रका सर्वथा त्याग न करके भी मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। पर प्रचलित दिगम्बर मान्यतानुसार वस्त्रके सम्पूर्ण त्याग से ही संयमी और मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। अत एव इस विषय का शास्त्रीय चिंतन आवश्यक है"।

समाधान— श्वेताम्बर मान्यतानुसार- वस्त्रका सर्वथा त्याग-आदि तीर्थंकर ने किया ही है यह उन्हीं के मतानुसार बात है जो कि प्रसिद्ध भी है। जब कि प्रथम तीर्थंकरने यह पद्धति प्रचलित की है तो कहना होगा कि यह बहुत प्राचीन है। आदिनाथ प्रभुने इस पद्धतिको क्यों अपनाया जब कि वस्त्र-सहित सुखसाधन से ही सरलतासे मोक्ष मिल सकती है तो फिर कठिन मार्गसे मोक्षको मिलाना यह श्री आदीश्वर भगवान का कहां तक उचित काम हो सकता है इसे तो श्वेताम्बर मतानुयायी या उनकी पीठ ठोंकने वाले ही जान सकते हैं।

इस विषय में यदि यह हेतु दिया जाय कि—'उस समयके मनुष्य विशेषतासे मूढ़ (ऋजुजड़) होते थे इस लिये उनके सम्बोधनके लिये श्री ऋषभदेवने उस मार्ग का अवलंबन किया'। तो इस के लिये कहना इतना ही पर्याप्त है कि उनने मोक्षका वास्तविक साधन सबको बतलाया है। यदि वस्त्र सहित भी साधन होता तो वे कुछ काल वस्त्र रहित भी रहकर तपश्चर्या करने और कुछ काल वस्त्रसहित भी तपश्चर्या

करते—अर्थात दोनों प्रकार से मोक्ष का मार्ग बतलाते, परन्तु यह बात तो उन्होंने की नहीं। सिर्फ दिगम्बर वृत्ति का अवलंबन करके ही कठिन तपश्चर्या द्वारा मोक्षको प्राप्त किया। इससे यह बात सिद्ध है कि दिगम्बर मान्यता अति प्राचीन है और वह श्वेताम्बर शास्त्रों से ही सिद्ध है।

अब दूसरी बात महावीर स्वामी की भी उन्हीं श्वेताम्बर शास्त्रोंके आधार से मिलती है जोकि उनके यहां प्रसिद्ध है कि महावीर स्वामी ने दिगम्बर अवस्था से ही मोक्षकी प्राप्ति की देवदूष्य वस्त्र जो उन केलिये बतलाया गया है वह स्वतः महावीर प्रभु का ग्रहण किया हुआ नहीं बतलाया है किंतु इन्द्र के द्वारा उनके शरीर पर डाला हुआ बतलाया गया है—तथा १३ मास पीछे उस वस्त्र के दूर होने पर फिर उनके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं रहा था। ऐसी अवस्थामें यदि वस्त्र सहित ही मोक्ष की प्राप्ति संभवित थी तो फिर उसी सरल मार्गको भगवान वीर प्रभु ग्रहण कर सकते थे— परन्तु उनने इस मार्गको ग्रहण नहीं किया इससे सिद्ध है कि मोक्षप्राप्ति ऐसी हलुआ पूड़ी नहीं है जो कढ़ाही गले उतरने से हड़पली जाय। उस केलिये बड़ी कठिन तपश्चर्या और उस तपश्चर्या को वैसे साधन मिलाये जातेहैं तब कहीं उसकी सिद्धि होतीहै।

इस अचेलकता में मोक्ष प्राप्ति में आदि प्रभु के कथनसे यह बात स्पष्ट सिद्ध है कि- यह मोक्ष साधना की पद्धति अति प्राचीन है। इसलिये प्रोफैसर साहबने जो 'प्रचलित' शब्द लिख कर दिगम्बर मान्यता बतलाई है वह कुछ भी सार नहीं रखती अर्थात 'वह अभी बीचमें चल पड़ी है यह बात नहीं है'। इसी प्रकार जिन तीर्थंकर प्रभुका तीर्थ चलरहा है उन वीर प्रभुकी भी मान्यता दिगम्बर थी इसलिये उनके हिसाब से भी यह दिगम्बर मान्यता बीचकी चलाई हुई या मानी गई नहीं होसकती किन्तु वह सत्य और अनादि कालीन धारा प्रवाहसे आयी हुई अति प्राचीन अर्थात- सनातन है जोकि श्वेताम्बर मान्यतासेही स्पष्ट सिद्धहै। बहुत से प्राचीन शिला लेख, ताम्रपत्र प्रतिमा लेखोंसे तथा अन्यधर्म से, प्राचीन शास्त्र, वेद, उपनिषद, पुराणों से भी पता चलता है कि दिगम्बर सम्प्रदाय प्राचीनतम है। पहिले समय में (विक्रम की ६वीं शताब्दी तक) श्वेताम्बर भाई भी दिगम्बर प्रतिमाओं को ही पूजते थे। इसका प्रमाण मथुरा के कंकाली टीलेकी दिगम्बर प्रतिमायें हैं जो कि करीब दो हजार वर्षकी पुरानी हैं उनपर जो शिला लेख हैं उससे पता चलता है कि प्रतिमायें पहिले दिगम्बर सम्प्रदाय की ही होती थी उन्हें दोनों सम्प्रदाय समान भावसे पूजते थे। वह समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के आस पास का होगा। इसी लिये प्रतिमाओं तक उस समय में वस्त्राभान का विधान नहीं हुआ होगा पीछे तो जो कुछ हुआ है वह सबके दृष्टिगोचर है।

इस सब लेखन का सारांश यह है कि दिगम्बर सम्प्रदाय की जो प्रणाली मुक्ति प्राप्ति के विषय में अचेलकपने की पहिले थी वह ही आज है। अतः प्रोफैसर साहब अपने लिखे हुए- 'प्रचलित' शब्द से जो यह समझने का साहस करते हैं कि 'अचेलक अवस्थासे मोक्षप्राप्ति की प्रणाली दिगम्बरों में पीछेसे प्रचलित हुई है तो यह उनका समझना गलत है। कारण कि इस विषय के प्रमाण अभी तक कोई भी देखने में नहीं आये हैं। यदि प्रोफैसर को कहीं आ

वैसे प्रमाण देखनेमें आते तो वे उनका उल्लेख करते।

आपने संयमी और वस्त्र-त्याग के प्रकरणमें जो भगवती आराधना आदि के प्रमाण उपस्थित किये हैं उनमें तो कुछ भी सार नहीं है।

क्यों उनमें सार नहीं है इसी बात का आगे के लेख में स्पष्टीकरण है—

१—"दिगम्बर सम्प्रदाय के अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ भगवती आराधना में मुनि के उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का विधान है, जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है। देखो गाथा (७६-८३)"

समाधान—भगवती आराधना अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है और वह दिगम्बर सम्प्रदाय का ग्रंथ है। प्रो० साहब के इस कथन में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि प्राचीन तो वह इस कारण से है कि प्रथम विक्रम शताब्दी के आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी के शिष्य शिवार्य (शिवकोटि) राजर्षि का लिखा हुआ है। शिवार्य और शिवभूति एक व्यक्ति नहीं थे इस बात की सिद्धि शोलापुर से निकलने वाले 'जैनबोधक' पत्र में अच्छी तरह से कर दी है, उसका जवाब अभी तक प्रोफेसर साहब से बना नहीं है। तथा वह लेख भी इस ट्रैक्ट के साथ सर्व पाठकों की जानकारी के लिये प्रकाशित किया गया है, उसमें उस विषय के तथ्यातथ्य का निर्णय पाठक गण अच्छी तरह से कर सकेंगे। प्रोफेसर साहब इस ग्रन्थ को स्वतः दिगम्बरों का लिख रहे हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि ग्रन्थ के निर्माता स्वयं दिगम्बराचार्य शिवार्य थे, न कि शिवभूति नाम के कोई श्वेताम्बराचार्य।

अब इस ग्रंथ के अंतर्गत यह बात बात विचार करने की है कि इस ग्रन्थमें मोक्षके साधनभूत सवस्त्र मुनिलिंग का भी विधान है क्या?

भगवती आराधना में त्यागी के उत्सर्गलिंग और अपवादलिंग का वर्णन आया है। इस लिये आप लिखते हैं कि "मुनि वस्त्र धारण कर सकता है।" उसके लिये आपने भगवती आराधना की गाथा नं० ७६ से ८३ तक का हवाला दिया है उस की जांच के लिये उन गाथाओं का और आगे की इसी प्रकरण की अन्य गाथाओं का, "विजयोदया" संस्कृत टीका के आधार से संक्षेप ि ये इस प्रकार से है—

भगवती आराधना में गाथा ७६ से भक्त प्रत्याख्यान विषय शुरू हुआ है। श्री अपराजित सूरिजी अपनी विजयोदया टीका में ७७ वी गाथा की उत्थानिका इस प्रकार लिखते हैं—

भक्तप्रत्याख्यानहस्य तत्प्रत्याख्यानपरिकरभूतलिंग-निरूपणं उत्तराभिः गाथाभिः क्रियते—

उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव।
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥७७॥

टीका—उस्सग्गियलिंगकदस्स-उत्सर्गेण सकलग्रंथत्यागः सकलपरिग्रहस्य त्यागः। उत्सर्गे त्यागे-सकलग्रंथपरित्यागे भवं-लिंगं-औत्सर्गिकं। तेनायं अर्थः औत्सर्गिकलिंग-स्थितस्य भक्तप्रत्याख्यानाभिलाषवतः तं चेव उस्सग्गियं लिंगं तदेव प्राक्गृहीतं लिंगं औत्सर्गिकं। अववादियलिंगस्स वि-यतीनां अपवाद-कारणत्वात परिग्रहोऽपवादः, अपवादो यस्य विद्यते-इत्यपवादिकं परिग्रहसहितं लिंगं अस्येत्यपवादिकलिंगं भवति। वाक्यशेषं कृत्वा एवं पदसंबन्धः कार्यः-

जइ पसत्थलिंगं—जइ-यदि प्रशस्तं शोभनं लिंगं मेहनं भवति । चर्म-रहितत्वं, अतिदीर्घत्वं, स्थूलत्वं, असकृदुत्थानशीलत्वमित्येवमादिदोषरहितं यदि भवेत्। पुंस्त्वलिंगता इह गृहीतेति बीजयोरपि लिंगशब्देन ग्रहणं । अतिलंबमानत्वादिदोषरहितता । प्रशस्तापि तयोर्गृहीता ।

हिन्दी अर्थ—सकल परिग्रह के त्याग को उत्सर्ग कहते हैं, सम्पूर्ण परिग्रह के त्यागमें हुआ जो लिंग है उसे 'औत्सर्गिकलिंग' कहते हैं । और औत्सर्गिकलिंग जिसके हो उसे औत्सर्गिकलिंग स्थित कहते हैं । भक्त प्रत्याख्यान की इच्छा करने वाले औत्सर्गिकलिंग वाले साधु के वह ही औत्सर्गिक (अचेलक दिगम्बर) लिंग होता है । और अपवादलिंग वाले का अर्थात् अपरिग्रही की चर्म-रहित, अतिदीर्घ, स्थूल, बारबार [illegible]यमान होने वाली यदि मेहन इन्द्रिय न हो तो वह भी सल्लेखनाव्रत में औत्सर्गिकलिंग जो दिगम्बर लिंग है उसे धारण करे ।

नोट—जो आशय विजयोदया टीका का है वही आशय श्री पण्डित प्रवर आशाधरजीकी मूलाराधना टीका का है ।

गाथा नं० ७८ की उत्थानिका—

औत्सर्गिकं लिंगं न भवत्येवेत्यस्यापवादमाह—

जस्स वि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाणगो विहारम्मि । सो वि हु संथारगदो गेण्हेज्जोस्सग्गियं लिंगं

टीका—जस्सवि-यस्यापि अव्वभिचारी अनिराकार्यो दोसो दोषः । तिट्ठाणगो स्थानत्रयभवः-मेहने वृषणयोश्च भवः औषधादिना नापसार्यः । सो ऽपि-दु-हु-शब्द एवकारार्थः स च गेण्हेज्ज इत्यनेन सम्बन्धनीयः । गृह्णीयादेव, किं ? उस्सग्गियं लिंगं-औत्सर्गिकं अचेलतालक्षणं । क्व वि [illegible]-विहारे वसतौ संथारगदे-संस्तरारूढः [illegible] । एवं संस्तरारूढस्यैव औत्सर्गिकं नान्यत्रेत्याख्यानं भवति ।

अर्थ—एक मेहन इन्द्रिय और दो अण्डकोष इस तरह तीन स्थानों में जिनके दोष हैं और जिनका औषधि आदि से उपचार भी नहीं हो सकता वह यदि औत्सर्गिकलिंग-अचेलक-दिगम्बर लिंग भक्तप्रत्याख्यान के समय धारण करे तो वसति अर्थात घर में ही धारण करे ।

इस गाथा में यह बात सिद्ध होती है. त्रिस्थानके दोष वाला दिगम्बर (उत्सर्ग) वृत्ति के धारण का अधिकारी नहीं है, सन्यास के समय यदि दिगम्बर होना चाहे तो घर के भीतर हो सकता है ।

७९ वी गाथा की उत्थानिका—

अपवादलिंगस्थानां प्रशस्तलिंगानां सर्वेषामेव किमौत्सर्गिकलिंगमित्यस्यामारेकायां-आह-

आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महड्ढिओ हिरिमं ।
मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं ७९

टीका—आवसथे वा निवासस्थाने । अप्पाउग्गे-अप्रायोग्ये अविविक्ते (एकान्त-रहिते) अपवादिकलिंगं हवदि (भवति) इति शेषः । जो वा महड्ढिओ महर्द्धिकः । हिरिमं ह्रीमान लज्जावान । तस्यापि होज्ज अपवादिकं लिंगं । मिच्छ वा मिथ्यादृष्टी । सजणे-स्वजनो बन्धुवर्गो 'होज्ज भवेत्, अपवादिक लिंगं सचेललिंगं ।

अर्थ—इस गाथा का सम्बन्ध ऊपर की गाथा से चला आता है । अर्थात् जो त्रिस्थान दोष वाला हो वह एकान्त रहित स्थान में अपवाद गृहस्थ लिंग को

धारण करे और जो श्रीमान महर्द्धिक लज्जावान् हो और जिसके कुटुम्बीजन मिथ्या-दृष्टि हों वह अपवाद लिंग जो स[illegible] गृहस्थलिंग है उसे धारण करे।

इसका तात्पर्य स्पष्ट यह निकलता है कि जिनमें उपर्युक्त बातें न हों वह भक्तप्रत्याख्यान के समय-अचेलक ही वृत्ति को धारण करें। इस गाथा में महर्द्धिक के साथ जो लज्जावान विशेषण दिया है उस से स्पष्टतया गृहस्थ का ही बोध होता है। और विशेष यह बात है कि वस्त्र सहित ही यदि मुनि माना जाता तो उसके लिये ग्रंथकार अपवादलिंग का ही विधान क्यों करते क्योंकि अपवादलिंग में भी वस्त्र है और वह प्रोफेसर साहब सम्मत मुनि अवस्था में भी वस्त्र है फिर ऐसी दशामें ग्रन्थकार का पिष्ट-पेषण से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता अर्थात् कुछ भी नहीं। अतः इस गाथा के अभिप्राय से यह बात स्वयमेव आ जाती है कि सचेल दशा मुनिपद की नहीं है किन्तु केवल अचेल दिगम्बर अवस्था ही मुनिपद की है।

इस गाथा के आगे की ८० वी गाथा है उसकी उत्थानिका—

पूर्वनिर्दिष्टोत्सर्गलिंगस्वरूपनिरूपणार्थोत्तरगाथा—
अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हि लिंग कप्पो चउव्विहो होदि उस्सग्गे ॥८०॥

संस्कृत टीका—अचेलकमिति। अचेलक्कं अचेलता। लोचो केशोत्पाटनं हस्तेन। वोसट्ट सरीरदा य व्युत्सृष्टशरीरता च। पडिलिहणं प्रतिलेखनं। एसो दु एषः। लिंग-कप्पो लिंगविकल्पः चउव्विहो चतुर्विधो भवति। उस्सग्गे औत्सर्गिक संज्ञिते लिंगे।

अर्थ—औत्सर्गिकलिंग में चार बातें होती हैं—प्रथम अचेलता वस्त्र-रहितपना अर्थात् [illegible] दूसरा अपने हाथों से केशों का उपाटना अर्थात् केशलोंच, तीसरा शरीर से ममत्वभाव-रहितपना अर्थात् शरीरका संस्कार-रहितपना, चौथा प्रतिलेखन अर्थात् जीवों की रक्षा के लिये इसी ग्रन्थ में कहे गये नर्म हलके आदि लक्षणों कर सहित मयूर-पंख का बना हुआ प्रतिलेखन। अर्थात पीछी।

इस गाथा में यह बात स्पष्ट पायी जाती है कि केशलोंच का करना औत्सर्गिक लिंग में ही होता है। अपवाद लिंग में नहीं होता इसलिये अपवाद लिंग मुनिपद का द्योतक नहीं। वस्त्र सहित श्वेताम्बर साधु केशलोंच भी करते हैं इससे ज्ञात होता है कि वे लोग वस्त्र सहित अवस्था को औत्सर्गिक लिंग मानते हैं। परन्तु ये ग्रन्थकार अचेल अवस्थामें ही केशलोंच का विधान करते हैं इस लिये मालूम पड़ता है कि- इन ग्रन्थकारकी दृष्टिमें वह दशा न औत्सर्गिक है और न वह अपवादिक है। किंतु ग्रन्थकार की दृष्टिमें अचेलक दशाही औत्सर्गिक लिंगहै जोकि मुनिपदमें प्रसिद्ध है।

वस्त्र सहित श्रावक या गृहस्थ दशा ११ वी प्रतिमा तक अपवाद दशा मानी गई है। क्योंकि अपवाद का अर्थ टीकाकार ने 'परिग्रह' कहा है सो वह श्रावक या गृहस्थके ही होता है। यदि ग्रन्थकार वस्त्रको परिग्रह ही नहीं समझते तो उनने अचेलक का उत्सर्ग में और सचेलक का अपवाद लिंग में विधान क्यों किया। तथा सचेलक दशा ही अचेलक दशा के समान उत्कृष्ट होती तो भक्त प्रत्याख्यानमें सचेल दशाका परित्याग और अचेल दशाके ग्रहणका उपदेश भी क्यों होता।

ग्रन्थ में ऐसा उपदेश है इस लिये ज्ञात होता है कि सचेलदशा मुनिपद की नहीं है किन्तु श्रावक पदकी है।

गाथा ८१ की उत्थानिका—

अतीताभिः गाथाभिः पुरुषाणां भक्त प्रत्याख्यानाभिलाषिणां लिंग-विकल्पोऽभिहितनिश्चयः। अधुना स्त्रीणां तदर्थिनीनां लिंगमुत्तरया गाथया निरूप्यते—

इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा।
तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए ॥८१॥

टीका—इत्थीविय स्त्रीणामपि। जं लिङ्ग यल्लिङ्गं। दिट्ठं दृष्टं आगमेऽभिहितं। उस्सग्गियंव औत्सर्गिकं तपस्विनीनां। इदरं वा श्राविकाणां। तं तदेव। तत्थ भक्तप्रत्याख्याने होदि भवति। लिंगं तपस्विनीनां प्राक्तनं। इतरासां पुंसामिव योज्यम्। यदि महर्द्धिका लज्जावती मिथ्यादृष्टिस्वजना च तस्याः प्राक्तन लिंगं विविक्ते आवसथे, उत्सर्गलिंगं वा सकलपरिग्रह-त्याग रूपं। उत्सर्गलिंगं कथं निरूप्यते स्त्रीणां मित्यत आह तं तत्र उत्सर्ग-लिंगं। तत्थ स्त्रीणां होदि भवति। परित्तं अल्पं। उपधि परिग्रहं। करेंतीए कुर्वत्याः।

हिन्दी अर्थ—स्त्रियों का भी जो लिंग शास्त्र में कहा गया है वह ही जानना चाहिये-तपस्विनियों का औत्सर्गिक लिंग है और श्राविकाओंका अपवाद लिंग है। वह ही भक्त प्रत्याख्यान में होता है. भक्त प्रत्याख्यानमें तपस्विनियोंका औत्सर्गिक लिंग अर्थात सर्व वस्त्रका त्याग रूप लिंग होता है और श्राविकाओं का पुरुषों की तरह; अर्थात यदि वह महर्द्धिका हो लज्जावती हो या जिस के स्वजन मिथ्या दृष्टि हों तो उसको प्राक्तन लिंग यानी औत्सर्गिक लिंग-एकान्त स्थान में या घर के भीतर सब परिग्रह त्याग रूप होता है।

यहां शंका होती है कि स्त्रियोंका लिंग औत्सर्गिक रूप कैसे हो सकता है?

उसका समाधान—अल्प परिग्रह यानी शाटिका मात्र धारण करने से उनके औत्सर्गिक लिंग होता है। परन्तु केवल वह उपचार से माना गया है यदि वह उपचार से न होता तो भक्त प्रत्याख्यान में वस्त्रका भी त्याग क्यों होता। इस लिये मानना पड़ेगा कि—औत्सर्गिक लिंग जो मुनि पद है उसमें तिल तुष मात्र परिग्रह की भी गुंजाइश नहीं है जो कि मोक्ष के लिये साक्षात कारण है।

गाथा ८२ की उत्थानिका—

नन्वर्हस्य रत्नत्रयभावना-प्रकर्षेण-मृतिरुपयुज्यते किमनुना लिंगविकल्पोपादानेनेत्यस्योत्तरमाह—

जत्तासाधणचिह्नकरणं खु जणपच्चयादठिदिकरणं।
गिहभावविवेगो विय लिंगग्गहणे गुणा होंति ॥८२॥

टीका जत्तासाधण चिह्नकरणं-यात्रा-शरीर-स्थिति-हेतुभूता भुजि क्रिया तस्य साधन यल्लिङ्गजातं चिन्हजातं तस्य करणं। न हि गृहस्थवेषेण स्थितो गुणानि सज्जनाधिगम्यो भवति श्रद्धा-गुरु-विशेषाश्च दानं न प्रयच्छन्ति। ततो न स्यात्शरीर-स्थितिः। असत्यां तस्यां रत्नत्रयभावनाप्रकर्षः क्रमेणोपचीयमानो न स्यात्। गुणवत्तायाः सूचनं लिंगं भवति ततो दानादि—परंपरया कार्य-सिद्धि र्भवति-इति भावः। अथवा यात्रा शब्दो गति-वचनः यथा देवदत्तस्य यात्राकालोऽयम् गतिसामान्यवचनोऽपि अयं शिवगतावेव वर्तते, दारकं पश्यसीति यथा, यात्रायाः शिवगतेः साधनं रत्नत्रयं तस्य चिन्हकरणं

ध्वजग्रहणम् ।

जगत्प्रत्ययाद् ठिदिकरणं जगच्छब्दोऽन्यत्र चेतना- [illegible] नो 'जगत्त्रैकावस्थं युगपदखिला-नंतविषयं' इत्येवमादौ । इह प्राणिविशेषवृत्तिः । यथा- 'अर्हंतस्त्रिजगद्-वंद्यान' इति । प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थः । क्वचिद् ज्ञाने वर्तते यथा 'घटस्य-प्रत्ययो, घटज्ञानं इति यावत् । तथा कारणवचनोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययानंतसंसार, इति गदिते मिथ्यात्वहेतुक इति प्रतीयते । तथा श्रद्धवचनोऽपि 'अयं अत्रास्य प्रत्ययः' श्रद्धेति गम्यते । इहापि श्रद्धावृत्तिः । जगतः श्रद्धेति । ननु श्रद्धा प्राणिधर्मः अचेलतादिकं शरीर-धर्मो लिंगं तत्किमुच्यते 'लिंगं जगत्-प्रत्ययः' इति । सकलसंगपरिहारो मार्गो मुक्तेः इत्यत्र भव्यानां श्रद्धां जनयति । 'लिंगमिति जगत प्रत्यय' इति अभिहितं । न चेत सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तिलिंगं किमिति नियोग-तोऽनुष्ठीयते इति ।

आदठिदिकरणं आत्मनः स्वस्य अस्थिरस्य स्थिरतापादनं । क्व ? मुक्तिवर्त्मनि प्रजने । किं मम परित्यक्तवसनस्य रागेण रोषेण, मानेन, मायया, लोभेन वा । वसनाप्रसंगाः सर्वा लोके लंक्रिया तत्र निरस्तं । को मम रागस्यावसर इति । तथा परि-ग्रहो निबन्धनं कोपस्य । तथाहि पित्रा सुतो युद्ध्यते धनार्थितया ममेदं भवति तवेदमिति । तत्र किमनेन स्वजनधरिणा विकथेन । लोभं आयासं पापं दुर्गतिं च वर्द्धयता इति सकलः परित्यक्तो वसन पुरस्सरः परिग्रहो रोपविजितये । हसंति च मां परे साधवो रोषमुपयाते । क्वेयमवसनता मुमुक्षोः क्वायमस्य कोपहुताशनः ज्ञानजलसेकपरिवृद्धतपो-वन-विनाशन-बद्धविभ्रमः इति । तथा च माया धनार्थिभिः प्रयुज्यते सा च तिर्यग्गति प्रापयतीति भीत्वा मायोन्मूलनार्थं वे-दमनुष्ठितम् । गिहिभावविवेगोविय गृहित्वात्पृथग्-भावो दर्शितो भवति ।

अर्थ—इस गाथा में लिंग ग्रहण के चार गुण बतलाये हैं । उनमें पहला शरीर स्थिति की कारण-भूत भोजन क्रिया का साधन बतलाया है जो कि बिना साधुवेष के भिक्षावृत्ति से भी सफल निर्दोषता नहीं बन सकती । भोजनके बिना शरीर-स्थिति नहीं ठहर सकती और शरीर-स्थिति के बिना रत्नत्रय की सिद्धि नहीं हो सकती । इस लिये लिंग गुणप्रत्यय (विश्वास) का साधन है उसके होने से गृहस्थ मुनि के गुणों में विश्वास कर श्रद्धा से आहार देता है उससे आगे की सब क्रियायें सधती हैं । अथवा यात्रा शब्द का अर्थ शिवगति है, उसका साधन रत्नत्रय है, उसके लिये चिन्ह का धारण वह रत्नत्रय का साधन है । यह लिंग धारण का पहला गुण है । दूसरा गुण— जगत के प्राणियों के विश्वास का कारण है अर्थात सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग मुक्ति का कारण है । इस प्रकार को भव्य प्राणियों के हृदय में श्रद्धा पैदा करने का कारण वह लिंग धारण का गुण है । यहां टीका-कार ने सर्व परिग्रह के त्याग को मुक्ति का कारण बतलाया है और सर्व परिग्रह का त्याग वस्त्र-त्यागके बिना सम्भवित नहीं है । यह नाम 'अचेलक' की मुख्यता से इस प्रकरण द्वारा स्वयमेव आ जाती है ।

क्योंकि लिंगों में अचेलक को ही 'उत्सर्ग' शब्द द्वारा मुक्ति का कारण बतलाकर मुख्य रूप से परि-गणित किया है न कि सचेलक अपवाद आवकलिंगको । इस लिंग को तो स्वर्गादि सुखों का कारण मुख्यतया बतलाया है, न कि साक्षात मुक्ति का । इस लिये सचेलक मुनि का लिंग नहीं । कारण कि मुनिलिंग का धारण मुख्यतया मुक्ति प्राप्ति के उद्देश्य से किया

आता है।

तीसरा लिंगका गुण—आत्म स्वरूपमें अस्थिरता को दूर करके शुद्ध आत्म-स्वरूपमें स्थिति-करण का साधन बतलाया है। क्योंकि इस लिंगको धारण करके ही-मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होनेके निमित्त अचेलक लिंगको धारण करनेवाले साधुके-नीचे लिखे अनुसार परिणाम होते हैं। जैसे—सर्वत्यागी मुझे राग दोष मान, माया, लोभ से क्या प्रयोजन है? वस्त्र को ही मुख्य करके लोक में सर्व प्रकार के अलंकार यानी शौक सानियत की इच्छा होती है इस लिये वस्त्रत्याग से वे सभी शौकसानियत स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं। इत्यादि वस्त्र-परिग्रह को मुख्य करके मोक्ष मार्गोपयोगी भावना इस लिंग से होती है, यह तीसरा गुण इस लिंग का है।

चौथा गुण—गार्हस्थ्यधर्म का पृथक् भाव अर्थात गृहस्थधर्म इस औत्सर्गिकलिंग से जुदा है ऐसा चौथा गुण इस लिंग से होता है।

गाथा ८३ में अचेलकलिंग धारण करने के और भी गुण हैं इस बात को दिखलाते हैं—

गंथच्चा[illegible]ो लाघवमप्पडिलिहणं च गदभयत्तं च।
संसज्जण परिहारो परिकम्म विवज्जणा चेव ॥८३॥

टीका—गंथच्चाओ परिग्रह-त्यागः। लाघवं, हृदय-समारोपित-शैल इव भवति परिग्रहवान। कथमिममन्येभ्यश्चौरादिभ्यः पालयामि इति दुर्धरचित्तखेदावगा[illegible] भवति। अप्पडिलिहणं वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रखण्डादि शोधनीयं महत्। इतरस्य पिच्छादिमात्रं।

परिकम्मविवज्जणा चेव। याचनसीवन-शोषणप्रक्षालनादिरनेको हि व्यापारः स्वाध्याय-[illegible]नविघ्नकारी अचेलस्य तन्न तथेति परिकर्मविवर्जनम्।

गदभयत्तं-भयरहितता। भयव्याकुल-चित्तस्य न हि रत्नत्रय-घटना[illegible]भवति। सवसनो यतिर्वस्त्रेषु मूर्छाकीटादि-सम्मूर्छ[illegible] विघातुं नार्हति अचेलस्तु तं परिहरतीत्याह-संसज्जणपरिहारो इति।

परिसह अधिवासणा चेव। शीतो[illegible]दंशमशकादिपरीषहजयो युज्यते नग्नस्य। वसनाच्छादनवतो न शीतादिबाधा येन तत् सहनपरीषहजयः स्यात्। पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः' इति वचनात् निर्जरार्थिभिः परिषोढव्याः परीषहाः।

अर्थ—अचेलक लिंग में परिग्रह-त्याग, लाघव, प्रतिलेखन, निर्भयत्व, संसर्गपरिहार, परिकर्मवर्जन—इस प्रकार ६ गुण और होते हैं। इन सबका सविस्तर वर्णन संस्कृत टीका में से जानने योग्य है। इसी तरह से यहां अचेलकता के महान गुण वर्णन किये हैं। इस सर्व वर्णन का सार ग्रन्थकार के मत से ऐसा स्पष्ट सिद्ध है कि श्रावकधर्म में भी वस्त्र के लिये दी गई छूट से स्त्री का शुद्ध व्रत नहीं पलता तथा अन्य मतावलम्बी वस्त्रधारी के तो वह कैसे पल सकता है। उपर्युक्त सर्व गुण अचेलक के ही हो सकते हैं। सचेलक (वस्त्रधारक) तो चेल के सम्बन्ध से अनेक चिन्ताओं का स्थान बन जाता है जिससे कि आकुलतावश मोक्षोपयोगी व्रत संयमादि कुछ भी धारण नहीं कर सकता।

गाथा ८४-८५-८६ में अचेलकता के और भी अनेक गुण ध्यान देने योग्य हैं।

अब अपवादलिंग जो श्रावक श्राविका का है, उसके विषयमें ग्रन्थकार आगे की गाथा से कैसा [illegible] करते हैं वह भी ध्यान देने योग्य है। गाथा ८७ की उत्थानिका—

अपवादलिंगस्थितः किमु न शुध्यत्येवेत्यादि शंकायां तस्यापि शुद्धिरनेन क्रमेण भवतीत्याह—

अववादियलिंगकदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य।
णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदि उवधिं परिहरंतो ॥८७

टीका—अचेलकत्वं गदं। अववादलिंगकदो वि अपवादलिंगस्थोऽपि। करोति स्थानार्थवृत्तिरिह परिगृहीतः। तथा च प्रयोगः एवं च कृत्वा—एवं च स्थित्वा इत्यर्थः। सुज्झदि शुद्ध्यति च कर्ममलापायेन शुद्ध्यति। कीदृक् सन यः स्वां सत्ति शक्ति। अगूहमानो अगूहमानः सन उपधि परिग्रहं। परिहरंतो परित्यजन योगत्रयेण। णिंदणगरहणजुत्तो सकलपरिग्रह-त्यागो मुक्ते मार्गो मया तु पातकेन वस्त्रपात्रादिकः परिग्रहः परीषहभीरुणा गृहीतः। संतापो निंदा। गर्हा परेषां एवं कथनं। ताभ्यां युक्तः। निंदागर्हाक्रिया-परिणत इति यावत। एवं अचेलता व्यावर्णितगुणा मूलतया गृहीता।

अर्थ—इस गाथा का अभिप्राय यह है कि जो अपवाद मार्ग को ग्रहण किये सचेलक है वह भी अपने वेष की निंदा और गर्हा करने से शुद्ध होने के मार्गपर लग जाता है। अर्थात शक्ति-हीनता से अचेलकता को नही धारण किये हुये है परन्तु उसका अभिलाषी है। कारण कि वह अच्छी तरह से समझता है कि यह अपवाद लिंग मोक्ष का साधन नही है इसी लिये वह अपनी शक्ति-हीनता को दिखाता हुआ उस वेश में इस प्रकार का विचार करता है कि सकल परिग्रह-त्याग मुक्ति का मार्ग है। परन्तु मैं ने पातक से वस्त्र पात्रादिक परिग्रह परीसह के भय से ग्रहण किये हैं। इस प्रकार से स्वयं अपने मन में विचार करनेसे तथा अन्य आचार्यादि के सामने कथन करने से शुद्धि के मार्ग में लग जाता है। यह गाथा का आशय है।

इस गाथा से और उसकी टीका से स्पष्ट सिद्ध है कि अपवादलिंग मुनिलिंग नही है क्योंकि वह मोक्ष का मार्ग खास करके नही है, भले ही परम्परा कर अवांतर से हो। किंतु उत्सर्गलिंग मोक्ष का साक्षात साधक है, इसी लिये अपवाद लिंग की निंदामें टीकाकार ने मुख्यतया यह बात दिखाई है।

इससे यह बात स्वय सिद्ध है कि अचेलक यानी उत्सर्गलिंग ही मुनिलिंग है दूसरा कोई भी मुनिलिंग नही है। भगवती आराधना की उपर्युक्त सब गाथाओं और टीका के प्रकाश में यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। फिर न मालूम प्रोफेसर हीरालाल जी साहब अपवादलिंग को मुनिलिंग कैसे समझ रहे हैं, यह समझ में नहीं आता। मेरी समझ से यदि आप भगवती आराधना की इन गाथा और टीकाओं के ऊपर अच्छी तरह से दृष्टिपात करेंगे तो यह विषय आप की समझ में भी इसी तरह आवेगा जो कि इस ग्रंथ से खासकरके निकलता है ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। आप स्वयं विद्वान तथा इसे सरलतासे जानने में क्षम भी हैं।

(क) २—"तत्वार्थ सूत्रमें पांच प्रकारके निर्ग्रन्थों का निर्देश कियाहै जिनका विशेष स्वरूप सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक टीकामें समझाया गया है। (देखो अध्याय ६, सूत्र ४६–४७)। इसके अनुसार कहीं भी वस्त्रत्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता। बल्कि बकुश निर्ग्रन्थ तो शरीर संस्कारके विशेष अनुवर्ती कहे गये हैं। यद्यपि प्रतिसेवना कुशीलके मूलगुणोंकी विराधना न होनेका उल्लेख किया गया है, तथापि द्रव्य लिंगसे पांचों ही निर्ग्रन्थों में विकल्प स्वीकार किया गया है

"भावलिंगं प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्थलिंगिनो भवंति। द्रव्य-लिंगं प्रतीत्य भाज्याः। इसका टीका कारोंने यह ही अर्थ किया है कभी कभी मुनि वस्त्र भी धारण कर सकते हैं।"

समाधान—तत्वार्थ सूत्रमें जो पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों का कथन किया है वह–चारित्र की उत्तरोत्तर वृद्धिकी अपेक्षासे है। जैसे कि–पुलाक मुनिके विषयमें 'उत्तर-गुणभावनापेत – मनसो व्रतेष्वपि क्वचित् कदाचित्- परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवंतोऽविशुद्धाः पुलाक-सादृश्यात् पुलाका इत्युच्यन्ते'।

इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि—मुनियोंके- मूलगुण और उत्तरगुण दो प्रकार के बतलाये हैं–उनमेंसे-जो मुनि उत्तरगुणोंकी भावनासे रहित हैं अर्थात् जिनका उत्तरगुणों की तरफ विशेष लक्ष नहीं है किंतु उधर सामान्य दृष्टि अवश्य है— (यह बात भावना शब्दसे स्पष्ट है क्योंकि भावना शब्दका अर्थ अनुप्रेक्षा होता है जिसका कि विशेष अर्थ बारबार चिंतन होता है)। व्रतोंमें भी 'क्वचित्' किसी देशमें और 'कदाचित्' किसी कालमें अपूर्णता को प्राप्त होते हैं। यहां व्रतोंसे मूलगुणोंका ग्रहण है क्योंकि इस प्रकरणमें मूलगुणों का ग्रहण किया है। अर्थात् कभी उपसर्ग, प्रमाद, कषायादि किसी विशेष कारणसे मूलगुणोंमें विराधना भी जिन के हो जाती है वे सब मुनियों में साधारण जाति के मुनि हैं।

सर्वार्थ सिद्धि और राजवार्तिक के इस कथन से यह बात कहीं भी नहीं सूचित होती है कि–दीक्षा लेते समय या तपश्चर्या करते समय मुनि कहीं वस्त्र का ग्रहण करते हैं। कोई उनको जबरन भक्ति या द्वेषके कारण वस्त्रसे लपेट दे तो वह मुनिका वस्त्र धारण करना नहीं कहा जाता है। क्योंकि मूलगुणोंमें "अचेलक" गुण तो अवश्य ही लिया है। उसके बिना तो 'नैर्ग्रन्थ्य' बनही नहीं सकता क्योंकि सर्वार्थ-सिद्धिकारने, नैगम और संग्रहादि नयकी अपेक्षासे-सभी पांचों प्रकारके साधुओं को निर्ग्रन्थ लिखा है। यह सब कथन साधारण पुलाक मुनिके विषयका है।

इसके आगे बकुश जाति के मुनि हैं जिनका कि दर्जा पुलाकसे ऊंचा है जोकि साधारण मुनियोंमें से ही चारित्र तथा पद विशेष की अपेक्षा उच्चता को लिये हुए हैं। बकुश जाति के मुनि–एक विहारी न होकर आचार्य और उपध्याय परमेष्ठी पदमें संगठित होते हैं।

चारित्र की अपेक्षा तो उनके उच्चता इस कारण है–कि 'नैर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिताः प्रतिस्थिताः' नैर्ग्रन्थ्य यानी अचेलकताके प्रतिस्थित हैं यानी अत्यंत दृढ़ हैं अर्थात् प्रमाद और कषाय आदि कारण द्वारा अचेलक वृत्ति से कभी डिगते नहीं, संघ में रहने से उपसर्ग भी कोई नहीं होता। इन्हीं सब कारणों से उनका विशेषण 'नैर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिताः' दिया है। और दूसरा विशेषण उनको 'अखंडितव्रताः' का दिया है उसका अभिप्राय यह है कि वे अपने मूलगुणोंको आवश्यकादि कृत्यों से पूर्ण पालते हैं किसी प्रकार भी २८ मूलगुणों में बाधा नहीं आने देते। उनमें वे पूर्ण रीतिसे सावधान रहते हैं।

तीसरा विशेषण–'शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनः' है इसका अभिप्राय यह है कि शरीर और उपकरण-इनकी विभूषा। शरीरका सौंदर्य, प्रभाव, स्वच्छता यह 'शरीर की विभूषा' और उपकरण कमंडल पीछी शास्त्र इनका सुन्दर होना तथा स्वच्छ रखना यह 'उपकरणकी विभूषा' है। इनके प्रति कुछ प्रवर्तन होना है वह शरीरोपकरण–विभूषाऽनुवर्तिनः है। यह

विशेषण इस लिये दिया है कि शिष्यों की उनकी प्रति भावना रहे जिससे कि दीक्षा-शिक्षा द्वारा शिष्य अपना कल्याण कर सकें, शिष्यों के हितार्थ जो प्रीति का अंश है वह ही कुछ मोह मिश्रित कर्बुरता चित्रक (चितकबरा) अंश है, इसी कारण उनको बकुश या (शबल-कर्बुरित) मुनि कहते हैं।

'अविविक्तप-रिच्छदाः' का तात्पर्य भी यह ही है कि शिष्य मण्डली से वे विभक्त नहीं हैं, उसको वे साथ रखते हैं और उन्हें दीक्षा प्रायश्चित्त शिक्षा देते हैं। इस हेतु से भी मोहांश होने से वे 'बकुश' मुनि हैं।

यहां विभूषा से वस्त्र का कुछ भी अभिप्राय नहीं है, कारण कि इनके लक्षण में प्रथम ही 'नैर्ग्रन्थ्यं प्रतिस्थिताः' यह विशेषण आया है, उसका स्पष्ट अभिप्राय 'अचेलकत्व' है। उसका स्पष्टीकरण राजवार्तिक की आगे की पंक्तियों से हो जाता है। जो कि शंका-समाधान को लिये हुए हैं। राजवार्तिक की पंक्तियां इस प्रकार हैं—

कश्चिदाह्-कोईवादी शंका करता है कि—प्रकृष्टाप्रकृष्टमध्यानां निर्ग्रन्थाभावश्चारित्रभेदात् गृहस्थवत्।६

भाष्य - यथा गृहस्थश्चारित्रभेदान्निर्ग्रंथव्यपदेशभाग् न भवति तथा पुलाकादीनामपि प्रकृष्टचारित्रभेदान्निर्ग्रन्थत्वं नोपपद्यते।

अर्थ—जिस प्रकार गृहस्थ चारित्र के भेद से निर्ग्रंथभाव को प्राप्त नहीं होता है उसी प्रकार पुलाक आदि मुनियों को उत्तम, मध्यम, जघन्य चारित्र के भेद से निर्ग्रन्थभाव नहीं होता है।

समाधान-'न वा दृष्टत्वाद् ब्राह्मणशब्दवत्।।वा०७ न वैष दोषः कुतो दृष्टत्वाद् ब्राह्मणशब्दवत्। यथा जात्या चारित्राध्ययनादिभेदेन भिन्नेषु ब्राह्मणशब्दो-वर्तते तथा निर्ग्रंथशब्दोऽपि। किं च—

अर्थ—ब्राह्मण शब्द के समान यह दोष नहीं है क्योंकि चारित्र पालन करने की अपेक्षासे वह चारित्र वाला होता है, अध्ययन (पढ़ने) की अपेक्षा से विद्यार्थी और पढ़ानेकी अपेक्षासे अध्यापक। यद्यपि व्यक्तियों में भेद है तथापि ब्राह्मण जाति की अपेक्षासे सभी भेद वाले ब्राह्मण हैं। यही दृष्टान्त निर्ग्रन्थ शब्द के साथ लागू है। और भी आगे इसी बात के समर्थन में यथा—

संग्रहव्यवहारापेक्षत्वात् ।।वा० नं० ८।। यद्यपि निश्चयनयापेक्षया गुणहीनेषु न वर्तते तथापि संग्रहव्यवहारनयविवक्षावशात्सकलविशेषसंग्रहो भवति।

अर्थ—यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा से गुणहीन में वह निग्रंथ शब्द भले ही प्रवर्तित न हो पूर्णता की अपेक्षा से। कारण कि पूर्णता तो १३ वें और १४ वें गुणस्थान में होती है परन्तु संग्रह और व्यवहारनय की अपेक्षा से तो सर्व विशेषों का संग्रह हो जाता है। अर्थात् छठे गुणस्थान से लेकर सभी संयमी निग्रंथ माने जाते हैं। 'किं च 'और भी—

'दृष्टि-सामान्यत्वात्' ।।वा० ६।।

भाष्य—सम्यग्दर्शनं निर्ग्रन्थरूपं च भूषावेशायुधविरहितं तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्ग्रन्थशब्दो युक्तः।

अर्थ—सम्यग्दर्शन और भूषण वेष-वस्त्रपरिधान आयुधसे रहित उस निर्ग्रन्थ रूपमें सामान्य धर्म सापेक्ष सम्पूर्ण पुलाकादिकों में निर्ग्रन्थ शब्द युक्त ही है।

(रा० वा० शंका)—भग्नव्रते प्रसंग इतिचेन्न रूपाभावात् ।।रा० १०।। यदिभग्नव्रतेऽपि निर्ग्रन्थशब्दो वर्तते श्रावकेऽपि स्यात्–अतिप्रसंगो नैष दोषः, कुतो रूपाभावात् निर्ग्रन्थरूपमत्र नः प्रमाणं, न च श्रावके

मवर्तीति नातिप्रसंगः।

अर्थ—अप्रमत्त में भी यदि निर्ग्रन्थ शब्द माना जाय तो श्रावक के भी मानना चाहिये, ऐसा मानने से अतिप्रसंग (अतिव्याप्ति) नामक दोष उपस्थित होगा। उत्तर—यह दोष नहीं आता है, कारण कि श्रावकों में रूप (नग्नरूप) का अभाव है, यहां इस को निर्ग्रन्थरूप (अचेलक रूप) प्रमाण है। वह श्रावक में है नहीं, इस लिये अतिप्रसंग नाम का दोष उपस्थित नहीं होता।

रा० वा० शंका—अन्यस्मिन स्वरूपेऽतिप्रसंग इति चेन्न दृष्ट्यभावात ॥वा० नं० ११॥ स्यादेतत्—यदि रूपं प्रमाणमन्यस्मिन्नपि स्वरूपे निर्ग्रन्थव्यपदेशः प्राप्नोति—इति तन्न। किं कारणं? दृष्ट्या सह यत्र रूपं तत्र निर्ग्रन्थव्यपदेशः। न रूपमात्र इति। अथ किमर्थः पुलाकादिव्यपदेशः चारित्रगुणस्योत्तर-प्रकर्ष वृत्तिविशेषख्यापनार्थः।

अर्थ— यदि रूप को प्रमाण मानते हो तो दूसरे धर्म वालों के स्वरूप (जातरूप-परमहंसरूप) में भी निर्ग्रन्थ का कथन होगा? ऐसी शंका यहां नहीं हो सकती, कारण कि वहां दृष्टि (सम्यग्दर्शन) नहीं है। सम्यग्दर्शन के साथ जिस जगह जातरूप है वहां ही निर्ग्रन्थ का कथन है। केवल जातरूप ही प्रमाण नहीं है। दूसरी शंका—पुलाक आदि का भेद किस लिये है? उत्तर—ऊपर ऊपर चारित्रगुण की अधिकता सूचित करने के लिये पुलाक आदिका कथन है।

राजवार्तिक के इस सब कथन में यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि 'शरीरोपकरण-विभूषानुवर्तिनः' वाक्य में जो 'विभूषा' शब्द आया है वह साधु (मुनि) को वस्त्र सहित साधु होने का द्योतक नहीं है, किन्तु अचेलक अवस्था का ही द्योतक है।

सर्वार्थसिद्धि के अध्याय ८ सूत्र १ की व्याख्यामें जिस जगह पांच प्रकार के मिथ्यात्वों का वर्णन किया है वहां विपर्यय मिथ्यात्व को यों लिखा है—'सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिद्ध्यतीत्येवमादिः विपर्ययः। अर्थ—सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ मानना और केवली कवलाहारी होते हैं, स्त्री मोक्ष को प्राप्त करती है इत्यादि मानना या कहना विपर्यय मिथ्यात्व है।

इस प्रकार का कथन भास्करानन्दी की सुखबोध-वृत्ति में तथा राजवार्तिक में विपर्यय मिथ्यात्व का वर्णन किया है। इस वर्णन से भी यह बात सिद्ध है कि सवस्त्र निर्ग्रन्थ नहीं होता यदि सवस्त्र निर्ग्रन्थ होता तो पूज्यपाद स्वामी, अकलंकदेव अपने सर्वार्थ-सिद्धि और राजवार्तिक ग्रन्थ में एक जगह मुनि को वस्त्र विधान करते और दूसरी जगह मुनि की वस्त्र-विधानता को विपर्यय मिथ्यात्व लिखते? यह कदापि सम्भावित नहीं हो सकता है।

इस सब कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन ग्रन्थों का आश्रय लेकर प्रोफेसर साहब साधु को सवस्त्र सिद्ध करना चाहते थे उन्हीं ग्रन्थों से साधु का अचेलकलिंग सिद्ध हो जाता है। इस लिये कहना होगा कि प्रोफेसर साहब ने इन ग्रन्थों का पूर्वापर सम्बन्ध से मनन नहीं किया है। यदि आप इन ग्रन्थों का पूर्वापर सम्बन्ध से मनन करते तो इन ग्रन्थों का हवाला देकर ऐसा न लिखते कि मुनि को वस्त्र त्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता।

श्लोक वार्तिक में भी मुनि के अचेलक लिंग का विधान और सचेलक का खण्डन बड़े ही मार्के का किया है—वह इस प्रकार है—

कुत एते निर्ग्रन्थाः पंचापि मता इत्यत आह—

अर्थ—ये पांचों भी निर्ग्रन्थ कैसे माने जाते हैं

ऐसी शंका होनेपर समाधान—

पुलाकाद्या मताः पंच निर्ग्रंथाः व्यवहारतः ।
निश्चयाच्चापि नैर्ग्रंथ्यसामान्यस्याविरोधतः ॥१॥

अर्थ—व्यवहारनय से पुलाक आदि सभी निर्ग्रंथ माने गये हैं, निश्चय नयसे भी निर्ग्रंथ सामान्य का अविरोध होनेसे निर्ग्रंथत्व-सबमें ही है ॥१॥

वस्त्रादिग्रन्थसम्पन्नास्ततोऽन्ये नेति गम्यते ।
बाह्यग्रन्थस्य सद्भावे ह्यन्तर्ग्रंथो न नश्यति ॥२॥

अर्थ-उन पांचोंसे अन्य (दूसरे) वस्त्रादि परिग्रह सहित हैं वे निर्ग्रंथ नहीं हैं यह बात स्वयमेव आजाती है। क्योंकि वस्त्रादि बाह्यग्रन्थके सद्भावमें अन्तरंग-परिग्रह नाश को प्राप्त नहीं होता अर्थात रहता ही है।

ये वस्त्रादिग्रहेप्याहु निर्ग्रंथत्वं यथोदितम् ।
मूर्च्छानुद्भूतितस्तेषां स्त्र्याद्यादानेऽपि किं न तत् ॥३॥

अर्थ—जिस तरह जो वस्त्र आदि के ग्रहणमें भी स्पष्ट प्रकटित निर्ग्रंथत्व को कहते हैं। उनके मतमें-मूर्च्छा (ममत्व) के अभाव से स्त्री आदि के ग्रहण में भी मूर्च्छा का अभाव क्यों नहीं माना जाय।

विषयग्रहणं कार्यं मूर्च्छा स्यात्तस्य कारणम् ।
न च कारणविध्वंसे जातु कार्यस्य संभवः ॥४॥

अर्थ—जो विषय ग्रहण कार्य होय और मूर्च्छा उसका कारण होय तो कारण के नाश में कार्य कभी भी संभावित नहीं हो सकता अर्थात यदि मूर्च्छा ही नहीं तो वस्त्रादि परिग्रह का ग्रहण कैसे हो सकता है।

विषयः कारणं मूर्च्छा तत्कार्यमिति यो वदेत् ।
तस्य मूर्च्छोदयाऽसत्वे विषयस्य न सिद्ध्यति ॥५॥

अर्थ—विषय कारण है और मूर्च्छा उस विषय का कार्य है ऐसा जो कहते हैं उनके सिद्धान्त से उस विषयके नहीं होनेपर भी मूर्च्छा का उदय सिद्ध नहीं होता है।

तस्मान्मोहोदयान्मूर्च्छा स्वार्थे तस्य ग्रहस्ततः ।
स यस्यास्ति स्वयं तस्य न नैर्ग्रंथ्यं कदाचन ॥६॥

अर्थ—इससे अर्थात ऊपर के सब कथन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि-मोहनीय कर्म के उदय से मूर्च्छा (ममत्व बुद्धि) होती है और उस मूर्च्छा का ग्रहण है वह अपने अर्थ में होता है अर्थात् अपने पदार्थके होने पर ही होता है-ततः उसकारणसे—वह पदार्थ जिसके हैं उसके नैर्ग्रंथ्य कभी भी नहीं हो सकता है यह बात स्वयं ही सिद्ध है।

आगे इन श्लोकों की वार्तिक में ग्रन्थकार ने जो विषय प्रतिपादन किया है वह—सब विषय—राजवार्तिक का ही प्रतिपादन किया है-अर्थात भूषा, वेष, आयुध इनकर के रहित असंस्कार किया गया यथाजात रूप है वह ही निर्ग्रंथ स्वरूप है-- वह गृहस्थोंमें नहीं होता और सम्यग्दर्शनके अभाव होने से अन्यमती परमहंसके भी 'नैर्ग्रंथ्य' पद नहीं होता है यह सर्व दिगम्बरशास्त्र—सम्मत सिद्धान्त है।

२ (ख) -"यद्यपि प्रतिसेवना कुशीलके मूलगुणों की विराधना न होनेका उल्लेख किया गया है तथापि द्रव्यलिंगमें पांचोंही निर्ग्रंथोंमें विकल्प स्वीकार किया गया है "भावलिंगं प्रतीत्य पंचनिर्ग्रंथलिंगिनोभवन्ति। द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः। (स०सि० अध्या० ६, ४७) इसका टीकाकारोंने यह ही अर्थ किया है कि कभी २ मुनि वस्त्र भी धारण कर सकते हैं"।

समाधान—सर्वार्थ सिद्धि स्वयं टीका है उसमें सिर्फ 'द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्या' इतना ही इस द्रव्यलिंग के विषयमें कथन है उससे ज्यादा कथन नहीं है। तथा राजवार्तिक उस सर्वार्थ सिद्धि की ही विशद बड़ी टीका है उसमें भी उतने ही वाक्य हैं जितने कि सर्वार्थ सिद्धिमें हैं। फिर न मालूम आपने इन दो

प्रधान टीकाओं के सिवाय कौनसी टीका देखली जिस में कि आपको यह कथन मिल गया कि 'कभी कभी मुनि वस्त्र धारण कर लेते हैं'।

साथमें आप यहभी लिख रहे हैं कि- प्रतिसेवना कुशील नामके मुनिको 'मूलगुणोंकी विराधना न होने का उल्लेख किया है' ऐसा लिखनेमें तो आपने 'वस्त्र त्याग' को मूलगुण में मान ही लिया है—और मूलगुण की विराधना न होनेका स्पष्ट कथन सर्वार्थसिद्धिमें है ही। फिर 'द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः' इस पदसे यही अर्थ आपने कैसे निकाल लिया कि मुनि कभी कभी वस्त्र धारण कर सकते हैं ? इसका अर्थ यह ही क्यों नहीं होता कि कोई मुनि एका-विहारी होते हैं, कोई मुनि एका-विहारी नहीभी होते हैं, कोई मुनि साधारण मुनि होते हैं, तो कोई मुनि आचार्य होते हैं और कोई मुनि उपाध्याय होते हैं। तथा तत्वार्थ सूत्रमें कहे गये जो दश प्रकार के मुनि वैयावृत्यमें लिये गये हैं वे भी द्रव्यलिंग में क्यों नहीं विभाज्य हो सकते जिनमें कि आचार्य, उपाध्याय-सर्व साधुका ग्रहण है। मालूम पड़ता है कि सर्वार्थसिद्धिके टीकाकार पूज्यपाद और अकलंक देवने उस नवम अध्याय के सूत्र का स्पष्ट कथन देखकर के ही मोटी बात समझ कर 'भाज्याः' शब्द का खुलासा नहीं किया है।

अब रही किसी के द्वारा मुनीश्वर को वस्त्रसे आच्छादन करने की बात; सो यह—वस्त्रत्याग में ही गर्भित है। कारण कि वह वस्त्र मुनीश्वर का अपने द्वारा ग्रहण किया हुआ नहीं है अतः वह दूसरेके द्वारा मुनीश्वर पर डाला वस्त्र मुनीश्वर केलिये उपसर्ग में गिना जाता है। चाहे वह भक्तिसे हो, चाहे द्वेषसे हो। उपसर्गके वस्त्रको लेकर के ही सामायिक शिक्षा प्रकरण से रत्न करंडश्रावकाचार में—

*चेलोपसृष्ट[illegible]मिव गृही तदा याति यतिभावं,

ऐसा कथन आया है। तथा—भास्करानंदीकी—सुख बोधिका तत्वार्थ वृत्ति-पत्र २२४ नवमें अध्याय के ४७वें सूत्रकी टीका जो मैसूर में छपी है उसमें—

"लिंगं द्विविधं द्रव्यलिंगं भावलिंगं चेति। भावलिंगं प्रतीत्य पंचापि लिंगिनो भवन्ति। सम्यग्दर्शनादेः सद्भावात्। द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः कदाचित् क्वचित् कदाचित् कुतश्चित् कथंचित् प्रावरण-सद्भावात्।

अर्थ—लिंग दो प्रकार का है द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंग का आश्रय करके पांचोंही लिंगी हैं—क्योंकि वे सम्यग् दर्शन आदि गुण सहित हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा से कोई मुनिराज कहीं किसी समय किसी कारण से किसी प्रकार—आवरण युक्त हो सकते हैं। इस ग्रंथकी लिखावट से यह बात मालूम पड़ती है कि—भक्ति उपसर्ग आदि के कारण जो मुनि धर्मके लिये अभिप्रेत या योग्य नहीं है वे कारण कभी बन जाते हैं—इस लिये भलेही पांचों में स्वरूप देखने की अपेक्षा भेद हो सकता है परन्तु—वास्तविक स्वगृहीत जातरूप की अपेक्षा से कोई भी भेद नहीं है।

सर्व ग्रन्थोंके इस कथनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि-मुनीश्वर को वस्त्रत्याग अनिवार्य ही है। वस्त्र-त्याग का एक मुख्य हेतु यह भी है कि—जो कोई भी मनुष्य जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहता है उसका आदर्श चिन्ह रखकर ही उसे प्राप्त कर सकता है—जैन सिद्धान्त से यह बात स्पष्ट सिद्ध है कि आत्मा कर्मनोकर्म उपाधियोंसे सर्वदा तुषमाषकी तरह भिन्न है।

---

* वस्त्रके द्वारा उपसर्गयुक्त मुनि

अर्थात्—वह अपने स्वरूप से शुद्ध चिदानन्द चैतन्य रूप प्रकाशमान ज्ञानदर्शन प्रमुख गुण वाला है परन्तु कर्म-नोकर्म उसमें आवरणरूप हैं, ऐसा ध्यान करते और वैसी क्रिया आचरण करते वह अपने शुद्धरूप को प्राप्त हो जाता है।

यहां प्रकरण में भी साधक मनुष्य-शरीर दृष्टान्त के बतौर आत्मभाव और कर्म-नोकर्म सदृश वस्त्रादि आवरण समझ कर उसे साधक मुनि अवस्था में दूर करके वैसा ही ध्यान कर सकता है कि इस शरीर से वस्त्रादि जुदे हैं उनको छोड़कर जैसे शरीर नग्न हो जाता है, वैसे ही मेरा आत्मा इन कर्म-नोकर्म आवरणोंसे जुदा हो सकती है। अर्थात् वस्त्र-त्याग का आदर्श सन्मुख रखकर और वैसा चिंतवन करने से साध्य की साधकता प्राप्त हो सकती है। अतः वस्त्र-त्याग में सहन-शीलता आदि गुणों के साथ यह भी एक अपूर्व मुख्य गुण है।

२ (ग)—"मुक्ति भी सग्रन्थ और निर्ग्रंथ दोनों लिंगों से कही गई है। "निर्ग्रंथलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया" (त० सूत्र १० अध्याय ८ सूत्र सर्वार्थसिद्धि) यहां भूतपूर्व नयापेक्षया का अभिप्राय 'सिद्ध होने से अनन्तर पूर्व' का है।"

समाधान—इस विषय में सर्वार्थसिद्धिकार ने यह लिखा है कि—'लिंगेन केन सिद्धिः? अवेदत्वेन, त्रिभ्यो: वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो, न द्रव्यतः, द्रव्यतः पुल्लिंगेनैव।'

अर्थ—लिंग से किससे सिद्धि होती है? अवेदत्व से होती है अथवा तीन वेदसे सिद्धि है, यह भाववेद की अपेक्षा से, न कि द्रव्यवेद की अपेक्षा से। द्रव्यकी अपेक्षा से तो पुल्लिंग से ही सिद्धि होती है। इस तरह सर्वार्थसिद्धिकार के मत से स्पष्ट द्रव्यस्त्री को मोक्ष का निषेध है। द्रव्यस्त्री को मोक्ष के निषेध में धवलाकार ने वस्त्र का प्रतिबन्ध कारण माना है, यह षट्खण्डागमके सत्प्ररूपणाके ६३ सूत्र की धवल टीका से स्पष्ट है। इससे यह बात सहजमें ही निकल आती है कि वस्त्र सहित तो मोक्षसिद्धि है नहीं।

अब जो लिंग शब्द से वेष की मुख्यता करके सर्वार्थसिद्धिकार ने 'अथवा' शब्द के द्वारा मोक्ष का विधान किया है, उसमें निर्ग्रंथलिंग के साथ तो कुछ आपत्ति भी नहीं थी, इस लिये उसके साथ भूतपूर्वनय की विवक्षा लगाई नहीं है क्योंकि उसमें तो न श्वेताम्बर समाज को ऐतराज है, न दिगम्बरसमाजको है, अर्थात् इस विषय में दोनों सम्प्रदाय एकमत हैं। सवस्त्र में दोनों सम्प्रदायों का मतभेद अवश्य है उसी को दूर करने के निमित्त ग्रन्थकार ने भूतपूर्व नय की अपेक्षा ली है। अर्थात्—भूतपूर्वनय से यह बात सिद्ध है कि जिसने मुक्ति के मार्ग में जबसे पैर रखा है वहां से यदि गणना की जाय तो पहले जिसने श्रावक के व्रत पालन किये हैं, वहां से वह गणना शुरू हो सकती है। बाद को फिर मुनिलिंग धारण कर मोक्ष की प्राप्ति की। ऐसी व्यवस्था में श्रावक को सग्रन्थ लिंग है वह मुक्ति के लिये भूतपूर्वनय की अपेक्षा से कारण होगा। बस, भूतपूर्वनय का यह ही अभिप्राय है।

आपने जो भूतपूर्वनय का सिद्धि होनेसे अनन्तर-पूर्व अर्थ किया है उसका तात्पर्य सिर्फ यह ही होता है कि 'सिद्ध होनेसे अन्तर रहित पूर्वका समय' परन्तु यह अर्थ यहां सम्भवित नहीं हो सकता कारण कि एक तो पूज्यपाद स्वामी वस्त्र-सहित मोक्ष मानते नहीं।

दूसरे थोड़ी देरके लिये आपकी बात किसी तरह

मान भी ली जाय तो विनष्टोत्पत्तिमें जो जैन न्याय का सिद्धान्त है उसका घात होता है। कारण कि जैन सिद्धान्त में एक पर्याय का नाश और दूसरी पर्याय की उत्पत्ति एक ही समय में मानी है। जैसे कि दृष्टांतमें घड़ा फूटने का और कपाल (खपिच्चे) होने का एक ही समय है। इस सिद्धान्त से लिंग-नाश और सिद्धपर्याय की उत्पत्ति का समय एक ही पड़ता है। इस लिये 'सिद्धि के अनन्तर पूर्व' जो अर्थ किया है वह भूतपूर्वका अर्थ संगत नहीं होता। अतः सिद्ध है कि भूतपूर्व का अर्थ 'जिस अवस्था से मोक्ष प्राप्त की है उससे पूर्व की अवस्था' ही सम्भवित है।

ऐसा होने से यह ही अर्थ स्पष्ट आ जाता है जो सवस्त्र अवस्था है वह ही यहां भूतपूर्वनय का विषय है। अर्थात् जिस मनुष्य ने पहले श्रावक अवस्था धारण करके पीछे मुनि अवस्था धारण कर सिद्धि प्राप्त की है उसमें जो श्रावक अवस्था है उसके लिये ही भूतपूर्वनय लागू पड़ेगी।

यदि आचार्य के मत से सवस्त्र और अवस्त्र दोनों ही अवस्था से मोक्ष होती तो फिर आचार्य को भूतपूर्वनय के द्वारा सिद्धि दिखलाने की जरूरत ही नहीं पड़ती। कारण कि वैसा होने से वहां विनष्टोत्पत्ति विषयक जैन सिद्धान्त एक क्षण का है वह घट ही नहीं सकता था।

दूसरे यहां एक बात और है जिस प्रकरण से 'भूतपूर्वनय' का कथन किया जाता है, वहां 'प्रत्युत्पन्न' नय को चाहे आचार्य कहें, चाहे न कहें, परन्तु उस का विषय तो अवश्य आ ही जाता है क्योंकि दोनों वचन सापेक्षता को परस्पर लिये हुए हैं। इस लिये दोनों में से एक का कथन होगा तो दूसरी जरूर ही समझनी चाहिये। इस प्रकरण में यदि आप भूतपूर्वनय का विषय निर्ग्रन्थ और सग्रन्थ दोनों ही अवस्था में लगा देंगे तो फिर प्रत्युत्पन्न नय का विषय कहां लगावेंगे। यहां आपने दोनों दशा में ही जब भूतपूर्व का विषय लगा दिया है तो प्रत्युत्पन्न का अब दूसरा विषय जरूर बतलाना चाहिये। अगर आप उसके लिये दूसरा विषय नहीं बतला सकते तो फिर निश्चित है कि निर्ग्रंथ अवस्था प्रत्युत्पन्ननय का विषय है और भूतपूर्व का विषय सग्रन्थ अवस्था है।

इस सर्व कथन से यह स्पष्ट सार निकल आता है कि मोक्ष या सिद्धि निर्ग्रन्थ अवस्था से ही होती है। सग्रन्थ अवस्था में किसी भी दिगम्बर जैनाचार्य के मत में मोक्ष-सिद्धि नहीं।

सर्वार्थसिद्धि मुद्रित प्रति में निर्ग्रंथलिंगेन के साथ ',' ऐसा कोमा नहीं होने से आपको अघटित कल्पना करने का समय मिला है, इस लिये वहां इनवर्टेड कोमा अवश्य होना चाहिये। जिससे कि गहरे विचार बिना, किसी दूसरे को आपकी सी अघटित कल्पना ही न उठ सके।

यहां एक बात और भी ध्यान देने योग्य है—चार ज्ञानसे जिस जगह सिद्धि सर्वार्थसिद्धिमें बतलाई है वह कैसे सम्भवित है? वहां सिवाय भूतपूर्वनय के गति नहीं, वहां सिद्धि होने के 'अनन्तर पूर्व' अर्थ होगा तो केवलज्ञान बिना सिद्धि होगी क्या?

श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में भी जो लिंग से सिद्धि के विषय में श्लोक लिखा है उससे भी यही बात सिद्ध होती है कि भूतपूर्व नय का विषय सग्रन्थ के ही साथ है, निर्ग्रन्थ के साथ नहीं है। तथा युक्ति से यह बात भी दर्शा दी है कि मुक्ति निर्ग्रंथ अवस्था के सिवाय दूसरी अवस्था से होती ही नहीं। श्लोकवार्तिक का वह श्लोक इस प्रकार है—

सा निर्ग्रन्थलिंगेन परंपर्यात्ततोन्यतः ।
साक्षात् सग्रन्थ लिंगेन सिद्धौ निर्ग्रंथता वृथा ॥६॥

अर्थ—निर्ग्रन्थलिंग से साक्षात् सिद्धि (मोक्ष-प्राप्ति) होती है। और सग्रंथलिंग से परम्परा कर मोक्ष की सिद्धि होती है। यहां सग्रन्थलिंग से परम्परा से मोक्ष की सिद्धि बतलाई है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि भूतपूर्वनय का विषय सग्रन्थ के ही साथ है, न कि निर्ग्रन्थ के साथ। अर्थात् मोक्ष-सिद्धि के लिंग से जो पूर्व है वह ही भूतपूर्व है। आचार्य ने यहां परम्परा में सग्रन्थलिंग को ही लिया है। अतः इस नयका विषय सग्रन्थ के ही साथ है।

श्लोक के उत्तरार्ध का अर्थ—

"यदि सग्रंथलिंग से ही साक्षात् सिद्धि हो जाय तो फिर निर्ग्रन्थलिंग का धारण करना व्यर्थ ही है।" अर्थात् जो वस्तु सुगम मार्ग से प्राप्त की जा सकती है तो फिर उसके लिये कठिन मार्ग के आश्रयकी जरूरत भी क्या है। इस श्लोक के उत्तरार्द्ध से यह बात स्पष्ट दिखला दी है कि निर्ग्रन्थलिंग के सिवाय मुक्ति दूसरे लिंग से नहीं होती तथा न हो सकती है।

३—"धवलाकार ने प्रमत्त-संयतों का स्वरूप बतलाते हुए जो संयम की परिभाषा दी है उसमें केवल पांच व्रतों का पालन का ही उल्लेख है 'संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः' इस प्रकार दिगम्बर शास्त्रानुसार भी मुनि के लिये एकान्ततः वस्त्र-त्याग का विधान नहीं पाया जाता। हां कुन्द-कुन्दाचार्य ने ऐसा विधान किया है पर उसका उक्त प्रमाण ग्रन्थों से मेल नहीं बैठता।"

समाधान—इस प्रकरण नं० ३ के प्रश्न से यह बात तो स्पष्ट नहीं होती कि संयम सवस्त्रलिंग से भी होता है। लिंग की अपेक्षा न करके केवल संयम के परिणाम से ही संयम होना मानते हैं तो फिर कहना होगा कि निमित्त के बिना ही केवल उपादान से ही कार्य सिद्धि का होना ठहरता है। परन्तु यह बात कार्यकारण के न्यायसिद्धांत से सर्वथा विरुद्ध है, क्यों कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में नियमसे उपादान और निमित्त दोनों कारणों से ही कार्यसिद्धि का नियम है, जो कि अनुभव-सिद्ध है। दृष्टांत से भी यही बात सिद्ध है कि मृत्तिका में घट बनने की शक्ति है परन्तु उसके साथ पानी का सम्बन्ध हुए बिना तथा कुम्हार, चक्र, चीवर आदि निमित्त कारणों के बिना मृत्तिका का घट नहीं बन सकता। इसी तरह चावल में ओदन (भात) बननेकी शक्ति है, परन्तु पानी, अग्नि संयोग, पटलोई आदि कारणों के बिना चावल का भात नहीं बन सकता।

इसी तरह दूरांदूर भव्य में शक्ति की अपेक्षा से भव्यत्व गुण है, परन्तु उसको कभी भी रत्नत्रयकी उत्पत्ति के साधन नहीं मिलते, इस लिये उसकी अभव्यत्व में ही गणना होती है। ठीक यही दृष्टान्त प्रकृत विषय संयम का है। अर्थात् जब तक प्रमुख वस्त्र के साथ अन्य परिग्रहों का त्याग नहीं होगा तब तक संयम गुण ही प्रकट नहीं हो सकता।

दूसरे आप इस विषय में धवला टीका का प्रमाण देते हैं सो उसमें तो यह बात सिद्ध ही नहीं हो सकती कारण कि 'संयम' में छठे आदि गुणस्थान का ग्रहण है परन्तु धवलाकार तो सत्प्ररूपणा के ९३ वें सूत्र की टीका में ही यह बात स्पष्ट लिखते हैं कि अचेलक अवस्था के बिना छठा आदि गुणस्थान नहीं होता है। अर्थात् जो सचेलक है उसके पांच गुणस्थान तक हो सकते हैं। और पांचवें गुणस्थान को संयम (संयत) में लिया ही नहीं है। अतः धवला से

भी यह ही बात सिद्ध है कि सवस्त्रलिंग की संयम (संयत) में परिगणना नहीं।" यदि 'संयम' से अपूर्ण संयम का आपका अभिप्राय हो तो वह श्रावकों का लिंग होता ही है किंतु मुनि-लिंग नहीं होता। स्त्रियों को 'संयत' अर्थात् छठे आदि गुणस्थान का निषेध भी वीरसेन स्वामी ने किया वह सवस्त्रता की मुख्यता से ही तो किया है। इससे कहना होगा कि संयम के लिये जो वीरसेन स्वामी के मत से सवस्त्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह विफल प्रयत्न है।

इस प्रकार के उपर्युक्त आपके माने हुए दिगम्बर शास्त्रों के आधार से तथा अनुभव और युक्तियों से अच्छी तरह सिद्ध है कि मुनि अवस्था सवस्त्र अवस्था नहीं है किन्तु अचेलक अवस्था ही है। जो कि मोक्ष की प्राप्ति की साक्षात् कारण है। इस विषय में श्लोकवार्तिक में स्पष्ट लिखा है कि 'यदि सवस्त्र अवस्था ही मुनि अवस्था है तो स्त्री का आधान भी मुनि अवस्था में क्यों नहीं है।' सवस्त्र दशा में डांस मच्छर आदि की बाधा होती नहीं यदि उससे ही अर्थात् सुखद उपाय से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाय तो फिर दुखद उपाय से मोक्ष का प्रयत्न भी क्यों किया जाय इत्यादि। मुनिपद के लिये सवस्त्र खण्डन के मूलाचार, आदि पुराण, अनागार-धर्मामृत वगैरह अनेक ग्रन्थ प्रमाण हैं, जिनसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि उत्सर्ग अवस्था ही मुनिपद की अवस्था है, जिससे कि मोक्ष का साक्षात् सम्बन्ध है। किन्तु अपवाद अवस्था मुनि का लिंग नहीं है वह अवस्था केवल श्रावक का चिन्ह है। इस प्रकार संयमी और वस्त्रत्याग का प्रकरण पूर्ण हुआ।

केवली के भूख-प्यासादि की —वेदना—

प्रोफेसर साहब लिखते हैं कि—

"कुन्दकुन्दाचार्य ने केवली के भूख प्यासादि की वेदना का निषेध किया है। पर तत्वार्थसूत्रकार ने सबलता से कर्मसिद्धान्तानुसार यह सिद्ध किया है कि वेदनीयोदय-जन्य क्षुधा-पिपासादि ग्यारह परिषह केवली के भी होते हैं। (देखो अध्याय ९ सूत्र ८-१७)। सर्वार्थसिद्धिकार एवं राजवार्तिककारने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मोहनीय कर्मोदय के अभाव में वेदनीय का प्रभाव जर्जरित हो जाता है, इससे वेदनाएं केवली के नहीं होतीं। पर कर्म-सिद्धांत से यह बात सिद्ध नहीं होती। मोहनीय के अभाव में रागद्वेष परिणति का अभाव अवश्य होगा पर वेदनीय-जन्य वेदना का अभाव नहीं हो सकेगा। यदि वैसा होता तो फिर मोहनीय कर्म के अभाव के पश्चात् वेदनीय का उदय माना ही क्यों जाता? वेदनीय का उदय सयोगी और अयोगी गुणस्थान में भी आयु के अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है। इसके मानते हुए तत्सम्बन्धी वेदनाओं का अभाव मानना शास्त्र-सम्मत नहीं ठहरता।"

समाधान—प्रोफेसर हीरालाल जी साहब की उपर्युक्त बात को (शंका को) उत्पन्न करने वाला तत्वार्थसूत्र नवमे अध्याय का "एकादश जिने" यह ग्यारहवां सूत्र है। उसमें तेरहवें गुणस्थानवर्ती और चौदहवें गुणस्थानवर्ती सयोगी और अयोगी जिन के ११ परिषहों का विधान है क्योंकि उनके अघातिया कर्मों का सद्भाव है, इस लिये उनमें से वेदनीय के

उदयके सद्भाव होने से ११ परीषह जिनेन्द्र भगवान के होती हैं, ऐसा नं० ११ वें सूत्र का अभिप्राय है। यह ही कर्मसिद्धान्त का विषय प्रोफेसर साहब के मन्तव्य का विषय है। इस सूत्र की व्याख्या करने वाले पूज्यपाद (देवनन्दी) ने और अकलंकदेव ने अपने अपने ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में जिस तरह से व्याख्या की है वह प्रोफेसर साहब को मान्य नहीं है, कारण कि उन व्याख्याओं में यह बात दिखलायी है कि 'जिस वेदनीय कर्मके उदय से ये परीषह जिनदेवके मानी हैं, उसका उदय अपनी केवल हयाति (सत्ता) के उदयकाल में वैसा फल नहीं देता है जैसा कि मोहनीय कर्म के साथ देता है।

प्रोफेसर साहब इस बात को मानते नहीं—कारण कि उमास्वामी ने जिनेन्द्र भगवान के ११ परीषह का विधान किया है और वह विधान भी वेदनीय कर्म के सद्भाव से है और वेदनीय कर्म वहां मौजूद है ही तथा उसका उदय भी है। अतः जिनेन्द्र के क्षुधादि परीषह होनी चाहिये और परीषहों के सम्बन्ध से उनके दुःख भी होना चाहिये। यह सीधा कर्मसिद्धान्त है। उस में मोहनीय कर्म का पचड़ा लगाकर जो जिनेन्द्र के परीषह का अभाव बतलाया है यह कर्मसिद्धान्त नहीं है, यह आपका स्पष्ट अभिमत है। परन्तु यह अभिमत आपका उमास्वामी के आधार वाक्यों में तथा कर्मसिद्धान्त को प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों के कथन से ही खण्डित हो जाता है। यहां पहले आपके विचार की समाधानी उमास्वामी के वाक्यों से ही करना ठीक है इस लिये पहले उनके वचनों से ही आपकी समाधानी की जाती है।

श्री उमास्वामी महाराज अपने सूत्र के आठवें अध्याय में—'आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीय-मोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥४॥' सूत्र द्वारा कर्म प्रकृतियों का क्रम लिखते हैं। इस क्रम में चाहिये तो यह था कि पहले घातिया कर्मोंको लिखकर पीछे से अघातिया कर्मोंको लिख देते, परन्तु ऐसा न करके उनने मोहनीय घातिया कर्म के पूर्व वेदनीय अघातिया कर्म का उल्लेख किया है और अघातिया कर्मोंके अंतमें अंतराय घातिया कर्म का उल्लेख किया है। आचार्य ने ऐसा क्रम क्यों किया है, इसका कुछ न कुछ रहस्य अवश्य है। आचार्य उमास्वामी ने केवल क्रम ही इस तरह का किया हो यह ही बात नहीं है किन्तु उस क्रम के अनुसार ही इन कर्मों के भेदों का भी अनुक्रम वैसा ही लिया है इस लिये इसका रहस्य अवश्य ही कुछ जरूर है। उस रहस्य का स्पष्टीकरण कर्मसिद्धान्त का जो मुख्य ग्रन्थ गोम्मटसार कर्मकांड है उसमें इस प्रकार किया है। उसमें पहले अन्तराय कर्म के लिये गाथा दी है—

घादिं वि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो।
णामतियणिमित्तादो विग्घं पडिदं अघादिचरिमम्हि १७

अर्थ—अन्तरायकर्म घातियाकर्म है तो भी समस्तपने से जीव के गुणघातेने में समर्थ न होने से अघातिया कर्मों की तरह है। परन्तु यह नाम, गोत्र और आयु के निमित्त से अपना घातिपापने का कार्य करता है, इस लिये इसका अघातियाओं के पीछे पाठ रक्खा है। वेदनीय के विषयमें भी क्रम उल्लंघन का हेतु इसी ग्रन्थ में इस प्रकार है—

घादिव वेयणीयं मोहस्सबलेण घाददे जीवं।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिदं तु ॥१९॥

अर्थ—वेदनीय कर्म मोहनीय कर्म के बल से ही घातिया कर्मों की तरह जीव को घातता है, इस लिये घातियों के मध्य में और मोहनीय कर्म की आदि में

उसका पाठ रक्खा है।

इन गाथाओंके अभिप्रायसे यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि मोहनीय कर्म के बिना वेदनीय अपने कार्य में समर्थ नहीं है, इस लिये इस का जो कार्य सुख और दुख है वह मोहनीय की सहायता से होता है।

श्री उमास्वामी ने अपने सूत्र में जो क्रम रक्खा है वह इसी अभिप्राय को लिये रक्खा है, इसके सिवाय दूसरा कोई अभिप्राय संभवित नहीं है। इस लिये यह बात स्पष्ट हो जाती है कि टीकाकारोंने जो 'एकादश जिने' सूत्र का अर्थ किया है वह उमास्वामी के सिद्धान्त से सम्मत है उनके सिद्धान्त से बाह्य का अर्थ नहीं है। इस लिये प्रमाणीक है, पक्षपात की दृष्टि से कल्पित या अप्रमाणीक नहीं है।

दूसरे वेदनीय कर्म के कार्य को दिखलाते हुए वेदनीय का जो लक्षण किया है वह भी खूब मनन करने का विषय है। गोम्मटसार कर्मकांड की नं० १४ की गाथा इस प्रकार है—

अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुहसरूवयं सादं।
दुक्खसरूवमसादं तं वेदयदीदि वेदणियं ॥१४॥

अर्थ—पंचेन्द्रियों के विषय का अनुभवन रूप वेदन करना है, उसे वेदनीय कहते हैं। वह दो प्रकार है। एक साता, दूसरा असाता। उसमेंसे सुख-रूप अनुभवन साता वेदनीय और दुःखरूप अनु-भवन असाता वेदनीय है।

यहां पर अनुभव शब्द लक्ष्य में देने लायक है। अनुभवन जो होता है वह एक विशिष्ट बातका सूचक है। अनुभवन में रुचि और अरुचि ये दो अंश प्रति-भासित है, अर्थात् साता में रुचि और असाता में अरुचि, (रुचि और अरुचि) है इसी को मोहनीय की अवस्था कहते हैं। अतः अनुभवन शब्द से स्पष्ट सूचित होता है कि मोहनीय की सहायता से वेदनीय अपना मुख्य कार्य करता है।

उदय की बात ऐसी है कि जो सत्ता में कर्म है उसका उदय तो अवश्य ही होता है। वह उदय क्रियात्मक है। उसका दृष्टान्त राजवार्तिक-कथित विषैली वस्तु का विष मारने से जैसा खाने पर परि-णाम होता है वैसा ही मोहनीय कर्म की सहायता-रहित वेदनीय का उदय समझना चाहिये।

सूत्रकार ने भी मोहनीय कर्मकी वेदनीय कर्म में सहायता को लक्ष्य में रखकर कर्मों के क्रम का सूत्र में पाठ रक्खा है तथा उसी बात को हृदय में रख कर व परीषह सहन के कार्यकी सफलता को लक्ष्यमें रखकर ही उमास्वामी ने तत्वार्थसूत्रके नवमें अध्याय के 'मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः॥८ इस सूत्रका निर्माण किया है।

अरहंत अवस्था में मार्ग से च्युत होने का कारण ही नहीं तथा परीषह द्वारा निर्जरा का कारण ही नहीं तो फिर इस सूत्र का वहां विषय भी क्यों लागू हो सकता है? वहां तो कर्म-निर्जरा का कारण शुक्ल-ध्यान ही है। अतः इस सूत्र के विधान से मालूम पड़ता है कि परीषहों का विषय इन कार्यों के लिये मोहनीय की सत्ता तक ही है। जब मोहनीय की सत्ता तक ही है तो स्पष्ट है कि वेदनीयका उदय अपना सुख-दुखरूप कार्य मोहनीय की सहायता से ही करता है, बिना सहायता के राजवार्तिक में नष्ट-विष औषधि के दृष्टान्त समान कार्य का कर्ता है। इस सब कथन से यह बात सहज ही में सिद्ध हो जाती है कि सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक टीका का जो अभिप्राय है वह ही सूत्रकार का अभिप्राय है।

आगे और भी तत्वार्थसूत्र का इस विषय में मत देखिये—अध्याय दो में जीव के निज तत्व पांच बतलाये हैं, उनमें एक औदयिक भाव भी है। इस औदयिक भाव में जीव-विपाकी प्रकृतियों का उदय जीव में बतलाया है। परन्तु सूत्र—'गति-कषाय-लिंग—मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्या—श्चतुश्चतु-स्त्र्येकैकैकैक-षड्भेदाः ॥६॥' में जीव-विपाकी वेदनीय प्रकृति के औदयिक भावों को सूत्रकार ने नहीं गिनाया है। आचार्य स्वामी की दृष्टि में यह बात थी, इसी लिये वेदनीय के औदयिक जो साता-असाता (सुख-दुख) भाव हैं उनको नहीं गिनाया है। अतः सूत्रकार के मत से यह बात स्पष्ट सिद्ध है कि वेदनीय कर्म बिना मोहनीय की सहायता के कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

केवलज्ञान अवस्था में मोहनीय कर्म के अभावसे अनन्त सुख नाम का आत्मीक गुण प्रगट होता है। और वेदनीय के उदय से असज (इन्द्रिय जीव) सुख-दुख होता है। परन्तु जिस समय मोहनीय का सर्वथा नाश हो जाता है उस समय केवली के असज सुख ही नहीं रहता। फिर असज-वेदनीय भूख-प्यास आदि में जायमान, वहां सुख-दुख और भूख-प्यासादि परीषह भी कैसे सम्भवित हो सकती हैं। अन्तराय कर्म का सर्वथा नाश होने से वीर्य नामक गुण और क्षायिक लब्धियां भी जिनेन्द्र के उत्पन्न होती हैं। उनमें से लाभांतराय नामक कर्म के सर्वथा क्षय से शरीर की स्थिति को कारण कवलाहार क्रिया से रहित केवली भगवान को जो अन्य मनुष्यों को असाधारण हैं ऐसी परम शुभ और सूक्ष्म नोकर्म वर्गणायें भगवान के शरीर से सम्बन्धित होती रहती हैं, वही भगवानके नोकर्माहार होता है। सब प्राणियों के जीवन के लिये कवलाहार ही होवे ऐसी बात भी नहीं है। कारण कि आहार ६ (छह) प्रकार के माने हैं। वे इस प्रकार हैं—

णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
उज्जमणोवि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥
(संशय वदन विदारण)

अर्थ—नोकर्म आहार १, कर्म आहार २, कवलाहार ३, लेप्याहार ४, ओजाहार ५, मानसिक आहार ६। इस प्रकार के आहार हैं। उनमें से कौन किस के होता है उसकी गाथा—

णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णिरये माणसो अमरे।
कवलाहारो णरपसु उज्जो पक्खीय इगि लेप्पो॥
(संशय वदन विदारण)

श्री केवली तीर्थंकर के नोकर्म आहार होता है, नारकियों के कर्म आहार होता है, देवों के मानसिक आहार होता है, मनुष्य और पशुओं के कवलाहार होता है और पक्षियों के ओज आहार होता है और वृक्षों के लेप्य आहार होता है।

इस गाथा से स्पष्ट है कि केवली भगवान के नोकर्म ही आहार होता है उसी से उनके शरीर की स्थिति कायम रहती है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में केवली भगवानका शरीर साधारण मनुष्य का सा शरीर माना है, परन्तु उन की कवलाहार क्रिया दीखती नहीं, यह जादू भरा सरीखा कृत्य कैसा है सो बहुत ही आश्चर्यजनक है। तथा नग्नता में भी ऐसा ही उनके यहां कथन है कि भगवान नग्न तो हैं पर नग्नता दीखती नहीं है।

भूख-प्यास का कारण वेदनीय कर्म की उदीरणा है सो वह उदीरणा तो छठे गुणस्थान में ही हो जाती है। गोम्मटसार—

अपमत्तविरदपदठीणं पमत्त विरदे उदीरणा होदि।
णत्थित्ति अजोगिजिणे उदीरणा उदयपयडीणं ॥२८०

अर्थ—सातावेदनीय असातावेदनीय और मनुष्य आयु इनकी उदीरणा प्रमत्त विरत नामक छठे गुणस्थान में होती है। अयोग केवली के उदय प्रकृतियों की उदीरणा ही नहीं है। इसका स्पष्ट आशय यह है कि अप्रमत्तादि गुणस्थानों के आगे कवलाहार ही नहीं है। आहार होता है वह निम्नलिखित कारणों से होता है। गोम्मटसार जीवकांड संज्ञाप्ररूपणाधिकार—

आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाए।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा हु ॥१३४॥

अर्थ—आहार के देखने से अथवा उसके उपयोग से और पेट खाली होने से और असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा होने से आहार संज्ञा होती है अर्थात आहार की वांछा होती है। परन्तु असाता वेदनीय की उदीरणा की व्युच्छित्ति तो छठे गुणस्थान में ही हो जाती है। इस लिये ऊपर के गुणस्थानों में न भूख है और न तज्जन्य वेदना ही है। जब वेदना नहीं तो कवलाहार भी वहां नहीं है।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती गोम्मटसार कर्मकांड की निम्नलिखित तीन गाथाओं से केवली भगवान के विषय में कुछ मुख्य बातों का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

णट्ठाय रायदोसा इंदियणाणं च केवलम्हि जदो।
तेण दु सादासादज सुहदुक्खं णत्थि इंदियजं २७३

जिस कारणसे अर्थात मोहनीय कर्म और ज्ञानावरणीय कर्म के नाश से राग, द्वेष तथा इन्द्रियज्ञान नष्ट हो जाता है। उसी कारण से इंद्रिय—सम्बन्धी साता और असाता से जायमान सुख—दुख केवली भगवान के नहीं होता है।

वेदनीय कर्म केवली भगवान के इन्द्रियजन्य सुख दुख का कारण नहीं है। इसी बात को सिद्ध करने के लिये कहते हैं—

समयट्ठिदिगोबन्धो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि ॥२७४

अर्थ—जिस कारण से अर्थात मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव होने से उन केवली भगवान के साता का बन्ध उदय स्वरूप समय स्थिति वाला होता है। 'तेन' उसी कारण से पूर्वस्थित असाता कर्म का उदय साता स्वरूप से परिणमित होता है अर्थात साताख्प उदय में आता है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। बन्ध* चार प्रकार का है १-प्रकृतिबन्ध, २-स्थितिबन्ध, ३-अनुभागबन्ध, ४-प्रदेशबन्ध। इनमें से योग से प्रकृति और प्रदेश, दो प्रकार का बन्ध होता है अवशिष्ट स्थिति और अनुभाग कषाय से होते हैं। भगवान के दशवें गुणस्थान से आगे कषाय का अभाव होने से स्थिति और अनुभाग और उदय एक समय के ही काय हैं। उसमें वेदनीय का साता स्वरूप से ही उन दोनों के साथ कार्य होता है, वह क्यों? जब कषायों के अभाव से आत्मा आत्मीक सुख शान्तिरूप परणमन को प्राप्त हो जाता है, इसी कारण से जो नवीन प्रकृतियां आती हैं वे सभी शुभ रूप ही होकर आती हैं। उपर्युक्त इसी भाव को मन में रखकर श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार कर्मकांड की गाथा द्वारा जो भगवान केवली के

---

* पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति
(द्रव्य संग्रह)

परीषहों के नहीं होने का वर्णन किया है वह गाथा रूप से निम्न प्रकार है—

पदेण कारणेणदु सादस्सेवदु णिरंतरो उदओ।
...मित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि ॥२७५॥

अर्थ—इसी कारण से अर्थात् उपर्युक्त कारणके सद्भाव से जिनेन्द्र केवली भगवान के निरंतर साता का ही उदय होता है, इसी कारण के निमित्त से उनके परीषह नहीं होती हैं। अर्थात् परीषहों के जब सर्व कारण पूर्व ही विनाशभाव को प्राप्त हो गये तो फिर जिनेन्द्र के परीषहों का होना भी कैसे सम्भवित हो सकता है। भावार्थ किसी भी प्रकार से उनका होना सम्भावित नहीं है।

इस प्रकार उपर्युक्त सर्व कथन का पर्यालोचन निष्पक्ष साधु दृष्टि से किया जाता है तो यह बात सहज ही समझ में आ जाती है कि इस विषय में जो श्री कुन्दकुन्द स्वामी का मत है वह ही तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वामी का और उस ग्रन्थ के टीकाकर्ता पूज्यपाद स्वामी, अकलंकदेव और विद्यानन्दि आदि प्रामाणिक पूज्य आचार्यवर्यों का मत है तथा कर्म-सिद्धान्त ग्रन्थ के विधाता श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का भी वह ही मत है जो कि उपर्युक्त आचार्यों का मत है। तथा अनुभव से भी यह ही बात प्रतिभासमान है। इस लिये कहना होगा कि यह श्री पूज्य कुन्दकुन्द भगवान का प्रतिपादित विषय सर्व शास्त्र सम्मत है, इसमें जरा भी अन्तर नहीं है।

आगे आपने आप्त मीमांसा के ९३ वें श्लोक का आश्रय लेकर केवली भगवान के सुख-दुःख होनेकी सम्भावना प्रगट की है—

'दूसरे, समन्तभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसामें वीतराग के भी सुख और दुख का सद्भाव स्वीकार किया है। यथा—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां ...निमित्ततः ॥९३

इसका अर्थ यह है कि—

स्वतः स्वस्मिन्-अपने में, दुःखात्-दुःख कर्तृत्वात्-दुःख का कर्तृत्व होने से, ध्रुवं एकान्तेन-सर्वथा यदि-जो, पुण्यं-पुण्यास्रवो बन्धो वा-पुण्यास्रव वा पुण्यबन्ध होय च-और, सुखतः सुखकर्तृत्वात्-सुख कर्तृत्व होने से, पापं-पापास्रवोबन्धो वा-पापास्रव वा पापबन्ध होय तो, विद्वान् वीतरागो मुनिः-विद्वान् वीतराग मुनि-तपश्चर्याजन्य कायक्लेशादि के निमित्त से पुण्यास्रव वाला होगा और शान्ति सन्तोष स्वरूप आत्मभावना के निमित्त से पापास्रव वाला होगा।

यह इस श्लोक का तात्पर्य है। इस श्लोक का सम्बन्ध पूर्व श्लोक से है। पूर्व श्लोक—

पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाकषायौ च बंध्येयातां निमित्ततः ॥९२॥

यहां अन्यमें दुख का विधान होने से इसका तात्पर्य यह ही होता है जो कि ऊपर की गाथा से कहा गया है—

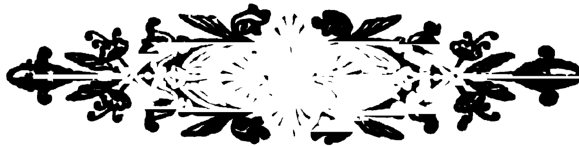
परे दुःखात्-पर को दुःखोत्पादक होने से, तथा परे सुखात् परमें-सुख होने से। इसका तात्पर्यभी यह ही निकलता है कि पर को सुखोत्पादक होने से, अचेतन-दुःखद और सुखद जड़ पदार्थ और अकषाय-विद्वान मुनि, पुण्य और पाप से बन्ध जायगे।

जब इस श्लोक में पर के लिये दुःख और सुख का कर्तृत्व स्वसम्बन्धी निमित्त कर्ता को आता है तो इसी श्लोक से सम्बन्ध रखने वाले ९३ के श्लोक में भी वह ही कर्तृत्व सम्बन्धी निमित्त का सम्बन्ध अवश्य हो जायगा।

इस लिये कहना होगा कि प्रोफेसर साहब ने ६३ वेंके श्लोक में 'निमित्त' शब्द से जो सत्ता में बैठी हुई वेदनीय की असाता रूप, साता रूप वगैरा का अर्थ समझा है, वह पूर्वापर का विचार बिना किये ही समझा है। यदि पूर्वापर का विचार करते तथा कर्मसिद्धान्त के रहस्य और तद्विषयक आगमों की तरफ लक्ष्य विशेषता से रखते तो कभी भी इस श्लोक का मनोनीत अर्थ न करते।

इस श्लोक की बृहत टीका अष्टसहस्री है उसमें भी यह ही अर्थ किया है तथा पं० जयचन्द जी साहब ने भी यह ही अर्थ किया है जो कि पूर्व श्लोक के सम्बन्ध से इस श्लोक का अर्थ होता है। इस विषय में विशेष यह है कि आत्मा और साता असाता रूप वेदनीय कर्म जुदे जुदे पदार्थ हैं। यदि आत्मा में वेदनीयजन्य सुख-दुख मानकर पाप-पुण्य आस्रव मान लिया जाय तो वह उसका विषय न आकर पर विषय को प्रतिपादन करने वाले ६२ के श्लोक का विषय इस श्लोक में आ जावगा। अतः यह ६३ का श्लोक व्यर्थ हो जावगा। इस लिये स्पष्ट है कि जो विषय अष्ट... में इस श्लोकका लिखा है तथा पं० जयचन्द्र जी साहब ने जो अर्थ किया है वह ही ठीक है। इस लिये प्रोफेसर साहब ने इस श्लोक के निमित्त का अर्थ साता असाता-वेदनीय समझा है सो ठीक नहीं है।

इस सब लिखावट से प्रोफेसर साहब की इस 'केवली को भूख-प्यास आदि की वेदना' के मन्तव्य विषयक प्रश्न का उत्तर हो जाता है जो कि उन्हीं के मान्य शास्त्र-प्रमाण से और समुचित अनुभव से किया गया है। इस प्रकार 'केवली के भूख-प्यासादि की वेदना' के उत्तर का विषय समाप्त हुआ।



—: परिशिष्ट :—

[श्रीमान् प्रोफेसर हीरालाल जी एम० ए०, एल-एल० बी० द्वारा लिखे गये जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १० किरण २ दिसम्बर १९४३ में 'क्या तत्वार्थसूत्रकार और उनके टीकाकारों का अभिमत एक नहीं है ?' शीर्षक लेख का समाधान ।]

सूक्ष्म सांपराय नामक दशवें गुणस्थानमें सूत्रकार ने १४ परीषह मानी हैं, परन्तु वहां जब सूक्ष्म लोभ जो कि चारित्र मोहनीय कर्म का भेद है उसके सद्भावोदय में तज्जन्य और यांचा आदि लोभ सम्भवित परीषहों की सम्भावना करते हुए जो १४ परीषह ही मानी हैं उसी का समाधान टीकाकारोंने अपनी टीकाओं में किया है। वहां लोभ इतना सूक्ष्म हो जाता है कि जो अतिकृशताके कारण सशक्त न होनेसे मे याचना आदि परीषहों को उस स्वरूप में व्यक्त नहीं कर सकता, जैसा कि बादर सांपरायकी परीषहों का स्वरूप है अर्थात् वहां परीषहजन्य कार्यता का अभाव होने से छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान का सादृश्य टीकाकारों ने दिखलाया है। जो कि कारण कार्य न्यायसंगति संगत ही है। यदि ऐसी कार्य-कारण संगति टीकाकार नहीं दिखलाते तो सूत्रकार के ऊपर दशवें गुणस्थान में १४ परीषहों के मानने का आक्षेप रह जाता क्योंकि वहां चारित्र मोहनीय के भेद लोभ का सद्भाव होने से १४ परीषहें कैसे सम्भवित होतीं। सूत्रकार ने उनको माना और टीकाकारों ने उनको युक्ति संगति संगत किया है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि सूत्रकार और टीकाकारों का अभिप्राय एक नहीं है।

टीकाकार ने इस विषय में सर्वार्थसिद्धि के देव का जो दृष्टान्त दिया है वह उसी अनुरूप है, वहां भी लोभजन्य आकांक्षा का अभाव सरीखा होने से प्रिय अप्रिय वस्तु के देखने, सुनने, आस्वाद लेने, सूंघने, स्पर्श करने की अति अभिलाषा न होनेसे गमनशक्ति होकर भी नहीं गमन करते। अर्थात् अपने स्थान पर ही रहते हैं। इसी तरह दशवें गुणस्थान में अत्यन्त सूक्ष्म लोभ होने पर भी याचना आदि परीषह उस लोभ-जनित सम्भवित हैं तथापि अति-सूक्ष्मता के कारण अपनी शक्ति की व्यक्ति नहीं कराती हैं।

पहली शंका के समाधान में 'केचित् कल्पयन्ते' यह टीका का कथन सूत्रके साथ सम्बन्ध होने के लिये परमतकी अपेक्षाको लेकर है। जैसे कि 'कालश्च' सूत्र में कालके साथ—'इत्येके आचार्याः' का है। और 'न संति' यह स्वमतकी अपेक्षासे है। इस विवेश कथन का तात्पर्य यह है कि सूत्रमें ये वाक्य नहीं दीखते हैं। परन्तु सूत्रकारकी कथन शैली वैसी ही है जिससे कि अनायास सूत्रमें वैसे पाठ मानने ही पड़ेंगे। सूत्रकार की वैसी शैली (पद्धति) स्वतः के तीन सूत्रों से प्रगट

होती है। उनमें से एक तो दूसरे अध्यायके छठे सूत्र 'गति कषायलिंगेत्यादि' और दूसरे आठवें अध्यायके चौथे सूत्र 'आद्यो ज्ञानदर्शनावरण—वेदनीय-मोहनी-यायुर्नामगोत्रान्तरायाः' और तीसरे नवमे अध्यायके आठवें सूत्र 'मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः' इन सूत्रों से 'न संति' 'कैश्चिन कल्प्यन्ते' की अनुवृत्ति को सूचित करती है। जो कि सूत्रकार की विशेष शैली के अनुसार क्यों है. इसका स्पष्टीकरण पीछे अच्छी तरह किया है वहां से देखना चाहिये।

आपने 'कैश्चिन कल्प्यन्ते' और 'न संति' इन वाक्य शेषों का सूत्र के साथ टीकाकारों द्वारा संबंध जोड़ने से जो शंकायें उपस्थित की हैं वे पूर्वापर दृष्टि के विचार से रहित हैं। कारण कि वेदनीय के सद्भाव में ११ परीषह होती हैं। और परीषह-विधायी कर्म भगवान के केवल वेदनीय है। अतः उन्हीं की सम्भावना से उनका निषेध शेषवाक्यों से होता है वह क्यों होता है? इसका सविस्तर समाधान पूर्वोक्त कथन द्वारा ट्रैक्ट से ही पर्याप्त है। क्योंकि वहां का विषय और १०-११-१२ वें गुणस्थान का विषय भूतपूर्व नय की अपेक्षा से मात्र उपचार का ही है।

दूसरी शंका का समाधान यह है कि दशवें गुण-स्थान में संक्रमण शक्ति से जो वेदनीय असाता रूप था वह प्रायः सातारूप हो जाता है। इस लिये दूसरी शंका को जगह ही नहीं रहती, अर्थात् वहां परीषह होती ही नहीं है। केवल एक देशीय कर्म की सत्ता से शुक्ललेश्या की तरह उपचार मात्र है, जो कि भूत प्रज्ञापन नयसे सिद्ध है।

तीसरी शंका का समाधान दूसरी शंकाके समाधान से हो जाता है। शक्ति और व्यक्ति का अभिप्राय ऊपर स्पष्टता से दिया है।

तदनन्तर दूसरा समाधान वेदनीय कर्म की फल-दान शक्ति इन्द्रियज है और भगवान के घातिया कर्म का नाश होने से क्षायिक शक्ति प्रगट होती है, अतः वहां इन्द्रियज फलदान अपना कुछ भी कार्य नहीं करता। लाभान्तराय कर्म के क्षय से लब्धि प्रगट होती है वह भी सुख रूप ही है। अतः उनका असाता के साथ साम्य भी कैसे। जब कि उनके वे सुख रूप लब्धियां प्रगट होती हैं तब तो उनके वेद-नीय साता ही माना जा सकता है। असाता की तो गति ही कहां है?

क्षपक के वेदनीय कर्मका स्थिति बन्ध असंख्यात-वर्ष का नहीं हो सकता है किन्तु संख्यात वर्ष का हो सकता है।

यहां 'एकादश जिने' सूत्र में कर्मस्थिति घटाने का सवाल भी कहां है। परीषह होने और न होने का सवाल है। सो उसका समाधान ऊपर दिया ही है।

चौथी शंका के प्रथम पक्ष में आपने शक्ति का सद्भाव होते हुए उपयोग के अभाव में प्रतिबन्ध कारण माना है सो ठीक है, परन्तु सर्वार्थसिद्धि के देव के सातवीं पृथ्वी तक गमन न होनेमें वेदनीय उदय का अभाव लिखा है, वह किस शास्त्र के आधार से लिखा है कुछ समझ में नहीं आया। जरा इस विषयमें शास्त्र का आधार देते तो अच्छा था। वेद-नीय कर्म के उदय का कार्य तो सुख-दुःख का अनु-भवन है। न कि गमनागमन। गमन का कार्य तो नामकर्म के भेद रूप विहायो गति कर्म का कार्य है। अतः ४ नम्बर की पहली शंका विषयक जो वक्तव्य है वह भी संगत नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि के देवों के इच्छा का अति कृशपना

सातवीं पृथ्वी में गमन का प्रतिबन्धक है। इसलिये उनके वहां तक जाने की शक्ति होने पर भी शक्ति का व्यक्तिरूप उपयोग नहीं होता। सयोग केवली के कर्मों की निर्जरा में उनका गमन यदि कारण है तो फिर उनकी स्थिति में वह निर्जरा कार्य न होना चाहिये। परन्तु ऐसी बात है नहीं। चौदहवें गुणस्थान में वे एक जगह स्थिर होकर ही कर्म निर्जरा कर डालते हैं तथा तेरहवें गुणस्थान में भी वे सर्वदा गमन ही करते रहते हों, यह भी तो नहीं है। अतः तीसरी शंका में 'सयोगी जिन विहार करते हुए कर्म-प्रदेशों की निर्जरा करते हैं' यह लिखना निराधार होने से असंगत है। वहां निर्जरा में कारण गमनागमन नहीं है किन्तु उनके शुक्लध्यान-कृत विशुद्ध परिणाम हैं।

चौथी शंका के दूसरे पक्ष में विष द्रव्यकी विषैली शक्ति नष्ट करने में मन्त्रौषधियों को कारण बतलाकर श्री अकलंकदेव ने असाता को साता के परिणमन में जो दृष्टान्त दिया है वह आपने अवगत नहीं किया इसका कारण केवल यह ही है कि 'कर्म विषयक दश अवस्थाओं में की जो संक्रमण अवस्था है उसकी दशवें गुणस्थान तक ही क्यों स्थिति है, आगे क्यों नहीं है' इस विषय का आप ने अच्छी तरह से मनन नहीं किया है। तथा वेदनीय का इन्द्रियज विषय रूप जो अनुभवन है वह किसको सम्भावित है, इस विषय का भी विचार आपने उस दृष्टि से नहीं किया है। इसी लिये यह सब विषय आपको समझने में दुरूह हो रहा है।

तथा दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के विषय पर भी जितना चाहिये उतना ध्यान नहीं दिया है। वहां विषद्रव्य में विषैली शक्ति के समान वेदनीय की असाता स्वरूप परिणति के नाश करने में मन्त्रौषधि सदृश विशुद्ध आत्म-परिणाम की उपयोगिता का दृष्टान्त है, न कि एक कर्म का अभाव दूसरे कर्म की शक्ति के नाश का दृष्टान्त है। वहां दृष्टांत है मन्त्रौषधि के सद्भाव का इस लिये उसका अभाव के साथ सादृश्य विशुद्ध आत्म-परिणति के साथ ही हो सकता है। कारण कि सद्भाव का सद्भाव के साथ ही मेल बैठता है। न कि सद्भाव का अभाव के साथ। संसारमें एक पदार्थके अभाव से दूसरे पदार्थ की शक्तिके अभावका दृष्टांत भी मिलता है। जैसे कि चन्द्रकांत मणि के सद्भाव-जन्य अग्नि की ज्वलन-शक्ति के अभाव में सूर्यकांत मणि के अभाव का दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

इसी तरह आपके द्वारा दी गई पांचवी आपत्ति में भी कुछ सत्व नहीं है। कारण कि ध्यान का लक्षण जो 'एकाग्र चिन्ता निरोध, है वह सूक्ष्म क्रिया-प्रति पाति' और 'व्युपरत क्रिया निवृत्ति' इन आत्मीक दो अवस्थाओं में जाता नहीं, इस लिये वे मुख्यध्यान के लक्षणसे शून्य होनेके कारण उपचरित ध्यान हैं।

इनको फिर ध्यान भी क्यों माना जाय? तथा उपचरित मानने का फल भी क्या? ये दो शंकायें हो सकती हैं। उनमें से पहली शंका का समाधान यह है, यहां कार्य में कारण का उपचार है अर्थात् पूर्व के 'पृथक्त्व तर्क वीचार' और 'एकत्व—वितर्क अवीचार' ध्यान के सम्बन्ध में आत्मा के परिणाम ऐसे हो गये कि जिनसे बादर काय योगादि जो थे वे सूक्ष्मरूप और व्युपरत क्रिया निवृत्ति रूप हो गये। इस परिणति में कारण ऐसे आत्म-परिणाम हुए वे पूर्व ध्यानों के कार्य हैं, इस लिये कार्य में कारण का उपचार होने से अन्त के दोनों ध्यान उपचरित ध्यान

है। और कर्म निर्जरा, ध्यान का फल इनमें आ-त्म-परिणामाधीन है। इस लिये इन की वश उनसे अफलता भी है।

इन्हीं बातों का विचार करके श्री अकलंकदेव ने इन ध्यानों में ध्यान का साक्षात् मुख्य लक्षण न देख कर इनको उपचरित माना और इनका परिषहों की उपचरितता में दृष्टान्त दिया।

इसी तरह परीषहों में सामान्य वेदनीय कर्म के कार्य को विशेष साता का कार्य माना जाय तो वह फलाभाव से केवल उपचारमात्र ही है। जैसे कि केवली के शुक्ल लेश्या का सद्भाव फलाभावमें केवल उपचारमात्र है। क्योंकि सूत्रकार ने ११ परीषहों में कारण वेदनीय सामान्य को लिखा है, विशेष असाता को नहीं लिखा है। परन्तु दूसरे सूत्रों के सम्बन्ध से जाना जाता है कि यह विषय सामान्यका न होकर विशेष असाता का है। परन्तु केवली में यह बात है नहीं।

टीकाकारों ने सूत्र 'एकादश जिने' का जो अर्थ किया है वह परीषह-सत्व-सापेक्ष भूतपूर्व प्रज्ञापन का विषय है और प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षासे वहां उनकी सत्ता का अभाव है। इस लिये सिद्ध है कि सूत्रकार और उनके टीकाकारों का मत सर्वथा एक ही है। नय-विवक्षा और शास्त्रीय-व्यवस्था पर ध्यान नहीं देने से ही दोनों के एकमत न होने की प्रतीति है। वह समीचीनता के भाव से कोसों दूर है।

ध्यान अवस्था में ध्यानी साधु को भूख-प्यासादि का अभाव और बहुत काल तक जीवनकी स्थिति तो अन्य धर्मी भी मानते हैं, क्योंकि उनके साधु समाधि चढ़ा जाते हैं तो समाधि अवस्था में क्षुधा-तृषा उन को सताती नहीं है, इस लिये अनाहारी होकर भी वर्षों-पर्यंत जीते हैं। यह लोगों की देखी और अनु-भव की हुई सत्यता है। फिर भी अर्हंत भगवान की कोटि तो उनसे बहुत ही ऊंची है, वहां तो उस बात का सवाल भी कैसे सम्भवित है। इसका विचार-शील ही अनुभव कर सकते हैं।

श्री प्रोफेसर हीरालाल जी साहब ने जिस आप्तमीमांसा के श्लोक ९३ वें के आश्रय से केवली के क्षुधा-तृषा वेदना का सद्भाव लिखा है उसका असली अर्थ न समझकर ही लिखा है। उस श्लोक का बहुत कुछ स्पष्टीकरण मेरे पहले लेख में है, फिर भी विशेषता से उस श्लोक का विशद अर्थ सर्वसाधारण की जान-कारी के लिये तथा प्रोफेसर साहब को समझने के लिये अधिक परिश्रम न करना पड़े, इस लिये यहां लिखा जाता है।

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः॥

—आप्तमीमांसा

इस श्लोक में प्रोफेसर हीरालाल जी के मत से 'निमित्ततः' शब्द का अर्थ असाता वेदनीय और साता वेदनीय माना जाय तो असाता वेदनीय और साता वेदनीय स्वतः तो दुःख और सुख हैं नहीं, किन्तु दुःख और सुख को पैदा करने वाले साधन हैं, इस लिये श्लोक का अर्थ दुःख और सुख पैदा करने वाला जो

निमित्त है उससे अपने में दुःख होने से निश्चय करके पुण्य बन्ध होता है और सुख से अपने में पाप बन्ध होता है। ऐसा विभक्त्यर्थ है।

इसका तात्पर्य यह होता है कि असाता वेदनीय पुण्यबन्ध स्वतः अपनेको करता है'। ऐसा अर्थ होने से अपने पुण्य-पाप बन्ध का कर्ता स्वयं वेदनीय स्वतः ही हो जाता है, परन्तु यह सम्भव नहीं है. कारण कि अचेतन के पुण्य-पाप बन्ध होता नहीं।

यदि यहां पर वीतराग विद्वान मुनि लिये जांय तो वे 'पर' हैं 'स्व' नहीं हैं, क्योंकि आत्मा और कर्म जुदे जुदे पदार्थ हैं। इस लिये प्रोफेसर हीरालाल जी साहब ने जो 'निमित्ततः' शब्द का अर्थ 'असाता वेदनीय और साता वेदनीय' समझ रक्खा है, वह श्लोक के प्रकरण से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता। अतः वह अनर्थ और असम्बद्ध है। इस लिये इस श्लोक का जो अर्थ विद्यानन्दि आदि आचार्यों ने अष्ट-सहस्री आदि ग्रन्थों में किया है वह ही उसका वास्तविक अर्थ है और वह ही अर्थ 'स्व' से सम्बद्ध है।

?

[श्रीमान् प्रोफेसर हीरालाल जी एम० ए०, एल-एल० बी० द्वारा लिखे गये जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ११ किरण १ जून १६४४ में प्रकाशित 'क्या षट्खण्डागमके सूत्रकार और उनके टीकाकार वीरसेनाचार्यका अभिमत एक ही है?' शीर्षक लेखका समाधान]

आपके इस लेख का समाधान पहले लेख में अच्छी तरह किया जा चुका है। इस लेख में कुछ विशेष बातें जो आपने दर्शायी हैं उन्हीं पर इस परिशिष्ट द्वारा प्रकाश डाला जाता है।

मनुष्यिणियों में सत्प्ररूपणा प्रथम पुस्तक के ६३ वें सूत्र को छोड़कर कहीं पर भी जहां कि मनुष्यिणियों के १४ गुणस्थान गिनाये हैं, वहां के सूत्रों में पर्याप्त मनुष्यिणी नहीं लिखा है। पर्याप्त का अर्थ पुद्गल स्वरूप जो द्रव्य—पर्याप्ति हैं उनसे बने हुए शरीर को पर्याप्त अर्थात द्रव्य शरीर कहते हैं। वह पर्याप्त शब्द चौदह गुणस्थानों के सम्बन्ध से मनुष्य के ही साथ प्रत्येक सूत्र में है, मनुष्यिणी के साथ नहीं है। इससे स्पष्ट है कि द्रव्य ही के मनुष्य १४ गुणस्थान होते हैं। द्रव्य स्त्री के नहीं होते।

द्रव्यमनुष्य भाववेद की अपेक्षा कैसा भी वेद रखता हो परन्तु चौदह गुणस्थानों की प्राप्ति करेगा तो उसको वह द्रव्यवेदसे ही होगी। द्रव्यस्त्री या द्रव्य-नपुंसक, भावपुरुष होने पर भी १४ गुणस्थान प्राप्त नहीं कर सकता। यह पर्याप्त शब्द होने, न होनेका अभिप्राय है।

अर्थात् द्रव्यस्त्री भाव की अपेक्षा पुरुष भी भले हो जाय, परन्तु उसका द्रव्यवेद तो स्त्री ही है। द्रव्य-वेद स्त्री होने से उसके पांचवें गुणस्थान से ऊपर का गुणस्थान नहीं होता। अतः द्रव्यवेद की मुख्यता से कहो या गति की मुख्यता से कहो दोनों का अभिप्राय एक ही है।

सूत्रों में जिस जगह श्री वीरसेन स्वामी ने पर्याप्त शब्द देखा है वहां द्रव्यलिंग में ही व्याख्या की है और जहां पर्याप्त शब्द नहीं देखा है वहां भावलिंगमें ही व्याख्या की है जो कि यथार्थ है। क्योंकि शरीर सम्बन्ध से पर्याप्त ही द्रव्य है दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इस लिये श्री पुष्पदन्त भूतबली आचार्य ने सूत्रों में पर्याप्त शब्द को रखकर गुणस्थानोंका नियम रक्खा है। और श्री वीरसेनादि दूसरे आचार्यों ने स्पष्टता के ख्याल से उसके लिये द्रव्य शब्द रखकर गुणस्थानों का नियम रक्खा है। अतः श्री पुष्पदन्त और भूतबली आचार्य और वीरसेन स्वामी आदि आचार्योंका अभिप्राय एक ही है। जुदा कोई अभिप्राय नहीं है।

चौदह गुणस्थानों के साथ केवल मनुष्यिणी लिखने का अभिप्राय यह ही सूचित करता है कि भाववेद का वैषम्य भी होता है। नहीं तो मनुष्यिणी के साथ पर्याप्त शब्द न होने से भावस्त्री को छोड़कर इसे दूसरा क्या समझा जाय। यदि भावस्त्री का सर्वथा द्रव्यस्त्री से ही सम्बन्ध होता तो वहां चौदह गुणस्थानों के विधान में पर्याप्त मनुष्यिणी (द्रव्यस्त्री) का ही कथन सूत्रकार करते, क्योंकि आपके मत से 'अपने द्रव्यको छोड़ कर अपना भाव उल्लंघन करता ही नहीं है।' परन्तु सूत्रकार ने पर्याप्त मनुष्यिणी न लिखकर केवल मनुष्यणी ही लिखा है। उसका तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि भाव कभी कभी अपने द्रव्य लिंग को छोड़कर दूसरे द्रव्यलिंग के साथ भी रहता है, इस लिये वेद-वैषम्य में भी सूत्रकार और टीकाकार तथा अन्य आचार्य एक मत ही हैं।

द्रव्यस्त्री यदि मोक्ष जाने की योग्यता वाली होती तो तत्वार्थसूत्रकार श्री उमास्वामीने जैसे "स्त्री" परीषह मानी है, वैसे ही एक 'पुरुष' परीषह भी मानते। परंतु उनने वह मानी नहीं। इसी लिये परीषह गणना-विधायी सूत्र में उसका उल्लेख भी नहीं किया। इस लिये तत्वार्थसूत्रकार उमास्वामीका मत भी द्रव्यस्त्रीको मोक्ष न होने में स्पष्ट है। जो कि पुष्पदन्त, भूतबली, वीरसेन, नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती आदि आचार्यों का मत है।

वहां षट्खण्डागम सम्बन्धी चौदह गुणस्थान-विधायी सूत्रों के प्रकरण में भावस्त्री को गौण होनेसे केवल द्रव्यमात्र की अपेक्षा से है। अर्थात् भावस्त्री उपेद्य है क्योंकि छठे गुणस्थान से लेकर नवमे गुण-स्थान तक उसकी सत्ता है परन्तु वह अफलोदयी है। इस लिये वह द्रव्यपुरुष सामर्थ्य की बाधक नहीं है। फिर आगे के गुणस्थानों में तो उसका सर्वथा अभाव ही है। अतः यह द्रव्यपुरुष सामर्थ्य ही उत्तम संहनन की सूचक है। जिसकी कि प्राप्ति पुरुष शरीर को ही होती है, स्त्री और नपुंसक शरीर को नहीं होती।

सत्प्ररूपणा के ९३ वें सूत्र में जो सम्पादकीय 'संजद' टिप्पणी लगाई गई है वह धवलाका अशुद्ध पाठ देखकर निर्वृत्ति शब्द के अर्थपर ध्यान न देकर व पूर्वापर विचार न करके ही लगायी गयी है।

उसका विशेष विस्तार से स्पष्टीकरण मेरे पिछले लेख में है। इस विषय में षट्खण्डागम के इस ९३ वें सूत्र की रचना और दूसरे मनुष्यणी के लिये

१४ गुणस्थान-विभावी सूत्रोंकी रचना भी यह प्रकाश डालती है कि इस सूत्र में 'संजद' शब्द न होना चाहिये। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

सत्प्ररूपणाद्वार में जो योगप्ररूपणा है उसका सूत्र—सम्मामिच्छाइट्ठि संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥६३॥

इस सूत्र की रचना में पर्याप्त स्त्रीके जितने गुणस्थान होते हैं वे अलग २ नाम पूर्वक गिनाये हैं। यदि यहां इन गुणस्थानों से अधिक गुणस्थान द्रव्यस्त्री के संभवित होते तो ग्रन्थकार इस सूत्र का निर्माण 'मणुस्सिणीसु सासणसम्माइट्ठि पहुडि जाव अजोगकेवलित्ति दव्वपमाणेण केवडिया संखेज्जा ॥४८॥ दव्वपमाणाणुगमं गदं। पमाण परूवणा।

मणुसगदिए-मणुस-मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि पहुडि जाव अजोगकेवली केवडि खेत्ते लोगस्स असंखेज्जदिभागे ॥११॥ खेत्त परूवणा।'

इत्यादि सूत्रों की पद्धति अनुसार करते। ऐसा करने में सूत्र में अक्षर और शब्द थोड़े होने से सूत्र का जो लक्षण है वह भी महत्वशाली होता। परन्तु ६३ वें सूत्र का इस पद्धति से निर्माण किया नहीं। इससे भी स्पष्ट मालूम होता है कि द्रव्यस्त्री के जितने गुणस्थान सम्भवित हो सकते हैं उतने ही सूत्रकारने गुणस्थान गिनाये हैं। नहीं तो यहां भी सूत्रकार 'सम्मामिच्छाइट्ठि पहुडि जाव अजोगकेवली णियमा पज्जत्तियाओ' ऐसा सूत्र निर्माण करते। परन्तु यह सूत्रकारने किया नहीं। अतः इस निर्माण पद्धति के भेद से भी यही बात सिद्ध होती है कि सूत्रकार के मत से द्रव्यस्त्री के आदिके पांच ही गुणस्थान होते हैं

'पर्याप्त स्त्रीका हो द्रव्यस्त्री अर्थ है' ऐसी श्री वीरसेन स्वामी की स्पष्ट मान्यता—

सम्मामिच्छाइट्ठि-इत्यादि ६३ वें सूत्र के भाष्य की जो 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेदिति चेन्न' यह पंक्ति है। उसमें 'निर्वृत्ति' शब्दका अर्थ जो 'मुक्ति' किया गया है वह भ्रमात्मक है। कारण कि कोषमें 'निर्वृति' शब्दका अर्थ मुक्ति होता है, न कि 'निर्वृत्ति' द्वित्वतकारवाले 'निर्वृत्ति' शब्दका। इसका अर्थ तो 'निष्पत्ति' होता है। तथा 'इति चेन्न' शब्द के 'न' शब्द का सम्बन्ध आगाड़ी के वाक्य 'सवासस्त्वाद्' इत्यादि शब्दके आदि में होने से भाष्य का अर्थ इसी आर्ष सूत्र से 'द्रव्यस्त्री की निष्पत्ति' सिद्ध है।

अर्थात् सूत्रमें 'पज्जत्तियाओ' शब्द आया है उसमें भाष्यकार वीरसेन स्वामी ने दो बातें सिद्ध की हैं। एक तो स्त्री की अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व नहीं होता। यह बात 'हुण्डावसर्पिण्यां' इत्यादि भाष्य से सिद्ध होती है। और 'अस्मादेवार्षाद्' इत्यादि आगे की पंक्ति से यह सिद्ध किया है कि इसी आर्ष सूत्र के 'पज्जत्तियाओ' शब्द का 'द्रव्यशरीर' अर्थ है। वास्तवमें देखा जाय तो यह अर्थ ठीक है क्योंकि पर्याप्तियां पुद्गल द्रव्य ही तो हैं। अब सब भाष्य का संयुक्त अर्थ नीचे लिखे

प्रमाण इस प्रकार है—

'अस्मादेवार्षात् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेत्' इसी आर्ष-प्रणीत प्रमाण से द्रव्य-स्त्री की पर्याप्ति सिद्ध है। अर्थात् इस सूत्र के 'पज्जत्तियाओ' शब्दका अर्थही 'द्रव्यस्त्री' होता है। भाष्यकार द्वारा ऐसा अर्थ करने से शंका-कार कहता है कि—

'इति चेत्' यदि ऐसा है तो 'न सवास-स्त्वात् अप्रत्याख्यान-गुणस्थितानां संय-मानुपपत्तेः' यानी-वस्त्र सहित होने से जो पंचम गुणस्थानी है (अर्थात् द्रव्यलिंग से भले ही वह भी पंचम गुणस्थान वाली है) उनके संयम की अनुपपत्ति (अप्राप्ति) नहीं है। कारण कि 'भावसंयमस्तासां सवाससामप्य-विरुद्धः' भावसंयम तो वस्त्र-सहित होने पर भी उनके विरुद्ध नहीं है। अर्थात् भले ही नाग्न्य रूप मुनिरूप उनके न हो परन्तु भावसंयम रूप परिणति तो उनके हो सकती है।

इस शंका का समाधान 'इति चेत्' यदि ऐसा है तो फिर आचार्य कहते हैं कि 'न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभावि-वस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः' उनके भाव-संयम नहीं होता है कारण कि भाव-असंयम का अविनाभावी वस्त्र का वहां ग्रहण है।

इस सर्व भाष्य के कथन का निष्कर्ष यह हो है कि द्रव्यस्त्री वस्त्र का परित्याग नहीं कर सकती। इस लिये उसके भावसंयम नामक छठा आदि गुणस्थान नहीं हो सकता। जहां जहां वस्त्र रहेगा वहां वहां छठा गुणस्थान न होकर पांचवां ही गुणस्थान रहेगा। इस भाष्य की विशद सत्य व्याख्यासे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो सूत्रकार का मत है वह ही टीका-कार वीरसेन स्वामी का मत है।

मैंने पहले लेख में इसी बात को सिद्ध किया है कि धवला के सम्पादकों द्वारा जो 'निर्वृत्ति' शब्दका 'मुक्ति' अर्थ किया गया है उसके आश्रय को लेकर ही सिद्ध किया है उस दृष्टि से वह समाधान भी प्रकृत वस्तु का ही अनुकरण करता है परन्तु 'निर्वृत्ति' शब्द का 'मुक्ति' अर्थ होता नहीं है इस लिये यह उप-युक्त परिशिष्ट भाग का समाधान ही सत्य-वस्तु प्रदर्शक है।

पहली मान्यता

श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने शिवभूति और शिव-कुमार को जो भावश्रमण लिखा है उसका तात्पर्य सिर्फ अध्यात्मदृष्टि को लक्ष्य करके है, वे दोनों यद्यपि ग्यारह अंग और १४ पूर्व के ज्ञाता न थे, परन्तु तुषमाष की भिन्नता के समान शरीर व कर्मसे आत्मा की भिन्नता का अनुभव करते हुए परमधाम जो शिव है उसको प्राप्त हुए।

परन्तु भावसेन नाम के मुनि अंग और पूर्व के ज्ञानी होकर भी भाव-श्रमण नहीं थे। इसका तात्पर्य यह ही है कि उनकी दृष्टि अध्यात्म-दृष्टि नहीं थी अर्थात् अध्यात्म दृष्टि के न होने से अंग पूर्व विद्याके पारगामी होते हुए भी भावश्रमण नहीं हुए।

इस विषय की भावपाहुड़ की ५१-५२-५३ वीं गाथायें यह कुछ भी सूचित नहीं करती कि ये मुनि वस्त्रसहित थे। यदि श्री कुन्दकुन्द स्वामी के मत से वस्त्रसहित होते हुए भी भाव से मोक्ष प्राप्ति होती तो फिर वे मोक्ष-साधन में अर्थात् अचेलक लिंग का ही जोर से विधान क्यों करते? जैसा कि उनने बोध-पाहुड़ की ५१ वीं गाथा में प्रव्रज्या के रूप से सूचित किया है।

तथा—सूत्रपाहुड़ की सातवीं गाथा से सम्बन्ध रखने वाली १० वीं, १३ वीं, १७ वीं, १८ वीं, २३ वीं गाथाओं के प्रकरण में मोक्ष के लिये अचेलकलिंगादी का विधान किया है।

यदि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी सवस्त्रलिंग से ही भाव-शुद्धि के द्वारा मोक्ष का विधान करते तो यह सर्व उपर्युक्त निषेध-विधानका कथन व्यर्थ जाता, या पूर्वापर विरुद्ध पड़ता। परन्तु ऐसी बात इतने बड़े आचार्य के कथन में हो नहीं सकती।

और भी देखिये वहीं पर दर्शन पाहुड़ की गाथा १४-१८-२४-२५-२६ के प्रकरण में भी यह ही बात है कि नग्न स्वरूप से स्थित होकर जो भाव-श्रमण अध्यात्म रस का रसिया है वह ही सिद्धि को प्राप्त करता है।

दूसरी मान्यता में आपने जो 'यदि वस्त्र धारण करके भी भाव संयमी हो सकता है' ऐसा लिखा है उसका ऊपर के कथन से समाधान हो जाता है।

अब रही स्त्रीमुक्तिकी बात सो उसका खण्डन भी सूत्र पाहुड़ की २४-२५-२६ वीं गाथाओं से हो जाता है। कुन्दकुन्द महाराज 'इनको प्रव्रज्या (महाव्रत-चर्या) कारण विशेषों से नहीं होती है'। ऐसा लिखते हैं। जब इनको प्रव्रज्या ही नहीं हो सकती तो उन्हें मोक्ष कैसे हो सकता है? इसी लिये उनका जो व्रत है वह उपचार से महाव्रत है। उनकी आर्यिका संज्ञा है वह ऐल्लक की आर्य संज्ञा के समान है। आर्यिका वस्त्र-सहित होने से उत्कृष्ट श्राविका

ही है, जैसे ऐल्लक उत्कृष्ट श्रावक है। आर्यिका को गणिनी तो इस लिये कहा जाता है कि स्त्रियों में इससे ऊंचा पद उससे दूसरे का है नहीं। पुरुषों में तो ऐल्लक से ऊंचा पद मुनि का है इस लिये ऐल्लकको गणी न कहकर मुनि को ही गणी कहा जाता है।

श्राविका संघ से आर्यिका संघ की पृथक् व्यवस्था का यह उत्तर है कि स्त्रीपर्याय में आर्यिका से ऊंचा दर्जा न होने के कारण सबसे ऊंचे दर्जे वाले का स्त्रीपर्याय में एक संघ जुदा और उससे नीचे दर्जे वाले का दूसरा जुदा संघ होता है। इस तरह से व्यवस्था बन जाती है। परन्तु पुरुषों में यह व्यवस्था ऐल्लक की और उससे नीचे दर्जे के श्रावकोंकी अपेक्षा नहीं बन सकती, क्योंकि पुरुषों में ऐल्लक से ऊंचा दर्जा मुनिराज का मौजूद है। इसलिये ऐल्लक श्रावककी व्यवस्था और ऊपर मुनिकी व्यवस्थाही बनेगी।

तीसरी मान्यता का जवाब विशद रीति से पं० मक्खनलाल जी, पण्डित पन्नालाल जी, पं० मक्खनलाल जी के व मेरे पूर्व लेखों है।

इस मान्यता में आप जो लिख रहे हैं कि "पुद्गल विपाकी नाम कर्म में वेदोदय की सत्ता बिना पुरुष व स्त्रीलिंगों की रचना की क्षमता नहीं है, क्योंकि ऐसी पृथक् प्रकृतियां अंगोपांग नाम कर्म में है ही नहीं" इसका समाधान सिर्फ इतना ही है कि अंगोपांग का उदय अपने सजातीय शरीर नाम कर्म के उदय से पृथक् नहीं है, परन्तु विजातीय से भी सर्वथा पृथक् नहीं है। इस नियम का विघटन तो विजातीय लिंग के साथ वेद-वैषम्य से स्पष्ट है। क्योंकि अनेक जगह स्त्रीवेद का उदय गुदा द्वारा व्यभिचार कराने आदि के कार्य से प्रसिद्ध है। दूसरे वेदोदय का स्थान मन है। क्योंकि वेदोदय का नाम 'मनोभू' कामदेव है। इसलिये वेदोदय के लिये द्रव्यलिंग हो यह बात भी नहीं। अर्थात् वेदोदय तो मनके अवलम्बन से ही होता है। ऐसा होते हुए भी उसकी शांति वैषम्य से भी होती है। इसके प्रत्यक्ष दृष्टान्त सर्वांग स्फुरण और उसके अनंग द्वारा काममंथन-शान्ति-विधायी प्रकार हैं।

आगे आप जो यह लिख रहे हैं कि 'नामकर्म की कोई भी प्रकृतियां अपने कार्य में सर्वथा स्वतन्त्र व अन्य-कर्म निरपेक्ष नहीं हैं।'

(समाधान)—परन्तु ऐसा सर्वथा नहीं है। कारण कि आनुपूर्वी का उदय है, वह किस कर्मोदय—सापेक्ष है? यदि गति कर्मोदय-सापेक्ष है तो प्रथम वह सजाति कर्मोदय सापेक्ष है, क्योंकि दोनों गति और आनुपूर्वी नामकर्म ही हैं। थोड़ी देर के लिये हम सजाति की उपेक्षा भी कर दें, गति कर्मोदय—सापेक्ष ही मान लें तो फिर आपने जो यह लिखा है कि—'गति का उदय आयुकर्म के अनुसार ही होगा' इस नियम का विघटन विग्रह गति में हो जाता है कारण वहां आयुकर्मोदय नहीं है।

आगे आपने जो यह लिखा है कि 'जातिका उदय मति ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम का ही अनुगामी होगा' यह लिखना भी ठीक नहीं है। कारण कि मति ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम तो विग्रह गतिमें भी होता है, परन्तु वहां तो जाति नामकर्म के उदय से रचना नहीं है। तथा एकेन्द्रिय और विकलत्रय के मति ज्ञानावरणीय क्षयोपशम तो है परन्तु इन्द्रियों की पूर्णता नहीं है और मतिज्ञान के साथ श्रुतज्ञान हमेशा ही रहता है। कारण कि एक समय में मति और श्रुत ये दो ज्ञान हमेशा साथ ही रहते हैं। इस

लिये एक इन्द्रिय विकलत्रय और असंज्ञी [illegible] श्रुत [illegible] कर्म का क्षयोपशम होनेसे श्रुतज्ञान तो है परन्तु उसके विषय का ग्रहण कराने वाला द्रव्य मन वहां नहीं है। अतः आपका कहना जो 'गति-नामकर्म का उदय मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोप-शम का अनुगामी होगा' यह सिद्धान्त—विरुद्ध कथन होने से केवल आपकी मनोनीत असत्—कल्पना का विषय है।

दूसरे जब कषायोदय होता है उस समय सर्व शरीर में विकृति हो जाती है। इसी तरह जब वेदो-दय होता है तब भी सारा शरीर व्याकुलित होने से विकृत हो जाता है और मन पर विशेष विकृति का परिणाम नजर आता है उस समय वह व्याकुलता-जन्य विकृति जिस किसी भी मार्ग से शान्ति प्राप्त करती है। बाहुल्य से तो नियत लिंग मार्ग से ही उसकी उपशान्ति होती है परन्तु वैषम्यमें वह नियति का नियम भी नहीं है। ये सब शास्त्रोक्त कथन हैं और लोक में दृष्टिगोचर होने से प्रसिद्ध भी हैं।

छठे आदि ऊपर के गुणस्थानों में परिणामों में विशेष विशेष उपशांति होनेसे केवल सूक्ष्म अफल-उदयमात्र कार्य शेष रह जाता है। अप्रमत्तादि स्थानों में आत्मध्यान का प्राबल्य होने से वेदोदय तथा कषायोदय की उद्भूति भी अनुभव गोचर नहीं हुआ करती है।

इस तीसरी आपत्तिगत दूसरी कोटि का समाधान पहले आपत्ति के पूर्व दिया जा चुका है। अर्थात् स्त्री शरीर में पुरुष वेद का उदय होने पर भी पुरुष की सी दृढ़ता, धीरता, शक्ति-विशेषता और लज्जा का सर्वथा अभाव गुण उस उत्कर्षता को नहीं पहुंचते जो कि पुरुष के शरीर संहनन-साध्य [illegible]। लिये प्राप्त होते हैं। और इसी तरह पुरुषों में वेद संबंधी वैषम्य होने से स्त्रियों के स्वाभाविक धर्म भी नहीं हो जाते कि जिनसे वे सर्वथा स्त्री हो जाते हों।

शास्त्रकारों का असली कथन तो गति-सापेक्ष है, जिसका कि अविनाभावी सम्बन्ध शक्ति को लिये हुए है। और वेददृष्टि से जो कथन है वह गतिजन्य जो शक्ति है उसकी हीनता तथा वृद्धि का साधक नहीं है। इस अभिप्राय को लेकर ही वीरसेनादि आचार्यों का कथन है जो कि पुष्पदन्त भूतबलि आचार्य के सूत्रोंमें मनुष्यों के साथ १४ गुणस्थानों के नियम के कथन में 'पर्याप्त' शब्द होनेसे है। अतः वीरसेन आचार्य का कथन षट्खण्डागम सूत्रों के अभिप्राय से एक ही पड़ता है।

चौथी मान्यता में चौथी और पांचवी शंकाओंका समाधान ऊपर इस परिशिष्ट में आ चुका है तथा मेरे ट्रैक्ट और अन्य विद्वानों के ट्रैक्टों में आगम और युक्ति से परिपूर्ण है।

असलियत में बात यह है कि धवलाकार ने नवमें गुणस्थान से ऊपर भावमनुष्यिणी को मनु-ष्यिणी नहीं माना है, वे तो नीचे के गुणस्थानोंमें तथा ऊपर के गुणस्थानों में मुख्यता से गति कथन पर ही आरूढ़ हैं। उपचार कथन से आपकी दृष्टि में उन के कथन की कचाई मालूम पड़ती है तो आप उस उपचार को छोड़कर उनके मुख्य कथन को ही मान्य कीजिये। वे वास्तव में अपने कथन से यह ही तो सूचित करते हैं कि चौदह गुणस्थानोंकी अपेक्षा से मनुष्यिणी का कथन नहीं है। भले ही नौ गुण-स्थानों तक वह कथन हो जिनका कि आगे के गुण-स्थानों में नय विवक्षासे वस्तु—स्थिति मात्र फल है, न कि कार्य की सफलता।

इस कारण की कार्यता तो वहां समझी जाती है, जहां कि कार्य निष्पत्ति तक भी उसका सम्बन्ध होता है। वस्तु-स्थिति के लिये उपचार से कथन तो जैन शास्त्रों में सर्वत्र ही आते हैं। उमास्वामी ने भी दशवें अध्याय के अन्त के सूत्र में जो सिद्धों में भेद बतलाया है वह उपचार को लेकर ही तो बतलाया है नहीं तो सिद्ध अवस्था में वास्तविक भेद ही क्या है। उपचार का जो कथन है वह काल-सापेक्ष, क्षेत्र-सापेक्षता को लिये होता है, केवल द्रव्यसापेक्ष जो कथन है वह मुख्य भाव की अपेक्षा से मुख्यता को लिये होता है।

अतः नय विवक्षा से इस कारण कार्य की सामग्री के विचार में वीरसेन स्वामी का कथन है, वह उनके कथन की पूरी पक्काई का साधक है, न कि कचाईका साधक। कचाई का साधक उन्हीं की दृष्टि में हो सकता है, जिनकी कि दृष्टि कारण कार्य के अविनाभावी सम्बन्ध पर नहीं गई है।

न्याय का यह अटल सिद्धान्त है कि कार्य के समय जो कारण उपस्थित होगा वह ही मुख्य कारण समझा जायगा। अपने वक्तव्य में श्री वीरसेन स्वामी ने आदि से अन्त तक वह ही बात बतलाई है जो कि षट्खण्डागम के सूत्रों में है। अतः उनके कथन में कचाई समझना पूर्वापर के विचार न होने का सूचक है।

श्री वीरसेन स्वामी ने गुणस्थान व्यवस्था को गति की प्रधानता से वर्णन करके उस व्यवस्था को सबल और निर्दोष सिद्ध कर दिया है। कारण कि चौदह गुणस्थानों के सद्भाव का अविनाभावी सम्बन्ध पर्याप्त मनुष्य गति के साथ ही है, वेद के साथ नहीं है, वेद का सम्बन्ध तो सिर्फ नवमें गुणस्थान तक ही है अतः आगे जो वेद का कथन है वह भूतपूर्व नय के द्वारा उपचार से ही है। जैसा कि दशमें गुणस्थानसे ऊपर शुक्ल लेश्या का उपचार से कथन है। अतः जिस व्यवस्था में वीरसेन स्वामी का कथन है, वह सिद्धान्त की जड़ की मजबूती का खास सूचक है। यदि उपचार से कथन माना ही न जाय तो फिर दशवें गुणस्थान से ऊपर शुक्ललेश्या भी न माननी चाहिये। परन्तु वह सिद्धान्त में मानी गई है, इस लिये उपचार को न माना जाय यह तो बन नहीं सकता।

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो यहां उपचारने ही सूत्रकार के कथन की जड़ को मजबूत किया है। कारण कि मनुष्यिणी के साथ पर्याप्त शब्द न होनेसे द्रव्य मनुष्यिणी तो ली नहीं जायगी। अवशिष्ट में भाव-मनुष्यिणी ही वहां ली जायगी। ऐसी हालत में मनुष्य शरीर के जीव को स्त्रीवेद होनेके सिवाय छुटकारा ही नहीं है। अतः सिद्ध है कि सूत्रकार ने जिस व्यवस्था से सूत्रों का गुम्फन किया है वह ही व्यवस्था टीकाकार वीरसेन स्वामी ने रक्खी है। अतः सूत्रकार से टीकाकार का मत विरुद्ध न पड़कर सर्वथा एक ही पड़ता है। ऐसी दशा में जब सूत्रकार ने सिद्धान्त की जड़ को ढीला नहीं किया है तो फिर सूत्रानुसारी टीकाकार पर सिद्धान्त की जड़ ढीला या निर्बल करने का आक्षेप लगाना न्यायसंगत नहीं है।

आगे आप लिखते हैं कि 'वेद की प्रधानता छोड़ कर गति की प्रधानता से कथन करना था तो वेद के अनुसार यहां भेद ही क्यों किये ?'

समाधान—वेद के अनुसार यहां भेद तो यों किये कि वेद की अपेक्षा से जो द्रव्यपुरुष में स्त्रीभाव है वह मोक्ष का अधिकारी है कि नहीं, ऐसी शंका का

का। निर्णय बिना वेद के भेद किये होता भी कैसे ? क्योंकि सूत्रकारने १४ गुणस्थान जिसके हों उन सूत्रों में केवल मनुष्यिणी शब्द लिख कर ही वेद के वैषम्य भेद की स्वयमेव सूचना दे दी। ऐसी अवस्था में टीकाकार ने जो मुख्य गौण की व्यवस्था लेकर कथन किया है वह सर्वांग से सर्वथा योग्य ही है।

आगे आपने जो 'यथार्थतः प्रस्तुत प्रकरणमें योग मार्गणा चल रही थी और काययोग के सिलसिले में इन विभागों के अनुसार कथन किया गया है। मनुष्य गति की प्रधानतामें तो गति मार्गणा में सूत्र २७ में गुणस्थान प्ररूपणामें किया जा चुका है। वेदमार्गणानुसार प्ररूपण आगे के सूत्र १०१ आदि में किया गया है और वहां अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक ही वेदों के आधार से कथन है उससे आगे के गुणस्थान को 'अपगत वेद' कहा है।'

समाधान—यह सब लिखना आप का प्रकरण के असली स्वरूप पर लक्ष्य नहीं देने से केवल मात्र भ्रम है। कारण कि काययोग मार्गणा के प्रकरण का जो विषय है वह मनुष्य और मनुष्यिणी के शरीर को लक्ष्य करके कथन है अर्थात् यहां द्रव्य की अपेक्षा से कथन है, न कि भाव की अपेक्षासे यह कथन है। जब कि द्रव्य की अपेक्षा से कथन है तब आपके मतानुसार गुणस्थान अपेक्षा से द्रव्यपुरुष और द्रव्यस्त्री में कोई भेद नहीं है। ऐसी हालत में सूत्रकार ने दोनों के लिये अलग अलग सूत्रों की रचना क्यों की और स्त्री की पर्याप्त दशा में सम्यग्-मिथ्या-दृष्टि तीसरा और असंयत सम्यग्दृष्टि चौथा ये दो गुणस्थान अपर्याप्त मनुष्य के समान क्यों नहीं लिखे। सूत्रकार के सूत्रोंकी इस प्रकारकी शैली होनेसे स्पष्ट है कि द्रव्यस्त्री का दर्जा द्रव्यमनुष्य के बराबर का नहीं है।

इसी बात को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने द्रव्य-पुरुष और द्रव्यस्त्री के गुणस्थानों का पृथक् पृथक् सम्भावित रूप से वर्णन किया है। तथा ९३ वें सूत्र में जो पांच गुणस्थानों का पाठ है वह ही द्रव्यस्त्री के लिये है। जो कि सूत्रकारसम्मत पाठ है।

धवलामें जो 'अस्मादेवार्षाद्द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः सिद्ध्येदिति चेन्न' इस पंक्ति के आश्रय से जो सूत्र में 'संजद' शब्द लगाया है वह सब बलेका भ्रम का परिणाम है। कारण 'निर्वृतिः' शब्दका अर्थ जो (मुक्ति) किया है। और 'न' का सम्बन्ध आगे का वाक्य में नहीं जोड़ा है। उसका सब विपरिणाम भ्रम का कारण है। वहां पाठ किस बात की यथार्थ सूचना देता है उसका सम्बंधित अर्थ इसी परिशिष्ट में आगे लिखा गया है। उसके प्रकाश में आपकी सर्व शंकायें काफूरवत उड़ जाती हैं। असलियत में देखा जाय तो द्रव्यस्त्री को मोक्ष के निषेध में खास सूत्रकार ही सम्मत हैं। कैसे सम्मत हैं इसका विवेचन पूर्व लेख और परिशिष्ट में पर्याप्त है। आशा है उसे आप विचार कर यथार्थ निर्णय करेंगे।

चौदह गुणस्थानों की प्राप्ति गति मार्गणा में ही होती है, न कि योगमार्गणा में तथा वेदमार्गणा में। अतः मुख्य मार्गणाओं की अपेक्षा से सम्भावित गुणस्थानों का कथन मुख्यता से है। और गौणमार्गणा की अपेक्षा से गुणस्थान कथन उपचार नय के आश्रय से है। इस लिये वीरसेन स्वामी के कथन में कहीं सूत्र से विरुद्ध कोई भी दोष नहीं आता। अतः उन का कथन सूत्रकार के मत से सर्वथा मिलता हुआ सम्बद्ध है, इस लिये दोनों का एक ही सिद्धान्त होने से दोनों एकमत हैं।

इसी चौथी मान्यता में आपने अपने मत की

युक्ति का जो दृष्टान्त दिया है वह दृष्टान्ताभास है। क्योंकि उस दृष्टान्त की प्रकृत कथन के साथ कोई भी संगति नहीं है। कारण कि प्रथम वर्ग तो जो वेद-मार्गणा सहित गति मार्गणा है उसमें नौ पुलाकपन नौ ही गुणस्थान हैं। फिर उसके आगे केवल गति मार्गणा है, वहां पांच पुलाकपन पांचही गुणस्थान हैं। उसमें पहली श्रेणी है, वह मिश्रण भाग को लिये हुए है। परन्तु व्याम में पहली श्रेणी मिश्रण भाग को लिये हुए नहीं है। अतः प्रकृत विषयमें यह पुलाकका दृष्टांत लागू न होने से दृष्टांताभास है।

विशेष स्पष्टीकरण—आपके दृष्टांतमें असमानता के दो भेद हो जाते हैं, इस लिये वहां एक वस्तु के दो भेद हैं। परन्तु दार्ष्टान्त में दो मिश्रित निराली बातें हैं। अतः एक का नीचे सम्बन्ध छूटने से ऊपर अवशिष्ट शुद्ध एक ही अवस्था रह जाती है। इस लिये दृष्टांत में तरतम भाव है, जो कि वह एक ही वस्तु में हो सकता है, परन्तु दार्ष्टान्त में दो वस्तु होने से तरतमभाव बनता नहीं। इस लिये आपके दृष्टांत को प्रकृत विषय का अनुयायी न होने से दृष्टांताभास न कहें तो और क्या कहें।

——————

४

[भारतवर्षीय अनावश्यक जैन मासायटी, दरियागंज देहली द्वारा प्रकाशित अष्टपाहुड़ की प्रस्तावना विषयक असंबद्ध और असंगत कल्पनाओंका सहेतुक निराकरण]

इस ग्रन्थ की प्रस्तावना के लेखक श्रीमान बाबू जगन्मसा जी एम० ए०, बी० एस-सी०, आई० ई० ए० जी० पी एण्ड टी० हैं। आपने ग्रंथका अनुवाद और प्रस्तावना इंग्लिशमें लिखी है। अनुवाद का हिंदी में उल्था श्रीमान पं० पारसदास जी जैन न्यायतीर्थ ने किया है। और प्रस्तावना का हिंदी भाषा में अनुवाद श्रीमान लाला राजकिशन जी देहली निवासी ने किया है। उसके भी गद्यांश में ही अध्याय ३ गाथा १४ में जो 'स' उपसर्ग है वह पूर्व वाक्य में चला गया है, उस विषयक अशुद्धि की तरफ जो आपका लक्ष्य गया है वह सिर्फ प्रेस की असावधानीका कारण है। ऐसा ही प्रसंग १३ वी गाथा में भी आया है। उस तरफ आपका लक्ष्य नहीं गया है। अर्थ में कोई भी गलती न होने सेर्फ सि प्रेस की प्रमादता पर लक्ष्य जाना बाल की खाल निकालने के सिवाय और क्या हो सकता है।

"पं० रामप्रसाद जी की रचना में हस्तलिखित प्रतियों के मिलान का उल्लेख नहीं है" यह लिखना सुन्दर तभी होता जब कि मुद्रित प्रतिमें कुछ अशुद्धता का प्रतिभास दिया जाता। मिलान का उल्लेख करना यह विद्वान पाठकों को शुद्धि की श्रद्धामात्र से अशुद्धि की तरफ लक्ष्य न देने की असावधानता को उत्पादन देता है।

'प्रशस्ति करने पर भी ध्यान नहीं दिया।' यह वाक्य निर्हेतुक होने पर कुछ भी अपनी प्रमाण पद्धति का सूचक नहीं है।

आगे आपने जो यह लिखा है कि 'ऐसा प्रतीत होता है कि किसी व्यक्ति ने श्रुतज्ञानी शब्द की मनो-

नीत परिभाषा करने के लिये गाथा को दूसरे ही प्रकार लिख दिया है, उनका प्रयास श्रुतज्ञानी और श्रुतकेवली को समान मानना है।'

समाधान—आपके द्वारा उठाया हुआ यह विषय बोध-पाहुड़ की गाथा ६१-६२ से सम्बन्ध रखता है। उन गाथाओं के विषय को आप पूर्ण श्रुत ज्ञान का रूप न देकर सामान्य श्रुतज्ञानके रूप देने का खयाल कर रहे हैं तथा 'द्वितीय भद्रबाहु की पात्रता का सन्निवेश प्रथम भद्रबाहु में किसी ने कर दिया' यह सब इतिहासाभास सामग्री–जन्य विपर्यय-परिणति का प्रतिफल है। कारण कि वहां ग्रन्थकार-निर्दिष्ट स्व-कृति विषयक निरहंकार सूचक लघुताके साथ ग्रंथकार द्वारा अपने स्वकीय स्वरूप-प्रदर्शन विषय की तरफ आपके लक्ष्य का न आना ही यह आपकी मनोनीत कल्पना का विषय है।

भव्यसेन मुनि पांच पूर्व की कमी से अपूर्ण श्रुतज्ञानी थे, इतनी ही बात नहीं है किन्तु उनमें आध्यात्मिकता नहीं थी, इस लिये वे मोक्ष मार्ग के उद्देश्य से श्रुतज्ञानी ही नहीं थे, यह ग्रन्थकर्ता का तात्पर्य है। अध्यात्मज्ञान न होने से ही वे द्रव्य-लिंगी थे। द्रव्यलिंगी को पूर्ण श्रुतज्ञान होता ही नहीं है। यह जैन सिद्धान्त के ग्रन्थों का अभिप्राय है। उसको बिना समझे ही यद् वा तद् वा लिखना न्यायसंगत नहीं है।

द्वितीय भद्रबाहु को अंगज्ञान भी नहीं था, इस लिये उनको पूर्वभद्रबाहु की कोटि में इन गाथाओं से सम्मिलित कर दिया। अथवा 'कुन्दकुन्द स्वामी को छोड़कर किसी दूसरे की कृति रूप गाथायें हैं।' ये सब आपके बेपाए के निर्हेतुक इतिहासाभास–जन्य खयालात हैं।

जिस ताम्रपत्र के उल्लेख से श्री कुन्दकुन्द स्वामी को पहली शताब्दी का माना जाता है। भला उसी ताम्रपत्र द्वारा पहली शताब्दी से पहले का उन्हें क्यों न माना जाय? जब कि उस ताम्रपत्र में पहली शताब्दी के निश्चित होने के मुख्य विषय को लिये हुए कोई खास कारण ही निर्दिष्ट नहीं है। यदि वह कोई खास कारण है तो उसका स्पष्ट उल्लेख करना चाहिये। केवल अटकलपच्चू की असंगत गोल-माल से स्वतः आचार्य द्वारा लिखे गये, उनके स्वतः के परिचय को असंगत या क्षेपक ठहराना कहां तक साध्य की सिद्धि का विधायी है, इसका लेखक महानुभाव अपनी न्याय तराजू में स्वयं माप करने के अधिकारी हैं।

श्रीमान लाला जगत्प्रसादजी साहब एक सामान्य-वादी पुरुष प्रतीत होते हैं। कारण कि एक सामान्य-वाद की हवा ही ऐसी प्रचलित हुई है कि उनको विशेषवाद अच्छा ही नहीं लगता है। इस विषयका परिचय सूत्र पाहुड़ की २४-२५-२६ वीं गाथाओं का आपके द्वारा अनुवाद का नहीं होना ही सूचित करता है। अंग्रेजी प्रस्तावना के अनुवादक लाला रामकिशन जी को यह बात खटकी है, इस लिये पत्र ६ में उनने लिखा है कि २४-२५-२६ वीं गाथायें अंग्रेजी अनुवाद में छोड़ दी गई हैं जिनकी कि व्याख्या की आवश्यकता है इत्यादि।

मालूम होता है कि लाला जगत्प्रसाद जी ने जो अनुवाद और प्रस्तावना लिखी है वे दूसरे सामान्य-वादियोंके लेखों को अवलम्बन करके ही शायद लिखी है। यदि उसमें स्वावलम्बन है तो जान बूझ कर सामान्यवाद की स्थिति कायम करने की अभिलाषा का विषय है, यह प्रतीति-कर प्रतीत होता है। श्रीमान प्रोफेसर नेमिनाथ आदिनाथ जी उपाध्याय

का० [illegible] ने अपनी समझके अनुकूल जिन पाहुड़ की गाथाओं से आ[illegible] में सवस्त्रमुक्ति, द्रव्यस्त्री, नीच कुलोत्पन्न का निषेध किया है और उनको क्षेपक और ग्रन्थ को संग्रह बतलाया है। यह भी सामान्यवाद की भेदविधानका ही परिणाम है। कारण कि यह कार्य कारण के सम्बन्ध पर ध्यान न देना है।

इनने सांगोपांग जैन सिद्धान्त का सम्बन्ध गुण-स्थान और कर्मसिद्धान्त विषय का सांगोपांग जैन पद्धति से मनन नहीं किया है, नहीं तो यह तद्विषयक कार्यकी योग्यताका विषय उनकी बुद्धिसे बाह्य कदापि न होता।

जब किसी एक शुद्ध संघ या कुटुम्ब में दूषित वातावरण उपस्थित हो जाता है तब उसमें सदोष और निर्दोष अंशों के जुदा होने का मौका उपस्थित हो जाता है। निर्दोष अंश का नेतृत्व अपने अंश को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये जो पहले आलोचना करता है वह ही आलोचना का विषय हमेशा रहता है। क्योंकि वह आलोचना का विषय सत्य सिद्धान्तारूढ़ है। उसके विषय में यह कल्पना करना कि उस आलोचना का प्रथम अवस्था-विषय कड़ाई को लिये हुए नहीं होकर पीछे वह सफलता से राग-द्वेष का विषय बन कर अपने विषय को तीव्रता में परिणत हो जाता है, यह कल्पना केवल भ्रमात्मक है कारण कि निर्दोष सत्यांश सिद्धि की हेतुता में हमेशा ही आदि से अन्त तक जो विषय रहता है वह ही अपने कार्य की सफल उन्नति में कायम रहता है।

मान लो कि थोड़ी देर के लिये अचेलक अंशने अपनी दिगम्बरता कायम रखने के लिये सचेल अंश की कड़ी निषेधता रूप आलोचना की परन्तु मोक्षमार्ग में निषेध के लिये शूद्र वर्ग को क्यों लिया। क्या वे लोग नग्न होकर मोक्ष को नहीं साध सकते थे? इस लिये मानना होगा कि इस दिगम्बर अनेकान्त में जो बात है वह योग्यता की मुख्यता को लेकर सचाई के मार्गपर स्थित है। उसमें आद्य समय की नर्माई का और पिछले समय में कड़ाई का खयाल करना उचित नहीं है।

षट्खण्डागम सूत्र जो कि सामान्यवादियों की दृष्टियों में बहुत पुराना माना जाता है, उसमें द्रव्य-स्त्री के लिये पांच ही गुणस्थान लिखे हैं, वह अचेल-कता को ही मोक्ष की सिद्धि में प्रदर्शित करता है। इस लिये प्राचीनता के सवाल में वह ही योग्यता दृष्टिगोचर होती है।

इस विषय में एक बात और भी विचार करने की यह है कि जो साध्य सुगम साधनों से सिद्ध हो सकता है उसके लिये फिर कठिन साधनों का ही विधान निर्माण करना यह विचारणा से बाह्य का विषय है। नीति का सिद्धान्त है कि 'प्रयोजनमनु-द्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'।

दिगम्बराचार्यों की जो कठिन दिगम्बर-वृत्ति है वह सत्यमार्ग की कृति दिखलाने में राग-द्वेष परि-णति को लिये नहीं हो सकती। किंतु सत्यमार्ग की स्थिरता के लिये ही हो सकती है। आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी ने जो अचेलकत्व आदि विषय की गा-थायें लिखी हैं, वे उनके स्वतः दिगम्बरत्व की सूचक हैं और सत्यमार्ग स्थिति की साधक हैं—उनके विषय में जो क्षेपकत्व की कल्पना है वह पूर्वापर परिस्थिति की गहरी विचारणा नहीं।

दर्शनपाहुड की २४ वीं गाथा को आपने क्षेपक नहीं लिखा है जिसका कि स्वरूप आगे दर्शनपाहुडकी गाथाओं से ऐक्यभाव का सूचक है। इस पूर्वापर-

विरुद्ध समालोचना को किस तरह समुचित कहा जा सकता है ?

दर्शनपाहुड की २४ वीं गाथा के आगे की कोई भी ऐसी गाथा नहीं है जो असंबद्ध हो, फिर भी उन को असंबद्ध लिखा जाय तो वह भूल-भरा कार्य है। हां वे गाथायें सामान्यवाद की तो अवश्य ही बाधक हैं इसी लिये उन्हें असंबद्ध समझा हो तो यह दूसरी बात है।

प्रस्तावना लिखने वाले महाशयने जो यह लिखा है कि 'श्री कुंदकुंद से पहले श्री भद्रबाहु प्रथम ने अंगरचना को स्वीकार नहीं किया' इसका तात्पर्य सिर्फ यही निकलता हो कि अंगों का विस्तार इतना बड़ा है जो कि वह शब्द रचना की शक्ति से बाह्य है अतः ग्रंथरूप में अंग रचना असंभवतामें कैसे न हो, इसका तो सिर्फ धारण करना ही हो सकता है जो कि श्रुतावरण के अपूर्व क्षयोपशम रूप विशिष्ट बुद्धि में हो सकता है। अर्थात् अक्षर रूप लिपि में वह नहीं आ सकता। ऐसा यदि 'अंग रचना को स्वीकार नहीं किया' शब्द का तात्पर्य हो तो ठीक है। और यदि इस वाक्य का यह तात्पर्य हो कि भावात्मक अर्थ रचना कोई वस्तु ही नहीं थी तथा वे ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पाठी ही नहीं थे तो यह लिखना सिद्धान्त और जैन संस्कृति के विरुद्ध अनैतिहासिकता का है। कारण कि जैन परम्परा रूप संस्कृति आप की इस उक्त सम्मति से सम्मत नहीं है।

दर्शनपाहुड की २७ वीं गाथा सिर्फ असंयत की निन्दापरक है इसका तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि कुलीन सुजाति भी कोई हो, परन्तु संयत न हो तो पूजनीय नहीं है। अर्थात् उन कुलीनादिक की संयत होने से शोभा है। इसका तात्पर्य यह ही है कि जो संयत होगा वह कुलीन और सुजाति ही होगा, न कि अकुलीन शूद्र। यदि कुल एवं सुजाति श्रेष्ठ न होते तो आचार्य एक गाथा ऐसे भाव की लिखते कि 'संयत यदि चांडाल होय तो वह वंदनीय है' परन्तु आचार्य ने ऐसे भाव की कोई भी गाथा नहीं लिखी. इससे कैसे समझा जाय कि नीच चांडालादि भी संयत होता है ?

सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध से चाण्डाल को समन्त-भद्र स्वामी ने—

'सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥

इस रत्नकरण्ड के श्लोक से 'देव' कहा है। उस का अर्थ यह नहीं है कि वह अर्हत या सिद्ध हो गया। किन्तु वह देव होने के मार्ग में लग गया है। यहां सिद्धान्त-सम्मत आचार्य का अभिप्राय भावि नैगम-परक है। अर्थात वह मोक्षमार्ग के प्रथम पाये पर प्रवेश कर गया है। कदाचित वह व्यक्ति उस पाये से फिसल भी जाता है, तथापि उसने एक बार उसे सुदृष्टि में प्राप्त कर लिया है। इस लिये वह उसपर फिर भी आरूढ़ हो सकता है। अतः इस कथन का आशय यह नहीं है कि वह संयत भी उसी शरीर से हो जाता है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि – एक अध्यात्म प्रेमी होकर दार्शनिक थे, इस लिये जिन गाथाओं की उनने टीका नहीं की है उसका तात्पर्य उनने यह ही समझा होगा कि दार्शनिक विषय से इन सैद्धान्तिक गाथाओं का कुछ विशेष सम्बन्ध नहीं है तथा अचेलक लिंग से मोक्ष विधान आदि की गाथाओं का अनुवाद बिना भी अर्थ किये सैद्धांतिकोंको सुगम है। दार्शनिक दृष्टि का विषय युक्ति से सम्बध होता है, इस विषयक जो

दार्शनिकता है वह न्याय ग्रंथों में पल्लवित है ही अतएव पुनः यहां भी दार्शनिक दृष्टि का प्रवचन सिर्फ पिष्ट पेषण ही होगा। इन्हीं सब बातों का विचार कर इस स्थल में अनुवाद को अनावश्यक समझ कर ही अनुवाद का न करना मालूम पड़ता है।

ग्रन्थकार और टीकाकारों की रुचि भिन्न २ हुआ करती है। अपने पक्ष की जिन बातों में उन्हें अबाधता होती है उसी विषय को वे अपनी कृति में लेते हैं। सैद्धांतिक विषयों में सर्वत्र दार्शनिकता नहीं घटित की जाती है। मोक्ष में द्रव्यस्त्री-निषेध आदि के जो विषय हैं वे मुख्य सैद्धांतिक होने से दार्शनिक विषय में वे वैसे इस प्रकरण में उपयोगी नहीं है। अतः उनकी टीका नहीं की। इस लिये 'ये गाथायें ग्रंथका अंग नहीं हैं' यह विचार आपका सुसंगत कैसे समझा जाय ?

आठवां ग्रंथ जो शीलपाहुड (प्राभृत) है उसकी २६वीं गाथा को प्रस्तावनाकार ने जो अप्राकरणिक और असंगत लिखा है ठीक नहीं। देखिये—

सुणहाण गद्दहाण य गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो,
जो सोधन्ति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहि।

इसमें 'सुणहाण' की संस्कृत छाया 'शुनां' और अर्थ 'कुत्तों' किया है वह बिलकुल भूलभरा है कारण कि 'सुणहाण' के अर्थ–सुख और ज्ञान होंगे अथवा 'शुभज्ञान' यह अर्थ होगा। तथा 'गद्दहाण' की छाया 'गर्दभाणां' और अर्थ गधों किया है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'गद्दहाण' की छाया 'गृद्धिहानं' और अर्थ-'गृद्धि यानी आकांक्षा उसकी हानि' यह होगा। जब इन दोनों पदों का ऐसा अर्थ होगा तब फिर गाथा का समष्टि अर्थ ऐसा होगा कि—

"शुभज्ञान या सुख और ज्ञान तथा गृद्धि की हानि तो गो पशु स्त्रियों में भी देखी जाती है। परन्तु जो चतुर्थ मोक्ष पुरुषार्थ को साधते हैं वे ही सर्वजनों के प्रेक्ष्यमान अर्थात् आदरणीय होते हैं।"

यदि यहां पर 'गद्दहाणं' की छाया 'गर्दभाणां' करके 'गधों' ही अर्थ करना हो तो उस गर्दभ को भी पशु और महिला के साथ सम्बन्ध जोड़ कर यह अर्थ हो जायगा कि "गधे गो पशु स्त्रियों में भी सुख (संतोष) ज्ञान, शुभज्ञान देखा जाता है परन्तु जो मोक्ष को साधन करते हैं वे आदरणीय होते हैं।" ऐसे गाथा का असली अर्थ हो सकता है।

जब ऐसा अर्थ होता है तो यह श्लोक न अप्राकरणिक ही पड़ता है और न असंगत ही पड़ता है, कारण कि इसकी पूर्वगाथा में शील का मुख्य फल निर्वाण लिखा है अतः यह गाथा पूर्व गाथा की पुष्टि की सूचक है। इस गाथा में यह भाव दिखलाया है कि स्वर्गादि सुख का कारण शील है वह तो पशु आं में भी हो सकता है अतः उस शील से क्या प्रयोजन, शील से तो उसी से प्रयोजन है कि योग्यता होने पर जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो।

इस गाथा में ऐसे अभिप्राय को लिये जो जो शब्द आया है उससे स्पष्ट सूचित होता है कि ग्रन्थकार के मत से द्रव्यस्त्री को छठा आदि गुणस्थान नहीं होता है और न मोक्ष ही होता है।

इस लिये स्पष्ट है कि प्रस्तावनाकार ने ग्रन्थ की इस विषयक जिन गाथाओं को क्षेपक लिखा है वह पूर्वापर का अच्छा विचार न करके ही लिखा है। अतः उनकी भूमिका का यह प्रकरण सब ही असंगत और उपेक्ष्य है।

इस भूमिका वाली अष्टपाहुडकी प्रतिमें गाथा का 'सुहणाण' पाठ है परन्तु दूसरी प्रतियों में 'सुणहाण'

पाठ है उसकी छाया 'शुनां' होकर कुत्ता अर्थ हो जाता है ऐसी हालतमें कुत्ते को गधेके समान सम्बन्ध जोड़ अर्थ यों है—'कुत्ता गधा गो पशु महिलाओं को भी शील की प्राप्ति तो हो जाती है परन्तु उससे क्या उन्हें तो मोक्ष की अयोग्यता से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। यदि योग्यता होने पर शील धारण कर मोक्ष प्राप्ति की जाय तो वह शील धारण का सच्चा फल है।' इस गाथा में नीचे की गाथा से शील की अनुवृत्ति का सम्बन्ध है इस लिये इस ऊपर की गाथा में शील के अर्थ का सम्बध हो ही जाता है।

केवलज्ञान के विषय में-श्री कुन्दकुन्द स्वामी की प्रवचनसार की १४७वीं गाथा का और उसके आगे की दो गाथाओं का तथा नियमसार की १५९वी गाथा का जो अर्थ जिन नयों की विवक्षा में अष्टपाहुड़ के प्राक्कथन में लाला जगन्नप्रसाद जी की प्रस्तावना के आश्रय से किया गया है वह अर्थ इन गाथाओं का नहीं हो सकता। क्योंकि वहां व्यवहार नय से संग्रह की साधो व्यवहार नय ली गई है और 'अप्पाणं' में व्यवहार नय को आत्मा संग्रह नय के विषय को लिया है।

उसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि 'ज्ञान में विशेष पदार्थ अर्थात सब पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। और दर्शन में पदार्थ सामान्य का ही बोध होता है।' अतः गाथाओं में जिस जगह ज्ञान का कथन आया है वहां 'जाणदि' क्रिया आई है और जिस जगह दर्शनका कथन आया है वहां 'पस्सदि' क्रिया आई है अतः इन सभी गाथाओं का अर्थ हो जाता है कि जो एक अर्थात संग्रह नय विवक्षित सामान्य को जानता है वह त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थों को जानता है और जो त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थों को जानता है अर्थात व्यवहार नयाश्रित सर्व पदार्थों को जानता है वह एक संग्रहनय विवक्षित सामान्यको जानता है अर्थात भगवान् के केवलज्ञान और केवल दर्शन साथ होते हैं और एक काल में होते हैं तथा हमेशा साथ ही रहते हैं।

समस्त दिगम्बर तथा श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने ज्ञान में प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद माने हैं वे बाह्य पदार्थ के अवलम्बन की अपेक्षा से ही माने हैं। नहीं तो 'रूपिष्ववधेः' इत्यादि आर्ष-वाक्यों की चरितार्थता ही नहीं हो सकती। सत्य बात तो यह है कि आत्मानुभवन तो चतुर्थ गुणस्थान में ही हो जाता है जो कि पर-पदार्थ-निरपेक्षता से उसे प्रत्यक्ष माना है और अवधिज्ञान मनःपर्यय ज्ञान को परावलम्बन के अभाव में पर पदार्थ के ज्ञान होने से प्रत्यक्ष माना है। अब निश्चय और व्यवहार का जो विषय आप समझ रहे हैं वह इन ज्ञानों में कैसे घटित हो सकता है क्योंकि इन दो ज्ञानों का विषय तो आत्मज्ञान ही नहीं है केवल पुद्गल ही विषय है।

आप शायद इसके लिये यह कहें कि निश्चय और व्यवहार का विषय केवल क्षायिक ज्ञान में ही लगाया जा सकता है तो उसका उत्तर यह है कि— शास्त्रकारों ने वहां व्यवहार नय को अभूतार्थ कहा है और निश्चय नय को भूतार्थ कहा है। वहां ही व्यवहार को साधन (कारण) और निश्चय को साध्य ग्रन्थकार ने कहा है। परन्तु जब केवलज्ञान अवस्था हो जाती है तब वहां साध्य क्या रह जाता है? वहां तो जो साध्य पूर्व अवस्था में था वह वर्तमान अवस्था में सिद्ध हो जाता है। अतः यह स्थान निश्चय और व्यवहार का विषय ही नहीं रहता है। जब कि उस वस्तु का स्वभाव ही स्व और पर को विषय करना है

अर्थात जानना है। तो वहां अभूतार्थ का विषय ही कैसे स्थिर रह सकता है। क्योंकि स्वभाव में अभूतार्थता होती ही नहीं है।

दूसरा अभूतार्थ का अर्थ यह होता है कि जिस का भूत पदार्थ विषय नहीं हो। परन्तु केवलज्ञान में तो भूत विषय भी प्रतिभासित होता है अतः वहां अभूतार्थ इस दृष्टि में भी नहीं ठहरता। आपके अर्थ में एक को जानने का अर्थ आत्मा को जानना होता है, परन्तु आत्मा का ज्ञान तो चतुर्थ गुणस्थान में ही हो जाता है। वहां आत्मा के सर्वांशों का ज्ञान तो होता नहीं। यदि वहां आप ऐसा कहें कि जिस जगह एक के एकांश का ज्ञान होता है उस जगह एक का ज्ञान होता है और जहां एक के अनेक अंश का ज्ञान होता है वहां अनेक का ज्ञान होता है। ऐसा अर्थ होने से भेद व्यवस्था आ जाती है परन्तु भेद व्यवस्था निश्चय नय का विषय नहीं है। अतः वैसा अर्थ करने में अनेक दोष उपस्थित होते हैं। इस लिये वहां नियमेन का अर्थ निश्चय नहीं है। किन्तु नियमेन का अर्थ वस्तु की सर्व अवस्थाओं को लेकर वस्तु स्थिति रूप संग्रह नय ही अर्थ है। जिस का स्पष्टीकरण मैं ऊपर कर चुका हूं।

'प्राचीन कथाओं के अनुसार श्री भद्रबाहु प्रथम के समय दोनों सम्प्रदायों में मतभेद शुरू हो गया.' यह लिखना इस बात को सूचित करता है कि "दोनों सम्प्रदाय तो पहले से थी पर दोनों में मतभेद प्रथम भद्रबाहु के समय हुआ।" यह लिखना प्राचीन कथाओं के विरुद्ध है। क्योंकि प्राचीन कथा तो यह सूचित करती है कि श्री भद्रबाहु प्रथम के समय तक नग्न साधु संघ के रूप में तथा उनके अनुयायी गृहस्थ वर्ग के रूप में एक ही जैनधर्म था परन्तु १२ वर्ष के दुष्काल के समय शिथिलाचार के अभ्यासी कुछ साधुओं ने भद्रबाहु के स्वर्गवास के बाद वस्त्र पहन कर सम्प्रदायवाद को जन्म दिया।

'बिहार में घोर अकाल पड़ने पर श्री भद्रबाहु स्वामी का दक्षिण भारत में जाना तथा उनकी अनुपस्थिति में कुछ मुनियों का दिनचर्या के घोर नियंत्रण को ढीला करना'।

इस कथन में जो बात उन कथाओं से ली गई है वह बात अकाल के सम्बन्ध से केवल भद्रबाहु स्वामी का दक्षिण जाना आपने माना है, किन्तु उनके साथ बहुत सा संघ भी दक्षिण भारत को गया था, इस बात को आपने छोड़ दिया है और मुनियों की सच्चर्या जो दिगम्बर वृत्ति की थी उसे छोड़कर जो दिनचर्या के घोर नियंत्रण को ढीला करना लिखा है वह कथाओं का विषय नहीं है वह आपका अपना मनोनीत विषय है।

कथाओं का तो स्पष्ट उल्लेख है कि "भद्रबाहु के संघसहित दक्षिण भारत जानेके बाद भयंकर दुष्काल के प्रभाव में उत्तर भारतका जो मुनि संघ था वह दिगम्बर चर्या छोड़कर साम्बरचर्या वाला हो गया। "दुष्काल बीत जाने पर भी उस शिथिलाचारका उस साधु संघ ने त्याग नहीं किया। तब से ही श्वेताम्बर संघ चल पड़ा।" यह सब कथाओं की सच्ची बात है उसको आपने स्पष्ट नहीं लिखा। यह चित्तपर अङ्कित सामान्यवाद की परिणति का परिणाम है। यदि ऐसी मनोनीत बात न लिखी जायगी तो फिर आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी की मुख्य गाथायें जो कि उनके खास दिगम्बरत्व को सूचित करती हैं उन को क्षेपक का कैसे करार दिया जायगा। जब कि प्रस्तावनाकार उनको दिगम्बर आचार्य मानते हैं और

फिर उनकी दिगम्बरत्व कृति को क्षेपक बतलाते हैं तो फिर वे किस आधारसे उन्हें दिगम्बराचार्य सिद्ध करते हैं। यदि दिगम्बराचार्य थे तो उनकी वस्त्र-त्याग से मोक्ष-विधानकी जो कृति है वह क्षेपक भी कैसे ?

इसी तरह कुन्दकुन्द स्वामी को प्रथम भद्रबाहु का शिष्य न मानना भी अयुक्त है। जब कि कोई भी शिलालेख या प्राचीन ग्रन्थ असंदिग्ध रूप से ईसाकी पहली सदी का उनका अस्तित्व नहीं बताता और स्वतः कुंदकुंद स्वामी अपनी कलम से अपनी लघुता के साथ अपने को 'द्वादशांग ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी का शिष्य' लिख रहे हैं। फिर उनको अपनी कल्पनामात्र के आधारसे श्री भद्रबाहु स्वामीके गुरुभावमें उनके शारीरिक शिष्यपने का सम्बन्ध न स्वीकार करके आत्मिक शिष्य-सम्बन्ध स्वीकार करना यह एक निराधार कल्पना है।

यदि आत्मिक शिष्यता ही उनकी होती तो वे अपने को भद्रबाहु का ही शिष्य क्यों लिखकर, श्री महावीर भगवान का ही शिष्य क्यों न लिख देते ? परन्तु उनने वैसा लिखा नहीं। अतः मालूम होता है कि उनने अपने को जिनका शिष्य स्वीकार किया है उनके ही वे शारीरिक सम्बन्ध से ही साक्षात शिष्य थे।

तथा श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में जो उनका मन्तव्य है वह ही सच्चा मन्तव्य है, अर्थात पूर्ण द्वादशांग का जो ज्ञाता है वह ही पूर्ण श्रुत केवली है। यह पद्धति पूर्णता से भद्रबाहु स्वामी तक ही रही, बाद को उत्तरोत्तर उसका ह्रास होता गया। ह्रास मार्ग से सभी अंश उसका न चला जाय तथा ह्रास से उस आर्ष कथन की आगे स्मृति ही न रहे, इस भय से उस द्वादशांग श्रुत के आधार से उनने अपनी बुद्धि को शास्त्र-लेखन की तरफ लगाया। जिसका परिणाम आज तक अक्षुण्ण उसकी स्मृति दिला रहा है तथा सत्यमार्ग का दर्शन करा रहा है।

आगे नियमसार की गाथा देकर जो कुछ अभिप्राय प्रस्तावनाकार तथा उनके सहयोगियों ने लिखा है उनका अभिप्राय सिर्फ यह है कि वे अपनी हार-जीत का सवाल शास्त्रार्थ का सा न रखकर जो सच्ची बात थी उसे कह देते थे। वाद-विवाद उनको पसंद नहीं था क्योंकि वे निस्पृह वीतरागी सच्चे साधु थे, इस लिये उनकी जो सच्ची चर्या थी उसी का दिग्दर्शन उनने—

नाना जीवा नाना कर्म नाना विधा भवेल्लब्धिः।
तस्माद् वचनविवादः स्वपरसमयैः वर्जनीयः॥

इस नियमसार के श्लोक में सूचित किया है कि 'वाद-विवाद में परिणामों को क्लेश पहुंचता है और इससे विशुद्ध वृत्ति में क्षति आती है, इस लिये किसी को कुछ सत्यमार्ग समझना हो वह उसे सरलमार्ग से समझाना चाहिये।' श्लोक का सिर्फ अभिप्राय यही है, न कि किसी के सामने सच्चा पदार्थ भी न रखना।

आपने प्रस्तावना में जो यह लिखा है कि "स्त्री-मुक्ति के विषय पर कोई प्राचीन ग्रंथ निश्चित रूप से इस समस्या को हल नहीं करता, यदि ऐसा कोई ग्रंथ होता तो तत्वार्थाधिगम सूत्र के रचयिता स्वामी उमास्वाति इस विषय की उपेक्षा न करते। दिगम्बर सम्प्रदाय ने इस प्रश्न को युक्तियुक्त हल नहीं किया बल्कि ऐसा आशय निकाल लिया।"

इस लिखानका युक्तियुक्त समाधान इतना ही पर्याप्त है कि आपने यह बात जो लिखी है वह गहरे विचार से प्राचीन ग्रंथों का अवलोकन न करके लिखी है।

प्राचीन ग्रन्थों में जो षट्खण्डागम है उसके सत्-प्ररूपणा के ६३ वें सूत्र से तथा अन्य सूत्रों से भी यह ही बात निकलती है कि द्रव्यस्त्री को पांचवें गुणस्थान से ऊपर का गुणस्थान नहीं होता, जब ऊपर का गुणस्थान ही नहीं होता तो उसको मोक्ष भी कैसे सम्भवित है।

प्राचीन षट्खण्डागम के सूत्रों से मैंने प्रोफेसर हीरालाल जी के मन्तव्यों के समाधान में इस परिशिष्ट में यह बात अच्छी तरह सिद्ध करदी है। वहां से यह बात जान कर प्रस्तावनाकार को जो सत्य बात प्राचीन मत में है उसका निश्चय अवश्य करना चाहिये। तथा तत्वार्थाधिगमसूत्र के कर्ता उमास्वाति महाराज ने भी इस विषय की उपेक्षा नहीं की है कारण कि उनने परीषहों के सूत्र में बाईस परीषह लिखी हैं वहां 'स्त्री' परीषह का तो विधान किया है परन्तु 'पुरुष परीषह' का विधान नहीं किया है इससे मालूम होता है कि—स्त्री यदि प्रवृज्या और मोक्ष की अधिकारिणी होती तो आचार्य 'स्त्री' परीषह की तरह 'पुरुष परीषह' भी लिखते, परन्तु उनने वैसा नहीं किया है।

इससे स्पष्ट है कि तत्वार्थसूत्रकार द्रव्यस्त्री को मोक्ष होने की अधिकारिणी नहीं मानते हैं। प्राचीन आचार्यों के जो अभिप्राय होते हैं वे किसी न किसी रूप से अपनी कृति में व्यक्त कर ही देते हैं। प्रकृत में वह ही बात उमास्वाति महाराज ने अपनी इस प्रकृत सूत्र की कृति में व्यक्त की है जो कि विचारशील अन्वेषकों के लिये उनकी संकेत कृति से उस विषयक ज्ञान के लिये पर्याप्त है।

ऐसे सब उद्धरणों को लेकर जो प्रस्तावना लाला जगतप्रसाद जी ने लिखी है वह ठीक नहीं है उसमें पर्याप्त त्रुटियां हैं। अच्छा होता कि ऐसे विचार प्रस्तावना में न लिख कर अन्यत्र लिखे जाते। कारण कि प्रस्तावनागत जो विवादस्थ और अनुपयुक्त विषय है वे सर्वसाधारण की बुद्धिगत न होने विपर्यय फलप्रदायी होने से ग्रंथ के महत्व के बाधक हो जाते हैं। इस लिये पुस्तकके अंग रूप प्रस्तावना में ऐसे संदिग्ध विषय रखना उपयोगी नहीं।





[३]

क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं ॥

(ले०—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया)



हालमें श्रीमान प्रो० हीरालाल जी जैन एम० ए० अमरावती ने 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' नाम का निबन्ध लिखा है, जो गत जनवरी मास में बनारस में होने वाले अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलन के १२वें अधिवेशन पर अंग्रेजीमें पढ़ा गया और जिसे बाद को आपने स्वयं हिन्दी में अनुवादित करके एक अलग ट्रैक्ट के रूपमें प्रकाशित किया है। इस निबन्ध में खोजपूर्वक जो निष्कर्ष निकाले गये और जो सभी विचारणीय हैं उनमें एक निष्कर्ष यह भी है कि श्वेताम्बर आगमों की १० निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु द्वितीय और आप्तमीमांसा (देवागम) के कर्ता स्वामी समन्तभद्र दोनों एक ही व्यक्ति हैं—भिन्न भिन्न नहीं, और यही मेरे आज के इस लेख का विचारणीय विषय है। इस निष्कर्ष का का प्रधान आधार है, श्रवणबेलगोल के प्रथम शिलालेखमें द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी करने वाले भद्रबाहु द्वितीय के लिये 'स्वामी' उपाधि का प्रयोग और उधर समन्तभद्र के लिये अनेक आचार्य वाक्यों द्वारा 'स्वामी' पदवी का रूढ़ होना। चुनांचे प्रोफेसर साहब लिखते हैं :—

"दूसरा (द्वितीय भद्रबाहु द्वारा-द्वादश-वर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्य वाणी के अतिरिक्त*) महत्व-पूर्ण संकेत इस शिलालेख से प्राप्त होता है कि भद्रबाहु की उपाधि स्वामी थी जो कि साहित्य में प्रायः एकान्ततः समन्तभद्र के लिये ही प्रयुक्त हुई है। यथार्थतः बड़े बड़े लेखकों जैसे विद्यानन्द× और वादिराज+ सूरि ने तो उनका उल्लेख नाम न देकर केवल उनकी इस उपाधि से ही किया है और यह वे तभी कर सकते थे जब कि उन्हें विश्वास था कि उस उपाधि से उनके पाठक केवल समन्तभद्र को ही समझेंगे, अन्य किसी आचार्य को नहीं। इस प्रमाण को उपर्युक्त अन्य सब बातों के साथ मिलाने से यह प्रायः निस्सन्देहरूप से सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र और भद्रबाहु द्वितीय एक ही व्यक्ति हैं।

यह आधार-प्रमाण कोई विशेष महत्व नहीं रखता; क्योंकि 'स्वामी' उपाधि भद्रबाहु और समंतभद्रके एक होने की गारंटी नहीं है। दो व्यक्ति होकर

---

* यह ट्रैक्टके भीतरका आशय वाक्य लेखकका है

× 'स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्'। —आप्तपरीक्षा

\+ स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥
—पार्श्वनाथचरित

भी दोनों 'स्वामी' उपाधि से भूषित हो सकते हैं। एम० ए० उपाधिधारी अनेक हो सकते हैं। 'व्याकरणाचार्य' भी एकाधिक मिल सकते हैं। 'प्रेमी' और 'शास्त्री' भी अनेक व्यक्तियों की उपाधि या नाम देखे जाते हैं। फिर भी इनसे अपने अपने प्रसंग पर अमुक अमुक का ही बोध होता है। अतः किसी प्रसंग में यदि विद्यानंद और वादिराज ने मात्र स्वामी पदका प्रयोग किया है और उसमें उन्हें स्वामी समन्तभद्र विवक्षित हैं तो इससे भद्रबाहु और समन्तभद्र कैसे एक हो गये? दूसरी बात यह है कि विद्यानन्द ने जहां भी 'स्वामी' पद का प्रयोग समन्तभद्रके लिये किया है वहां आप्तमीमांसा (देवागम) का स्पष्ट सम्बन्ध है। आप्तपरीक्षा के 'स्वामिमीमांसितं तत्' उल्लेख में स्पष्टतः 'मीमांसित' शब्द का प्रयोग है, जिससे उनके विज्ञ पाठक भ्रम में नहीं पड़ सकते और तुरन्त जान सकते हैं कि आप्त की मीमांसा स्वामी ने—समन्तभद्र ने की है, उन्हीं का विद्यानन्द ने उल्लेख किया है। इसी तरह वादिराज सूरि के 'स्वामिनश्चरितं' उल्लेख में भी 'देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते' इन आगेके वाक्यों द्वारा 'देवागम (आप्तमीमांसा) का स्पष्ट निर्देश है, अतः यहां भी उनके पाठक भ्रम में नहीं पड़ सकते। श्लोक के पूर्वार्ध में प्रयुक्त स्वामि पद से फौरन देवागम के कर्ता समन्तभद्र का ज्ञान कर लेंगे।

तीसरी बात यह है कि 'साहित्य में एकान्ततः' स्वामी पद का प्रयोग समन्तभद्र के लिये ही नहीं हुआ है। विद्यानन्द के पूर्ववर्ती अकलंकदेवने पात्रकेशरी स्वामी या सीमंधर स्वामी के लिये भी उसका प्रयोग किया है।* श्वेताम्बर साहित्य में सुधर्म गणधर के लिये स्वामी पद का बहुत कुछ प्रयोग पाया जाता है। और भी कितने ही आचार्य स्वामी पद के साथ उल्लेखित मिलते हैं। स्वयं प्रोफेसर साहब ने आवश्यक सूत्रचूर्णि और श्वेताम्बर पट्टावली में उल्लेखित 'वज्र स्वामी' नाम के एक आचार्य का उल्लेख किया है और उन्हें भी द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षके कारण दक्षिण को विहार करने वाला लिखा है। यदि द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी करके दक्षिणको विहार करने और स्वामी नामक उपाधि के कारण वज्रस्वामी भी भद्रबाहु द्वितीय और समन्तभद्र से भिन्न व्यक्ति नहीं है तो फिर इन वज्रस्वामी की तीसरी पीढ़ी में होने वाले उन समन्तभद्र का क्या बनेगा। जिन्हें प्रो० साहब ने पट्टावली के कथन पर आपत्ति न करके वज्रस्वामी का प्रपौत्र शिष्य स्वीकार किया है और समन्तभद्र तथा सामन्तभद्र को एक भी बतलाया है क्या प्रपितामह (पड़बाबा) और प्रपौत्र (पड़पोता) भी एक हो सकते हैं? अथवा क्या प्रपौत्र की भविष्यवाणी पर ही प्रपितामह ने दक्षिण देश को विहार किया था? इस पर प्रोफेसर सा० ने शायद ध्यान नहीं दिया। अस्तु, यदि वज्र स्वामी भद्रबाहु द्वितीय और समन्तभद्र से भिन्न हैं और स्वामी पद का प्रयोग पात्रकेसरी जैसे दूसरे आचार्यों के लिये भी होता रहा है तो स्वामी उपाधि का 'एकान्ततः समन्तभद्र के लिये ही' प्रयुक्त होना अव्यभिचरित तथा अभ्रांत नहीं कहा जा सकता और इस लिये 'स्वामी' उपाधि के आधार पर भद्रबाहु द्वितीय समन्तभद्र को एक सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार से सिद्धि का प्रयत्न बहुत कुछ आपत्ति के योग्य है।

इसमें सन्देह नहीं कि एक नाम के अनेक व्यक्ति

* देखो, सिद्धिविनिश्चयका 'हेतुलक्षणसिद्धि' नाम का छठा प्रस्ताव, लिखित प्रति पत्र ३००।

भी सम्भव हैं और अनेक नामों वाला एक व्यक्ति भी हो सकता है। इसी बुनियाद पर समन्तभद्र के भी अनेक नाम हो सकते हैं और समन्तभद्र नाम के अनेक व्यक्ति भी सम्भव हैं। परन्तु यहां प्रस्तुत विचार यह है कि आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र और दश नियुंक्तियों के कर्ता भद्रबाहु द्वितीय क्या अभिन्न हैं—एक ही व्यक्ति हैं ? इसका ठीक निर्णय हम जितना अधिक इन दोनों ही आचार्यों के साहित्य का आभ्यन्तर परीक्षण द्वारा कर सकते हैं उतना दूसरे भिन्न-कालीन उल्लेख वाक्यों, बाह्य-साधनों अथवा घटनाओं की कल्पना पर से नहीं कर सकते। इसी को न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जी के शब्दों में यों कह सकते हैं कि—"दूसरे समकालीन लेखकों के द्वारा लिखी गई विश्वस्त सामग्री के अभाव में ग्रन्थों के आन्तरिक परीक्षण को अधिक महत्व देना सत्य के अधिक निकट पहुंचनेका प्रशस्त मार्ग है। आन्तरिक परीक्षण के सिवाय अन्य बाह्य साधनों का उपयोग तो खींचतान करके दोनों ओर किया जा सकता है तथा लोग करते भी हैं।"*

अतः इस निर्णयके लिये भद्रबाहु द्वितीय की नियुंक्तियों और स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमांसादि कृतियोंका अन्तःपरीक्षण होना आवश्यक है। समंतभद्र की कृतियों में प्रोफेसर साहब रत्नकरण्ड श्रावकाचार को नहीं मानते परन्तु मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोर जी के पत्र के उत्तर में उन्होंने आप्तमीमांसा के साथ युक्त्यनुशासन और स्वयम्भू—स्तोत्र को भी समन्तभद्रकी कृतिरूप से स्वीकार कर लिया है। ऐसी हालत में समन्तभद्र के इन तीनों ग्रन्थों के साथ

* देखो, अकलङ्क ग्रन्थत्रय की प्रस्तावना पृ० १४

नियुंक्तियों× का अन्तःपरीक्षण करके मैंने जो कुछ अनुसंधान एवं निर्णय किया है उसे मैं यहां पाठकों के सामने रखता हूं, जिससे पाठक और मान्य प्रो० सा० भी इन दोनों आचार्यों का अपना अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व और भिन्न समयवर्तित्व सहज में ही जान सकेंगे कि दोनों ही आचार्य भिन्न भिन्न परम्पराओंमें हुये हैं:—

(१) नियुंक्तिकार भद्रबाहु केवली भगवान के केवलज्ञान और केवलदर्शन का युगपत्-एक साथ सद्भाव नहीं मानते—कहते हैं कि केवली के केवलदर्शन होने पर केवलज्ञान और केवलज्ञान होने पर केवलदर्शन नहीं होता, क्योंकि दो उपयोग एक साथ नहीं बनते। जैसा कि उनकी आवश्यक नियुंक्ति की निम्न गाथा (नं० ९७९) से स्पष्ट है—

न णमि दंसणंमि अ इत्तो एगयरयंमि उवजुत्ता।
सव्वास केवलिस्सा* जुगवं दो नित्थि उवओगा॥

इसमें कहा गया है कि 'सभी केवलियों के - चाहे वे तीर्थंकर केवली हों या सामान्य केवली आदि, —ज्ञान और दर्शन में कोई एक ही उपयोग एक ही समय में होता है। दो उपयोग एक साथ नहीं होते।'

आवश्यक नियुंक्ति की यथा प्रकरण और यथा

× भद्रबाहुकृत के दश नियुंक्तियें प्रसिद्ध हैं और ये श्वेताम्बर परम्परा में प्रसिद्ध आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यक सूत्र आदि आगम-सूत्रों पर लिखी गई हैं। उनमें से सूर्यप्रज्ञप्ति नियुंक्ति और ऋषिभाषित नियुंक्ति अनुपलब्ध है। ओघ नियुंक्ति और संसक्त नियुंक्ति वीर-सेवामन्दिर में नहीं है। बाकी ६ नियुंक्तियों का ही अन्तः परीक्षण किया गया है।

* 'केवलिस्स वि' पाठान्तरम्

स्थानपर स्थित यह गाथा ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्व की है। और कितनी ही उलझनों को सुलझाती है। इसमें तीन बातें प्रकाश में आती हैं—

एक तो यह कि भद्रबाहु द्वितीय केवली को ज्ञान और दर्शन उपयोग में से किसी एक में ही एक समय में उपयुक्त बतला कर क्रमपक्ष का सर्व प्रथम समर्थन एवं प्रस्थापन करते हैं। और इस लिये वे ही क्रमपक्ष के प्रस्थापक+ एवं प्रधान पुरस्कर्ता+ हैं। दूसरी बात यह कि भद्रबाहु के पहिले एक ही मान्यता थी और वह प्रधानतया युगपत्पक्ष की मान्यता थी जो दिगम्बर परम्परा के भूतबली, कुन्दकुन्द आदि प्राचीन आचार्योंके वाङ्मयमें और श्वे० भगवतीसूत्र [८-४] तथा तत्वार्थभाष्य [१-३१] में उपलब्ध है और जिस का कि उन्होंने (भद्रबाहु ने) इसी गाथाके उत्तरार्ध में 'जुगवं दो नत्थि उवओगा' कहकर खंडन किया है। और तीसरी बात यह कि नियुक्तिकार भद्रबाहु के पहले या उनके समय में केवली के उपयोग-द्वय का अभेदपक्ष नहीं था। अन्यथा क्रमपक्ष के समर्थन एवं स्थापन और युगपत्पक्ष के खंडनके साथ ही साथ अभेदपक्ष का भी वे अवश्य खण्डन करते। अतः अभेदपक्ष उनके पीछे प्रस्थापित हुआ फलित होता है और जिसके प्रस्थापक सिद्धसेन दिवाकर हुए जान पड़ते हैं। यही कारण है कि सिद्धसेन क्रमपक्ष और युगपत्पक्ष दोनों का सन्मति सूत्र में जोरों से खण्डन करते हैं और अभेदवाद को प्रस्थापित करते हैं।+ हमारे इस कथन में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की विशेषणवतीगत वे दोनों गाथायें× भी सहायक होती हैं, जिनमें 'केई' शब्द के द्वारा सर्वप्रथम युगपत्पक्ष का और 'अण्णे' शब्द के द्वारा पश्चात् क्रमपक्ष और अन्त में दूसरे 'अण्णे' शब्द से अभेदपक्ष का उल्लेख किया है, जो उपयोगवाद के विकासक्रम को बता देता है और उमास्वाति, नियुक्तिकार भद्रबाहु तथा सिद्धसेन दिवाकर के समय का भी ठीक निर्णय करने में खास सहायता करता है।

यहां एक बात और खास ध्यान देने योग्य है और वह यह कि दिगम्बर परम्परामें अकलंकके पहिले किसी दिगम्बर आचार्य ने क्रमपक्ष या अभेदपक्ष का खण्डन नहीं किया। केवल युगपत्पक्षका ही निर्देश किया है।* पूज्यपाद के बाद अकलंक ही एक ऐसे हुए हैं जिन्होंने इतर पक्षों क्रमपक्ष‡ और अभेदपक्ष§

+ यदि प्रज्ञापनासूत्र पद ३० सू० ३१४ को क्रमपक्ष परक माना जाये तो सूत्रकार क्रमपक्ष के प्रस्थापक और नियुक्तिकार भद्रबाहु उसके सर्वप्रथम समर्थक माने जायेंगे।

+ आ० हरिभद्र, अभयदेव और उपाध्याय यशोविजय ने क्रमपक्ष का पुरस्कर्ता जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण को बतलाया है, पर जिनभद्र गणि जब स्वयं 'अण्णे' कहकर क्रमपक्ष के मानने वाले अपने किसी पूर्ववर्ती का उल्लेख करते हैं, (देखो विशेषणवती गाथा १८४) तब वे स्वयं क्रमपक्षके पुरस्कर्ता कैसे हो सकते हैं?

+ देखो, सन्मतिसूत्र २-४ से २-३१ तक

× केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली णियमा
अण्णे एगंतरियं इच्छंति सुओवएसेणं ॥
अण्णे ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिंदस्स
जं चिय केवलणाणं तं चिय से दरिसणं बिंति ॥
— विशेषणवती, १८४, १८५

* इस बात को श्वेताम्बरीय विद्वान् श्रद्धेय पण्डित सुखलाल जी भी स्वीकार करते हैं। देखो, ज्ञानबिन्दु प्रस्ता० पृ० ५५

‡ देखो, अष्टशती का० १०१ की वृत्ति और राज० ६-१३ ८

§ देखो, राजवार्तिक ६-४-१४, १५, १६

का स्पष्टतया खण्डन किया और युगपत्पक्ष का सयुक्तिक समर्थन किया है।+ इससे यह फलित होता है कि पूज्यपाद के बाद और अकलंक के पहले क्रमपक्ष और अभेदपक्ष पैदा हुये तथा निर्युक्तिकार भद्रबाहु और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण तथा अकलंक का मध्यकाल अभेदपक्ष के स्थापन और इसके प्रतिष्ठाता (सिद्धसेन) का होना चाहिये।× इसका स्पष्ट खुलासा इस प्रकार है—

श्वेताम्बर परम्परा में केवली के केवलज्ञान और केवलदर्शनोपयोग के सम्बन्ध में तीन पक्ष हैं १-क्रमपक्ष २-युगपत्पक्ष और तीसरा अभेदपक्ष। कुछ आचार्य ऐसे हैं जो केवली के ज्ञान और दर्शनोपयोग को क्रमिक मानते हैं और कुछ आचार्य ऐसे हैं जो दोनों को यौगपद्य मानते हैं तथा कुछ आचार्य ऐसे हैं जो दोनों को अभिन्न—एक मानते हैं।* किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में केवल एक ही पक्ष है और वह है यौगपद्य का।

आचार्य भूतबली के षट्खण्डागम से लेकर अब तक के उपलब्ध समस्त दिगम्बर वाङ्मय में यौगपद्य पक्ष ही एक स्वर से स्वीकार किया गया है।‡ प्रस्तुत अकलंकदेव ने तो क्रमपक्ष× और अभेदपक्ष+ का खण्डन भी किया है और युगपत् पक्षको मान्य रखा है। इतना ही नहीं किन्तु क्रमपक्ष मानने वालों को केवल्यवर्णवादी तक कहा है।*

इतना प्रासङ्गिक कहने के बाद अब मैं निर्युक्तिकार भद्रबाहु की उपर्युक्त गाथासे विरोध प्रकट करने वाले समन्तभद्र के आप्तमीमांसा और स्वयंभूस्तोत्रगत उन वाक्यों को रखता हूं जिनमें केवली के ज्ञान और दर्शन उपयोग के यौगपद्य का कथन किया है—

'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।

—आप्तमी० का० १०१

नाथ युगपदखिलं च सदा,
त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ।

— स्वयंभूस्तोत्र १२९

+ देखो, राजवार्तिक ६-[illegible]

× श्रद्धेय पं० सुखलाल जी ने जो सिद्धसेन से भी पहले अभेदपक्ष की सम्भावना की है (ज्ञानबिन्दु प्र० पृ० ६०) वह विचारणीय है; क्योंकि उसमें कितनी ही आपत्तियां उपस्थित होती हैं।

* देखो, पिछले फुटनोट में उल्लिखित विशेषणवती की १८४, १८५ नम्बर की गाथा।

‡ यथा—

क-सयं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी स''' सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि"

—षट्खण्डा० पयडिअणु० सू० ७८

ख-जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥

—कुंदकुंद, नियमसा० गा० १५९

ग-पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे
तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥
भावे सगविसयत्थे सूरो जुगवं जहा पयासेइ।
सव्वं वि तहा जुगवं केवलणाणं पयासेदि ॥

—शिवार्य, भगवतीआराध० गा० २१४१ २१४२

घ-साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति। तत् छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते। निरावरणेषु युगपत्।' सर्वार्थसिद्धि २।९ 'जानन् पश्यन् समस्तं सममनुपरतं'

—पूज्यपाद, सिद्धभ० ४

ङ-'आवरणात्यन्तसंक्षये केवलिनि युगपत्केवलज्ञानदर्शनयोः साहचर्यं। भास्करे प्रतापप्रकाशसाहचर्यवत्।'

—तत्त्वार्थराजवा० ६-४-१२

इन दोनों जगह स्पष्टतया कहा गया है कि 'हे जिनेन्द्र आपका ज्ञान एक साथ समस्त पदार्थों को प्रकाश करता है।' आपने समस्त चराचर जगत को हस्तामलकवत्-हाथ में रक्खे हुए आंवलेकी तरह युगपत्—एक साथ जाना है और यह जानना आपका सदा—अर्थात् नित्य और निरन्तर है—ऐसा कोई भी समय नहीं जब आप सब पदार्थों को युगपत् न जानते हों।'

(पृष्ठ ६५ की टिप्पणियां)

क-'दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि।

द्रव्यसं० ४४

× 'तज्ज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्यात्। —अष्टशती का० १०१

+ 'तत्र ज्ञानमेव दर्शनमिति केवलिनोऽतीतानागतदर्शित्वमयुक्तं? तत्र किं कारणं? निरावरणत्वात्। यथा भास्करस्य निरस्तघनपटलावरणस्य यत्र प्रकाशस्तत्र प्रतापः यत्र च प्रतापस्तत्र प्रकाशः। तथा निरावरणस्य केवलिभास्करस्य [illegible]विभूतिविशेषस्य यत्र ज्ञानं तत्रावश्यं दर्शनं यत्र च दर्शनं तत्र च ज्ञानं।

किंच—सद्वद्वृत्तेः ॥१५॥ यथा हि असद्भूतमनुपदिष्टं च जानाति तथा पश्यति किमत्र भवतो हीयते। किंच- विकल्पात् ॥१६॥ ××इति सिद्धं केवलिनस्त्रिकालगोचरं दर्शनं।

—राजवा० ६-४

• '''कालभेद सज्ञानदर्शनाः केवलिनः इत्यादिवचनं केषाञ्चन[illegible]वादः।

—राजवार्तिक० पृ० २६२, ६-१३-८

पाठक देखेंगे कि यहां समन्तभद्र ने [illegible] का ज़ोरों से समर्थन किया है। उनके 'युगपत्' 'अखिलं' 'च' 'सदा' और 'तलामलकवत्' सब ही पद सार्थक और खास महत्व के हैं। उनका [illegible] का समर्थन करने वाला 'सदा' शब्द तो खास तौर से ध्यान देने योग्य है, जो प्रकृत विषय की प्रामाणिकता की दृष्टि में और ऐतिहासिक दृष्टि से अपना खास महत्व रखता है और जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह स्पष्टतया केवली के क्रमिक ज्ञान-दर्शन का विरोध करता है और यौगपद्यवाद का प्रबल समर्थन करता है। क्योंकि ज्ञान-दर्शन की क्रमिक दशा में ज्ञान के समय दर्शन और दर्शन के समय ज्ञान नहीं रहेगा। और इस लिये कोई भी ज्ञान सदाकालीन शाश्वत नहीं बन सकेगा। श्रद्धेय पं० सुखलाल जी ने भी, ज्ञान-बिन्दु की प्रस्तावना (पृ० ५५) में केवल आप्तमीमांसा के उक्त उल्लेख के आधारपर समन्तभद्रको एकमात्र यौगपद्यपक्षका समर्थक बतलाया है। इस मान्यता—भेद से निर्युक्तिकार भद्रबाहु और आप्तमीमांसाकार समन्तभद्र में सहज ही पार्थक्य स्थापित हो जाता है। यदि भद्रबाहु और समन्तभद्र एक होते तो निर्युक्ति में क्रमवादका स्थापन और युगपत्वाद का खंडन तथा आप्तमीमांसा में युगपत्वाद का कथन और फलितरूपेण क्रमिकवाद का खंडन दृष्टिगोचर न होता।

अतः स्पष्ट है कि समन्तभद्र और निर्युक्तिकार भद्रबाहु अभिन्न नहीं हैं—भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं।

(२) निर्युक्तिकार भद्रबाहुने श्वेताम्बरीय आगमों की मान्यतानुसार चौबीसों तीर्थंकरों को एक वस्त्र से प्रव्रजित होना माना है जैसा कि उनकी निम्न गाथा से स्पष्ट है—

सव्वेऽवि एगदूसेण णिग्गया जिणवरा चउव्वीसं।
न य नाम अरणलिंगे नो गिहिलिंगे कुलिंगं वा ॥
—आवश्य० नि० गा० २२७

इस गाथा में बतलाया गया है कि 'सभी ऋषभ आदि महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थंकर एक दूष्य-एक वस्त्र के साथ दीक्षित हुये।'

यहां भद्रबाहु तीर्थंकरोंको भी एक वस्त्ररूप उपधि+ रखने का उल्लेख करते हैं, अन्य साधुओं की तो बात ही क्या। पर इसके विपरीत समन्तभद्र क्या कहते हैं, इसे भी पाठक देखें :—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं-
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयम्-
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥
—स्वयंभू स्तोत्र ११६

यहां कहा गया है कि 'हे नमिजिन ! प्राणियों की अहिंसा—उन्हें घात नहीं करना प्रत्युत उनकी रक्षा करना लोकविदित परमब्रह्म है—अहिंसा सर्वोत्कृष्ट आत्मा-परमात्मा है, वह अहिंसा उस साधुवर्ग में कदापि नहीं बन सकती है जहां अणुमात्र भी आरंभ है। इसी लिये हे परम कारुणिक ! आपने उस परम ब्रह्मस्वरूप अहिंसा की सिद्धि के लिये उभय प्रकार के ग्रन्थ का—परिग्रह का—त्याग किया और विकृत वेष-अस्वाभाविक वेष (भस्माच्छादनादि रूप में) तथा उपधि—वस्त्रमें या आभरणादि में आसक्त नहीं हुए।'

जहां भद्रबाहु निर्युक्ति में तीर्थंकरों के उभय परिग्रह को छोड़ देने पर भी उनके पीछे एक वस्त्र रखने का सुस्पष्ट विधान करते हैं वहां समन्तभद्र उभय परिग्रह के छोड़ देने और अणुमात्र भी आरंभ का काम न रखने की व्यवस्था करते हैं। साथ ही नग्नवेष के विरुद्ध वस्त्रादि धारण को विकृतवेष और उपधि× का धारण बतलाकर उसका निषेध करते हैं और उनको यह मान्यता स्वयंभू स्तोत्र के ही निम्न वाक्य में और भी स्पष्ट हो जाती है:—

वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं शान्ति (शांत) करणं-
यतस्ते संचष्टे स्मरशरविषातंकविजयम्।
विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं-
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शांतिनिलयः ॥१२०

इसमें नमिजिन की स्तुति करते हुए बतलाया है कि 'हे भगवन् ! आपका शरीर भूषा—आभूषण; वेष भस्माच्छादनादि लिङ्ग और व्यवधि-वस्त्र से रहित है और वह इस बात का सूचक है कि आपकी समस्त इन्द्रियां शांत हो चुकी हैं अथवा इसी लिये वह शांति का कर्ता है—लोग आपके इस स्वाभाविक शरीर के

+ यहां आ० हरिभद्र की टीका द्रष्टव्य है—"सर्वेऽपि एक दूष्येण' एकवस्त्रेण निर्गताः जिनवराश्चतुर्विंशतिः, + + किं पुनः तन्मतानुसारिणो न सोपधयः ? ततश्च य उपधिरासेवितो भगवद्भिः स साक्षादेवोक्तः, य पुनर्विनयेभ्यः स्थविरकल्पिकादिभेदभिन्नेभ्योऽनुज्ञातः स खलु अपिशब्दात् ज्ञेय इति।'
—आव० नि० गा० २२७

× भद्रबाहु को भी 'उपधि' का अर्थ वस्त्र विवक्षित है। यथा—'अप्पत्तेचिय वासं सव्वं उवहिं धुवंति जयणाए'।
पिंडनि० २६

'पत्ते धोवण काले उवहिं वीसामए साहू' पिंडनि० १८
'वासासु अधोवणे दोसा'
पिंडनि० २५

यथाजात नग्नरूप को देखकर न तो कामनामय राग-भाव को प्राप्त होते हैं और न आपके शरीर पर आभूषणादि के अभाव को देखकर द्विष्ट, कुपित अथवा खिन्न ही होते हैं। क्योंकि द्वेष लोभादि के कारणभूत आभरणादि हैं। अतः वे आपके इस निर्मम आडंबरादि विहीन शरीर को देखकर आपके 'वीतरागमय' शांति को प्राप्त करते हैं। और आप का यह वस्त्रादिविहीन शरीर कठोर अस्त्र-शस्त्रों के बिना ही कामदेव पर किये गये पूर्ण विजय को और निर्दयी क्रोध के अभाव को भी भले प्रकार प्रकट करता है।'

यहां 'वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं' और 'स्मरशर-विषार्तकविजयं' ये दो पद खास तौर से ध्यान देने योग्य हैं, जो बतलाते हैं कि जिनेन्द्र का वस्त्रादि से अनाच्छादित अर्थात् नग्न शरीर है और वह कामदेवपर किये गये विजय को घोषित करता है। अनग्न शरीर से कामदेव पर प्राप्त विजय प्रायः प्रकट नहीं हो सकती—वहां विकार (लिङ्गस्पन्दनादि) छिपा हुआ रह सकता है और विकार हेतु मिलनेपर उसमें विकृति (ब्रह्मस्खलन) पैदा होने की पूरी सम्भावना है। चुनांचे भूषादिहीन जिनेन्द्र का शरीर इस बात का प्रतीक है कि वहां कामरूप मोह नहीं रहा, इसी लिये समन्तभद्र ने 'ततस्त्वं निर्मोहः' शब्दों के द्वारा जिनेन्द्र को 'निर्मोह' कहा है। ऐसी हालत में यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र जिनेन्द्रों को वस्त्रादि रहित बतलाते हैं और भद्रबाहु उनके एक वस्त्र के रखने का उल्लेख करते हैं, जो श्वेताम्बरीय आचारांग आदि सूत्रों के अनुकूल है। इतना ही नहीं पिंडनिर्युक्ति में 'परसंय ·· चीरधोवणं चेव' (गा० २१) वस्त्र प्रक्षालन का विधान, उसके वर्षा-काल को छोड़कर शेषकाल में धोने के दोष और 'बासासु अधोवणे दोसा' (पि० नि० २५) शब्दों द्वारा अप्रक्षालन में दोष भी बतलाते हैं। क्या यह भी समन्तभद्र को विवक्षित है? यदि हां, तो उन्होंने जो यह प्रतिपादन किया है कि 'जिस साधुवर्ग में अल्प भी आरम्भ होगा वहां अहिंसा का कदापि पूर्ण पालन निर्वाह नहीं हो सकता—अहिंसा रूप परम ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती है' (न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रम—विधौ) तब इसके क्या मायने हैं? क्या उनके उक्त कथन का कुछ भी महत्व नहीं है—और उनके 'अणु' 'अपि' शब्दों का प्रयोग व्यर्थ ही है किन्तु ऐसा नहीं है, इस बातको उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति स्पष्ट बतलाती है। अन्यथा 'ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रंथमुभयं' यह न कहते। इस मान्यता भेद से भी समन्तभद्र और भद्रबाहु एक नहीं हो सकते। वे वास्तव में भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं और जुदी जुदी दो परम्पराओं में हुए हैं।

(३) भद्रबाहु ने सूत्रकृताङ्ग निर्युक्ति में स्तुति निक्षेप के चार भेद करके आगन्तुक (ऊपर से परिधारित) आभूषणों के द्वारा जिनेन्द्र की स्तुति करने को द्रव्यस्तुति कहा है।

थुइणिक्खेवो चउहा आगंतुअभूसणेहिं दव्वथुई।
भावे संताण गुणाण कित्तणा जे जहिं भणिया॥
सूत्र० नि० गा० ८४

यहां तीर्थंकरदेव के शरीर पर आभूषणों का विधान किया है और कहा गया है कि जो आगन्तुक भूषणों से स्तुति की जाती है वह द्रव्यस्तुति है और विद्यमान यथायोग्य गुणों का कीर्तन करना भावस्तुति है। लेकिन समन्तभद्र स्वयंभू स्तोत्र में इससे विरुद्ध ही कहते हैं और तीर्थंकर के शरीर को आभूषण

वेष और उपधि रहित रूप से ही स्तुति करते हैं जैसा कि पूर्वोल्लिखित 'वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं' वाक्य से स्पष्ट है। इसी स्वयंभू स्तोत्र में एक दूसरी जगह भी तीर्थंकरों की आभूषणादि रहित रूप से ही स्तुति की गई है और उनके रूप को भूषणादि-हीन प्रकट किया है—

भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापरम्।
रूपमेव तवाचष्टे धीर दोषविनिग्रहम्॥६४॥

इसमें बतलाया है कि 'बाह्यमें आभूषणों, वेषों तथा आयुधों-अस्त्रशस्त्रों से रहित और आभ्यन्तर में विद्या तथा इन्द्रिय निग्रह में तत्पर आपका रूप ही आपके निर्दोषपने को जाहिर करता है—जो बाह्य में भूषणों वेषों और आयुधों से सहित हैं और आभ्यन्तर में ज्ञान तथा इन्द्रिय निग्रह में तत्पर नहीं हैं वे अवश्य सदोष हैं।'

यहां समन्तभद्र शरीर पर के भूषणादि को स्पष्टतया दोष बतला रहे हैं और उनसे विरहित शरीरको ही 'दोषों का विनिग्रहकर्ता' दोष-विजयी (निर्दोष) ठहराते हैं, अन्यथा नहीं। लेकिन भद्रबाहु अपनी परम्परानुसार भूषणों के द्वारा उनकी स्तुति करना बतलाते हैं और उनके शरीर पर भूषणों का सद्भाव मानते हैं। यह मतभेद भी निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वयंभू स्तोत्र के कर्ता स्वामी समन्तभद्र के एक व्यक्ति होने में बाधक है।

(४) भद्रबाहु मुनिको 'कंबल' रूप उपधि का दान करने का विधान करते हैं और उससे उसी भव से मोक्ष जाने का उल्लेख करते हैं :—

वित्थं तेगिच्छसुओ कंबलगं चंदणं च दाऊण्यओ।
दाउं अभिणिक्खंतो तेणेव भवेण अंतगओ॥
—आवश्यक नि० गा० १७४

जब कि समन्तभद्र मुनि को उभय ग्रन्थ का त्यागी होना अनिवार्य और आवश्यक बतलाते हैं उस के बिना 'समाधि'-आत्मध्यान नहीं बन सकता है। क्योंकि पास में कोई ग्रंथ होगा तो उसके संरक्षणादि में चित्त लगा रहने से आत्मध्यान की ओर मनोयोग नहीं हो सकता। इसी लिये वे कहते हैं कि—

'समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये
द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत्।'
—स्वयंभू० १६

अर्थात्—हे जिनेन्द्र ! आप आत्मध्यान में लीन हैं और उस आत्मध्यान की प्राप्ति के लिये ही बाह्य और आभ्यन्तर दोनों निर्ग्रन्थता गुणों से युक्त हुए हैं।

(५) निर्युक्तिकार भद्रबाहु कहते हैं कि केवली तीर्थंकर को प्रणाम करते हैं और तीन प्रदक्षिणा देते हैं :—

केवलिणो तिउण जिणा तित्थपणामं च मग्गओ तस्स
—आवश्य० नि० गा० ५५६

निर्युक्तिकार के सामने जब प्रश्न आया कि केवली तो कृतकृत्य हो चुके वे क्यों तीर्थंकर को प्रणाम और प्रदक्षिणा देंगे ? तो वे इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं :—

तप्पुव्विया अरहया पूइयपूया य विणयकम्मं च।
कयकिच्चो वि जह कहं कहए णमए तहा तित्थं॥
—आवश्य० नि० गा० ५६०

लेकिन समन्तभद्र ऐसा नहीं कहते। वे कहते हैं कि जो हितैषी हैं—अपना हित चाहते हैं, अभी जिन का पूरा हित सम्पन्न नहीं हुआ है और इस लिये जो अकृतकृत्य हैं वे ही तीर्थंकर की स्तुति, वंदना प्रणाम आदि करते हैं।

(१) 'अनन्तमायाः प्रणता द्विविधाः।' स्वयं० ६५

(२) 'स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः।' स्वयं० ८५

(३) 'स्वार्थनियतमनसः सुधियः प्रणमन्ति मंत्रमुखरा महर्षयः।' स्वयं० १२५

ऐसी दशा में समन्तभद्र और भद्रबाहु दोनों एक नहीं हो सकते।

(६) भद्रबाहु वर्द्धमान तीर्थङ्कर के तपः कर्म (तपश्चर्या) को तो सोपसर्ग प्रकट करते हैं किन्तु शेष तीर्थङ्करों के, जिनमें पार्श्वनाथ भी हैं, तपः कर्म को निरुपसर्ग ही बतलाते हैं—

सव्वेसिं तवोकम्मं निरुवसग्गं तु वण्णियं जिणाणं।
नवरं तु वद्धमाणस्स सोवसग्गं मुणेयव्वं॥
—आचारा० नि० गा० २७६

श्वेताम्बर मान्यता है* कि भगवान महावीर कुण्डग्राम से निकलकर जब दिन अस्त होते कर्मार ग्राम पहुंचे तो वहां उनपर बड़े भयानक और बीभत्स उपद्रव एवं उपसर्ग किये गये। आगमसूत्रोंमें+ भगवान महावीर पर हुये इन उपसर्गों का बहुत भयानक चित्र खींचा गया है क्या तिर्यञ्च क्या मनुष्य और क्या देवदानव सबने उनपर महान उपसर्ग किये। बारह वर्ष छह महीने और १५ दिन तक इन उपसर्गों को सहते रहे, फिर उन्हें केवलज्ञान हुआ। भगवान महावीर के उपसर्गों का इतना बीभत्स वर्णन करते हुए भी भगवान पार्श्वनाथ के उपसर्गों का सूत्रों में या निर्युक्ति में कोई उल्लेख तक नहीं है। जब कि समन्तभद्र इससे विरुद्ध ही वर्णन करते हैं। वे स्वयंभूस्तोत्र में पार्श्वनाथ के उन भयंकर उपसर्गों का स्पष्ट और विस्तृत विवेचन करते हैं जो दिगम्बर परम्परा के साहित्य में बहुलतया उपलब्ध हैं* यहां तक कि भ० पार्श्वनाथ की फणाविशिष्ट प्रतिमा भी उसी का प्रतीक है, किन्तु भगवान महावीर के सम्बन्ध में उन उपसर्गों का जिनका श्वेताम्बरीय आगम सूत्रों में विस्तृत वर्णन है और निर्युक्ति में जिनका सुस्पष्ट विधान एवं समर्थन भी है, कोई उल्लेख तक नहीं करते हैं। स्वयंभूस्तोत्र के उन श्लोकों को नीचे प्रकट किया जाता है जिसमें भ० पार्श्वनाथ के भयानक उपसर्गों का स्पष्ट चित्रण किया गया है और इस लिये समन्तभद्र ने उनके ही तपः कर्म को सोपसर्ग बताया है, वर्द्धमान के नहीं—

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः
प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महा-
मना यो न चचाल योगतः॥
बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं
स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणाम्।

* तथा च कुंडग्रामान्मुहूर्त्तशेषे दिवसे कर्मारग्राममाप, तत्र च भगवानित आरभ्य नानाविधाभिग्रहोपेतो घोरान् परीषहोपसर्गानधिसहमानो महासत्त्वतया म्लेच्छानप्युपशमं नयन् द्वादशवर्षाणि साधिकानि छद्मस्थो मौनव्रती तपश्चकार।'
—शीलांकाचार्यटीका पृ० २७३

\+ देखो, आचारांग सूत्र पृ० २७३ से २८३, सूत्र ४६ से ६३ तक।

* प्रसिद्ध धवलाटीकाकार वीरसेनाचार्य भी भ० पार्श्वनाथ का मंगलाभिवादन सकलोपसर्गविजयी रूप से करते हैं:—

सकलोवसग्गणिवहा संवरणे णेव जस्स फिट्टन्ति।
पासस्स तस्स णमिउं फासणियोगं परूवेमो॥
—धवला, फासाणियोगद्दार०

जुगूह नागो धरणो धराधरं
विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा ॥
स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया
निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम् ।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं
त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम् ॥
—स्वयंभू० १३१ से १३३ तक

पाठक देखिये, समन्तभद्र ने भ० पार्श्वनाथ के ऊपर अपने पूर्वभव के वैरी कमठ के जीव के द्वारा किये गये उपसर्गों का कितने भयानक रूप में वर्णन किया है, जिनका कि भद्रबाहु ने अपनी निर्युक्ति में नामोल्लेख तक भी नहीं किया, प्रत्युत पार्श्वनाथ के तपः कर्म (तपश्चर्या) को निरुपसर्ग ही बतलाया है यदि निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक होते तो ऐसा स्पष्ट विरुद्ध कथन उनकी लेखनी से कदापि प्रसूत न होता। इन सब विरुद्ध कथनों की मौजूदगी में यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि समन्तभद्र और भद्रबाहु एक नहीं हैं, दो व्यक्ति हैं और वे क्रमशः दिगम्बर श्वेताम्बर दो विभिन्न परम्पराओं में हुये हैं।

मैं समझता हूं निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वा० समन्तभद्र को पृथक् पृथक् व्यक्ति सिद्ध करने के लिये उपर्युक्त थोड़े से प्रमाण पर्याप्त हैं। जरूरत होने पर और भी प्रस्तुत किये जा सकेंगे।

समन्तभद्र और भद्रबाहु को पृथक् सिद्ध करने के बाद अब मैं इनके भिन्न समय-वर्तित्व के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना चाहता हूं।

समन्तभद्र, दिग्नाग (३४५-४२५ A. D.) और पूज्यपाद (४५० A. D.) के पूर्ववर्ती हैं* यह निर्विवाद है। बौद्धतार्किक नागार्जुन (१८१ A.D.+) के साहित्य के साथ समन्तभद्र के साहित्य का अन्तःपरीक्षण× करने पर यह मालूम होता है कि समन्तभद्र पर नागार्जुन का ताजा प्रभाव है इस लिये वे नागार्जुन के समकालीन या कुछ ही समय बाद के ही विद्वान हैं। अतः समन्तभद्रके समय की उत्तरावधि तो दिग्नाग का समय है और पूर्वावधि नागार्जुन का समय है। अर्थात् समन्तभद्र का समय दूसरी तीसरी शताब्दी है जैसा कि जैनसमाज की आम मान्यता है‡ और प्रोफेसर साहब भी इसे स्वीकार करते हैं। अतः समन्तभद्र के समय सम्बंध में इस समय और अधिक विचार करने की जरूरत नहीं है।

अब निर्युक्तिकार भद्रबाहु के समय-सम्बन्ध में विचार कर लेना चाहिये। स्व० श्वेताम्बर मुनि विद्वान श्री चतुरविजय जी ने 'श्री भद्रबाहु स्वामी' शीर्षक अपने एक महत्व एवं खोजपूर्ण लेख में* अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि 'निर्युक्तिकार भद्रबाहु विक्रम की छठी शताब्दी में हो गये हैं वे जाति से ब्राह्मण थे, प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहर इनका भाई था ××× निर्युक्तियां आदि सर्व कृतियां

* देखो, 'समन्तभद्र और दिग्नाग में पूर्ववर्ती कौन' शीर्षक लेख 'अनेकांत' वर्ष ५ किरण १२।

+ देखो, तत्त्वसंग्रह की भूमिका LXVIII, वादन्याय में २५० A. D. दिया है।

× अप्रकाशित 'नागार्जुन और समन्तभद्र' शीर्षक मेरा लेख।

‡ देखो, स्वामी समन्तभद्र

* मूल लेख गुजराती भाषामें है और वह 'आत्मानन्द जन्म—शताब्दी ग्रन्थ में' प्रकट हुआ था। औरहिन्दी अनुवादित होकर 'अनेकान्त' वर्ष ३ किरण १२ में प्रकाशित हुआ है।

इनके दुष्ठिद्भव से उत्पन्न हुई हैं × × × वराहमिहर का समय ईसा की छठी शताब्दी (५०५ से ५८१ A. D. तक) है। इससे भद्रबाहु का समय भी छठी शताब्दी निर्विवाद सिद्ध होता है।'

मैं पहिले यह कह आया हूं कि भद्रबाहुने केवली के उपयोग के क्रमवाद का प्रतिपादन किया है और युगपद्वाद का खण्डन किया है। ईसा की पांचवी और विक्रम की छठी शताब्दी के विद्वान आचार्य पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि में (१-९) युगपत् वाद का समर्थन मात्र किया है पर क्रमवाद के सम्बंध में कुछ भी नहीं लिखा। यदि क्रमवाद इनके पहिले प्रचलित हो चुका होता तो वे इसका अवश्य आलोचन करते। जैसा कि पूज्यपादके उत्तरवर्ती अकलंक देव ने क्रमवाद का खण्डन किया है और युगपद्वाद का ही समर्थन किया है। इससे भी मालूम होता है कि निर्युक्तिकार ईसा की पांचवी शताब्दी के बाद के विद्वान हैं। उधर निर्युक्तिकार ने सिद्धसेन के अभेदवाद की कोई आलोचना नहीं की सिर्फ युगपत् वाद का ही खण्डन किया है। इस लिये इनकी उत्तरावधि सिद्धसेन का समय है अर्थात सातवीं शताब्दी है। इस तरह निर्युक्तिकार का वह समय प्रसिद्ध होता है जो श्री मुनि चतुरविजय जी ने बतलाया है। अर्थात छठी शताब्दी इनका समय है। ऐसी हालत में निर्युक्तिकार भद्रबाहु उपर्युक्त आपत्तियों के रहते हुए दूसरी तीसरी शताब्दी के विद्वान स्वामी समन्तभद्र के समकालीन कदापि नहीं हो सकते। समन्तभद्र के साथ उनके एक व्यक्तित्व की बात तो बहुत दूर की है। और इस लिये प्रोफेसर साहब ने वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष के पश्चात निकट में ही अर्थात दूसरी शताब्दी में निर्युक्तिकार भद्रबाहु के होने की जो कल्पना कर डाली है वह किसी तरह भी ठीक नहीं है। आशा है प्रोफेसर सा०, इन सब प्रमाणों की रोशनी में इस विषय पर फिरसे विचार करने की कृपा करेंगे।

(अनेकान्त)



क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है?

(ले०—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया)

प्रोफेसर हीरालाल जी जैन एम० ए० ने, 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' नाम के निबन्ध में कुछ ऐसी बातों को प्रस्तुत किया है जो आपत्तिजनक हैं। उनमें से श्वेताम्बर आगमोंकी दश निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु द्वितीय और आप्तमीमांसा के कर्ता स्वामी समन्तभद्र को एक ही व्यक्ति बतलाने की बात पर तो मैं पिछले लेख ('अनेकान्त' की गत संयुक्त किरण नं० १० ११) में विस्तृत विचार करके यह स्पष्ट कर आया हूं कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु द्वितीय और आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र एक व्यक्ति नहीं हैं—भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं और वे जुदी दो विभिन्न परम्पराओं (श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों) में क्रमशः हुए हैं—स्वामी समन्तभद्र जहां दूसरी तीसरी शताब्दीके विद्वान हैं वहां निर्युक्तिकार भद्रबाहु छठी शताब्दी के विद्वान हैं।

अब मैं प्रोफेसर साहब की एक दूसरी बात को लेता हूं, जिसमें उन्होंने रत्नकरण्ड-श्रावकाचार को आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र की कृति स्वीकार न करके दूसरे ही समन्तभद्र की कृति बतलाई है और जिन्हें आपने आचार्य कुन्दकुन्द के उपदेशों का समर्थक तथा रत्नमाला के कर्ता शिवकोटि का गुरु संभावित किया है। जैसा कि आपके निबन्ध की निम्न पंक्तियों से प्रकट है।

"रत्नकरण्डश्रावकाचारको उक्त समन्तभद्र प्रथम (स्वामी समन्तभद्र) की ही रचना सिद्ध करनेके लिये जो कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं उन सब के होते हुए भी मेरा अब यह मत दृढ़ हो गया है कि वह उन्हीं ग्रंथकार की रचना कदापि नहीं हो सकती जिन्होंने आप्तमीमांसा लिखी थी, क्योंकि उसमें दोष का+ जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकार के अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता। मैं समझता हूं कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार कुन्दकुन्दाचार्य के उपदेशों के पश्चात् उन्हीं के समर्थन में लिखा गया है। इस ग्रंथ का कर्ता शिवकोटि का गुरु भी हो सकता है जो आराधना के कर्ता शिवभूति या शिवार्य की रचना कदापि नहीं हो सकती।"

यहां मैं यह भी प्रकट कर देना चाहता हूं कि प्रोफेसर साहब ने आज से कुछ वर्ष पहले 'सिद्धांत और उनके अध्ययन का अधिकार' शीर्षक लेख में, जो बाद को धवला की चतुर्थ पुस्तक में भी सम्बद्ध किया गया है, रत्नकरण्ड श्रावकार को स्वामी समंत-

+ क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥
—रत्नकरण्ड० ६

भद्र कृत स्वीकार किया है और उसे गृहस्थों के लिये सिद्धान्त ग्रन्थके अध्ययन-विषयक नियंत्रण न करने में प्रधान और पुष्ट प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। यथा—

"श्रावकाचार का सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्र कृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार है, जिसे वादिराज सूरि ने, 'अक्षयसुखावह' और प्रभाचन्द्र ने अखिल 'सागारधर्म को प्रकाशित करने वाला सूर्य'' कहा है। इस ग्रंथ में श्रावकों के अध्ययन पर कोई नियंत्रण नहीं लगाया गया किन्तु उसके विपरीत.... ...।"

—षट्खण्डागम० प्रस्ता० पृ० १२

किन्तु अब मालूम होता है कि प्रोफेसर साहब ने अपनी वह पूर्व मान्यता छोड़ दी है और इसी लिये रत्नकरण्ड को स्वामी समन्तभद्र की कृति नहीं मान रहे हैं। अस्तु।

प्रोफेसर साहब ने अपने निबन्ध की उक्त पंक्तियों में रत्नकरण्ड श्रावकाचार को स्वामी समन्तभद्र कृत सिद्ध करने वाले जिन प्रस्तुत प्रमाणों की ओर संकेत किया है वे प्रमाण वे हैं जिन्हें परीक्षा द्वारा अनेक ग्रन्थों को जाली सिद्ध करने वाले मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोर जी ने माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की प्रस्तावना में विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है।+ मैं चाहता था कि उन प्रमाणों को यहां उद्धृत करके अपने पाठकों को यह बतलाऊं कि वे कितने प्रबल तथा पुष्ट प्रमाण हैं परन्तु वर्तमान सरकारी आर्डिनेंस के कारण पत्रों का कलेवर इतना कृश हो गया है कि उसमें अधिक लम्बे लेखों के लिये स्थान नहीं रहा और इस लिये मुझे अपने उक्त विचार को छोड़ना पड़ा, फिर भी मैं यहां इतना जरूर प्रकट कर देना चाहता हूं कि प्रोफेसर साहब ने अपने निबन्ध में उक्त प्रमाणों का कोई खण्डन नहीं किया—वे उन्हें मानकर ही आगे चले हैं। जैसा कि "इन सबके होते हुए भी मेरा अब यह दृढ़ मत हो गया है" इन शब्दों में प्रकट है। जान पड़ता है कि मुख्तार साहब ने अपने प्रमाणों को प्रस्तुत कर देने के बाद जो यह लिखा था कि "ग्रन्थ (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) भरमें ऐसा कोई कथन भी नहीं है जो आचार्य महोदय के दूसरे किसी ग्रन्थ के विरुद्ध पड़ता हो" इसे लेकर ही प्रोफेसर साहब ने 'दोष' के स्वरूप में विरोध प्रदर्शन का कुछ यत्न किया है, जो ठीक नहीं है और जिसका स्पष्टीकरण आगे चलकर किया जायगा।

यहां सबसे पहले रत्नमाला के सम्बन्धमें विचार कर लेना उचित जान पड़ता है। यह रत्नमाला रत्नकरण्ड श्रावकाचार के निर्माता के शिष्य की तो कृति मालूम नहीं होती, क्योंकि दोनों ही कृतियों में शताब्दियों का अन्तराल जान पड़ता है, जिससे दोनों के कर्ताओं में साक्षात् गुरु शिष्य सम्बन्ध अत्यन्त दुर्घट ही नहीं किन्तु असम्भव है। साथ ही इसका साहित्य बहुत घटिया तथा अक्रम है। इतना ही नहीं इसमें रत्नकरण्ड श्रावकाचार से कितने ही ऐसे सैद्धान्तिक मतभेद भी पाये जाते हैं जो प्रायः साक्षात् गुरु और शिष्य के बीच में सम्भव से प्रतीत नहीं होते। नमूने के तौर पर यहां दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :—

(१) रत्नकरण्ड में शिक्षाव्रतों के चार भेद बतलाये हैं। १-देशावकाशिक, २-सामायिक, ३-प्रोषधोपवास और ४-वैयावृत्य। लेकिन रत्नमाला

+ देखो, प्रस्तावना पृ० ५ से १५ तक।

में देशावकाशिक को छोड़ दिया गया है—यहां तक कि उसको किसी भी व्रत में परिगणित नहीं किया और मारणान्तिक सल्लेखना को शिक्षाव्रतों में गिनाया है। यथा—

देशावकाशिकं वा सामयिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥
—रत्नकरण्ड० ९१

सामायिकं प्रोषधोपवासोऽतिथिषु पूजनम्।
मारणान्तिकसल्लेख इत्येवं तच्चतुष्टयम् ॥
—रत्नमाला १७, १८

(७) रत्नकरण्ड में उत्कृष्ट श्रावकके लिये मुनियों के निवासस्थान वन में जाकर व्रतों को ग्रहण करने का विधान किया गया है; जिसमें स्पष्ट मालूम होता है कि दि० मुनि उस समय वनमें ही रहा करते थे। जब कि रत्नमाला में मुनियों के लिये वनमें रहना मना किया गया है और जिन मन्दिर तथा ग्रामादि में ही रहने का स्पष्ट आदेश दिया गया है। यथा-

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥
—रत्नकरण्ड० १४७

कलौ काले वने वासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः।
स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ॥
—रत्नमाला

इन बातों से मालूम होता है कि रत्नमाला रत्नकरण्ड श्रावकाचार के कर्ता के शिष्य की कृति बतलाने योग्य नहीं है। साथ ही यह भी मालूम होता है कि रत्नमाला की रचना उस समय हुई है जब मुनियों में काफी शिथिलाचार आ गया था और इसी से पं० आशाधर जी जैसे विद्वानों को "पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्च तपोधनैः। शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥" कहना पड़ा। पर रत्नकरण्ड पर से रत्नकरण्डक के समय में ऐसे किसी भी तरह के शिथिलाचार की प्रकृति का संकेत नहीं मिलता और इस लिये वह रत्नमाला से बहुत प्राचीन रचना है। रत्नमाला का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह भी ज्ञात होता है कि यह यशस्तिलक चम्पू के कर्ता सोमदेव से, जिन्हों ने अपने यशस्तिलक की समाप्ति शक सं० ८८१ (वि० १०१६) में की है और इस तरह जो वि० की ११ वीं शताब्दी के विद्वान हैं, बहुत बाद की रचना है, क्योंकि रत्नमालामें आ० सोमदेव का* आधार है और जिनमन्दिर के लिये गाय, जमीन, स्वर्ण और खेत आदि के देने का उपदेश पाया जाने से+ यह भट्टारकीय युग की रचना जान पड़ती है। अतः रत्नमाला का समय वि० की ११ वीं शताब्दी से पूर्व सिद्ध नहीं होता, जब कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार और उसके कर्ता के अस्तित्व का समय विक्रम की छठी शताब्दी से पूर्व का ही प्रसिद्ध होता है। जैसा कि नीचे के कुछ प्रमाणों से प्रकट है—

१—वि० की ११ वीं शताब्दी के विद्वान आ० वादिराज ने अपने पार्श्वनाथ चरित में रत्नकरण्ड

---

* सर्वमेव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥
—यशस्तिलक

सर्वमेव विधिर्जैनः प्रमाणं लौकिकः सताम्।
यत्र न व्रतहानिः स्यात्सम्यक्त्वस्य च खंडनम् ॥
—रत्नमाला ६५

\+ गोभूमिस्वर्णकच्छादिदानं वसतयेऽर्हताम्।
—रत्नमाला

ना आचार का स्पष्ट नामोल्लेख किया है।× जिस से प्रकट है कि रत्नकरण्ड वि० की ११ वीं शताब्दी (१०८२ वि०) से पूर्व की रचना है और वह शताब्दियों पूर्व रची जा चुकी थी तभी वह वादिराज के सामने इतनी अधिक प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण कृति समझी जाती रही कि आचार्य वादिराज स्वयं उसे 'अक्षय सुखावह' बतलाते हैं और 'दिष्टः' कहकर उसे आगम होने का संकेत करते हैं।

२—११ वीं शताब्दी के ही विद्वान और वादिराज के कुछ समय पूर्ववर्ती आ० प्रभाचन्द्र ने‡ प्रस्तुत ग्रन्थ पर एक ख्यात टीका लिखी है जो माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में रत्नकरण्ड के साथ प्रकाशित हो चुकी है और जिससे भी प्रकट है कि यह ग्रन्थ ११ वीं सदी से पूर्व का है। श्री प्रभाचन्द्र ने इस ग्रन्थ को स्वामी समन्तभद्र कृत स्पष्ट लिखा है। यथा—

'श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो...... ..।'

अतः इन दो स्पष्ट समकालीन उल्लेखों से यह निश्चित है कि रत्नकरण्ड ११वीं शताब्दीके पहिले की रचना है, उत्तरकालीन नहीं।

३—आ० सोमदेव (वि० सं० १०१६) के यशस्तिलक में रत्नकरण्ड श्रावकाचार का कितना ही उपयोग हुआ है जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं—

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥
—रत्नकर० २६

यो मदात्समयस्थानामवहेलेन मोदते।
स नूनं धर्महा यस्मान्न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥
—यशस्तिलक पृ० ४१४

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥
—रत्नकर० ८७

यमश्च नियमश्चेति द्वे त्याज्ये वस्तुनी स्मृते।
यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सावधिर्नियमः स्मृतः ॥
—यशस्ति० पृ० ४०३

इससे साफ है कि रत्नकरण्ड और उसके कर्ता का अस्तित्व सोमदेव (वि० १०१६) पूर्वका है।

४—विक्रम की ७ वीं शताब्दी के आ० सिद्धसेन दिवाकर के प्रसिद्ध 'न्यायावतार' ग्रन्थ में रत्नकरण्ड श्रावकाचारका 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य' श्लो० ६ ज्यों का त्यों पाया जाता है, जो कि दोनों ही ग्रन्थों के संदर्भों का ध्यान से समीक्षण करने पर निःसन्देह रत्नकरंड का ही पद्य स्पष्ट प्रतीत होता है। रत्नकरण्ड में जहां वह स्थित है वहां उसका मूल रूप से होना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु यह स्थिति न्यायावतार के लिये नहीं है। वहां वह श्लोक मूल रूप में न भी रहे तो भी ग्रन्थ का कथन भंग नहीं होता। क्योंकि वहां परोक्ष प्रमाण के 'अनुमान' और 'शाब्द' ऐसे दो भेदों को बतलाकर के स्वार्थानुमान का कथन करने के बाद 'स्वार्थ' 'शाब्द' का कथन करने के लिये श्लोक ८ रचा गया है और इसके बाद उपर्युक्त 'आप्तोपज्ञ' श्लोक दिया गया है। परार्थ शाब्द और परार्थ अनुमान को बतलाने के लिये भी आगे स्वतंत्र स्वतंत्र श्लोक हैं अतः वह पद्य श्लोक ८ में उक्त

× त्यागी स एव योगीन्द्रः येनाक्षय्यसुखावहः।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टः रत्नकरण्डकः ॥

‡ इनका समय पं० महेन्द्रकुमार जी ने ई० ९८० से १०६५ दिया है।
—न्यायकुमुद० द्वि० भाग की प्रस्ता०

विषय के समर्थनार्थ ही रत्नकरण्ड से अपनाया गया है+ यह स्पष्ट है। और उसे अपनाकर ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ का उसी प्रकार अङ्ग बना लिया है जिस प्रकार अकलंकदेव ने आप्तमीमांसा की 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' कारिका को अपना कर अपने न्यायविनिश्चय में कारिका ४१५ के रूप में ग्रन्थ का अंग बना लिया है। न्यायावतार के टीकाकार सिद्धर्षि ने, जिनका समय ६ वीं शताब्दी है, इस उक्त पद्य की टीका भी की है, इससे रत्नकरण्ड की सत्ता निश्चय ही ६ वीं और ७ वीं शताब्दी से पूर्व पहुंच जाती है।

५—ईसा की पांचवी (विक्रम की छठी) शताब्दी के विद्वान आ० पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में रत्नकरण्ड श्रावकाचार के कितने ही पद, वाक्यों और विचारों का शब्दशः और अर्थशः अनुसरण किया है जिसका मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी ने अपने 'सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्र का प्रभाव' नामक लेख के द्वारा अच्छा प्रदर्शन किया है।× यहां उसके दो नमूने दिये जाते हैं:—

क- 'तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्।
कथाप्रसङ्गप्रसवः स्मर्तव्यः पाप- उपदेशः॥
—रत्नकरण्ड ०७६

'तिर्यक्क्लेशवणिज्याप्राणिवधकारम्भकादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः।'—सर्वार्थसिद्धि ७-२१

ख- 'अभिसंधिकृता विरतिः''''व्रतं भवति।'
—रत्नकरण्ड० ८६

'व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः।'
—सर्वार्थसिद्धि ७-१

+ विशेष के लिये देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १२७ से १३२

× देखो अनेकान्त वर्ष ५ किरण १०-११

ऐसी हालत में छठी शताब्दी से पूर्व के रचित रत्नकरण्ड के कर्ता (समन्तभद्र) ११ वीं शताब्दी के उत्तरवर्ती रत्नमालाकार शिवकोटि के गुरु कदापि नहीं हो सकते।

अतः उपर्युक्त विवेचन से जहां यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्डके कर्ता श्रीसमन्तभद्राचार्य रत्नमालाकार शिवकोटि के साक्षात गुरु नहीं हैं। वहां यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार सर्वार्थसिद्धि के कर्ता पूज्यपाद (४५० A. D.) से पूर्व की कृति है।

अब मैं प्रोफेसर साहब के उस मत पर विचार करता हूं जिसमें उन्होंने दोष के स्वरूप को लेकर रत्नकरण्ड श्रावकाचार और आप्तमीमांसा के अभिप्रायों को भिन्न बतलाया है और कहा है कि "रत्नकरण्ड में जो दोष का स्वरूप समझाया गया है, वह आप्तमीमांसाकार के अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता।" इसका आधार भी आपने यह बतलाया है कि समन्तभद्र ने आप्तमीमांसाकी कारिका+ ९३ में वीतराग मुनि (केवली) में सुख-दुःख की वेदना स्वीकार की है। इसपर मैं कहना चाहता हूं कि 'दोष के स्वरूपके सम्बन्धमें रत्नकरण्डका और आप्तमीमांसाकार का अभिप्राय भिन्न नहीं है—एक ही है, और न स्वामी समन्तभद्र ने केवली भगवान में सुख-दुःख की वेदना स्वीकार की है। इसका खुलासा निम्न प्रकार है—

रत्नकरण्डश्रावकाचार में आप्त के लक्षण में एक खास विशेषण 'उच्छिन्नदोष' दिया गया है और उस के द्वारा आप्त को दोष-रहित बतलाया गया है।

+ पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः॥

आगे दोष का स्वरूप समझाने के लिये निम्न श्लोक रचा गया है—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः सः प्रकीर्त्यते ॥६॥

इस श्लोक में प्रायः उसी प्रकार क्षुधादि दोषोंको गिना कर दोष का स्वरूप समझाया गया है जिस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने+ नियमसार की गाथा× नं० ६ में वर्णित किया है। अब देखना यह है कि आप्तमीमांसाकार को भी ये क्षुधादि दोष अभिमत हैं या नहीं? इसके लिये हमें आप्तमीमांसाकार की दूसरी कृतियों का भी सूक्ष्म पर्यालोचन करना चाहिये तभी हम आप्तमीमांसाकार के पूरे और ठीक अभिप्रायको समझ सकेंगे। यह प्रसन्नताकी बात है कि प्रोफेसर साहब ने स्वयंभूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन को आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र की ही कृतियां स्वीकार किया है। स्वयंभूस्तोत्र में स्वामी समन्तभद्र ने 'दोष' का स्वरूप वही समझाया है जो रत्नकरण्ड में दिया है। यथा—

क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः। ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोरितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥

—स्वयंभू १८

पाठक देखेंगे कि समन्तभद्र कितने स्पष्ट शब्दोंमें आप्तकेवली के आहारादि अभाव का और क्षुधादि सुख दुःख वेदनाओं के अभाव का प्रतिपादन करते हैं। यहां तक कह देते हैं कि इनसे आत्मा का उपकार होना तो दूर रहा, शरीर का भी कोई उपकार नहीं होता। जब इनसे कोई उपकार नहीं तो उनका ग्रहण क्यों होगा? अर्थात् नहीं होगा। 'क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः न स्थितिः' और 'ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोः' ये तीन पद खास ध्यान देने योग्य हैं जिनके द्वारा जहां आप्त में क्षुधादि दुःखों (दोषों) और इन्द्रिय विषय सुखों का अभाव बतलाया गया है वहां प्रतिकारस्वरूप भोजनादि से शरीर शरीरी के उपकार का अभाव भी प्रतिपादन किया गया है। दूसरी बात यह है कि भोजनादि करना और इन्द्रिय-विषयसुखों का अनुभव करना तो मनुष्य का स्वभाव है, मनुष्य-स्वभाव से रहित केवली भगवान का नहीं, वे उस स्वभाव से सर्वथा छूट चुके हैं। मनुष्य और केवली की एक प्रकृति का क्यों बतलाया जाता है? स्वयं स्वामी समन्तभद्र क्या कहते हैं। देखिये

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्-
देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ परमासि देवता,
श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ॥

—स्वयंभू० ७५

इससे यह निर्विवाद प्रकट है कि समन्तभद्र आप्त को क्षुधादि-दोष-रहित मानते हैं और जिसकी प्रतिज्ञा-सामान्यविधान तो रत्नकरण्ड के उक्त पद्य में किया है और युक्ति से समर्थन स्वयंभू-स्तोत्र के प्रस्तुत पद्य में किया है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि 'क्षुधादि' पद में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से शेष तृषादि दोषों का भी ग्रहण किया गया है और उनका

+ डा० ए० एन० उपाध्ये ने प्रवचनसार की भूमिका में आ० कुन्दकुन्द का समय ई० की पहिली शताब्दी दिया है।

× छुहतण्हभीररोसो रागो,
मोहो चिंता जरारुजामिच्चू।
स्वेदं खेद मदो रइ-
विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो ॥

केवली में अभाव स्वीकृत है। महत्व की बात तो यह है कि समन्तभद्र ने शेष जन्मादि दोषों को और उनके केवली में अभाव को स्वयम्भूस्तोत्र के दूसरे पद्यों में भी बतला दिया है। यहां कुछ को दिया जाता है:—

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्म-ज्वरसखः सदा।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः ॥६३॥
'ध्वंसि कृतान्तचक्रम्' (७६)

यहां अन्तक-मरण और उसके साथी जन्म और ज्वर (रोग) इन तीन दोषों का अभाव बतलाया है।

'जन्म-जराजिहासया' (४६) 'ज्वर-जरा-मरणोपशान्त्यै' (८१) इनमें जन्म ज्वर और मरण तो पहले आ गये। 'जरा' का भी अभाव बतलाया गया है। यहां 'जिहासा' और 'उपशान्ति' शब्दों से केवली अवस्था पाने पर अभाव ही विवक्षित है, यह स्पष्ट है।

'विरजो निजं वपुः' (११३) 'निर्मोहः' (१२०) 'त्वं जिन' गतमदमायः' (१४१) 'वीतरागे' 'विवान्तवैरे' (५७) 'भयकामवश्यो' (३४) 'भूयाद्भवक्लेश-भयोपशान्त्यै' (८०) इन पदों के द्वारा वहीं शब्दतः और वहीं अर्थतः क्रमसे मल, मोह, मद, राग, वैर, (द्वेष), स्नेह, क्लेश और भय इन दोषों का केवली भगवान में अभाव प्रतिपादित किया है।

यहां यह खास स्मरण रखना चाहिये कि ऊपर दि० परम्परा-सम्मत ही दोषों का उल्लेख है—श्वे० परम्परा-सम्मत नहीं माना है। श्वेताम्बरों के यहां दोषों में क्षुधा, तृषा जन्म ज्वर, जरा को नहीं माना है। अतः यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार को जो दोष का स्वरूप क्षुधादि अभिमत है वही आप्त मीमांसाकार को भी अभिमत है—उनका भिन्न अभिप्राय कदापि नहीं है। और इस लिये विद्यानन्द के व्याख्यान का भी, जो उन्हों ने आप्त० कारिका ४ और ६ में किया है और जिसको कु० में प्रं० सा० ने प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है, यही आशय लेना चाहिये। यह भी स्मरण रहना चाहिये कि वहां उनका दृष्टिकोण दार्शनिक भी है। अतः उसको लेकर उन्होंने दोष का विश्लेषण किया है। और दर्शनान्तरों में भी मान्य अज्ञान, राग और द्वेष को कण्ठोक्त कहकर 'आदि' शब्द द्वारा अन्यों का ग्रहण किया है। यदि ऐसा न हो तो उन्हीं के श्लोकवार्तिकगत (पृ० ४६२) व्याख्यान से, जहां सबलता से क्षुधादि वेदनाओं का अभाव सिद्ध किया है। विरोध आवेगा, जो विद्यानन्द के लिये किसी प्रकार इष्ट नहीं कहा जा सकता।

समन्तभद्र का भिन्न अभिप्राय बतलाने के लिये जो यह कहा गया था कि ,केवली में उन्होंने सुख-दुःख की वेदना स्वीकार की है' उसका भी उपर्युक्त विवेचन से समाधान हो जाता है; क्योंकि समन्तभद्र ने स्पष्टतः स्वयम्भू स्तोत्र का० १८ के द्वारा सुख-दुःख का केवलीमें स्वयं अभाव घोषित किया है और 'शर्म शाश्वतमवाप शंकरः' (७१) 'विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभून्' (८२) कहकर तो बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि जिनेन्द्र में शाश्वत—सदा कालीन सुख है विषयजन्य क्षणिक सुख नहीं। दो सुख एक साथ नहीं रह सकते; क्योंकि व्याप्यवृत्ति सजातीय दो गुण एक साथ नहीं रहते। और दुःख तो सुतरां निषिद्ध हो जाता है। ऐसी हालत में सुख दुःख की वेदना स्वीकार करने पर केवली में 'शाश्वत-सुख' कदापि नहीं बन सकता। हमारे इस कथन की पुष्टि आ० विद्यानन्द के निम्न कथन से भी हो जाती है—

'पुरादिदेवनाद्भूतो नार्हतोऽ[illegible] मतः'
(इ[illegible]तिक पृ० ४९२)

अब मैं यह भी प्रकट कर दूं कि आ[illegible]मीमांसा कारिका ९३ में जो वीतराग मुनि में सुख-दुःख स्वीकार किया गया है वह छठे आदि गुणस्थानवर्ती वीतराग मुनियों के ही बतलाया है न कि तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान[illegible] वीतराग मुनि-केवलियों के। कारण कि समन्तभद्र को 'वीतराग मुनि' शब्द का अर्थ केवली या अरहंत विवक्षित नहीं है यह हम उनके पूर्वापर कथनों वर्णनों और संदर्भों के आधार पर समझ सकते हैं। वस्तुतः 'वीतराग मुनि' शब्द से यहां समन्तभद्र को वह मुनि विवक्षित है जिसके केशलौंचनादि कायक्लेश सम्भव है। और यह निश्चित है कि वह केवली के नहीं होता। 'वीतराग मुनि' शब्द का प्रयोग केवली के अलावा छठे आदि गुणस्थानवर्तियों के लिये भी साहित्य में हुआ है*। और यह तो प्रकट ही है कि वर्तमान दिगम्बर जैन साधुओं के लिये भी होता है। स्वयं स्वामी समन्तभद्र ने 'वीतराग' जैसा ही 'वीतमोह' शब्द का प्रयोग केवली-भिन्नों के लिये आप्तमी० का० ९८ में किया है इससे स्पष्ट है कि रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसा का एक ही अभिप्राय है और इस लिये वे दोनों एक ही ग्रंथकार की कृति हैं और वे हैं स्वामी समन्तभद्र।

आप्तमीमांसाकार ही रत्नकरण्ड के भी कर्ता हैं, इस बात को मैं अन्तःपरीक्षणद्वारा भी प्रकट कर देना चाहता हूं ताकि फिर दोनों [illegible] के सम्बन्धमें कोई संदेह या भ्रम न रहे:—

(१) रत्नकरण्ड श्रा[illegible]चार श्लोक ९ में शास्त्र के लक्षणमें एक खास पद दिया गया है। जो बड़े महत्व का है और जो निम्न प्रकार है:—

...'अदृष्टेष्टविरोधकम्।.......शास्त्रं .... 'रत्नक०९

श्री स्वामी समन्तभद्र शास्त्र के इसी लक्षण को युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा और स्वयंभूस्तोत्रमें देते हैं। यथा—

(क) दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।

—युक्त्यनु० ४९

(ख) 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
'अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते।'—

—आप्तमी०

(ग) 'दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः' स्वयंभू० १२८

यहां तीनों जगह शास्त्र का वही लक्षण दिया है, जिसे रत्नकरण्डश्र[illegible]काचार में कहा है और जिसे यहां तार्किकरूप दिया है। पाठक, देखेंगे कि यहां शब्द और अर्थ प्रायः दोनों एक हैं।

(२) रत्नकरण्डमें ब्रह्मचर्य प्रतिमाका लक्षण करते हुए कहा गया है कि 'पूतिगन्धि बीभत्सम्...अङ्गम्' (रत्नक० १४३) और यही स्वयंभूस्तोत्र में सुपार्श्व जिनकी स्तुति में कहा है... 'जीवधृतं शरीरम्। [illegible]भत्सु पूति क्षयि—' (श्लो० ३२)

यह दोनों वाक्य स्पष्ट ही एक व्यक्ति की भावना को बतलाते हैं।

(३) रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आप्तका लक्षण निम्न लिखित किया गया है जो खास ध्यान देने योग्य है:—

---

* क-सुविदिदपदत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति॥
—प्रवच० १-१४

ख-'सूक्ष्मसाम्पराय[illegible]वीतरागयोश्च[illegible] दश'
—तत्त्वार्थ[illegible]त्र ९-१०

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥

इस श्लोक को पाठक, आप्तमीमांसा की निम्न कारिकाओं के साथ पढ़ने का कष्ट करें—

सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ।
दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥
स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥

—आप्त० का० ३ से ७ तक

यहां देखेंगे कि रत्नकरण्ड में आप्त का आगमिक दृष्टि से जो स्वरूप बताया गया है उसे ही समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा की इन कारिकाओं में दार्शनिकों के सामने दार्शनिक ढङ्ग से अन्ययोगव्यवच्छेदपूर्वक रखा है और प्रतिज्ञात आप्त स्वरूप को ही अपूर्व शैली से सिद्ध किया है। 'आप्त' के लिये सबसे पहिले 'उच्छिन्नदोष' होना आवश्यक और अनिवार्य है, फिर 'सर्वज्ञ' और उसके बाद 'शास्ता' जो इन तीन बातों से विशिष्ट है। वही सच्चा आप्त है। इसके बिना 'आप्तता' संभव नहीं है। समन्तभद्र आप्तमीमांसा में इसी बात को युक्ति से सिद्ध करते हैं। 'दोषावरणयोः' कारिका के द्वारा 'उच्छिन्नदोष' 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' के द्वारा 'सर्वज्ञ' और 'स त्वमेवासि निर्दोषो' तथा 'त्वन्मतामृत' इन दो कारिकाओं के द्वारा 'शास्ता-अविरोधिवक्ता' कहा है। सबसे बड़े महत्वकी बात तो यह है कि रत्नकरण्ड में 'आप्तत्व' के प्रयोजक क्रम-विकसित जिन गुणों का प्रतिपादन क्रम रक्खा है उसे ही आप्तमीमांसा में अपनाया और प्रस्फुटित किया है। 'अन्यथा ह्याप्तता न भवेत्' और 'सर्वेषामाप्तता नास्ति' ये दोनों पद तो प्रायः एक हैं और इस लिये जो एक दूसरे का ऐक्य बतलाने के लिये खास महत्व के हैं और जो किसी भी प्रकार उपेक्षणीय नहीं हैं। अन्यथा आप्तता क्यों नहीं बन सकती? इसका स्पष्ट खुलासा रत्नकरण्ड श्रावकाचार में नहीं मिलता और जिसका न मिलना स्वाभाविक है, क्योंकि रत्नकरण्ड आगमिक और विधिपरक रचना है, साथ ही में संक्षिप्त और विशद गृहस्थाचार को प्रतिपादक एक कृति है। सुकुमारमति गृहस्थों को वे यहां युक्ति जाल में आबद्ध करना (लपेटना) ठीक नहीं समझते, किन्तु वे इसका खुलासा आप्तमीमांसा की 'त्वन्मतामृतबाह्यानां' आदि कारिकाओं में करते हैं और कहते हैं कि 'उच्छिन्नदोषत्वादि' के न होने से सदोषता में आप्तता नहीं बन सकती है। अतः यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार और आप्तमीमांसादि के कर्ता एक हैं और वे स्वामी समन्तभद्र हैं।

यहां यह शंका उठ सकती है कि रत्नकरण्ड-श्रावकाचार के भाषा-साहित्य और प्रतिपादन-शैली के साथ आप्त-मीमांसादि के भाषा-साहित्य और प्रतिपादन-शैली का मेल नहीं खाता। रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भाषा अत्यन्त सरल और स्पष्ट है प्रतिपादन शैली भी प्रसन्न है पर गहरी नहीं है जब कि आप्तमीमांसादि कृतियों की भाषा अत्यन्त गूढ़ और जटिल है थोड़े में अधिक का बोध कराने वाली है—प्रतिपादनशैली गम्भीर और सूत्रात्मक है। अतः इन सबका कर्ता एक नहीं हो सकता? यह शंका

एक कर्तृकता में कोई बाधक नहीं है। रत्नकरण्ड-श्रावकाचार आगमिक दृष्टि से लिखा गया है और उसके द्वारा सामान्य लोगों को भी जैन धर्म का प्राथमिक ज्ञान कराना लक्ष्य है। आप्तमीमांसादि दार्शनिक कृतियां हैं और इस लिये वे दार्शनिक ढङ्ग में लिखी गई हैं उनके द्वारा विशिष्ट लोगों को—जगत के विभिन्न दार्शनिकों को जैनधर्म के सिद्धान्तों का रहस्य समझाना लक्ष्य है।

दूर नहीं जाइये, अकलंकदेव को ही लीजिये। अकलंकदेव जब तत्त्वार्थसूत्र पर अपना तत्त्वार्थवार्तिक भाष्य रचते हैं तो वहां उनका भाषा-साहित्य कितना सरल और विशद हो जाता है, प्रतिपादनशैली न गम्भीर है और न गूढ़ है। किन्तु वही अकलंक जब लघीयस्त्रय, प्रमाणसंग्रह, न्याय विनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय और अष्टशती इन दार्शनिक कृतियों की रचना करते हैं तो उनकी प्रतिपादनशैली कितनी अधिक सूत्रात्मक, दुरवगाह और गम्भीर हो जाती है। वाक्यों का विन्यास कितना गूढ़ और जटिल हो जाता है कि उनके टीकाकार बरबस कह उठते हैं कि अकलंक के गूढ़ पदों का अर्थ व्यक्त करने की हम में सामर्थ्य नहीं है।* अतः जिस प्रकार अकलंक देव का राजवार्तिक भाष्य आगमिक दृष्टि से लिखा होने से सरल और विशद है और प्रमाण-संग्रहादि दार्शनिक दृष्टि से लिखे होने से जटिल और दुरवगाह हैं फिर भी इन सबका कर्ता एक है और वे अकलंक देव हैं उसी प्रकार 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' आगमिक दृष्टिकोण से लिखा गया है और आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र दार्शनिक दृष्टिकोण से। अतः इन सबका कर्ता एक ही है और वे हैं स्वामी समन्तभद्र।

—अनेकांत

* देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलंकस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥

—अनन्तवीर्य



[५]

शिवभूति और शिवार्य अभिन्न नहीं है

(ले०—श्री० पं० रामप्रसाद जी जैन शास्त्री बम्बई)

श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी साहब अमरावती ने अभी कुछ थोड़े समय में दो ट्रैक्ट प्रकाशित किये हैं उनमें एक तो 'शिवभूति और शिवार्य' पहला ट्रैक्ट है और दूसरा 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' है। दोनों ट्रैक्ट आपने बड़े परिश्रम से अपनी बुद्धि के अनुसार गवेषणा को लिये हुए लिखे हैं। वे ट्रैक्ट वास्तव में अभी गवेषणा के मार्ग पर स्थित है न कि उन ट्रैक्टों का विषय एक कोटिरूप निश्चयता को लिए लिये हुए है। गवेषियों के ऐसे विषय किसी अनिश्चित पदार्थ को विशद निश्चय करने की दृष्टि से विद्वानों के समक्ष रक्खे जाते हैं। इस लिये वे उपेक्षा के विषय नहीं होते, किन्तु वे खास एक विचारणा की दृष्टि के होते हैं। अतः उसी दृष्टि को रख कर उन दोनों ट्रैक्टों पर क्रमशः मेरा यह विचारणा का उपक्रम है।

आपने 'शिवभूति और शिवार्य' नाम के प्रथम ट्रैक्ट में प्रथम ही श्वेताम्बर आवश्यक मूल भाष्य की नं० १४५-१४६-१४७-१४८ की गाथाओं द्वारा यह लिखा है कि—"शिवभूति नामके एक प्राचीन आचार्य थे, उनने रहवीर नगर के दीपक उद्यान में आर्यकृष्ण के समक्ष 'बोटिक-बोटिक' मत की स्थापना की जो कि वह ही मत श्वेताम्बर दृष्टि से दिगम्बर माना जाता है और जिसका समय श्री वीरनिर्वाण से ६०९ के अनन्तर पड़ता है।

मूलाराधना—भगवती आराधना जो कि दि० सम्प्रदाय का एक मुनिधर्म का मुख्य ग्रंथ है उसके कर्ता शिवार्य हैं। इनमें 'आर्य' और शिवभूति में 'भूति' ये नाम के अंश न होकर उपाधि हैं। अतः 'शिव' नामके दोनों व्यक्ति एक ही हैं।" यह आपके ट्रैक्ट का मुख्य विषय है।

यहां पर प्रथम ही आपने 'आर्य' और 'भूति' इन दो शब्दों को नामांश न बतलाकर उपाधि बतलाई है उसके लिये कोई भी खास ऐसा प्रमाण उपस्थित नहीं किया कि जिससे यह शब्द नामांश न होकर उपाधिरूप सिद्ध हो जांय, मेरी समझ से यहां ये दोनों उपाधि न होकर नामांश ही हैं। कारण कि यदि 'भूति' उपाधि होती तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के २५-३० आचार्यों के नाम के साथ यह अवश्य पायी जाती तथा यदि 'आर्य' भी उपाधि होती तो दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों के साथ भी बहुतों से नामांतर में पाई जाती। दूसरे श्वेताम्बर स्थविरावली के गद्य की लिखावट से शिवभूति के गुरु धनगिरि* हैं

* थेरस्सणं अज्जधणगिरस्स वासिट्ठसगुत्तस्स अज्ज-
सिवभूई थेरे अंतेवासी कच्छसगुत्ते ॥१६॥

और भगवती आराधना के कर्ता—शिवार्य के गुरु+ जिननन्दिगणी शिवगुप्तगणी और आर्यमित्रनन्दि हैं। इस लिये ज्ञात होता है कि यदि शिवार्य ही शिवभूति होते तो अपने महत्व के ग्रंथ भगवती आराधना में अपने पूर्वगुरु धनगिरि का अवश्य आदर के साथ उल्लेख करते। भगवती आराधना में शिवभूति के गुरु का उल्लेख नहीं है, इस लिये स्पष्ट है कि शिवभूति और शिवार्य एक व्यक्ति नहीं है। श्री प्रोफेसर साहब ने जो यह लिखा है कि 'शिवभूति ने दिगम्बर सम्प्रदाय के नन्दिसंघ में प्रवेश किया' इस लिखावट से सिद्ध है कि दिगम्बर सम्प्रदाय पहले से ही था, न कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मन्तव्य से शिवभूति ने दिगम्बर सम्प्रदाय की 'बोटक' नाम से स्थापना की।

शिवार्य के तीन गुरुओं में 'शिवगुप्त' नाम जो दीख रहा है वह 'शिव को गुप्त कर चन्द्रप्रभको प्रकट करने वाले समन्तभद्र' का सूचक ज्ञात होता है। इस नाम से यह बात समझ में आ जाती है कि भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य और शिवकोटि एक व्यक्ति हैं न कि श्वेताम्बर मान्य शिवभूति शिवार्य हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाहुडकी ५३ वी गाथा में तुषमाष× की घोषणा करते हुए भावविशुद्ध जिन महानुभाव शिवभूति का उल्लेख किया है वे पहले द्रव्यलिंगी (दिगम्बर) शिवभूति दूसरे थे, कारण कि उनको केवलज्ञानी लिखा है। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार केवलज्ञान और मोक्ष की विछित्ति जम्बू स्वामी के मोक्ष गये बाद हो गई थी। अर्थात् जम्बू स्वामी के बाद फिर किसी को भी मोक्ष दिगंबर सम्प्रदाय में नहीं मानी गई है। और जम्बू स्वामी तक ६२ वर्ष महावीर स्वामी के समय से लेकर समय माना गया है और इन श्वेताम्बर मान्य शिवभूति का समय वीर निर्वाणसे ६०९ वर्ष माना गया है अतः कुंदकुंद स्मरत भावपाहुडके शिवभूति दूसरे शिवभूति हो सकते हैं जो कि महावीर स्वामी के समय से पूर्व के होंगे अथवा उनके समय के ही कोई होंगे।

दूसरे—बात ऐसी है कि—शिवभूति या शिवार्य एक ही होते तो उन शिवभूति की कुन्दकुन्द प्रशंसा, भी क्यों करते, क्योंकि उनने तो अपवादरूप के वस्त्र को भी मुनिलिंग माना है जिसका कि श्री कुन्दकुन्द तीव्रतासे विरोध करते हैं। अतः इससे भी पाया जाता है कि कुन्दकुन्द के वे शिवभूति नहीं हैं जिनको कि आप समझ रहे हैं।

भगवती आराधना की गाथा+ ११२० का अभिप्राय कुंदकुन्द की भावपाहुड की ५३ नम्बरकी गाथा से कुछ विशेष अर्थ को लिये हुए है और कुन्दकुन्द का वास्तविक आम्नाय जो कि मोक्षोपयोगी है उसका सूचक है। गाथा का अभिप्राय यह है—तुष छिलके के सहित तंदुल या धान्य में कुंडुआ नामक मल लग जाता है वह तुष को दूर किये बिना तंदुल या धान्य से जुदा नहीं हो सकता। इसका असली भाव, कर्म नोकर्म से परस्पर सम्बन्धित है। अर्थात्—कर्मस्थानापन्न कुंडुआ मल और नोकर्म स्थानापन्न वस्त्रादि

+ अज्जजिणणंदिगणि सव्वगुत्तगणि अज्जमित्तणंदीणं। अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥२१६१॥

× तुसमासं घोसंतो भावविशुद्धो महाणुभावो य। णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥५३ (भा० पा०)

+ जह कुंडुओ न सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स। तह जीवस्स ण सक्कं मोहमलं संगसत्तस्स ॥११२०

परिग्रह है—मानो वस्त्रादि परिग्रहका त्याग किये बिना द्रव्यकर्म और भावकर्म मल दूर नहीं हो सकते। इस प्रकार का गाथा का अभिप्राय मोक्षोपयोगिता में वस्त्र का सर्वथा त्याग सूचित करता है। और अन्यत्र इस ग्रन्थ में मुनि अवस्था में वस्त्र का ग्रहण है वह अशक्तता में मुनिदशा की अभ्यासता का सूचक है। परन्तु कुन्दकुन्द भावी-शैथिल्य की सम्भावना से उसका भी जबरन निषेध करते हैं। इससे मालूम होता है कि कुन्दकुन्द और शिवार्य में मुनिमार्ग स्थिति का कुछ मतभेद है परन्तु मोक्षोपयोगिता में दोनों दिगम्बरता से एक हैं।

भावपाहुड़ की ५१ वीं गाथा में भावश्रमण शिव-कुमार मुनि के लिये जो युवतिजनवेष्टित होकर संसार से पार उतरने का कथन आया है। वैसा ही भग-वती आराधना की ११०८ गाथा से १११६ गाथा में वर्णन आया है। उससे आपने जो यह समझा है कि भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य के लिये ही कुंदकुंद के वे उद्गार हैं। परन्तु गाथा में संसार को पार कर गये यह बात जो लिखी है वह शिवार्य के लिये नहीं हो सकती। कारण कि शिवार्य का समय मोक्ष जाने का साधन नहीं था। इस लिये मानना पड़ेगा कि कुन्दकुन्द के शिवभूति और शिव-कुमार भगवती आराधना के शिवार्य नहीं हैं।

इस लेख से सम्बन्धित एक विषय

शिवभूति कोई श्वेतांबर सम्प्रदाय के आचार्य थे उनने दिगम्बर मान्यता को श्रेष्ठ समझकर श्वेताम्बर साधुओं को बोध कराने के लिये बोडिय मत की स्थापना की। 'बोडिय' का अर्थ 'बोधक' होता है और वह ही अर्थ यापनीय का होता है। क्योंकि 'यापनीय' का 'ज्ञापनीय' अर्थ होता है। अतः बोधक और ज्ञापनीय एक अर्थ के बोधक हैं। आप ने 'बोडिय' शब्द का अर्थ 'बटेर' लिया है जिसके कि पंख की पीछी की सम्भावना कर भगवती आरा-धना कथित पीछी का सादृश्य मिलाया है वह किसी तरह भी संभावित नहीं होता। कारण कि बटेर एक चिड़िया के समान इतना छोटा पक्षी होता है कि जिसके पंखों की पीछी बन नहीं सकती। यह पक्षी यू० पी० में बहुलता से पाया जाता है जिसकी आंखें बहुत ही फटी हुई सरीखी खुली हुई रहती हैं। अत-एव यू० पी० में बटेर की सी आंखों की कहावत मशहूर है। भगवती आराधना में जो पिच्छी का लक्षण लिखा है उसका मिलान दिगम्बर सम्प्रदाय की मयूर-पिच्छ से मिलता है अतः स्पष्ट है कि भग-वती आराधना के कर्ता मूल संघाम्नायी दिगम्बर थे जो कि यापनीय संघ के स्थापक शिवभूति से जुदे थे।

—जैन बोधक

[६]

शिवभूति और [शि]वार्य।

(प्रो० हीरालाल जी जैन, अमरावती)

उक्त शीर्षक मेरे लेख में मैंने श्वेतांबर स्थविरावली व आवश्यक मूल भाष्य में उल्लिखित शिवभूति और भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य को अभिन्न बतलाने का प्रयत्न किया है। इसपर सर्वप्रथम समालोचना पं० रामप्रसाद जी शास्त्री मुंबई ने जैन[सन्दे]श के ता० २२-३-४४ के अंक में प्रकाशित अपने 'शिवभूति और शिवार्य अभिन्न नहीं हैं' इस शीर्षक लेख में किया है। पण्डित जी ने प्रथम ही जो यह स्वीकरण किया है कि मेरे ट्रेक्ट गवेषणाके मार्ग पर स्थित हैं, उन्हें निश्चय कोटि में नहीं लेकर उनपर विचार करना चाहिये। यह सर्वथा उपयुक्त है। मैं पण्डित जी के इस मत से पूर्णतः सहमत हूं और उनके इस स्पष्टीकर[ण] का स्वागत करता हूं। किसी भी नये दृष्टिकोण को सन्मुख लाने वाले लेख अन्य विद्वानों के लिये विचार की सामग्री हुआ करते हैं और विषय के अन्तिम निर्णय के लिये विद्वानों को उनपर अपना मत प्रकट करने का पूर्ण अधिकार हुआ करता है जिसका अवश्य उपयोग करना चाहिये।

किन्तु यह विचार प्रकटीकरण तभी निर्णय में सहायक हो सकता है जब लेखक द्वारा प्रस्तुत किये हुए मुद्दों पर ठण्डे दिल से निष्पक्ष दृष्टि द्वारा सौजन्यपूर्वक पूर्णतः विचार किया जाय। लेख की किसी बात को या तर्कणा के आवश्यक अंग को दबाकर या उसकी उपेक्षा करके किसी विषय का खण्डन करना निर्णय में जरा भी सहायक नहीं हो सकता, केवल पाठकों के दृष्टि—बिन्दु को विपथभ्रष्ट कर सकता है और उससे निरर्थक समय और शक्ति का घात भी होता है। पण्डित रामप्रसाद जी के लेख में कुछ ऐसा ही पाया जाता है जैसा कि निम्न विवेचन से प्रकट होगा।

पण्डित जी ने उक्त नामों के समीकरण के विरुद्ध जो पहली आपत्ति उठाई है वह यह है कि "शिवार्य और शिवभूति इन दो शब्दों को नामांश न बतलाकर उपाधि बतलाई है उसके लिये कोई भी खास प्रमाण उपस्थित नहीं किया कि जिससे ये शब्द नामांश न होकर उपाधि रूप सिद्ध हो जांय।" प० जी के इन शब्दों को पढ़कर मुझे ख्याल होता है कि या तो पण्डित जी ने मेरा लेख ध्यान से पढ़ा ही नहीं है और या यदि पढ़ा है तो वे जान बूझकर उसमें दिये हुये विषय विवेचन को छिपा रहे हैं और मेरी तर्कणा के दोष दिखाने का पक्ष लूट रहे हैं। पण्डित

जी की उक्त आपत्ति के उत्तर में केवल अपने लेख के एक अंश को उद्धृत कर रहा हूं जो इस प्रकार है—

"अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि क्या इन आर्य शिवभूति का दिगम्बर सम्प्रदाय के किसी आचार्य के साथ एकत्व सिद्ध होता है। उक्त नाम हमें आराधना एवं भगवती आराधना के कर्ता का स्मरण दिलाता है जिनके साथ उक्त एकत्व कदाचित् संभव हो, क्योंकि इन आचार्य का नाम ग्रंथ में शिवार्य पाया जाता है। जिनके तीन गुरुओं के नाम आर्य जिननंदिगणि, शिवगुप्तगणी और आर्य मित्रनन्दि कहे गये हैं। इन नामोल्लेखों से इतना तो स्पष्ट है कि आर्य नाम का अंश नहीं किन्तु एक आदरसूचक उपाधि थी जो स्थविरावली में सभी आचार्यों के नामों के साथ लगी हुई पायी जाती है। अतः शिवार्य आर्य शिव के स्वरूप हैं जिसका एकत्व आर्य शिवभूति के साथ बैठालना कठिन नहीं है, क्योंकि नाम के उत्तरार्ध को छोड़ कर उल्लेख करना एक साधारण बात है, जैसा कि रामचन्द्र के लिये राम, कृष्णचन्द्र के लिये कृष्ण व भीमसेन के लिये भीम के उल्लेखों में पाया जाता है।

(शिवभूति और शिवार्य पृ० ३-४)

इसपर से पाठक स्वयं विचार कर देखें कि मैंने 'भूति' को नामांश बतलाया है या उपाधि तथा आर्य को उपाधि तथा भूति नामांश को छोड़कर नाम के एकदेश के उपयोग के लिये प्रमाण उपस्थित किये हैं या नहीं।

पण्डित जी की दूसरी आपत्ति यह है कि "यदि शिवार्य ही शिवभूति होते तो अपने महत्व के ग्रन्थ भगवती आराधना में अपने पूर्वगुरु धर्मगिरि का आदर के साथ उल्लेख करते।" किन्तु मैं अपने लेख में बतला चुका हूं कि शिवभूति ने स्व. संघ को छोड़कर "नन्दिसंघ में प्रवेश किया और इस संघ के आगम का जिननन्दि सर्वगुप्त और मित्रनन्दि इन तीन आचार्यों से उपदेश पाया।" इसी उपदेश के आधार से उन्होंने भगवती आराधना की रचना की। अतः उसमें उनके इन गुरुओं का उल्लेख करना स्वाभाविक था, न कि छोड़ेहुए संघके गुरुका।

पण्डित जी की तीसरी आपत्ति यह है कि कुंदकुंद ने अपने बोधपाहुड में जिन शिवभूति का उल्लेख किया है वे स्थविरावली में उल्लिखित शिवभूति से भिन्न और बहुत पूर्व के होना चाहिये, "कारण कि उनको केवलज्ञानी लिखा है दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार केवलज्ञान और मोक्ष की विच्छित्ति जंबूस्वामी के मोक्ष गये बाद हो गई थी" किन्तु ऐतिहासिक गवेषणा में इस युक्ति को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह विषय स्वयं विचारणीय है। कि केवलज्ञान तीर्थंकरत्व और मोक्ष के सम्बन्ध और व्युच्छित्ति की मान्यता कितनी पुरानी है। उदाहरणार्थ स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ने सूत्रपाहुडकी गाथा २३ में कहा है कि जैनशासन में तीर्थंकर होकर भी यदि वस्त्रधारी है तो वह सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। इसी की टीका करते हुए श्रुतसागर जी ने कहा है कि कोई तीर्थंकर परमदेव भी हो जाय, उसके पंचकल्याणक भी हो जांय तो यदि वह वस्त्रधारी है तो उसको मुक्ति नहीं हो सकती। फिर अन्य अनगार व केवली आदि की तो बात ही क्या है। इससे विदित होता है कि वस्त्रधारी अनगार भी हो सकता है केवलज्ञानी भी हो सकता है और तीर्थंकर भी हो सकता है आश्चर्य नहीं जो यह गाथा भी कुंदकुंद ने

शिवभूति को ही दृष्टि में रखकर लिखी हो। ऐसी अवस्था में पण्डित जी की उक्त आपत्ति में कोई बल नहीं दिखाई देता।

इसी प्रकार पण्डित जी ने जो यह कहा है कि भाव मात्र के संसार से पार करने की जो बात कुन्दकुन्द ने कही है वह "शिवार्य के लिये नहीं हो सकती कारण कि शिवार्य का समय मोक्ष जाने का साधन नहीं था।, इसमें भी कोई बल नहीं, क्योंकि ऐसे कथन बहुत मिलते हैं। अपने भावपाहुड के अन्तमें कुंदकुंद ने कहा है कि जो कोई इस भावपाहुड को पढ़े सुने और भावना भावे वह अविचल स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। इसमें भी यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि जब आजकल का समय ही मोक्ष के योग्य नहीं तो तब फिर इस भावपाहुड को ही पढ़कर कोई कैसे मोक्ष प्राप्त कर लेगा। जो समाधान यहां हो सकता है, वह पूर्वोक्त प्रकरण में भी लागू हो सकता है।

पण्डित जी ने जो इसी विषय में एक और बात यह कही है कि यह "शिवभूति और शिवार्य एक ही होते तो उन शिवभूति की कुन्दकुन्द प्रशंसा भी क्यों करते क्योंकि उनने तो अपवादरूप से वस्त्र को भी मुनिलिंग माना है जिसका कि कुन्दकुंद तीव्रता से विरोध करते हैं" इसका उत्तर यह है कि शिवभूति के निर्दिष्ट आधार से उतना मतभेद होते हुए भी कुंदकुंदाचार्य में इतनी उदारता और महानता थी कि वे अपने पूर्ववर्ती उन महापुरुषों के सद्‌गुणों की ओर ज्ञान की प्रशंसा करें, यथार्थतः उन्होंने शिवभूति का उदाहरण ही इसी लिये दिया है कि बाह्यलिंग न होने पर भी भाव की विशुद्धि से वे केवलज्ञानी हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

पण्डित जी की चौथी आपत्ति यह है कि बटेर के पंख छोटे होते हैं अतः उनकी पीछी बन नहीं सकती है। पर यथार्थतः यह बात नहीं है, उनकी पीछी बन सकती है, हां, वह बहुत छोटी होगी, शिवार्य ने भगवती आराधना में प्रतिलेखन के 'लघुत्व' को एक उसका आवश्यक गुण बतलाया है। अन्तमें पण्डित जी ने जो बोहिथ का अर्थ बोधक एवं थापनीय का अर्थ ज्ञापनीय जिसका पुनः अर्थ बोधक किया है यह किस आधार पर और उससे प्रकृत विषय पर क्या प्रकाश पड़ता है यह कुछ समझ में नहीं आया। इस लेख को समाप्त करने से पूर्व मैं पण्डित जी को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता। क्योंकि उनके लेख की प्रथम आपत्ति में विषय को कुछ अन्धेरे में डालने की प्रवृत्ति होते हुए भी शेष भाग में उन्होंने लिखा बहुत सौजन्यपूर्वक है और पहले इस विषय की ऊहापोह प्रारम्भ की है। आशा है पण्डितजी व अन्य विद्वान इस विषय को निर्णय की ओर बढ़ाने में हाथ बटावेंगे।

—जैन बोधक

[७]

शिवभूति और शिवार्य अभिन्न नहीं है।

(लेखकः— पं० रामप्रसादजी जैन शास्त्री बंबई)

उपर्युक्त मेरा लेख ता० २२-३-४४ के जैन-बोधक संख्या ११ में प्रकाशित हुआ था, उसके प्रतिवाद सरीखा लेख प्रोफेसर हीरालाल जी जैन अमरावती का ता० ५-४-१६४४ के जैनबोधक संख्या १२ में प्रकाशित हुआ है। उसमें प्रथम ही आपने अपने ट्रेक्टों की गवेषणा की स्थिति पर जिस मेरी सम्मति को उपयुक्त बतला कर उसका स्वागत किया है उसके लिये मैं आपका आभारी हूं। परन्तु आगे चलकर उसी लेख में 'लेखक द्वारा प्रस्तुत किये हुए मुद्दों पर ठण्डे दिल से निष्पक्ष दृष्टि द्वारा सौजन्यपूर्वक पूर्णतः विचार किया जाय इत्यादि जो कुछ लिखा गया है, वह लिखान कहां तक ठण्डे दिल का तथा निष्पक्ष दृष्टि और सौजन्यपूर्ण हो सकता है इसका आप अपने शान्त दिल से स्वतः विचार कर सकते हैं, तथा इन दोनों लेखों के प्रकाश में पाठकगण भी विचार कर सकते हैं। आपकी दृष्टि से किसी भूल का होना तथा आपकर चर्चित किये गये किसी अनावश्यक विषयों को छोड़ देना, ये सब आपके द्वारा उपर्युक्त उद्धृत उद्गारों के साधक नहीं हो सकते हैं, अतः यहां अनावश्यक उद्गार नहीं होने चाहिये थे, परंतु हो रहे हैं यह आश्चर्य है।

अस्तु—मेरे उस लेख में प्रथम ही प्रकृत विषय नामांश और उपाधि का है। शिवभूति के नाम में जिस तरह आप—कृष्णचन्द्र, रामचन्द्र, भीमसेन इनके लोकगृहीत संक्षिप्त पूर्व भाग का दृष्टान्त देकर 'भूति' को उपाधि न बतलाकर नामांश बतलाते हैं उसी तरह शिवार्य का 'आर्य' उपाधि न होकर नामांश संभवित है। कारण कि 'आर्य' को जिस तरह उपाधि माना है वह सर्वत्र नामके आदि में देखने में ही माना है। जैनबोधक के ता० २२-३-४४ के अङ्क में मैंने यह ही बात दिखलाई थी परन्तु उस में गलती से 'नामान्तर' ऐसा छप गया है इसी कारण उस बात पर आपकी दृष्टि नहीं गई है। वास्तव में देखा जाय तो यहां प्रकृत में नामांश और उपाधि का कुछ भी महत्व का विषय नहीं है किन्तु शिवभूति और शिवार्य, इन दोनों से दोनोंके 'शिव' शब्दोंके सादृश्य से वा एकता से जो एकीकरण करके दोनों को अभिन्न समझा है वह ही सब आपके ट्रैक्ट भर में किसी भी अकाट्य युक्ति के न होने से सिर्फ बादरायण सम्बन्ध सरीखी युक्ति को चरितार्थ कर दोनों की अभिन्नता को ही सिद्ध करता है, कारण कि भगवती आराधना के मूल में तथा टीकाकारों की किसी भी टीका में कहीं भी यह बात नहीं पायी जाती कि—जिन आर्य शिवभूति ने बोडिक (बोटक)

संघ की स्थापना की थी वे ही इस भगवती आराधना के कर्ता हैं। तथा इस ग्रंथ में तथा टीकाओं में भी—'सिवज्ज, शब्द का अर्थ—शिवभूति नहीं किया है। बल्कि भगवती आराधना की २१६६ नम्बरकी गाथा की—मूलाराधनादर्पण नाम की टीकामें 'सिवज्जेण' शब्द का अर्थ 'शिवकोट्याचार्येण' किया है तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के भी किसी ग्रन्थ और किसी भी आचार्य परम्परा में यह बात कही नहीं पायी जाती है कि शिवभूति ही भगवती आराधनाके कर्ता शिवार्य हैं। इस सब के होने से तथा अपने लेख में मैंने जो यह बात लिखी थी कि 'महत्व के ग्रन्थ भगवती आराधना में अपने पूर्व गुरु—धनगिरि का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है' इसका तात्पर्य सिर्फ यही है कि गुरुपरम्परा या संघ आदिक संकेतों के सिवाय किसी भी व्यक्ति को अच्छी तरह से जानकारी नहीं हो सकती—भगवती आराधना में कोई भी संकेत नहीं पाया जाता कि शिवार्य धनगिरि के शिष्य व उस संघ के गणीधर थे। वहां तो जिननन्दिगणी, सर्वगुप्तगणी और मित्रनन्दिगणी गुरुओं का नाम मिलता है। भगवती आराधनाकी २१६६ नं० की गाथा की टीका जो अपराजित सूरि की विजयोदया है उसमें सर्वगुप्तगणी के संघ का कल्याणकामना निमित्त उल्लेख है। यदि वहां शिवार्य का तथा उनके अन्य गुरु (धनगिरि) का कोई दूसरा संघ भी होता तो टीकाओं में उसका भी कल्याणकामना निमित्त उल्लेख पाया जाता परन्तु यह कहीं भी पाया जाता नहीं है, इससे स्पष्ट है कि शिवभूति ही शिवार्य नहीं थे किन्तु वे दोनों अपने अपने व्यक्तित्व को लिये जुदे जुदे व्यक्ति थे और शिवार्य सर्वगुप्तगणी (शिवगुप्तगणी) जो कि समन्तभद्र स्वामी संभवित हैं उनके संघ में के प्रधान शिष्य थे जिनका नाम शिवकोटि भी था, न कि शिवभूति नाम था। आपके ट्रैक्ट की लेखनकला यह बात भी सूचित करती है कि 'बोडिय' उपाधि ही यापनीयसंघ की द्योतक है और उसके प्रधान आचार्य शिवभूति हैं। ऐसी दशा में यह बात आ जाती है कि भगवती आराधना आपके मतसे यापनीय संघ के आचार्य शिवभूति की बनाई हुई है। परन्तु यापनीय संघ जिस तरह दिगम्बर मुनिलिंग की मान्यता का पक्षपाती था उसी तरह मान्यता में श्वेताम्बर आगमों की मान्यता का भी पक्षपाती था परन्तु भगवती आराधना में उन आगमों के पठन की तो क्या किसी अंश की भी उस विषयक बात गन्ध नहीं है। इससे भी यह बात सिद्ध है कि भगवती आराधना शिवभूति की कृति न होकर दिगम्बराचार्य समन्तभद्र के शिष्य शिवार्य या शिवकोटि आचार्य की कृति है। इन सब उपर्युक्त मेरी लिखावटों से स्पष्ट है कि केवल उभयत्र शिव और शिव नामांशों की समानता से जो एकीकरण शिवभूति और शिवार्य में किया गया है वह युक्तिशून्यता से बादरायण सम्बन्ध की बातों को चरितार्थ करता है। भगवती आराधना में नन्दिसंघी शिवार्य के गुरुओं को देखकर जो आप यह लिखते हैं कि— शिवभूति ने ही नन्दिसंघ में प्रवेश किया है'। यह लिखना भी केवल आपको मात्र कल्पना ही है कारण कि इसके लिये भगवती आराधना में कोई भी आधार नहीं मिलता है तथा अन्यत्र भी इस विषय के कोई आधार मिलते नहीं हैं।

मैंने अपने लेख में जो यह लिखा था कि—श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने अपने अष्टपाहुडमें जिन शिव-

भूति और शिवकुमार को केवलज्ञानी और मोक्षगामी लिखा है। वे शिवभूति और शिवकुमार श्वेताम्बर स्थविरावली के नहीं हैं कारण कि वह समय केवल-ज्ञान और मोक्ष का नहीं था।

जबकि जम्बू स्वामी के बाद कोई भी केवल-ज्ञानी और मोक्षगामी हुआ ही नहीं है, यह दिगम्बर शास्त्रीय प्राचीन आम्नाय है, इसके खण्डन में आप लिखते हैं कि—"ऐतिहासिक गवेषणा में इस युक्ति को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह विषय स्वयं विचारणीय है कि—केवलज्ञान, तीर्थंकरत्व और मोक्ष—सम्बन्ध और व्युच्छित्ति की मान्यता कितनी पुरानी है। उदाहरणार्थ—स्वयं कुंदकुंदाचार्य ने सूत्रपाहुड की गाथा २३ में जैनशासन में तीर्थंकर होकर भी यदि वस्त्रधारी है तो वह सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।" इत्यादि लिखकर आप लिखते हैं कि—"आश्चर्य नहीं जो यह गाथा भी कुन्द-कुन्द ने शिवभूति को दृष्टि में रखकर लिखी हो। ऐसी अवस्था में पण्डित जी की उक्त आपत्तिमें कोई बल दिखाई नहीं देता। पाठक गण विचार करेंगे कि अष्टपाहुड की गाथा में स्थविरावली के श्वेताम्बर शिवभूति को टालने के लिये जो युक्ति मैंने दी है उसका खंडन क्या आपकी ऐतिहासिक गवेषणा में संघटित हो सकता है? मैं लिख रहा हूं कि जिन शिवभूति को आप अष्टपाहुड की गाथा में देख रहे हैं उन शिवभूति के लिये वह समय केवलज्ञान का तथा मोक्ष जाने का न होने से वे स्थविरावली के शिवभूति उस गाथा के शिवभूति नहीं हो सकते। परन्तु आप वस्त्रसहित मुक्ति की बात को ऐतिहासिक गवेषणा की आड़ में लेकर लिख रहे हैं। आपकी यह ऐतिहासिक गवेषणा कहां तक प्रकृत विषय में सम्बन्ध रखती है इसका अनुमान स्वतः ही विद्वान कर सकते हैं। जम्बू स्वामी के बाद न तो कोई दि० सम्प्रदाय की मान्यता से केवलज्ञानी हुआ और न श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता से ही केवलज्ञानी और मोक्षगामी हुआ है। अतः मानना होगा कि इस दृष्टि में जो ऐतिहासिक गवेषणा है वह स्पष्ट युक्ति-युक्त महत्व के लिये हुए है। अब रही वस्त्र की ऐतिहासिकता सो उसके ऊपर सिर्फ इतना ही प्रकाश काफी है कि श्री कुन्दकुन्द अपने आपको भद्रबाहु+ श्रुतकेवली का शिष्य लिख रहे हैं, इस लिये वे बहुत प्राचीन आचार्य सिद्ध होते हैं और उनने सवस्त्र अनगार का तीव्रता से निषेध किया है' क्योंकि वह समय मोक्ष का तो था ही नहीं जिससे कि किसी सवस्त्र की मोक्ष दृष्टि—गत हुई हो। केवल संघ विभक्ति से शिथिल द्वितीय संघ की वैसी मान्यता हो गई थी, उसको सम्बोधन के निमित्त जो महावीर प्रभु की यानी मूल संघ के आम्नाय की सत्य बात है वह लिखी है। अतः ऐतिहासिकता ने वहां भी अपना सम्बन्ध नहीं छोड़ा है। परन्तु यहां के प्रकरण में तो वस्त्र का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। उसे तो आप जबरन ले आये हैं और जो केवलज्ञान और मोक्ष के असमय सम्बन्ध का विषय था उसे आपने यहां सर्वथा ही छोड़ दिया है। इससे लेख के विषय को अन्धेरे में डालकर पाठकोंके दृष्टिबिन्दु को दिशाभ्रम करने के कारण लेखक के प्रस्तुत किये मुद्दे पर क्या ठण्डे दिल से निष्पक्ष दृष्टि के द्वारा

+ श्री कुन्दकुन्द स्वामी के गुरु पंचम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही थे। इसका समाधान हेतुपूर्वक दि० जैन मेरे 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' नामक ट्रैक्ट के खण्डन में पीछे मौजूद है।

सौजन्यपूर्वक यह विचार संभवित हो सकता है।

सूत्रपाहुड की २३वीं गाथा की टीका में जो श्रुतसागरसूरि ने यह लिखा है कि—"जिसके पंच-कल्याणक होगये हों तथा अनगार केवलीभी हो और यदि वह वस्त्रसहित हो तो सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।" इसका तात्पर्य सवस्त्र को मोक्ष सिद्धि का तीव्र निषेध है वह इस विषय का श्रुतसागरसूरि का कथन ऐसा है कि जैसे लोकोक्ति में—सूर्य पश्चिम दिशा में उदय हो तथा अग्नि कदाचित अपने उष्ण स्वभावका त्याग कर दे, परन्तु वैसा नहीं हो सकता इत्यादि रूप से कह देते हैं वैसा ही यहां समझने का है। नहीं तो पंचकल्याणक में मोक्ष आपही आजाता है। फिर उसका अन्य कल्याणकों के साथ कथन करना किस प्रयोजन का हो सकता है तथा केवलज्ञान बाद मोक्ष-सिद्धि अवश्य ही होती है। अतः वहां भी केवलज्ञानी लिखना किसी ऐसे प्रयोजन को नहीं रखता है। अर्थात् उस सब का तात्पर्य सिर्फ यही है कि सवस्त्र के मोक्ष-सिद्धि नहीं है।

इस विषय के आगे—भावपाहुड-कथित शिव-कुमार के मोक्ष सम्बन्धी विषय को लेकर मेरे द्वारा उल्लिखित विषय के खण्डन निमित्त आपने वर्तमान समय में मोक्ष-सिद्धि बाबत ऐसा लिखा है—"इसमें भी कोई बल नहीं है, क्योंकि ऐसे कथन बहुत मिलते हैं। "जैसाकि भावपाहुड के अन्त में कुन्दकुन्द ने लिखा है कि जो कोई इस भावपाहुडको पढ़े सुने और भावना भावे वह अविचल स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो सकता है।" इसमें भी यह आपत्ति उठाई जा सकती है जब आजकल का समय मोक्ष के योग्य नहीं तब फिर इस भावपाहुड कोही पढ़कर कोई कैसे मोक्ष प्राप्त कर लेगा जो समाधान वहां हो सकता है वह पूर्वोक्त प्रकरण में भी लागू हो सकता है।"

मेरी समझ से यह सब आपका लिखना एकान्त दृष्टि को लेकर ही है, कारण कि श्री कुंदकुंद उधर तो सवस्त्र मोक्ष का निषेध करते हैं और इधर भावपा-हुड के पढ़ने आदि से भावशुद्धि में मोक्ष लिखते हैं। अतः इस सबका तात्पर्य स्पष्ट प्रतीत होता है कि—निर्वस्त्र अर्थात् दिगम्बर होकर जो भावशुद्ध होगा तथा उसके साथ काल और क्षेत्र भी योग्य होगा तो वह मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। न्याय का सिद्धांत है कि बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव आदि सामग्रियां के कार्य नहीं हो सकता है। इस तरह यहां वैसा ही समझना जरूरी है, कारण कि मोक्ष प्राप्ति भी एक मुख्य कार्य है उसके लिये भी जो साधन शास्त्रोक्त नियत हैं वे होने चाहिये। भावपाहुड आदि का विषय इस सिद्धांत को लिये हुये है कि जिस पदार्थ का कथन जिस स्थल में किया जाता है उसका उस प्रकरण में सर्वोत्कृष्ट वर्णन किया जाता है। उसमें फिर यह नहीं समझा जाता कि अन्यत्र अन्य पदार्थ का जो उत्कृष्ट वर्णन है वह कुछ भी कार्य का नहीं रहा। इस सब ग्रन्थ शैली के कथनका तात्पर्य सिर्फ इतना ही होता है कि कार्यसिद्धि में समस्त सामग्रियां अपने अपने विषय की पूर्णता को लिये होनी चाहिये प्रकृत में भावपाहुड का विषय इसी सिद्धान्त को लिये हुए है। अतः स्पष्ट है कि जिन शिवकुमार या शिवभूति का जो पाहुड में मोक्षगामी या केवलज्ञानी का कथन है वे स्थविरावली के शिवभूति से सर्वथा पृथक थे क्योंकि स्थविरावली के शिवभूति का जो समय है वह मोक्ष जाने का नहीं था। इस सब कथनसे स्पष्ट है कि जो प्रोफेसर साहब ने इस संबंधमें

लिखा है वह कुछ भी तत्त्वको लिये हुए नहीं है अर्थात निस्सार है।

आगे आपने स्थविरावली के शिवभूति की प्रशंसा के निमित्त जो यह लिखा है कि—'शिवभूति के निर्दिष्ट आधार से उतना मतभेद होते हुए भी कुन्दकुन्द आचार्य में इतनी उदारता और महानता थी कि वे अपने पूर्ववर्ती उन महापुरुषके सद्गुणों की प्रशंसा करें, यथार्थतः उन्होंने शिवभूति का उदाहरण ही इसी लिये दिया है कि बाह्यलिंग न होने पर भी भाव की शुद्धि से वे केवलज्ञानी हुए। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं' प्रोफेसर साहब की यह लिखावट भी इस प्रकरण में कुछ भी सत्व नहीं रखती। कारण कि एक तो इस बात की पुष्टि में ही आपने कोई भी ऐसा प्रमाण उपस्थित नहीं किया है कि वे श्वेताम्बर स्थविरावली के ही शिवभूति हैं। जिनकी कि कुन्दकुन्द स्वामी प्रशंसा कर रहे हैं। कारण कि 'स्थविरावली के शिवभूति केवलज्ञानी थे' इस बात का प्रकरण किसी श्वेताम्बर ग्रन्थ तथा उनकी किसी पुरानी पट्टावली में भी नहीं आया है दूसरे द्रव्यलिंग के बिना केवल भावलिंग से ही शुद्धि होकर केवलज्ञान हो जाता तो फिर भी कुंदकुंद स्वामी का तीव्रता से 'सवस्त्र को केवलज्ञान और मोक्ष-सिद्धि का निषेध है' वह व्यर्थ पड़ जाता है। आश्चर्य है कि आपके मतमें कुन्दकुन्द स्वामी ने शिवभूतिकी प्रशंसा में बाह्य द्रव्यलिंग की कुछ भी अपेक्षा नहीं रखी और सरलता से होने वाले मोक्ष-सिद्धि के कार्य में वस्त्र-निषेध का तीव्रता से निषेध किया। मेरी समझ से यह पूर्वापर विरुद्ध कथन का विधान श्रीनयज्ञ प्रौढ़ वीतराग अनगार कुंदकुंद स्वामी का तो कभी भी नहीं हो सकता और यह बात किसी प्रज्ञावान की बुद्धि-गम्य भी किसी प्रकार नहीं हो सकती। उदार और महान पुरुषों की उदारता और महानता की हद वहीं तक हो सकती है जहां तक कि—यथार्थ और मुख्य सिद्धान्त में किसी प्रकार का विरोध न आवे तथा उनकी वैसी कृति से सनातन मूल सिद्धान्त का ही उच्छेद न हो जाय। आश्चर्य है कि हमारे मित्र प्रोफेसर साहब इस निस्सार कल्पना की आड़ लेकर कुंदकुंद स्वामी सरीखे महान पुरुषों में पूर्वापरविरुद्धता का विधान दिखला रहे हैं जो कि वहां इस प्रकार की गंध भी संभवित नहीं हो सकती।

श्री प्रोफेसर साहब लिखते हैं कि—'बटेर की पीछी बन सकती है। हां! वह बहुत ही छोटी होगी शिवार्य ने भगवती आराधना में प्रतिलेखन के "लघुत्व" को एक उसका आवश्यक गुण बतलाया है, इसका उत्तर सिर्फ इतना ही है कि—बटेर पक्षी का मिलना यदि कदाचित उस समय सुलभ भी होगा फिर भी उसके पंखों की पीछी तो किसी हालतमें बन नहीं सकती। शायद छोटी से छोटी कूंची भले ही बन सके। दूसरे बटेर जल्दी पकड़ में नहीं आता शायद ही कोई बड़े परिश्रम से उसे पकड़ सकता है इसी लिये उसकी दुर्लभ प्राप्ति होने के सबब किसी मनुष्य को अलभ्य पदार्थ की प्राप्ति में 'बटेर इसके हाथ आ गई' ऐसा कहावत मशहूर है। इससे उस के पंखों की पीछी का सुलभ होना भी अत्यन्त दुस्साध्य है। भगवती आराधना में 'पीछे के गुणों में जो 'लघुत्व' गुण का वर्णन है उसका तात्पर्य सिर्फ हलकापन होता है। मयूर के पंखों की पीछी हलकी भी होती है तथा जिस तरह वहां पीछी का गुण हलकापन (लघुत्व) बतलाया है उसी प्रकार उसका कोमल होना मैल व पसीना आदि न लगना आदि

और भी गुण बतलाते हैं। वे सब मयूर पिच्छी के सिवाय दूसरी जाति की पिच्छी में वैसे पाये नहीं जा सकते। अतः मूलाराधना (भगवती आराधना) के कथन से मयूर पिच्छी का ही वहां ग्रहण हो सकता है। दूसरी जाति की पिच्छी का किसी अंश में भी ग्रहण नहीं हो सकता। अपने ट्रैक्ट में आपने 'बोटिक' शब्दको लेकर शब्द परिवर्तनों के रूपसे जो बटेरकी कल्पना की है वह अजीब और विचित्र होनेसे एक असम्भव ही कल्पना है, क्योंकि वह दुष्कर होने के कारण निस्सार है। आगे आपने जो यह लिखा है कि—'बोडिय' का बोधक और 'यापनीय' का ज्ञापनीय अर्थ किया है वह किस आधार पर और उससे प्रकृत विषय पर क्या प्रकाश पड़ता है समझमें नहीं आता, इसमें पहले अंश का उत्तर यह है कि—बोहय का विकृत रूप लेखन विचित्र कला से 'बो-डिय' बन गया मालूम होता है कारण कि 'ह' की '८' ऐसी पूर्व रेखा ऊपर चढ़ जाने से 'ड' ऐसा हो जाना स्वाभाविक है। और 'बोहक' का अर्थ 'बोधक' होता ही है जब कि बोडिय का अर्थ 'बो-टिक' करने में कुछ भी सार्थकता में उपाधि से संबंध नहीं रखता। और 'यापनीय' 'या' गत्यर्थक और प्राप्त्यर्थक धातु से बनता है। व्याकरण में जो जो गत्यर्थक धातुएं होती हैं उनका ज्ञान, गमन, प्राप्ति अर्थ होता है। इस लिये यापनीय का अर्थ ज्ञाप-नीय हो ही जाता है। ऐसे अर्थों का इस प्रकरण से यह सम्बन्ध होता है कि जो बोधक उपाधि है वह साधुता सूचक करने निमित्त यापनीय संघ को समा-नार्थ बोधिका होने से मुख्यतया विशिष्टता हो सकती है जो कि वहां वही संभावित है; न कि 'बो-डिय' के बटेर सम्बन्धी असंभावी कल्पना संभवित है। श्री प्रोफेसर साहब ने लेख की भाषा के सौ-जन्य को लक्ष्य कर जो धन्यवाद दिया है उसके लिये मैं आपके सौजन्य का आभारी हूं। किसी भी अपूर्व पदार्थ का निर्णय जितना शिष्ट सयुक्तिक भाषा सौजन्य से हो सकता है वह दूसरे मार्ग से कदापि नहीं हो सकता। इस लिये पदार्थ-निर्णय में यही पद्धति विशेष लाभकारी तथा श्रेयस्करी है। अतः इसी का अनुकरण अभिकांक्षणीय है।

—जैन-बोधक



शिवभूति शिवार्य और शिवकुमार

(लेखकः— पं० परमानंद जी जैन शास्त्री, सरसावा)

प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए० (अमरावती) ने हालमें 'शिवभूति और शिवार्य' नाम का एक लेख प्रकाशित किया है और उसमें यह सिद्ध करनेका यत्न कियाहै कि आवश्यक मूलभाष्य और श्वे. स्थविरावली में बोटिकसंघ (दिगम्बर जैन सम्प्रदाय) के संस्थापक जिन 'शिवभूति' का उल्लेख है वे कुन्दकुन्दाचार्य— प्रणीत भावपाहुडकी ५३वीं गाथामें उल्लिखित 'शिवभूति' भगवती आराधना के कर्ता 'शिवार्य' और उक्त भावपाहुड की ५१ वीं गाथामें वर्णित 'शिवकुमार' से भिन्न नहीं हैं— चारों एक ही व्यक्ति हैं अथवा होने चाहियें। और इस एकता को मान कर अथवा इसके आधार पर ही आप 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' नामका वह लेख लिखनेमें प्रवृत्त हुए हैं जिसे आपने अखिल भारतवर्षीय प्राच्यसम्मेलन के १२ वें अधिवेशन बनारस में अंग्रेजी भाषा में पढ़ा था, जो बादको हिन्दीमें अनुवादितकरके प्रकाशित किया गया और जो आज कल जैन समाज में चर्चा का विषय बना हुआ है। इस विषयमें प्रोफेसर साहबके दोनों लेखोंके निम्न वाक्य ध्यानमें रखने योग्य हैं—

"आवश्यक मूलभाष्य की बहुधा उद्धिृत की जानेवाली कुछ गाथाओं के अनुसार बोटिक संघकी स्थापना महावीर के निर्वाण से ६०९ वर्ष के पश्चात् रहवीरपुरमें शिवभूतिके नायकत्वमें हुई, बोटिकोंको बहुधा दिगम्बरोंसे अभिन्न माना जाताहै। अतः श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें वीरनिर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है।"

"श्वेताम्बरोंद्वारा सुरक्षित आचार्योंकी [illegible]वलियों में कल्पसूत्र-स्थविरावली सबसे प्राचीन समझी जाती है। इमसे हमें फग्गुमित्तके उत्तराधिकारी धनगिरिके पश्चात् शिवभूतिका उल्लेख मिलता है। ये ही शिवभूति मूलभाष्यमें उल्लिखित शिवभूतिसे अभिन्न प्रतीत होते हैं।"

"कुन्दकुन्दाचार्यने अपने भावपाहुडकी गाथा ५३ में शिवभूतिका उल्लेख बड़े सम्मानसे किया है और कहा है कि वे महानुभाव तुष-माष की घोषणा करते हुए भावविशुद्ध होकर केवल ज्ञानी हुए। प्रसंग पर ध्यान देनेसे यहां ऐसेही मुनिसे तात्पर्य प्रतीत होताहै जो द्रव्यलिङ्गी न होकर केवल भावलिंगी मुनि थे। ये शिवभूति अन्य कोई नहीं, वे ही स्थविरावलीके शिवभूति और आराधना के कर्ता शिवार्य ही होना चाहिये।"

भावपाहुडकी गाथा ५१ में शिवकुमार नामक भावश्रमणका उल्लेख है जो युवतिजन से वेष्टित होते

हुए भी विशुद्धमति रहकर संसार से पार उतर गये। इसका जब हम भगवती आराधनाकी ११०८ से ११६ तककी गाथाओं से मिलान करते हैं जहां स्त्रियों और भोगोपभोगों में रहकर भी उनके विषमें बच निकलने का सुन्दर उपदेश दिया गया है तो हमें यहभी सन्देह होने लगता है कि यहां भी कुन्दकुन्दका अभिप्राय इन्हीं शिवार्यसे हो तो आश्चर्य नहीं। उनके उपदेश का उपचारसे उनमें सद्भाव मान लेना असम्भव नहीं है।" (प्रथम लेख)

"मैंने अपने 'शिवभूति और शिवार्य' शीर्षक लेखमें मूलभाष्यमें उल्लिखित बोटिक संघके संस्थापक शिवभूतिको एक; और कल्पसूत्र-स्थविरावलीके आर्य शिवभूति और दूसरी ओर दिगम्बर ग्रन्थ आराधना के कर्ता शिवार्यसे अभिन्न सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है, जिससे उक्त तीनों नामों का एक ही व्यक्ति से अभिप्राय पाया जाता है जो महावीरके निर्वाणसे ६०९ वर्ष पश्चात् प्रसिद्धमें आये। मूलभाष्यकी जिन गाथाओं पर से मैंने अपना अन्वेषण प्रारम्भ कियाथा उन में की एक गाथामें शिवभूति की परम्परामें 'कोडिन्न-कुट्टवीर' का उल्लेख आया है, अतः प्रस्तुत लेख का विषय शिवभूति अपर नाम शिवार्य के उत्तराधिकारियों की खोज करना है।" (द्वितीय लेख)

अब मैं अपने पाठकों पर यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि प्रो० साहब ने जिन दो शिवभूतियों, शिवार्य और शिवकुमारको एक व्यक्ति सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है वह बहुत ही सदोष तथा आपत्ति के योग्य है। ये चारों एक व्यक्ति नहीं थे और न किसी तरह पर एक व्यक्ति सिद्ध ही होते हैं, जैसाकि निम्न प्रमाणोंसे प्रकट है :—

(१) भावपाहुडकी ५३वी गाथामें जिन शिवभूति का उल्लेख है वे केवलज्ञानी थे जैसा कि उस गाथाके 'केवलणाणी फुडं जाओ' इन शब्दों पर से स्पष्ट है। स्थविरावली के शिवभूति और भगवती आराधना के "शिवार्य" दोनों ही केवलज्ञानी न होकर छद्मस्थ थे—जम्बूस्वामी के बाद कोई केवल ज्ञानी हुआ भी नहीं। भ० आराधनाके कर्ता शिवार्य स्वयं गाथा नं० २१६७ में अपनेको छद्मस्थ लिखते हैं और प्रवचनके विरुद्ध यदि कुछ निबद्ध हो गया हो तो गीतार्थों से उसके संशोधन की प्रार्थना भी करते हैं। यथा :—

छदुमत्थदाए एत्थ दु जं बद्धं पवयणविरुद्धं।
सोधेंतु सुगीदत्था त पवयणवच्छलत्ताए॥

अतः ये तीनों एक व्यक्ति नहीं हो सकते।

(२) केवलज्ञानी को सर्वज्ञ न मानकर मात्र निर्मलज्ञानी मानने से भी काम नहीं चल सकता; क्योंकि भावपाहुडकी उक्तगाथा ५३में 'तुसमासं घोसंतो' पदोंके द्वारा शिवभूतिको 'बीजबुद्धि' सूचित किया है और जो बीजबुद्धि होते हैं वे एक पदके आधार पर सकलश्रुतको विचारकर उसे ग्रहण करते हैं* तथा मोक्ष जाते हैं। चुनांचे आचार्य वीरसेन ने अपनी धवला टीकामें, वेदना अपर नाम कम्मपयडि पाहुडके चौथे 'कम्म' अनुयोग द्वार का वर्णन करते हुए, ध्यान विषयक जो शंका-समाधान किया है उसमें स्पष्ट रूप से शिवभूति को बीजबुद्धि ध्यान का पात्र और मोक्षगामी सूचित किया है; जैसाकि उसके निम्न अंशसे प्रकट है :—

'जदि णवपयत्थविसयणाणेणेव झाणस्स संभवो होइ, तो चोद्दस-दसणवपुव्वधरे मोत्तूण अण्णेसि पि झाणं किण्ण संपज्जदे? चोद्दस-दस-णवपुव्वेहि विणा थोवेण वि गंथेण णवपयत्था-वगमो-वलंभा-

* देखो तिलोयपण्णत्ती ४-९७९ ७०

दो। ण थोवेण गंथेण णिस्सेसमवगंतुं बीजबुद्धिमुणिणो मोत्तूण अण्णे सिमुवायाभावादो जीवाजीवपुण्णपावआसवसंवरणिज्जराबन्धमोक्खेहि णवहि पयत्थेहि वदिरित्तमण्णं ण किंपि अत्थि अणुवलंभादो तम्हा ण थोवेण सुदेण एदे अवगंतुं सक्किज्जंते विरोहादो ण च दव्वसुदेण एत्थ अहियारो, पोग्गलवियारस्स जडस्स णाणोवलिंगभूदस्स सुदत्तविरोहादो।

थोवदव्वसुदेण अवगमासेसणवपयत्थाणं सिवभूदि-आदिबीजबुद्धीणंझाणाभावेण मोक्खाभावप्पसंगादो॥

—धवला, स्वर्गीयी प्रति प० ६८६

जब ये शिवभूति मोक्ष गये हैं और मोक्ष बिना केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की उत्पत्ति नहीं बनती तब ये मात्र 'निर्मलज्ञानी' न कहे जाकर सर्वज्ञ ही कहे जायेंगे और यही भावपाहुडकी गाथा ५३में 'केवलणाणी' पद से श्रीकुन्दकुन्दको विवक्षित है। इसलिये स्थविरावली के शिवभूति तथा आराधना के शिवार्य केसाथ इनका एक व्यक्तित्व घटित नहीं हो सकता। वे दोनों न तो बीजबुद्धि थे और न मोक्ष ही गये हैं।

(३) भावपाहुड की ५१ वीं गाथा में जिन शिव कुमार का उल्लेख है उन्हें इसी गाथा में युवतिजनसं वेष्टित विशुद्धमति और भावश्रमण लिखा है—द्रव्य नहीं, तथा 'परीतसंसारी' हुआ बतलाया है, और यह उन शिवकुमार का प्रसिद्ध पौराणिक अथवा ऐतिहासिक उल्लेख है जो अन्तिम केवली श्रीजम्बूस्वामीके पूर्व (तीसरे) भव के विदेहक्षेत्रस्थित महापद्म चक्रवर्ती के पुत्र थे सागरचन्द्र मुनीन्द्र से अपने पूर्वभव श्रवण कर विरक्त हो गये थे और मुनि होने दीक्षा पिता के तीव्र अनुरोधवश घर में इस आग्रामन को पाकर रहे थे कि वे घरमें रहते यथेप्सित रूप से उग्रतप तथा को न धारण करते हुए भी वे घर में भावापेक्षा मुनि के समान रहते थे, अपनी अनेक स्त्रियों से घिरे रह कर भी कमल पत्र की तरह निर्लिप्त, निर्विकार और अकामी रह कर पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करते थे, जैसा कि जम्बूस्वामी चरित्र और उत्तर पुराण के निम्न वाक्यों में प्रकट है:—

"एवमस्तु करिष्येऽहं यथा तात ! मनीषितम् ॥१५६॥
कुमारस्तदिनान्नूनं सर्वसङ्गपराङ्मुखः।
ब्रह्मचारी कवस्त्रोऽपि मुनिवत्तिष्ठते गृहे ॥१६०॥
अकामी कामिनां मध्ये स्थितो वारिजपत्रवत्।" ज०च०
"स्त्रियमध्ये-मध्ये स्थित्वा महाऽविकृतचेतसा।
तृणाय मन्यमानस्ता तपो द्वादश वत्सरान् ॥२०७॥
चरन्निव निशातासिधारायां संप्रवर्तयन्।
संन्यस्य जीवितप्रान्ते कल्पे ब्रह्मेन्द्रनामनि॥"उ०पु०

अतः इन शिवकुमार को आराधना के कर्ता शिवार्य मान लेना भूल से खाली नहीं है। और यह कल्पना तो बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है कि शिवार्य ने चूंकि स्त्रीजनों और विषयों के विष से बच निकलने का उपदेश दिया है इस लिये श्रीकुंदकुंदाचार्य ने उपचार से उन्हीं को युवति जनों से वेष्टित विशुद्धमति मान लिया होगा और शिवकुमार नाम से उल्लेखित कर दिया होगा ! परन्तु गाथा में शिवकुमार को द्रव्य रूप से श्रमण न बतला कर केवल भाव रूपसे श्रमण बतलाया है और आराधनाके कर्ता शिवार्य द्रव्यरूप से भी श्रमण थे, साथही, युवतिजनोंसे परिवेष्टित रहने का उनके साथ कोई प्रसंग भी नहीं था। ऐसी हालत में शिवकुमारको शिवार्य नहीं ठहराया जासकता और न उक्त दोनों शिवभूतियोंकेसाथ उसका एक व्यक्तित्व ही स्थापित किया जा सकता है। स्थविरावलीके शिव-

मिलनी-शिवार्यने आराधनामें अपने गुरुओंका नाम आर्य जिननन्दी, सर्वगुप्तगणी और आर्य मित्रनन्दी दिया है जबकि स्थविरावलीमें शिवभूतिको धनगिरि का शिष्य और धनगिरि को फग्गुमित्त का उत्तराधिकारी प्रकट किया है। ऐसी स्थितिमें कुन्दकुन्दाचार्यको भगवती आराधनाके कर्ता शिवार्य से बादका विद्वान सिद्ध करने का यह सब प्रयत्न ठीक नहीं कहा जा सकता।

इस तरह प्रो० सा० ने जिन आधारों पर जो निष्कर्ष निकाले हैं वे सदोष जान पड़ते हैं, और इस लिये उन निष्कर्षोंकी बुनियादपर जैन इतिहासके एक विलुप्त अध्याय की इमारत खड़ी करते हुए शिवार्यके उत्तराधिकारियों की जो खोज प्रस्तुत की गई है वह कैसे निर्दोष हो सकती है? इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। यही कारण है कि आप की उस सदोष खोजका प्रबल विरोध होरहा है, जिसका एक ज्वलंत उदाहरण 'क्या नियुक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं?' इस शीर्षक का लेख है; जिसमें आप की इस मान्यता का प्रबल युक्तियों से खण्डन किया गया है कि श्वे० नियुक्तिकार भद्रबाहु और आप्तमीमांसादिके कर्ता स्वामी समन्तभद्र एक हैं।

अनेकान्त—





[९]

श्री १०८ तपोनिधि, राजगणपूज्य,

अनेक शास्त्र—प्रणेता, विद्वद्वर, विश्ववन्द्य,

पूज्य आचार्य कुन्थुसागरजी महाराज



* श्रीवीतरागाय नमः *

विश्व-कल्याण करने वाला वीतराग दि० जैन धर्म अनादि काल का है। जो उसे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा स्थापित कहते हैं उनके वक्तव्य का निषेध।

[१]

श्रीमान मान्यवर धर्मनिष्ठ पण्डित रामप्रसाद जी शास्त्री, पण्डित कुमलकुमार जी अलीगढ़ निवासी तथा श्रीमान पण्डित उल्फतराय जी आदि महान्पुरुषों का लिखा हुआ पत्र ता० ३-८-४४ को मिला। उसमें यह लिखा था कि "श्रीमान मान्यवर अमरावती निवासी पण्डित हीरालाल जी प्रोफेसर ने दिगम्बर धर्म व श्वेताम्बर धर्म में कोई विशेष भेद नहीं है। जो श्वेताम्बर जैन ग्रन्थोंमें लिखा हुआ है वही कुछ दिगम्बर जैन ग्रन्थों में लिखा हुआ है। अर्थात श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों में स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति, केवली-कवलाहार ये तीन बातें लिखी हैं और यही तीन बातें दिगम्बर जैन ग्रन्थ भगवती—आराधना, सर्वार्थ-सिद्धि, जयधवलादि ग्रन्थों का सप्रमाण ट्रैक्ट निकाला है।" सो यह पत्र आप श्रीमान योग्य पूज्यपाद गुरुवर्य के पास भेजते हैं सो युक्ति सप्रमाण उत्तर देने की कृपा करें यही नम्र विनती है।

सो आप श्रीमानों का इस तरह का लिखा हुआ पत्र आद्यंत पढ़ लिया। इसका उत्तर देने के लिये हमारे पास बिलकुल समय नहीं है मैंने सिर्फ सुबह ८॥ बजे धर्मचर्चा के लिये मौन खोला है और शाम को पांच बजे आध घण्टा आम पब्लिक विश्वजीवन हितार्थ भाषणकेलिये मौन खोला है। बाद बाकी समय सामायिक ध्यानाध्ययन और विश्व-आत्म शांति व आत्म-शान्ति के लिये साहित्य-निर्माण ही करता रहता हूं। तथा इस मतमतान्तर के झगड़ेमें पड़ना मेरे भाव नहीं हैं। क्योंकि मतमतान्तर के झगड़ेमें पड़ने से झूठे कषाय, रागद्वेष, पक्षपात आदि प्रादुर्भाव होते हैं। इन कषाय, पक्षपात को छोड़ने के लिये ही तो मैं साधु हुआ और ईर्षा, द्वेष, कलह, पक्षपात आदि में पड़ना मैं अच्छा नहीं समझता हूं। क्योंकि इसी से विश्वधर्म का विनाश हुआ है और हो रहा है। इस लिये मैं इस झंझट से दूर रहता हूं और सर्वधर्म-समन्वयी के द्वारा विश्व-शांति चाहता हूं। सर्वधर्म-समन्वयीका अर्थ सत्यार्थदर्शन में लिखा हुआ है उसमें जानना।

मैं किसी चिट्ठी-पत्री का जवाब नहीं देता हूं फिर भी आप बम्बई निवासी समस्त पंचमहाजनोंके अति आग्रह से तथा पक्षपात—रहित सत्य अहिंसा वीतरागी धर्म का वास्तविक प्रतिपादन करने का सन्त महापुरुषों का कर्तव्य होने से मैं इस विषय को स्पष्ट

लिखता रहा हूं।

बात यह है कि इस भूतल पर धर्म एक ही रहा है और एक ही रहेगा। जब तक भूतल पर एक हो धर्म था तब तक सर्वत्र शान्ति व घर घर मंगलगान हुआ करता था। जबसे स्वार्थवशात् धर्म धर्मान्तर होने लगे तबसे देश-विदेश में सर्वत्र हाहाकार मच गया। केवल हाहाकार ही नहीं मचा किन्तु मार-काट, लूट हो रही है। यह सब दुराग्रह का दुष्फल ही है। तब यही प्रश्न होता है कि वह एक धर्म कौन सा है ?

वह एक वीतराग दिगम्बर जैनधर्म या अहिंसा-धर्म है उसी का नामान्तर अपरिग्रह धर्म या त्याग-धर्म है ये सब एक ही धर्म हैं। सो जैनधर्मकी उत्प-त्यर्थ विशेष नहीं लिखता हूं क्योंकि उसके लिये सत्यार्थदर्शन नाम का ग्रन्थ अलग छप चुका है सो उससे जान लेना चाहिये। यहां पर वीतराग धर्म अहिंसाधर्म या अपरिग्रहधर्म या त्यागधर्म या जैन-धर्म इन सबका अर्थ एक है। जैसे वीतरागधर्म का अर्थ यह है—"रागद्वेषरहितपना" अर्थात विश्व के सम्पूर्ण कुटुम्ब को न्यायपूर्वक समानभाव से पालन-पोषण करते हुए बची हुई विषय-वासनाओं को क्षीण करते २ निर्वाण प्राप्त करना—यह ही वीतराग धर्म है। और अहिंसाधर्म का भी यही अर्थ है। अन्न, वस्त्र, गृह, विद्या, अलंकार, आभूषण आदि से समानभाव से विश्वमात्र की रक्षा करना अर्थात इन के बिना किसी को नहीं मरने देना, अर्थात समय २ पर इनसे पालन पोषण करना यही अहिंसाधर्म है। इसका विवेचन पूर्वाचार्यों ने यों किया है—

सम्पूर्ण हिंसा को छोड़कर विश्व व आत्मशांति के उपायों का प्रचार करते हुए आत्मा में लीन होना यति धर्म है।

और यति धर्म के बतलाये गये स्वरूप का एक-देश पालन करना गृहस्थ धर्म है। अर्थात् गृहस्थों को अहिंसा पालन के लिये चार भेद बतलाये गये हैं। औद्योगिक, आरंभिक, विरोधिक और सां-कल्पिक। औद्योगिक और आरंभिक हिंसा तो गृहस्थ को करनी ही पड़ती है। इसके बिना गृहस्थ जीवन चलता ही नहीं है। तथा कभी कभी विरो-धिक हिंसा भी करनी पड़ती है। जैसे दुष्टों दुरा-चारी वा अज्ञानी बाल-बच्चों को हित की दृष्टि से विद्या-विभूषित करने वा सन्मार्ग में लगाने के लिये या राष्ट्र शांति के लिये भी विरोधिक हिंसा करनी पड़ती है। यदि विरोधी हिंसा नहीं करे तो विश्व में अव्यवस्था हो जायगी। और स्वर्गतुल्य मर्त्य-लोक नरकतुल्य बन जायगा। इस लिये विरोधी हिंसा भी करनी पड़ती है। इस प्रकार ये तीनों हिंसा तो गृहस्थों के लिये अनिवार्य हैं। अब रही संकल्पिक हिंसा—

जो अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये या अपनी मान बड़ाई सुमेरु पर चढ़ाने के लिये या खोटी अपनी २ स्वच्छन्द धर्म प्रवृत्ति चलाने के लिये व सत्यधर्म के मन्दिर जायदाद हड़पने के लिये मार-काटकर लूट लेना ये सब संकल्पी हिंसा है। ऐसी हिंसाका विश्वस्थ गृहस्थोंकेलिये त्याग लिखा है। इस का विशेष खुलासा देखना हो तो "मनुष्यकृत्यसार" या "साधर्मसार" ग्रन्थ को देखना चाहिये। इस प्रकार वीतराग अहिंसा धर्म का व्याख्यान किया। इसी माफिक अपरिग्रह धर्म त्यागधर्म या जैनधर्म का लक्षण जानना चाहिये। अथवा यों कहिये उपरोक्त लक्षण के सिवाय और कोई धर्म नहीं है।

इस वीतराग अहिंसाधर्म को पालन करने वाले अनादिकाल से इस भूतल पर चौबीस तीर्थंकर नव-प्रतिनारायण, नवबलभद्र, १२ चक्रवर्ती आदि सदा से इस भूतल पर होते आ रहे हैं और भविष्य में होते रहेंगे। इस प्रशस्त जैन के इतिहास से जनता का कितना कल्याण हुआ तथा होगा यह मानवमात्रको विचार करने की जरूरत है।

यह धर्म जब तक क्षत्रियों के तथा त्रेशठ शलाका पुरुषों के हाथ में रहा तब तक इस धर्म का प्रभाव सर्वत्र मानवमात्र पर पड़ता था और मानव तदनुकूल प्रवृत्ति करते थे उस समय धर्म धर्मान्तरता रागद्वेष ईर्षा आदि भाव परस्पर तिलतुषमात्र भी नहीं था क्योंकि पहिले मानवमात्र का एक ही वीतराग अहिंसा धर्म का ही सर्वत्र प्रचार था। और आगम से भी प्रमाण है कि विश्व भूतल पर मानवमात्र का एक ही वीतराग धर्म है। और यही एक धर्म आज वर्तमान में विदेह क्षेत्र में सर्वत्र फैल फूल रहा है वहां धर्म्म धर्म्मान्तरता नहीं है। भले ही वहां भाव मिथ्यात्व हो किन्तु द्रव्य मिथ्यात्व नहीं है। भाव मिथ्यात्व का मतलब यह है कि कुटुम्ब परिवार शरीर आदि मेरे हैं और मैं उनका हूं ऐसा मानना सो भाव मिथ्यात्व है। और द्रव्य मिथ्यात्व पर वैष्णव मंदिर, श्वेताम्बर मन्दिर, क्रिश्चियन मुसलमान पारसी मन्दिर, इस तरह धर्म्म धर्मान्तर का भेद भाव यहां भरतक्षेत्र में है वैसा वहां नहीं है। वहां केवल वीतराग शासन आयतन के सिवाय और कोई धर्म नहीं है। अजरा-मरवृत्ति अनादि काल से विदेह क्षेत्र में है। और अनंत काल तक रहेगी। वहां वीतराग शासन में कभी भी परिवर्तन होता नहीं है। किन्तु पञ्च भरत पञ्च ऐरावत क्षेत्र के अन्दर हुंडावसर्पिणी काल के दोष से कलुषत्व परिणाम तथा विषय वासना आदि में अति-गृद्धता रखने वाले जीव होने से मत मतान्तर पैदा हुए। और तब से वणिक पुत्रों के हाथ में यह वीतराग धर्म आया किन्तु वणिक पुत्रों ने धर्म की तरफ लक्ष्य न दे कर धन को कमाया और ऐसे अमोलिक वीतराग धर्म को खोया। सो वणिक् पुत्र प्रायश्चित के पात्र हैं सो जानना। क्योंकि इन्हों ने इस पवित्र विश्व कल्याण करने वाले वीतराग धर्म का प्रचार न करके सांसारिक मायामयी दौलत के समान इस धर्म्म को तिजोड़ी में बन्द कर रक्खा।

इसी कारण से यह मतामतान्तर पैदा हुई। यह जैनियों के प्रमाद का ही फल है। नहीं तो आपको इस वक्त "स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति व केवली को कवलाहार" प्रोफेसरजी द्वारा निकाला हैण्डबिल ट्रैक्ट हमारे पास भेजने की जरूरत ही क्या थी।

इस वीतराग अहिंसाधर्म का मानवमात्र पर कैसा असर पड़ा था। इसका इतिहास मैं आपके सामने देता हूं। जिससे आपकी शंका दूर होकर समूल नाश हो जायगा। और यह दिगम्बर प्रवृत्ति प्राचीन कब से है इसका भी आपको मालूम हो जायगा और कुन्दकुन्दाचार्य ने दिगम्बर जैनमत का स्थापना किया ऐसा कहने का साहस भी नष्ट हो जायगा। क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य के पहिले अनन्तकाल से यह दिगम्बर आम्नाय चला आ रहा है यह उसके इतिहास से स्पष्टतया मालूम हो जायगा।

कृष्णवाक्य महाभारत में लिखा है कि जब अर्जुन महाभारत के लिये जा रहे थे तब उनके सामने निर्ग्रन्थ मुनिराज आये तो अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा कि यह शकुन कैसा है? तब श्री कृष्ण ने कहा कि जल्दी जाओ धनुष हाथ में लो, मारो पृथ्वी

जीतोगे। क्योंकि यह परमहंस परमात्मा दिगम्बर वेषधारी सामने आये यह शकुन बहुत अच्छा है। तब अर्जुन युद्ध के लिये चले गये।

हिन्दी इतिहास के अनुसार श्री कृष्ण जी का काल ५००० पांच हजार वर्ष के पहिले का है उसका श्लोक लिख दिया जाता है।

आरोहस्व रथे पार्थ, गांडीवं च करे कुरु।
निर्जिता मेदिनी मन्ये, निर्ग्रन्थो यस्य सम्मुखे।

इति कृष्णवाक्य भारत०

दत्तात्रयो महायोगी, योगीशश्चामरप्रभुः।
मुनिर्दिगम्बरो बालो, मायामुक्तो यदा परः॥

इति दत्तात्रय स्तोत्र पा० ७४

जैनमार्गरतो जितक्रोधो जितामयः।

इति दक्षिणामूर्ति सहस्रनाम

ॐ नग्नं सुवीरं दिग्वाससंब्रह्मगर्भंसनातनमुपैमि॥

इति यजुर्वेद अध्याय १ म० २५

ॐ वृषभं पवित्रं नग्नमुपवि [ई] प्रसामहे।
येषां नग्ना [नग्नये] जातिर्येषां वीराः॥

इतिऋग्वेद मध्ये

नग्नं परमाह संस्तुतं वारं शत्रुं जयंतं पशुरिंद्रमाहुरिति स्वाहा।

इति यजुर्वेद अ० २५ म० १

एकाकी निःस्पृहः शांतः कर्मनिर्मूलनक्षमः।
कदा शम्भो भविष्यामि पाणिपात्रो दिगम्बरः॥

इति भर्तृहरिकवि वैराग्यशतक में लिखा है।

शौचं निकामं मुनिपुङ्गवानां,
कमण्डलोः संश्रयणान समाप्तम्।
न चांगुलो सर्पं विदुर्पिताया,
छिनत्ति नासां खलु कश्चिदत्र॥
पापिष्ठ पापहेतुर्वा, यत्थानिष्ट विचेष्टितम्।

अमंगलकरं वस्तु प्राविंतार्थिविघाति च॥
ज्ञानध्यानतपःपूजा, सर्वसत्वहिते रतः।
किमन्यत्मंगलं लोके, मुनयो यदमंगलं॥
पद्मिनिराजहंसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधनाः।
यं देशमुपसर्पन्ति सुभिक्षं तत्र निर्दिशेत्॥
दृष्ट्वानुयांतमृषिमात्मजमप्यनग्नं।
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्॥
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति।
स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः॥

इति भागवते महापुराण-प्रथमस्कन्धे चतुर्थाध्याये पंचम श्लोकः

अश्नीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः॥

वैराग्यशतक पृष्ठ १२१

जथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहः।
तद्ब्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्नः शुद्धमानसः॥

प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभयोः समो भूत्वा शून्यागार-देवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्र-गृहनदीपुलिन-गिरि-कुहर-कंदर-कोटर-निर्जनस्थंडिलेषु तेष्वनिकेतवासस्य प्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठो अशुभकर्म-निर्मूलनपरः सन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नामेति।

वेंकटेश्वर छापा सन १९६६ का छपा गुटका पृ० २६०-२६१ पर है।

आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशांतमूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः॥

वराहमिहर बृहत्संहिता में अ० ५८ श्लो० ४५

निरावरणा इति दिगम्बराः।

कुसुमाञ्जलि ग्रन्थ के पृष्ठ १६ में पर लिखा है

कंथाकोपीनोत्तरासंगादीनां त्यागिनो यथाजात-रूपधरा निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः ।

इति संवर्तश्रुतिः

अर्हन्तो देवता यत्र निर्ग्रन्थो दृश्यते गुरुः ।
दया चैव परो धर्मस्तत्र मोक्षः प्रदृश्यते ॥

पद्मपुराणभूमिखंड अ० ३७-३८ पृष्ठ ३५-३६ में जैनधर्म की कथा लिखी है उसमें का यह श्लोक है ।

सर्वात्मनात्मनि स्थाप्य परमात्मानमीश्वरं ।
नग्नजटो निराहारो चिराष्यांतमतो हि सः ॥

इति लिंगपुराण अ० ४७-४८ पृ० ६८ श्लो० २२

नाहं रामो न मे वांछा भावेषु च न मे मनः ।
शांतिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

एको रागिषु राजते प्रियतमा देहार्धधारी हरो ।
नीरागेषु जिनो विमुक्तललना-संगो न यस्मात् परः

इति भर्तृहरि

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः ।
रूपमुपासदामेयत तिस्रो रात्रीः सुराः सुता ॥

यजुर्वेद अध्याय १९ मंत्र १४

सत्यं जैनी तपस्या हि सैराचारविरोधिनी ।

भारतीय संस्कृत साहित्य में दिगम्बर जैन मुनि का उल्लेख है—

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं ।
विस्तीर्णं वस्त्रमाशा सुदशकममलं तल्पमस्वल्पमुर्वी
येषां निःसंगताङ्गीकरणपरिणतिस्स्वात्मसंतोषिताश्ते
धन्याः सन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्मनिर्मूलयति

इति वैराग्यशतक

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी ।
सत्यं मित्रमिदं दया च भगिनी भ्राता मनःसंयमः ॥
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनं ।
ह्येते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद् भयं योगिनः ।

—इति वैराग्यशतक ।

इस प्रकार हिन्दू सम्प्रदाय में माने हुए परमहंस परिव्राजक नामक साधु दिगम्बर ही होते हैं। वे देश काल से परे स्वाचरण में निष्ठ होते हैं। इस प्रकार उनके ग्रन्थों में प्रतिपादन किया हुआ है। हिन्दुओं के अनेक साधु नग्न थे और हैं जैसे कुंभ मेला या प्रयाग में। यह सब बाल गोपाल जानते हैं। और श्रीमान देवीनारायण जी एडवोकेट शास्त्राचार्य काशी निवासी ने वेंकटेश्वर पत्रमें अभी श्रावण सुदी ८ को लेख निकला है उसमें लिखा है कि "हर साल कुंभ मेला में उज्वल भाव धारण करने वाले सैंकड़ों नंगे बाबा जाते हैं।

यह वीतरागता का ही प्रभाव है परन्तु इसमें नग्न वेश तो है किन्तु खान-पान जैसा दिगम्बरों में है वैसा नहीं है। जब भूख लगे तब खा लेते हैं प्यास लगे तब पी लेते हैं। परन्तु वीतराग शासन में २४ घंटे में एक ही बार भोजन व जल पीने की आज्ञा है। और यह अनादिकाल से धाराप्रवाह चला आ रहा है साधु जब ऐसी उज्वल कठिन वृत्ति से गिर गये तब ये मतमतान्तर स्थापित हुए। इसी खान पान की वजह से भी ऋषभदेव के समय में अनेक साधु गिर गये थे और अब तक गिर रहे हैं। ये सब हुंडावसर्पिणी काल का दोष है। गिरकर भी अपना नाक ऊंचा रख जो मोक्ष जाना चाहे उसकी कथा तो भगवान ही जाने।

जब राजा परीक्षित को सर्पदंश हुआ तब उसको तत्वश्रवण की इच्छा हुई। तब दिगम्बरत्व के शांति मय उपदेश को शुकदेव मुनि ने दिया तब उसको शांति हुई।

राजा भर्तृहरि "कदा शंभो भविष्यामि पाणि-

पात्रो दिगम्बरः" इस पवित्र भावना को पहिले से ही मानते २ दिगम्बर परिव्राजक हुए थे। इस प्रकार सैकड़ों ऐसे स्थान मिलेंगे जहां हिन्दू पुराण उपनिषद वेद आदि ग्रन्थों ने दिगम्बरत्व के महत्व का गीत गाया है।

अब विदेश से आये हुए यवन समाज पर भी दिगम्बर वीतराग प्रभु का कैसा असर व प्रभाव पड़ा सो आगे संक्षेप से उल्लेख करता हूं सो ध्यान से सुनने की कृपा करिये—

मसनवी ईरानी कुरानकर्ता मौलाना रूम कासीम गिलानी नाम का साधु दिगम्बर ही रहता था।

अब्दुल नाम का श्रेष्ठ फकीर या मस्त दिगम्बर ही रहता था। पैगम्बर हजरत मुहम्मद ने खुद फरमाया है कि मैं किन्हीं नये सिद्धान्तों का उपदेशक नहीं हूं और मुझे नहीं मालूम कि मेरे या तुम्हारे साथ क्या होगा? सत्य का उपासक और कह ही क्या सकता है। उसे तो सत्य को गुमराह भाइयों तक पहुंचाना है। और उसे जैसे बनता है वैसे इस कार्य को करना चाहिये। मुहम्मद साहब को अरब के असभ्य से लोगों में सत्य का प्रकाश फैलाना था। वे लोग ऐसे पात्र न थे कि एकदम ऊंचे दर्जे का सिद्धान्त उनको सिखाया जाता। उस पर भी हजरत मुहम्मद साहब ने उनको स्पष्ट शिक्षा दी है कि संसार का प्रेम ही सारे पाप की जड़ है। संसार मुसलमान के लिये एक कैदखाना और कहत के समान है। और जब वे इसको छोड़ देते हैं तब तुम कह सकते हो कि उन्होंने कहत और कैदखाने को छोड़ दिया है। त्याग और वैराग्य का इससे बढ़िया उपदेश और हो ही क्या सकता है। हजरत मुहम्मद ने स्वयं उसके अनुसार अपना जीवन बनाने का यथासम्भव यत्न किया था। उसपर भी उनके कम से कम वस्त्रों का परिधान और हाथ की अंगूठी उनके नमाज में बाधक हुई थी। किन्तु यह उनके लिये इस्लाम के उस अन्ध काल में सम्भव नहीं था कि वह खुद नग्न होकर त्याग और वैराग्य, तर्के दुनिया का श्रेष्ठतम उदाहरण उपस्थित करते।

यह कार्य उनके बाद हुए इस्लाम के सूफी तत्ववेत्ताओं के भाग में आया। उन्होंने तर्क अथवा त्याग धर्म का उपदेश स्पष्ट शब्दों में यूं दिया है—

दुनिया का सम्बन्ध त्याग देना, तर्क कर देना, उनकी आशायशों और पोशाक सब ही चीजों को अब की और आगे पैगम्बर साहब की हदीस के मुताबिक।

इस उपदेश के अनुसार इस्लाम में त्याग और वैराग्य को विशेष स्थान मिला। इसमें ऐसे दरवेश हुए जो [illegible] के हिमायती थे। और तुर्कीस्थान में 'अब्दुल' नामक दरवेश मादरजात नंगे रह कर अपनी साधना में लीन रहते बताये गये हैं। इस्लाम के महान सूफी तत्ववेत्ता और सुप्रसिद्ध 'मसनवी' नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री जलालुद्दीन रूमी दिगम्बरत्व का खुला उपदेश निम्न प्रकार देते हैं:—

१—गुफ्त मस्त ऐ मुहतसब बगुजार
रव अज़ बिरहना के तवां बरदन गरव।
जिल्द २ सफा २६२

२—जामा पोशां रा नजर परगाज रास्त
जामे अरियां रा तजल्ली जेवर अस्त।
जिल्द २ सफा ३८२

३—याअ अरियान बयकसू बाज़ रव
या चूं ईशां फारिग व बेजामा शव।

४—बरहनगी तानी कि कुल आरियां शवी
जामा कम कुन ता रह औसत रवी।
जिल्द ७ सफा ३८३

इसका उर्दू में अनुवाद 'इल्हामें मन्जूम' नामक पुस्तक में इस प्रकार दिया हुआ है—

(१) मस्त बोला, महतब, कर काम जा'
होगा क्या नंगे से तू अहदे बर आ"
(२) है नजर धोबी पै जामै पोष की '
है तजल्ली जेवर आरियां तनी"
(३) या बिरहनो से हो यकसू वाकई'
या हो उनकी तरह बेजामै अखी"
(४) मुतलकन आरियां जो हो सकता नहीं '
कपड़े कम यह है कि औसत के करी"

भाव स्पष्ट है कोई तार्किक मस्त नंगे दरवेश से आ उलझा। उसने सीधे से कह दिया कि जा अपना काम कर, तू नंगे के सामने टिक नहीं सकता। वस्त्रधारी को हमेशा धोबी की फिकर लगी रहती है। किन्तु नंगे तन की शोभा दैवी प्रकाश है। बस, या तो तू नंगे दरवेशों से कोई सरोकार न रख अथवा उनकी तरह आजाद और नग्न दिगम्बर हो जा। और अगर तू एक दम सारे कपड़े नहीं उतार सकता तो कम से कम कपड़े पहिन और मध्यमार्गको ग्रहण कर। क्या अच्छा उपदेश है। एक दिगम्बर जैन साधु भी तो यही उपदेश देता है। इस से दिगम्बरत्व का इस्लाम से संबंध स्पष्ट हो जाता है।

और इसलाम के इस उपदेश के अनुरूप सैकड़ों मुसलमान फकीरों ने दिगम्बर वेश को गत काल में धारण किया था। उनमें अब्दुलकासिम गिलानी, और सरमद शहीद, उल्लेखनीय हैं।

सरमद बादशाह औरंगजेब के समय में हो गुजरा है। और उसके हजारों नंगे शिष्य भारत में बिखरे पड़े थे। वह मूल में कजहाम (अरमेनिया) का रहने वाला एक ईसाई व्यापारी था। विज्ञान और विद्या का भी परम विद्वान था। अरबी अच्छी खासी जानता था। व्यापार के निमित्त भारत में आया था। ठट्टा (सिंध) में एक हिन्दू लड़के के इश्क में पड़ कर मजनू बन गया। उपरान्त इस्लाम के सूफी दरवेशों की संगति में पड़ कर मुसलमान हो गया। मस्त नंगा वह शहरों और गलियों में फिरता था। अध्यात्मवाद का प्रचारक था। घूमता घामता वह दिल्ली जा डटा। शाहजहां का वहां अंत समय था। दारा शिकोह शाहजहां का बड़ा लड़का उसका भक्त हो गया। सरमद आनन्द से अपने मत का प्रचार दिल्ली में करता रहा। उस समय फ्रांस से आये हुए डा० बर्नियर ने खुद अपनी आंखों से नङ्गा दिल्ली के गलियों में फिरता हुआ देखा था। किन्तु जब शाहजहां और दारा को मार कर औरंगजेब बादशाह हुआ तो सरमदकी आजादीमें भी अड़ङ्गा पड़ गया। औरंगजेबके बादशाह होने के समय मुल्ला को कोई नहीं मानता था और उनकी प्रतिष्ठा भी कम थी। जब औरंगजेब बादशाह हुआ तब मुल्ला ने नग्नता को पूर्व द्वेष वश से अपनी प्रतिष्ठा और संसार-चार प्रवृत्ति को बढ़ाने के लिये औरंगजेब को नग्न मनुष्य को कपड़ा पहनाने की सलाह दी। तब औरङ्गजेब ने सरमदसे कपड़े पहननेकी दरख्वास्त की। उत्तर में सरमद ने कहा—

आंकस कि तुरा कुलाह सुल्तानी दाद, मारा हम औं असबाब परेशानी दाद। पोशानींद लबास हरकरा ऐबेदीद, बेऐबारा लबास अयांनो दाद।

यानी जिसने तुमको बादशाही ताज दिया, उसी ने हम को परेशानी का सामान दिया। जिस किसी

में कोई ऐब पाया उसको लिबास पहनाया और जिस में ऐब न पाया उस को नंगे-पन का लिबास दिया ।

इस प्रकार इस अमूल्य रुबाई को सुनकर बादशाह चुप हो गया । सचमुच उस समय भारत में हजारों नंगे फकीर थे वे दरवेश अपने नंगे तन में भारी २ जञ्जीरें लपेट कर बड़े लंबे लंबे तीर्थाटन किया करते थे ।

सारांशतः इस्लाम मज़हब में वीतराग दिगम्बरत्व साधु पद का चिन्ह रहा किन्तु दिगम्बरियों में चौबीस घंटे में एकबार आहार जल लेना और वीतराग वृत्ति-वर्धक जो व्रत है वह उन में नहीं था । और उस को अमली शक्ल भी हजारों मुसलमानों ने दी है । चूंकि हजरत मुहम्मद किसी नये सिद्धान्त के प्रचार का दावा नहीं करते इस लिये कहना होगा ऋषभाचल से प्रकट हुई दिगम्बर गंगा की एक धारा को इस्लाम के सूफी दरवेशों ने भी अपना लिया था ।

अब ईसाई मज़हब से कुछ दिगम्बरत्व के लिये प्रमाण देता हूं सो ध्यान से सुनने की कृपा करिये—

ईसाई मजहब में भी दिगम्बरत्व का महत्व भुलाया नहीं गया है । बल्कि बड़े मार्के के शब्दों में उस का प्रतिपादन हुआ मिलता है । इस का एक कारण है । जिस महानुभाव द्वारा ईसाई धर्म का प्रतिपादन हुआ था वह जैन श्रमणों के निकट शिक्षा पा चुका था उसने जैन धर्म की शिक्षा को ही अलंकृत भाषा में पाश्चात्य देशों में प्रचलित कर दिया । इस अवस्था में ईसाई मजहब दिगम्बरत्व के सिद्धान्त से खाली नहीं रह सकता । और सचमुच बाईबल में स्पष्ट कहा गया है कि—

"उसने अपने वस्त्र उतार डाले और सैमुयल के समक्ष ऐसी घोषणा की । और उस सारे दिन तथा सारी रात वहां नंगा रहा इस पर उन्होंने कहा क्या साल भी पैगम्बरों में से है ? सैमुयल १६/२४/

उसी समय प्रभु ने अमोज के पुत्र ईसाइया से कहा जा और अपने वस्त्र उतार डाल और अपने पैर से जूते निकाल डाल । और उसने यही किया' नंगा और नंगे पैरों वह विचरने लगा । ईसाय्या । २०/२/

इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि बाइबिल भी मुमुक्षु को दिगम्बर मुनि हो जाने का उपदेश देती है । और कितने ही साधु दिगम्बर वेश में रह चुके हैं । दिगम्बरत्व की आवश्यकता पाप से मुक्ति पाने के लिये ही है । ईसाई ग्रन्थकार ने इस के महत्व को खूब दर्शा दिया है । यही वजह है कि ईसाई मजहब के मानने वाले भी सैकड़ों साधु हो गुजरे हैं । इसी तरह ईसाइयों के मत से दिगम्बरत्व सिद्ध होता है ।

अब बौद्धों के प्रमाण से भी दिगम्बरत्व का कुछ उल्लेख देता हूं । बौद्धों का प्रकरण होने से यहां दि० जैन पद्म पुराण से भी उल्लेख दिये हैं । सो ध्यान से सुनिये—

निगण्ठो आवुसो नाथपुत्तो सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी
अपरिसेसं ञाण दस्सनं परि जानाति ।
इति मज्झिमनिकाय

निगण्ठो नाथपुत्तो संघी चैव गणी गणाचार्यो ।
च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधु सम्मतो बहुजनस्स ॥
रत्तञ्ञु चिरपब्बजितो अद्धगतो वयो अनुप्पत्ता ।
इति दीघनिकाय ॥

भगवान महावीर वर्द्धमान ज्ञातृवंशी क्षत्रियों के प्रमुख राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणी त्रिशला के सुपुत्र थे । रानी त्रिशला वज्जियन राजसंघ के प्रमुख लिच्छवि क्षत्री राजा चेटक की सुपुत्री थी ॥

लिच्छवि क्षत्रियों का आवास समृद्धिशाली नगरी

वैशाली में था। ज्ञातृक क्षत्रियों की बसती भी उसके निकट थी। कुण्डग्राम और कोल्लग सन्निवेश उन के प्रसिद्ध नगर थे। भगवान महावीर वर्द्धमान का जन्म कुण्डग्राम में हुआ था। और वह अपने ज्ञातृवंश के कारण "ज्ञातृपुत्र" के नाम से भी प्रसिद्ध थे। बौद्ध ग्रन्थों में उनका उल्लेख इसी नाम से हुआ मिलता है। और वहां उन्हें भगवान् गौतम बुद्ध का समकालीन बताया है। दूसरे शब्दों में कहें तो भगवान महावीर आज से लग भग ढाई हजार वर्ष पहिले इस धरातल को पवित्र करते थे और वह क्षत्रिय राजपुत्र थे।

भरी जवानी में ही महावीर जी ने राज पाट का मोह त्याग कर दिगम्बर मुनि का वेश धारण किया था। और तीस वर्ष तक कठिन तपस्या कर के वह सर्वज्ञ और सर्व दर्शी तीर्थंकर हो गये थे। "मज्झिम-मनिकाय" नामक बौद्ध ग्रन्थों में उन्हें सर्वज्ञ सर्वदर्शी और अशेष ज्ञान तथा दर्शन का ज्ञाता लिखा है।

तीर्थंकर महावीर ने सर्वज्ञ हो कर देश विदेश में भ्रमण किया था। और उन के धर्म प्रचार से लोगों का आत्म—कल्याण हुआ था। उनका विहार संघ सहित होताथा। और उनका विनय हरकोई करता था।

बौद्धग्रन्थ "दीर्घनिकाय" में लिखा है कि निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र (महावीर) संघ के नेता हैं, गणाचार्य हैं, दर्शन विशेष के प्रणेता हैं, विशेष विख्यात हैं, तीर्थंकर हैं, सब मनुष्यों द्वारा पूज्य हैं, अनुभवशील हैं, बहुत काल से साधु अवस्था प्राप्त करते हैं, और अधिक वयप्राप्त हैं।

जैनशास्त्र हरिवंशपुराण में लिखा है कि भगवान महावीर ने मध्य के (काशी, कौशल, कौशल्यकुसंध्य, अश्वष्ट, त्रिगर्तपञ्चाल, भद्रकार, पाटच्चार, मौक, मत्स्य, कनीय, सूरसेन, एवं वृकार्थक) समुद्र तट के (कलिंग, कुरुजांगल, कैकेय, आत्रेय, कांबोज, वाल्हक यवनश्रुति, सिन्धु, गांधार, सौवीर, सूर, भीरु, दशेरुक, वाडवान, भारद्वाज, क्वाथतोय,) और उत्तर दिशा के (तार्ण, कार्ण, प्रच्छाल, आदि) देशों में विहार कर उन्हें धर्म की ओर ऋजु किया था।

भगवान महावीर का धर्म अहिंसा-प्रधान तो था ही। किन्तु उन्हों ने साधुओं के लिये दिगम्बरत्व का भी उपदेश दिया था। उन्हों ने स्पष्ट घोषित किया था कि जैन धर्म में दिगम्बर साधु ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है। बिना दिगम्बर वीतराग वेष धारण किये निर्वाण प्राप्त कर लेना असंभव है। और उन के इस वैज्ञानिक उपदेश का आदर आबालवृद्ध ने किया था।

विदेह में जिस समय भगवान महावीर पहुँचे। तो उनका वहां लोगों ने विशेष आदर किया। वैशाली में उन के शिष्यों की संख्या अधिक थी। स्वयं राजा चेटक उनका शिष्य था।

अंगदेश में जब भगवान पहुंचे तो वहां के राजा कुणिक अजात शत्रु के साथ सारी प्रजा भगवान की पूजा करने केलिये उमड़ पड़ी। राजा कुणिक कौशाम्बी तक महावीर स्वामी को पहुंचाने गये। कौशाम्बी नरेश ऐसे प्रतिबुद्ध हुए कि वे दिगम्बर मुनि हो गये। मगध देश में भी भगवान महावीर का खूब विहार हुआ था। और उनका अधिक समय राजगृही में व्यतीत हुआ था। सम्राट् श्रेणिक, बिम्बसार भगवान के अनन्य भक्त थे। और उन्हों ने धर्म प्रभावना के अनेक कार्य किये थे। श्रेणिक के अभयकुमार, वारिषेण, आदि कई पुत्र दिगम्बर मुनि हो गये थे।

दक्षिण भारत में जब भगवान का विहार हुआ तो हेमांग देश के राजा जीवंधर दिगम्बर मुनि हो गये थे। इस प्रकार भगवान का जहां जहां विहार

हुआ वहां वहां दिगम्बर धर्म का प्रचार बहुत हुआ। शतानीक, उदयन, आदिराजा, अभय, नंदिषेण, आदि राजकुमार, शालिभद्र, धन्यकुमार, प्रीतंकर, आदि धनकुबेर, इन्द्रभूति, गौतम आदि ब्राह्मण विद्वान विद्युच्चर आदि सदृश पतितात्मायें और न जाने कौन कौन भगवान महावीर की शरण में आकर मुनि हो गये।

सचमुच अनेक धर्म-पिपासु भगवान के निकट आकर धर्मामृत पान करते थे। यहां तक कि स्वयं म० गौतमबुद्ध और उनके संघ पर भगवानके उपदेश का प्रभाव पड़ा था।

बौद्ध भिक्षुओं ने भी नग्नता को धारण करने का आग्रह महात्मा बुद्ध से किया था। इस पर यद्यपि महात्मा बुद्ध ने नग्न वेष बुरा नहीं बतलाया किन्तु यह कठिन वृत्ति होने से उससे कुछ ज्यादा शिष्य पाने का लाभ न देखकर उसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया। पर तो भी एक समय नैपाल के तान्त्रिक बौद्धों में नग्न साधुओं का अस्तित्व हो गया था।

सच्चबात तो यहहै कि नग्नवेषको साधुपदके भूषक रूपमें सबही को स्वीकार करना पड़ता है। ऐसे प्रामाणिक पुरुषों का विरोध करना अपनी अज्ञता दिखलाना है। उस समय म० बुद्ध के जमाने में तो उसका विशेष प्रचार था। अभी भगवान महावीर ने धर्मोपदेश प्रारंभ नहीं किया था कि प्राचीन जैन और आजीविक साधु नंगे घूमकर उसका प्रचार कर रहे थे।

देखिये बौद्धग्रन्थों के आधार से इस विषय में डा० स्टीवेन्सन लिखते हैं—

"एक तीर्थक नग्न हो गया" लोग उसके लिये बहुत से वस्त्र लाये किन्तु उनको उसने स्वीकार नहीं किया। उसने यही सोचा कि यदि मैं वस्त्र स्वीकार करता हूं तो संसार में मेरी अधिक प्रतिष्ठा नहीं होगी। वह कहने लगा कि लज्जा-रक्षण के लिये ही वस्त्र धारण किया जाता है और लज्जा ही पाप का कारण है। हम अर्हत हैं इस लिये विषय-वासना से अलिप्त होने के कारण हमें लज्जा की कोई परवाह नहीं। इसका यह कथन सुनकर बड़ी प्रसन्नता से वहां इसके पांच सौ शिष्य बन गये। बल्कि जम्बूद्वीप में इसको लोग सच्चा बुद्ध कहने लगे।

यह उल्लेख संभवतः मक्खलि गोशाल अथवा पूर्ण काश्यप के संबंध में है। ये दोनों साधु भगवान पार्श्वनाथकी शिष्य परंपरा के मुनि थे। मक्खलि-गोशाल म० महावीर से रुष्ट होकर अलग धर्मप्रचार करने लगा था और वह 'आजीविक' संप्रदाय का नेता बन गया था। इस संप्रदाय का विकास प्राचीन जैनधर्म से हुआ था और उसके साधु भी नग्न रहते थे। पूरणकाश्यप गोशाल का साथी और वह भी दिगम्बर रहा था। सचमुच दिगम्बर जैन धर्म पहिले से ही चला आ रहा था। जिसका प्रभाव इन लोगों पर पड़ा था।

उसपर भगवान महावीर के अवतीर्ण होते ही दिगम्बरत्व का महत्व और भी बढ़ गया। यहां तक कि अन्य सम्प्रदाय के लोग भी वीतराग नग्नवेश धारण करने को लालायित हो गये। जैसे कि ऊपर प्रगट किया है।

बौद्ध शास्त्रों में निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) महामुनि महावीर के विहार का उल्लेख भी मिलता है। 'मज्झिमनिकाय' के 'अभयराजकुमारसुत्त' से प्रगट है कि ये राजगृह में एक समय रहे थे। 'उपाली सुत्त' से भगवान महावीर का नालन्दा में विहार

करना स्पष्ट है। उस समय उनके साथ एक बड़ी संख्या में निर्ग्रंथ साधु थे। "सामगामसुत्त" से यह प्रगट है कि भगवान ने पावा से मोक्ष प्राप्त किया था। "दीर्घनिकाय" का 'पासादिकसुत्त' भी इसी बात का समर्थन करता है। "संयुक्तनिकाय" में भी भगवान महावीर का संघ सहित 'मच्छिकाखंड' में विहार करना स्पष्ट है।

"ब्रह्मजालसुत्त" में राजगृह के राजा अजातशत्रु को भगवान महावीर के दर्शन के लिये लिखा गया है। 'विनय पिटक' के 'महावग्ग' ग्रन्थ में महावीर स्वामी का वैशाली में धर्मप्रचार करना प्रमाणित है। एक 'जातक' में भगवान महावीर को 'अचेलकनातपुत्त' कहा गया है। 'महावस्तु' से प्रगट है कि अवन्ती के राजपुरोहितका पुत्र नालक बनारस आया था। वहां उसने निग्गन्थनाथपुत्त (महावीर) को धर्म-प्रचार करते पाया। 'दीर्घनिकाय' से यह स्पष्ट है कि कौशल के राजा पसेनदी ने निग्गन्थनाथपुत्त (महावीर) को नमस्कार किया था। उसकी रानी मल्लिका ने निर्ग्रन्थों के उपयोग के लिये एक भवन बनवाया था। सारांश यह है कि बौद्धशास्त्र भी वीतराग दिगम्बर धर्म की व भगवान महावीर के दिगन्त-व्यापी और सफल विहार की साक्षी देते हैं।

भगवान के विहार और धर्मप्रचार से जैनधर्म का विशेष उद्योत हुआ था। जैनशास्त्र कहते हैं कि उनके संघ में चौदह दिगम्बर मुनि थे। जिसमें ३९०० साधारण मुनि, ३०० अंग पूर्वधारी मुनि, १३०० अवधिज्ञानधारी, ८०० ऋषि विक्रियायुक्त, ५०० चारज्ञान के धारी, ७०० केवलज्ञानी और ९०० अनुत्तरवादी थे। महावीर संघ के ये दिगम्बरमुनि ११गणों में विभक्त थे और ग्यारह गणधर उनकी देख-रेख करते थे। इन गणधरों का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है—

१-इन्द्रभूति गौतम, २-वायुभूति, ३-अग्निभूति, ये तीनों गणधर मगध देश के गोबर ग्राम निवासी वसुभूति (शांडिल्य) ब्राह्मण की स्त्री पृथ्वी (स्थण्डिला) और केशरी के गर्भ से जन्मे थे। गृहस्थाश्रम त्यागने के बाद ये क्रम से गौतम, गार्ग्य और भार्गव नाम से भी प्रसिद्ध हुए थे। जैन होने के पहिले ये तीनों वेद धर्मपरायण ब्राह्मण विद्वान थे। भगवान महावीर के निकट इन तीनों ने अपने कई सौ शिष्यों सहित जैनधर्म की दिगम्बर दीक्षा धारण की थी और ये दिगम्बर होकर मुनियों के नेता हुए थे। देश-देशान्तरों में विहार करके इन्होंने खूब धर्म-प्रभावना की थी।

चौथे गणधर व्यक्त कोल्लगसन्निवेश निवासी धनमित्र ब्राह्मण की वारुणी नामक पत्नी के कूख से जन्मे थे। दिगम्बर मुनि होकर ये भी गणनायक हुए थे।

पांचवें सुधर्म नामक गणधर भी कोल्लगसन्निवेश के निवासी धम्मिल ब्राह्मण के सुपुत्र थे। इनकी माता का नाम भद्दीला था। भगवान महावीर के उपरांत इनके द्वारा जैनधर्म का विशेष प्रचार हुआ था।

छठे मण्डिक नामक गणधर मौर्याख्य देश निवासी धनदेव ब्राह्मण की विजयादेवी स्त्री के गर्भ से जन्मे थे। दिगम्बर मुनि होकर यह वीर संघ में सम्मिलित हो गये थे और देश-विदेश में धर्म-प्रचार किया था।

सातवें गणधर मौर्यपुत्र भी मौर्याख्य देश के निवासी मौर्यक नामा ब्राह्मण के पुत्र थे। इन्हों ने

भी भगवान महावीर के निकट दिगम्बरीय दीक्षा ग्रहण करके सर्वत्र धर्मप्रचार किया था।

आठवें गणधर अकम्पन थे जो मिथिलापुरी के निवासी देव नामक ब्राह्मण की जयन्ती नामक स्त्री के उदर से जन्मे थे। इन्होंने भी खूब धर्म-प्रचार किया था।

नवमें 'धवल' नामक गणधर कौशिलापुरी के 'वसु' विप्र के सुपुत्र थे। इनकी मां का नाम 'नन्दा' था। इन्होंने भी दिगम्बर मुनि हो सर्वत्र विहार किया था।

दशवे गणधर 'मैत्रेय' थे। वह वत्स देशस्थ तुङ्गिकाख्य नगरी के निवासी 'दत्त' ब्राह्मण की स्त्री करुणा के गर्भ से जन्मे थे। इन्होंने भी अपने गण के साधुओं सहित धर्म-प्रचार किया था।

ग्यारहवें गणधर 'प्रभास' राजगृह निवासी 'बल' नामक ब्राह्मण की पत्नी 'भद्रा' की कुक्षि से जन्मे थे और दिगम्बर मुनि तथा गणनायक होकर सर्वत्र धर्म का उद्योत करते हुए विचरते थे।

इस प्रकार इन गणधरों की अध्यक्षता में रहकर उपरोक्त चौदह हजार दिगम्बर मुनियों ने तत्कालीन भारत का महान उपकार किया था। विद्या, धर्मज्ञान और सदाचार उनके सदुपयोग से भारत में खूब फैले थे। जैन और बौद्धशास्त्र यही प्रगट करते हैं।

बौद्ध और जैनशास्त्रों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन धर्मगुरु देश में सर्वत्र विचरते थे और जहां वे ठहरते थे वहां धर्म, सिद्धान्त, आचार, नीति और राष्ट्रवार्ता विषयक गम्भीर चर्चा करते थे। सचमुच उनके द्वारा जनता का महान उपकार होता था।

बौद्ध शास्त्र से भी भगवान महावीर के संघ के किन्हीं दिगम्बर मुनियों का वर्णन मिलता है। यद्यपि जैन शास्त्रों में उनका पता लगाना सुगम नहीं है। जो हो, उनसे यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर और उनके दिगम्बर शिष्य देश में निर्बाध विचरते और लोक-कल्याण करते थे।

सम्राट श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र राजकुमार 'अभय' दिगम्बर मुनि हो गये थे। यह बात बौद्ध-शास्त्र भी प्रगट करते हैं। उन राजकुमार ने ईरान देश के वासियों में भी धर्म प्रचार कर दिया था। फलतः उस देश का एक राजकुमार आर्द्रक निर्ग्रन्थ साधु हो गया था।

बौद्धशास्त्र वैशाली के दिगम्बर मुनियों में सुण-क्खत्त, कलार मत्थुक और पाटिक-पुत्र का नामोल्लेख करते हैं। सुणक्खत्त एक लिच्छवि राजपुत्र था और वह बौद्धधर्म छोड़कर निर्ग्रन्थ मत का अनुयायी हुआ था।

वैशाली के सन्निकट एक कन्दरमसुक नामक दिगम्बर मुनि के आवास का भी उल्लेख बौ शास्त्रों में मिलता है। उस मुनिने यावत जीवन नग्न रहने और नियमित परिधिमें विहार करने की दृढ़ प्रतिज्ञा ली थी।

श्रावस्ती के कुलपुत्र अर्जुन भी दिगम्बर मुनि हो कर सर्वत्र विचरे थे।

यह वीतराग दिगम्बर मुनि और इनके साथ जैन साध्वियां भी सर्वत्र धर्मोपदेश देकर मुमुक्षुओं को जैनधर्म में दीक्षित करते थे। इसी उद्देश्य को लेकर वे नगरों के चौराहों पर जाकर धर्मोपदेश देते वादभेरी बजाते थे। बौद्धशास्त्र कहते हैं कि "उस समय तीर्थक साधु प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णमासी को एकत्रित होते थे और उपदेश करते थे। लोग उसे सुनकर प्रसन्न होते थे और

इनके अनुयायी बन जाते थे।

इन साधुओं को जहां भी अवसर मिलता था वहां ये अपने धर्म की श्रेष्ठता को प्रमाणित करके अवशेष धर्म को गौण प्रगट करते थे।

भगवान महावीर और महात्मा गौतमबुद्ध दोनों ने अहिंसा धर्म का उपदेश दिया था। किन्तु भगवान महावीरकी अहिंसामें मन वचन कायपूर्वक जीव हत्या से विलग रहने का विधान था। भोजन या मौज शौक के लिये भी उसमें जीवों का प्राण-व्यपरोपण नहीं किया जा सकता था। इसके विपरीत महात्मा बुद्ध की अहिंसा में बौद्ध भिक्षुओं को मांस और मत्स्य भोजन ग्रहण करने की खुली आज्ञा थी। एक बार नहीं अनेक बार स्वयं महात्मा बुद्ध ने मांस भोजन किया था। ऐसे ही अवसरों पर दिगम्बर बौद्ध भिक्षुओं को आड़े हाथों लेते थे। एक मरतबा जब भगवान महावीर ने बुद्ध के इस हिंसक कर्म का निषेध किया तो बुद्ध ने कहा 'भिक्षुओ' यह पहिला मौका नहीं है। बल्कि नाथपुत्त (महावीर) इससे पहले भी कई मरतबा खास मेरे लिये पके हुए मांस को मेरे भक्षण करने पर आक्षेप कर चुके हैं। एक दूसरी बार जब वैशाली में महात्मा बुद्ध ने सेनापति सिंह के घर पर मांसाहार किया तो बौद्ध शास्त्र कहता है "निर्ग्रंथ एक बड़ी संख्या में सड़क सड़क पर और चौराहों २ पर यह शोर मचाते कहते फिरे कि आज सेनापति सिंह ने एक बैल का बध किया है उसका मांस श्रमणगौतम केलिये बनायाहै। श्रमणगौतम जान बूझकर कि यह बैल मेरे आहार के निमित्त मारा गया है पशु का मांस खाता है। इस लिये वही उस पशु के मारने के लिये बधक है। इन उल्लेखों से उस समय दिगम्बर मुनियों को निर्बाध रूप में जनता के मध्य विचरने और धर्मोपदेश देने का स्पष्टीकरण होता है।

बौद्ध गृहस्थों ने कई मरतबा दिगम्बर मुनियों को अपने घर के अन्तःपुर में बुलाकर परीक्षा की थी। सारांशतः दिगम्बर मुनि उस समय हाट बाजार घर महल और गाव सब ठौर सब ही को धर्मोपदेश देते हुए विहार करते थे।

इस लिये बौद्धधर्म से भी दिगम्बरत्व सनातन से सिद्ध होता है और उन्होंने भी दिगम्बर वीतरागपना माना है।

प्रोफेसर साहब को देखना चाहिये कि दिगम्बर धर्म पहिले का चला आया है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने स्थापित किया है ? अर्थात कुन्दकुन्दाचार्य ने स्थापित नहीं किया है, प्राचीनतर ही है। और भी आगे मुनिये दिगम्बर धर्म की प्राचीनता के विषय में अब श्वेताम्बर शास्त्रों का उल्लेख देते हुए दिगम्बरत्व की प्राचीनता विषय में स्पष्टीकरण करता हूं सो ध्यान से सुनने की कृपा कीजिये—

श्वेताम्बर शास्त्रों में वर्णित भगवान महावीर की यह कथा भी इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने वस्त्रों को झंझट समझ कर ही छोड़ा था और फिर कभी नहीं ग्रहण किया था। इन समस्याओं के विचार करने के बाद यही परिणाम निकाला जा सकता है कि मुक्ति के लिये नग्नता अनिवार्य है। कहा भी है—

जिनेश्वर न ते मते पटकवस्त्रपात्रग्रहो।
विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पितः।
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद् वृथा नग्नता।
न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते ॥

अर्थात– हे जिनेश्वर ! तेरे मत में साधुओं के

प्रोफेसर साहब हीरालाल जी का कहना है दिग-म्बर धर्म कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रतिपादन किया है। श्वेताम्बर दिगम्बरधर्ममें सवस्त्र प्रमाण है। सो आप का कहना दिगम्बर शास्त्रके अनुसार तो अनुचित और असत्य है ही। किन्तु श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंके अनुसारभी आपका कहना असत्य है यह नीचे लिखे हुए कल्पसूत्र के प्रमाण से साफ २ हो जाता है।

कल्पसूत्र के पृ० ११४ में लिखा है कि भगवान महावीरने अपने शिष्यों को सवस्त्र सपात्ररूप धारण कराने के लिये स्वयं भगवान ने पात्र में आहार किया और थोड़े दिन तक वस्त्र धारण किया। पश्चात पात्र को छोड़ कर दिगम्बर हो गये और कर पात्र में आहार लिया। ऐसा साफ लिखा हुआ है। अब कहिये प्रोफेसर साहब! अगर पहिले से ही वस्त्र धारण करने का मार्ग साधु के लिये होता तो पुनः सवस्त्र व सपात्र के उपदेश देने की जरूरत क्या थी भगवान महापुरुषों के लिये ऐसे वृथा पिष्टपेषण का काम नहीं होता है। इस लिये दिगम्बरत्व की प्रा-चीनता श्वेताम्बर ग्रन्थों से भी सिद्ध है।

भगवान ने सवस्त्र का उपदेश दिया सो कमजोर त्यागियों के लिये दिया है। कमजोर त्यागियों को मोक्षमार्ग का अधिकार कहां है। इसी लिये दिगम्ब-रियों ने सवस्त्र सपात्र वालों को उत्कृष्ट श्रावकों में (ऐल्लक क्षुल्लक ब्रह्मचारी) समावेश किया है। इसी का खुलासा किया जाता है सो सुनिये—

तदेवं भगवता सवस्त्रधर्मप्ररूपणाय साधिकमा-साधिकंवर्षं यावद् वस्त्रं स्वीकृतं, सपात्र—धर्मस्थाप-नाय च प्रथमा पारणा पात्रेण कृतवान। ततः परं तु यावज्जीव अचेलकः पाणिपात्रश्चाभूत।

इदं च छद्मस्थावस्थायिनोऽपि भगवतो निश्चयो-

लिये पात्र और वस्त्रों का ग्रहण करना नहीं बतलाया गया। जो स्वयं अशक्त और कमजोर हैं, उन्होंने सुख की सामग्री पात्र और वस्त्रों की कल्पना की है। भला अशक्त और ऐहिक सुख के चाहने वालों का इस कठिन मुनि मार्ग में क्या काम? उन्हें तो गृहस्थ ही रहना चाहिये। यदि वस्त्र और पात्र धारण करके भी मोक्ष प्राप्त किया जा सके तो फिर नग्न होकर व्यर्थ तकलीफ कौन उठावे? जो फल जमीन पर खड़े २ ही तोड़ा जा सकता है उसके लिये वृक्ष पर चढ़ने का कष्ट कौन करेगा।

प्रोफेसर साहब क्या अच्छी बात कही है। वा-स्तविक है भी ऐसा ही। यदि बिना पढ़े ही विद्या मिलती तो फिर कौन ऐसा आदमी है जो विद्या-ध्ययन में इतना परिश्रम करे। अगर स्वयं अपने आप ही रोटी बन जाती तो रोटी के लिये चूल्हा सिलगाना आदि परिश्रम कोई क्यों करे। अगर ५०) रुपयों का साल ओढ़ने को मिले और आनन्द के साथ जब भूख लगे तब रोटी मिले और प्यास लगे तब पानी मिले ऐसे करते २ जब मोक्ष मिल जाय तो आनंद हो गया। फिर कठिन तपस्या करनेकी जरूरत ही क्या रही और फिर इस दिगम्बर अवस्था में परमहंस बनकर भूख प्यास गर्मी सर्दी के दुख सहन करके मोक्ष प्राप्त करने की क्या जरूरत है। प्रोफेसर साहब! इस तरह मोज से मोक्ष न कभी मिला है न मिलेगा। सर्वसंग परित्याग करके आत्मलीन होना होगा, वस्त्र का तो नाम ही नहीं किन्तु साधु कभी २ जो आहार लेते हैं उस आहार को भी भूलना होगा। तब मोक्ष की प्राप्ति होगी। अथवा यों कहिये कि शरीर स्थिति के लिये साधु आहार लेते हैं वह भी लोहे को चने चबाना है।

जनस्यापि वस्त्रस्य यद्धर्शनं तद्भगवत्संततेर्वस्त्रपात्रेषु मूर्च्छां सूचयति इति केचिन्न ब्रुवन्तीति सत्यमेतत् मूर्च्छां विना परवस्तु के धीमन्तो गृह्णन्ति। केऽपि न इत्यर्थं। इति स्पष्टं (कल्पसूत्र ११५)।

परन्तु अपने भाई जैनसम्प्रदाय में ही श्वेताम्बर कहलाने वाले महाव्रती साधु को वस्त्र—विधान करते हैं और सवस्त्र मुक्ति का समर्थन करते हैं। जबकि उनके ही मान्य आगम ग्रन्थों के उच्च आदर्श को देखा जाय तो दिगम्बरत्व का ही वहां पर समर्थन प्रधानता से मिलता है।

अपने भाई श्वेताम्बर आगमों में जिन-कल्पी मुनि को 'अचेलगोय जे धम्मो' वाक्य में बहुत महत्व दिया है। वे नग्न ही रहते हैं। यही उच्च आदर्श है। महावीर स्वामी ने (श्वेताम्बर मत में) १३ महीने तक इन्द्र के दिये हुए वस्त्र को धारण किया था। बाद में उसका परित्याग कर नग्न होकर ही मोक्ष प्राप्त किया था। इसी प्रकार सब तीर्थङ्करों ने नग्नता को धारण कर ही मुक्ति को पाया है।

आचारांग सूत्र के ८ वें अध्यायके सातवें उद्देश्य में लिखा है कि "अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति अचेले लाघवियं आगम पमाणे। तवे से अभिसमन्नागये भवइ। जहं तं भगवया पवेदियं तमेव अभिसमेच्चा सव्वओ सव्वत्ताये सम्मत्तमेव समभिजाणिया।"

अर्थात—जो मुनि लज्जा जीत सकता हो वह मुनि नग्न ही रहे। नग्न रहकर तृण स्पर्श, सर्दी, गर्मी, डांस मच्छर आदि जो भी परीषह प्राप्त हो उसको सहन करे। ऐसा करने से ही मुनि को चिन्ता कम रहती है और तप की सिद्धि होती है। इस लिये जैसा भगवान ने कहा है वैसा जानकर जैसे बने वैसे पूर्ण समभता रहे।

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नग्न वीतराग रहना यह साधु का उच्च आदर्श रूप है। जिनमें परीषह सहन करने का सामर्थ्य नहीं है ऐसे कमजोर साधुओं को वस्त्र रखने का विधान है। जैसे दिगम्बरियों के श्रावक श्रेणी में विधान किया गया है।

आचारांग सूत्र के छट्ठे अध्याय के तृतीय उद्देश्य के ३६० वें सूत्र को जरा देखियेगा—

जो अचेले परिवुसिये तस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ परिजुन्ने मे वत्थे जाइस्सामि, सुई जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वोक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि पाउणिस्सामि।

अर्थात—जो मुनि वस्त्र रहित (नग्न) होते हैं उनको यह चिन्ता नहीं रहती कि मेरा कपड़ा फट गया है, मुझे नया दूसरा कपड़ा चाहिये। कपड़ा सीने केलिये सूई धागा चाहिये। तथा यह चिन्ता भी नहीं रहती कि मुझे कपड़ा रखना है, फटा हुआ अपना कपड़ा सीना है, जोड़ना है, फाड़ना, पहनना है, यह मैला कपड़ा धोना है।

सारांश यह है कि श्वेताम्बर मत में भी आदर्श व उच्च दर्जे के साधुओं के लिये वस्त्र रखने का विधान नहीं है और भी कई उल्लेख उनके शास्त्र से दिगम्बरत्व को सिद्ध करते हैं और उत्तराध्ययन के विषय में निम्न प्रकार प्रतिपादन किया है—

परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए।
अचेलपवरे भिक्खू जिणरूवधरे सदा॥
सचेलगो सुखी भवति असुखी चावि अचेलगो।
अहं तो सचेलगो होक्खामि इहि भिक्खू ण चिंतए॥

इति उत्तराध्ययन

अचेलक्को य जो धम्मो जो वा यं पुणरुत्तरो।
देसिदो वड्ढमाणेण पासेण अमहप्पणा ॥
एगधम्मे पवत्ताणं दुविधा लिंगकप्पणा।
उभयेसि पदिट्ठाणमहं संसयमागदा ॥
इति वचनान्चरमतीर्थस्यापि अचेलता मिध्यति।
भ० आराधना पृ० सं० ६१३

इस प्रकार श्वेताम्बर आगमों से भी वीतराग दिगम्बरत्व की प्राचीनता सिद्ध हुई। यहां श्वेताम्बरों का प्रकरण होने से यह इतिहास भी देता हूं सो अवलोकन कीजिये।

इण्डियन एन्टिक्वेरी (जुलाई १९००) पुस्तक नं० ३० में अलबर्ट वबर द्वारा लिखित "भारत में धार्मिक इतिहास" नामक लेखमें लिखा है कि "दि० लोग बहुत प्राचीन मालूम होते हैं। क्योंकि न केवल ऋग्वेद संहिता में वर्णन "मुनयो वातवसना" अर्थात पवन ही है वस्त्र जिनके इस तरह आया है। किन्तु सिकन्दर के समय में जो हिन्दुस्थान के जैन सूफियों का प्रसिद्ध इतिहास है उसमें भी यह प्रगट होता है।"

दूसरा प्रमाण रेवे जे० स्टेवेन्सडाही प्रेसीडेन्ट रायल एसियाटिक सोसायटी ने ता० २० अक्टूबर सन १८५३ में छपाया है। इस लेख में बौद्धों के ग्रंथों में आये हुए "तित्थिय" (तीर्थंकर) शब्द का तथा यूनानी ग्रंथों में आये हुए 'जैन सूफी' शब्द का अर्थ क्या है ? इस बात का विवेचन करते हुए आप एक स्थान पर लिखते हैं वे तीर्थंकर जैन सूफी ही थे।

आपके मूल लेख का अनुवाद यह है—

"इन तीर्थङ्करों में दो बड़ी विशेषताएं पाई जाती हैं। तथा जो जैनियों के सबसे प्राचीन ग्रन्थों और प्राचीन इतिहास से ठीक ठीक मिलती हैं। वे ये हैं कि एक तो उनमें दिगम्बर मुनियों का होना और दूसरे पशु मांस का सर्वथा निषेध। इन दोनों में से कोई बात भी प्राचीन काल के ब्राह्मण और बौद्धों में नहीं पाई जाती है।"

तीसरा प्रमाण-इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनियां जिल्द २५ ग्यारहवीं बार (सं० १९११) में प्रकाशित। उस में इस प्रकार उल्लेख है।

"जैनियों में दो बड़े भेद हैं—एक दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर थोड़े काल से शायद बहुत करके ईसा की ५ वीं शताब्दी में प्रकट हुआ है। दिगम्बर निश्चय से लगभग वे ही निर्ग्रन्थ हैं जिनका वर्णन बौद्धों के पाली पिटकों में (पिटकत्रय ग्रन्थ में) आया है। इस कारण से ये लोग (दिगम्बर) ईसा से ६०० वर्ष पहिले के तो होने ही चाहिये।"

चौथा प्रमाण जैनमित्र के भाद्रपद कृष्ण द्वितीया वीर सं० २४३५ या २० वें वर्ष १९-२० अंक, १० वें पृष्ठ पर मिस्टर बी० लेविस राइस, सी० आई० ई० के लेख का सारभाग यों प्रकाशित हुआ है—

"समय के फेर से दिगम्बर जैनियों में से एक विभाग उठ खड़ा हुआ जो इस प्रकार के कट्टर साधुपने से विरुद्ध पड़ा। इस विभाग ने अपना 'श्वेताम्बर' नाम रक्खा। यह बात सत्य मालूम होती है कि अत्यन्त 'शिथिल' श्वेताम्बरियों से कट्टर दिगम्बरी पहिले के हैं।"

भद्रबाहुवचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वरः।
अस्यैव योगिनः पार्श्वे दधौ जैनेश्वरं तपः ॥
चन्द्रगुप्तमुनिः शीघ्रं प्रथमो दशपूर्विणाम्।
सर्वसंघाधिपो जातो विशाखाचार्यसंज्ञकः ॥
अनेकैः सह संघोऽपि समस्तो गुरुवाक्यतः।

दक्षिणापथदेशस्य पुन्नाटविषयं ययौ ॥५०॥

हरिषेण कथा कोष

मउडधरेसुं चरिमो जिणदिक्खं धरदि चन्द्रगुप्तोय।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति०।

नन्द राजाओं के पश्चात् मगध का राजछत्र चन्द्रगुप्त नाम के एक क्षत्रिय राजपुत्र के हाथ लगा था। उसने अपने भुज विक्रम से प्रायः सारे भारत पर अधिकार कर लिया था और 'मौर्य्य' नामक राजवंश की स्थापना की थी। जैनशास्त्र इस राजा को दिगम्बर मुनि श्रमणपति श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य प्रकट करते हैं। यूनानी राजदूत मेगास्थनीज के लेखानुसार भी चन्द्रगुप्तने अपने वृहद् साम्राज्यमें दिगम्बर मुनियों को विहार और धर्मप्रचार करने की सुविधा की थी। श्रमणपति भद्रबाहु के संघ को वह राजा बहुत विनय करता था। भद्रबाहु जी बंगाल देश के कोटिकपुर नामक नगर के निवासी थे। एक दफा वहां श्रुतकेवली गोवर्द्धन स्वामी अन्य दिगम्बर मुनियों सहित आ निकले। भद्रबाहु उन्हीं के निकट दीक्षित होकर दिगम्बर मुनि हो गये। गोवर्द्धन स्वामी ने संघ सहित गिरनार जी की यात्रा का उद्योग किया था। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि उनके समय में दिगम्बर मुनियों को विहार करने की सुविधा प्राप्त थी।

भद्रबाहु जी ने भी संघ सहित देश-देशान्तर में विहार किया था और वह उज्जैन पहुंचे थे। वहीं से उन्होंने दक्षिण देश की ओर संघ सहित विहार किया था। क्योंकि उन्हें मालूम हो गया था कि उत्तरापथ में एक द्वादश वर्षीय विकराल दुष्काल पड़ने को है जिसमें मुनिचर्या का पालन दुष्कर होगा। सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी इसी समय अपने पुत्रको राज देकर भद्रबाहु के निकट जिन दिगम्बर दीक्षा धारण की थी और अन्य दिगम्बर मुनियों के साथ दक्षिण भारत को चले गये। श्रवणबेलगोला का कटवप्र नामक पर्वत उन्हीं के नाम के कारण 'चन्द्रगिरि' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। क्योंकि उस पर्वत पर चन्द्रगुप्त ने तपश्चरण किया था और वहीं उनका समाधिमरण हुआ था।

बिन्दुसार ने जैनियों के लिये क्या किया? यह ज्ञात नहीं है किन्तु जब उसका पिता जैन था तो उस पर जैनधर्म का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। उस पर उसका पुत्र अशोक अपने आरम्भिक जीवन में जैनधर्म परायण रहा था। बल्कि अन्त समय तक उसने जैनसिद्धान्तों का प्रचार किया। यह अन्यत्र सिद्ध किया जा चुका है। इस दशा में बिन्दुसार का जैनधर्म प्रेमी होना उचित है। अशोक ने अपने एक स्तम्भ लेख में स्पष्टतः निर्ग्रन्थ साधुओं की रक्षा का आदेश निकाला था।

सम्राट सम्प्रति पूर्णतः जैनधर्म परायण थे। उन्होंने जैनमुनियों का विहार और धर्मप्रचार की व्यवस्था केवल भारत में ही न की थी अपितु विदेशों में भी उनका विहार कराकर दिगम्बर जैनधर्म का प्रचार करा दिया।

उस समय दशपूर्व के धारक विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय आदि दिगम्बराचार्यों के संरक्षणमें रहा हुआ जैनसंघ खूब फला फूला था। जिस साम्राज्य के अधिष्ठाता ही स्वयं जब दिगम्बर मुनि होकर धर्म-प्रचार करने के लिये तुल गये तो भला कहिये जैन-धर्म की विशेष उन्नति और दिगम्बर मुनियों की बाहुल्यता उस राज्य में क्यों नहीं होती। मौर्यका नाम जैनसाहित्य में इसी लिये स्वर्णाक्षरों में अंकित

है और जिनसेनाचार्य ने लिखा है कि—

त्यक्तचेलादिसंगस्य, जैनीदीक्षामुपेयुषः ।
धारणं जातरूपस्य, यत्तस्याज्जिनरूपता ॥१६०॥
अवश्य धारणं चेदं जन्तूनां कातरात्मनाम् ।
जैनं निःसङ्गतां मुख्यं रूपं धीरैर्निषेव्यते ॥१६१॥

श्री जिनसेनाचार्यादि निर्मित कई ग्रंथ "हरिवंश-पुराण, पद्मपुराण, त्रेशठ शलाका के पुरुषों के पुराण आदि हैं सबमें दिगम्बरत्व ही सिद्ध किया है। न कि सवस्त्र से मुक्ति प्राप्त हुई ऐसा उल्लेख वहीं भी किया है। तथा श्री अकलंकदेव ने जो "युक्ति-पूर्ण" स्तोत्र बनाया है उसमें भी लिखा है—

नो ब्रह्माङ्कितभूतलं न च हरेः शम्भोर्न मुद्राङ्कितं ।
नो चन्द्रार्ककरांकितं सुरपतेर्वज्राङ्कितं नैव च ॥
षड्वक्त्राङ्कितबौद्धदेवहुतभुग्यक्षोरगैर्नाङ्कितं ।
नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्राङ्कितं ॥

तथा महर्षि वादीभसिंह ने कहा है—

चित्रं जैनी तपस्या हि स्वैराचारविरोधिनी ।

इस प्रकार निराबाध रूप से यह दिगम्बर धर्म अनादि काल से चला आया यह सिद्ध हुआ। लिखने का कारण यह है कि आपने लिखा कि दिगम्बर वीतराग धर्म कुन्दकुन्दाचार्य ने स्थापन किया है यह बात नहीं रही। क्योंकि मानव-मात्र पर वीतराग धर्म का प्रभाव पड़ा हुआ है। इस लिये उपरोक्त प्रमाण देने पड़े और प्रमाणों की वजह से प्रकरण कुछ ज्यादा बढ़ गया है सो इसे ध्यानसे पढ़ियेगा। इसको रद्दी ही न समझियेगा। इसको बहुत विचार और मनन के साथ पढ़ियेगा।

इस प्रकार विश्व-कल्याण करने वाले इस प्राचीनतम वीतराग दिगम्बर जैनधर्म को भी कुंदकुंदाचार्य द्वारा स्थापित कहने वालों का निषेध करने वाला पहला प्रकरण सम्पूर्ण हुआ।

स्त्री मुक्ति-निषेध

अब श्रीमान प्रोफेसर साहब ने जिन ग्रंथों के आधार से स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति और केवली कवलाहार सिद्ध किया वह भी अनुचित और अप्रमाण है। आपने कर्मसिद्धान्त और शास्त्रीय चिंतवन का जो अर्थ किया है वह भी अनुचित, अप्रमाण है। सो कैसे ? देखिये नीचे प्रमाण—

आपने लिखा है कि "कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा स्थापित दिगम्बर सम्प्रदायों के ग्रंथों में स्त्रीमुक्ति निषेध का कहां तक प्रमाण है ? कुन्दकुन्दाचार्य ने ही स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है किन्तु उन्होंने गुणस्थान व कर्मसिद्धांत के नियम से स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं किया है। इस लिये कर्मसिद्धान्त और शास्त्रीय से रहित होता है। इस लिये जब कर्मसिद्धान्त और शास्त्रीय निर्णयसे अब क्या होताहै सो विचार करना चाहिये।"

उसके लिये आपने सत्प्ररूपणा षट्खण्डागमका प्रमाण दिया है कि स्त्री और पुरुष दोनों चौदहवें गुणस्थान तक पहुंच सकते हैं और उसके लिये पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि टीका और गोमट्टसार का भी प्रमाण दिया है कि द्रव्यस्त्री मुक्ति का निषेध नहीं है। इस प्रकार आपने स्त्रीमुक्ति की सिद्धि की है। परन्तु यह विवेचन आगम युक्ति और स्वानुभव से शून्य है

और मनमानीय निर्णय है। तथा वास्तविक कर्म-सिद्धान्त से भी बाधा है। इसे नीचे प्रमाणसहित देखिये—

जिन सत्प्ररूपणा के सूत्रों से आपने द्रव्यस्त्री-मुक्ति को सिद्ध किया है वह गलत है। वहां ९३ वें सूत्र में स्त्रियों के केवल आदि के पांच ही गुणस्थान बतलाये हैं। भावस्त्री विशिष्ट पुरुष के १४ गुण-स्थानों का वहां उल्लेख है।

सर्वार्थसिद्धि के दशवें अध्याय ६ वें सूत्र में लिखा है। क्षेत्र काल आदि लिङ्गों से जो सिद्धों में भेद हैं वहां भाववेद अपेक्षा से ही उल्लेख है, न कि द्रव्यवेद से।

"केन लिङ्गेन सिद्धिर्भवति इति प्रश्ने, अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न द्रव्यतः। द्रव्यतः पुल्लिंगेनैव।"

इस प्रकार आचार्य ने साफ २ लिख दिया है। भाववेद में ही सिद्धि है, न कि द्रव्यवेद में। आचार्य ने "पुल्लिङ्गेनैव" इसमें 'एव' शब्द दिया है वह शब्द ध्रौव्य है अर्थात पुल्लिङ्ग वेद से ही मोक्ष की सिद्धि होती है। इस लिये आपने पूज्यपादकृत सर्वार्थ-सिद्धि का जो प्रमाण दिया वह आपके अभिप्राय का बाधक रहा।

इसी का दूसरा प्रमाण "भगवती आराधना" में द्रव्यस्त्री मुक्ति निषेध के लिये साफ लिखा हुआ है। द्रव्यस्त्री के लिये पांचवां गुणस्थान ही बतलाया है और उसको उपचार से महाव्रत गिना है। "मुख्या-भावे सति उपचारो प्रवर्तते"।

देखिये प्रमाण—भगवती आराधना गाथा नं० ८३-८४ आर्यिका के लिये उत्सर्गमार्ग ही है। उत्कृष्ट लिंग निर्ग्रन्थ ही होय है और अपवादलिंग उत्कृष्ट श्रावक का लिङ्ग है, न कि मुनि का। इसका दूसरे विषय में खुलासा किया जायगा।

आर्यिकाका लिंग भी उत्कृष्ट श्रावक में ही गिनती किया है। क्योंकि उनके पांचवां ही गुणस्थान है। यही तक उनके व्रत की पूर्णता है उसके निश्चय से तो अणुव्रत ही हैं और घरमें ही रहकर शील संयमादि पालन करे यह स्त्री का अपवादलिंग है।

इस प्रकार अपवादलिंग को और उत्सर्गलिंग आर्यिका दोनों समाधि कर सकती हैं लेकिन उनके भाव और द्रव्य में बहुत फर्क है। इस लिये प्रोफे-सर साहब के लिये यह भी द्रव्यस्त्री मुक्ति-निषेध का दूसरा प्रबल प्रमाण है।

और भी प्रमाण प्रायश्चित्त चूलिका में बताया है-

साधूनां यद्वदुद्दिष्टमेवमार्यागणस्य च।
दिनस्थानत्रिकालोनं प्रायश्चित्तं समुच्यते ॥

साधूनां=ऋषीणां। यद्वत्=यथैव। उद्दिष्टं=प्रतिपादितं। एवमार्यागणस्य च=आर्यागणस्यापि संयतिकासमूहस्य च एवमेव प्रायश्चित्तं भवति। अयं तु विशेषः-दिनस्थानत्रिकालोनं-दिनस्थानं दिवसप्रतिमा-योगः त्रिकालः त्रिकालयोगः ताभ्यामूनं हीनं रहितं। प्रायश्चित्तं विशुद्धिः समुच्यते=अभिधीयते।

समाचारसमुद्दिष्टविशेषभ्रंशने पुनः।
स्थैर्यास्थैर्यप्रमादेषु दर्पतः सकृन्मुहुः ॥११५॥

समाचार-समुद्दिष्टविशेषभ्रंशने पुनः=समाचारे ये केचन कार्याकार्यमन्तरेण परगृहगमन-रोधनस्न-पनपचनपट्टविधारंभ प्रभृतयो—विशेषास्तेषां भ्रंशे स्खलने तु सति। स्थैर्यास्थैर्य-प्रमादेषु=स्थैर्ये स्थि-रत्वे अस्थैर्ये=अस्थिरत्वे प्रमादे=कर्म-चिरोवसम्पन्ने। दर्पतः=अहंकारतश्च। सकृत्=एकवारं मुहुः=पुनः पुनः। एतेषु यथासंख्यं प्रायश्चित्तानि वक्ष्यन्ते।

वस्त्रस्य क्षालने घाते विशोषरातनुसर्जनम्।
प्रासुकतोयेन पात्रस्य धावने प्रतिगद्यते ॥११८॥

वस्त्रस्य=चीवरस्य। क्षालने=धावने। घाते= अपां अग्निकायानां, घाते=विराधने सति। विशोषः= विशोषणमुपवासः प्रायश्चित्तं। तनुसर्जनं=कायोत्सर्गः। प्रासुकतोयेन=प्रासुकपानीयेन पात्रस्य= भिक्षाभाजनस्य। धावने=प्रक्षालने कृते सति। प्रतिगद्यते=परिकीर्त्यते इति यथाक्रमं योज्यम्।

वस्त्रयुग्मं सुबीभत्सलिंगप्रच्छादनाय च।
आर्याणां संकल्पेन, तृतीये मूलमिष्यते ॥११६॥

वस्त्रयुग्मं-वस्त्रयुगलं। सुबीभत्सलिंग—प्रच्छादनाय—सुबीभत्सं सुष्ठुबीभत्समदर्शनीयं लिंग रूपं-तस्य प्रच्छादनाय-पिधानार्थं। आर्याणां-तपस्विनीनां संकल्पेन-संकल्पितं धृतं। तृतीये मूलमिष्यते-तृतीय वस्त्रगृहीते सति आर्याणां मूलं मासिकं, इष्यते निश्चीयते।

और भी मूलाचार ग्रंथ समाचाराधिकार में यों बताया है—

अगिहत्थमिस्सणिलये असण्णिवाए विसुद्धसंचारे।
दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति ॥१६१
अगृहस्थमिश्रनिलये असंनिपाते विशुद्धसंचारे।
द्वे तिस्रो वा आर्या बह्व्यो वा सह तिष्ठन्ति ॥

अगिहत्थमिस्सणिलए-गृहे तिष्ठन्तीति गृहस्थाः। स्वदारपरिग्रहाशक्तैः मिस्स-मिश्रो युक्तो, न गृहस्थमिश्रोऽगृहस्थमिश्रः, स चासौ निलयश्च वसतिका तस्मिन्नगृहस्थ-मिश्रनिलये यत्रासंयतजनैः सह सम्पर्कं नास्ति तत्र।

असण्णिवाए- असतां पारदारिक चौर पिशुन दुष्टतिर्यक् प्रभृतीनां निपातो विनाशोऽभावो यत्र तस्मिन्नसन्निपाते। अथवा सतां यतीनां निपातः प्रसरः सन्निकृष्टता सन्निपातः स न विद्यते यत्र सोऽसन्निपातस्तस्मिन्। अथवा असंज्ञिनां पातोऽसंज्ञिपातो बाधारहिते प्रदेशो इत्यर्थः।

विसुद्धसंचारे विशुद्धः संक्लेशरहितो गुप्तो वा संचरणं संचारः। महोत्सर्गप्रदेशायोग्यः गमनागमनार्हो वा यत्र स विशुद्ध-संचारस्तस्मिन बालवृद्धरोगिशास्त्राध्ययन-योग्ये। दो-द्वे। तिण्णि-तिस्रः। अज्जाओ-आर्याः संयतिका। बहुगीओवा-बह्व्योवा त्रिंशत्‌ चत्वारिंशद्वा। सह-एकत्र। अत्थंति-तिष्ठन्ति वसंतीति। अगृहस्थमिश्रनिलयेऽसन्निपाते विशुद्धसंचारे द्वे तिस्रो वह्व्यो वार्या अन्योन्यानुकूलाः परस्पराभिरक्षणाभियुक्ताः गतरोगवैरमायाः सलज्जमर्यादक्रिया अध्ययन परिवर्तनश्रवणकथनतपोविनय—संयमेषु अनुप्रेक्षासु च तथा स्थिता उपयोगयोगयुक्तारचाविकारवस्त्रवेषा जल्लमलविलिप्तास्त्यक्तदेहा धर्मकुलकीर्तिदीक्षाप्रतिरूपविशुद्धचर्याः सन्त्यास्तिष्ठन्तीति समुदायार्थः॥

और भी छेद पिण्ड में बतलाया है—

णवरि परियायछेदो मूलट्ठाणं तहेव परिहारो।
दिणपडिमा वियतीसं तियाल ओगोय णत्थि ॥२६०॥
नवरि पर्यायच्छेदो मूलस्थानं तथैव परिहारः।
दिनप्रतिमापि तासां त्रिकालयोगश्च नैवास्ति॥

ये जितने भी प्रमाण दिये गये हैं। वे स्त्रीमुक्ति निषेध करने के लिये ही हैं। और स्त्री सर्व परिग्रह का त्याग न कर सकने से वह पांचवें गुणस्थान से आगे नहीं चढ़ सकती। और उसको एकल विहारी होने के लिये भी निषेध बतलाया है। दो चार आर्जिका मिल कर के स्वदार संतोषी गृहस्थ के घर के पास रहे। और कुशील अव्रती गृहस्थ तथा निर्जन स्थान में आर्जिका नहीं रहे। न रहने का कारण यही है कि कोई उन्मत्तकारी पुरुष आर्जिका का जबर्दस्ती शील-

भंग न कर सके। यदि अकेली आर्यिका विहार करे तो उन्मत्त पुरुषों द्वारा जबरदस्ती शील का भंग होना संभव है। और अगर ऐसे ही मुनिराज अकेले विहार करें और उनके पास चाहे मदोन्मत्त देवाङ्गना भी आजाय तो उनके शीलभंग करने में समर्थ नहीं। जैसे कि सुदर्शन सेठ का शील हर प्रयत्न करने पर भी रानी द्वारा भंग नहीं हो सका। क्योंकि स्त्री का अवयव और पुरुष का अवयव व चिन्ह भिन्न भिन्न हैं।

तथा स्त्री के पास वस्त्र होने से वस्त्र धोने में हिंसा भी है, मुक्ति पानेका मुख्य अकिंचन धर्म कारण है। और उनके अकिंचन धर्म तो दूर ही है क्योंकि उनके पास सोलह सोलह हाथ की तो साड़ी रहे। तब फिर उनके अकिंचन धर्म किस प्रकार रहे। तथा आतापनयोग तथा वृक्ष मूल प्रतिमा-योग आदि कठिन२ तपस्या करने के लिये भी निषेध बतलाया है और वज्र ऋषभ नाराच संहनन भी नहीं है। और उनके लिये कठिन प्रायश्चित्त भी नहीं दिया जाता। सारांश यह है कि उक्त प्रमाण से द्रव्यस्त्री मुक्ति निषेध सिद्ध है। इसी अवस्था में रह कर अपने परिणाम शुद्ध करते करते क्रम से स्त्रीलिङ्ग छेद करके मुक्ति पा सकती है। और भी स्त्रीमुक्ति निषेध के लिये प्रमाण हैं लेकिन लेख बढ़ जाने की वजह से इतना ही पर्याप्त है। ये सब दिगम्बर आम्नाय के अनुसार आचार्यों के द्रव्य स्त्री मुक्ति निषेध के लिये एक ही भाव है। अगर भेद भाव दिखता हो तो समझने की भूल है लेकिन आचार्यों के भावों व प्रमाणों में द्रव्य स्त्री मुक्ति निषेध ही है।

अब रहा आपका अभिप्राय कि वेद वैषम्यता कर्म सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध नहीं होता। तदर्थ आपको यह ख्याल रखना चाहिये कि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार व शास्त्रीय निर्णय से वेदवैषम्य सिद्ध होता है किन्तु वह वास्तविक वैषम्य नहीं है। किन्तु उन वस्तुओं को जानने में वैषम्य है। सो कैसे ? यह नीचे प्रमाण से देखिये—

केवल वेद में ही विषमता नहीं दिखती किन्तु सम्पूर्ण कर्मों में तारतम्यता से विषमता स्थूल दृष्टि से मनन करने से विषमता मालूम नहीं होती है।

तत्वार्थसूत्र ८वां अध्याय ४था सूत्रमें मुख्य और गौणता से साफ लिखा है। सब कर्मों में विषमता दिखती है। किन्तु वास्तविक विषमता नहीं है। परिणामों में विचित्रता से कर्म में भी विचित्रता दिखती है। द्रव्य रीति से जीवके त्रेपन भाव बतलाये हैं। इनमें तीन वेद लिये गये हैं। दूसरे अध्याय के सूत्र ५२ में तीनों द्रव्य वेद का और तीनों भाव वेद का लक्षण साफ साफ लिखा है। सूत्र टीका में लिङ्ग दो प्रकार का है। एक द्रव्यलिङ्ग दूसरा भाव लिङ्ग।

योनि मेहनादिनाम कर्मोदय निर्वर्तितं द्रव्यलिङ्गम्।
नोकषायोदयापादितवृत्तिः भावलिङ्गम्।

इससे साफ हो जाता है कि द्रव्य लिङ्ग और भाव लिङ्ग का लक्षण भिन्न है। भावलिङ्ग के नोकषाय को अर्थात किञ्चित मलीन परिणाम को ईषत कषाय गिना है। जैसे हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषवेद नपुंसकवेद ये ईषतकषाय हैं अर्थात आत्मा के विभाव परिणाम हैं। ये मलीन परिणाम ९वें गुणस्थान तक रहते हैं। आगे आत्मा उज्वल हो जाने से इन विभाव परिणामों का पतन हो जाता है। सो जानना।

भावस्त्री को लुप्त करने के लिये द्रव्यस्त्री की जरूरत नहीं अर्थात द्रव्यस्त्रीवेद हो तब ही भावस्त्रीवेद

हो ऐसी व्यापकता नहीं। जैसे द्रव्यस्त्री को पांचवें गुणस्थान से आगे चढ़ने की मनाई है वैसे ही द्रव्य-नपुंसक को भी पांचवें गुणस्थान से आगे अर्थात मुक्ति होने के लिये मनाई है। यदि आपके कहे माफिक केवल भावलिंग को लेकर यदि द्रव्यस्त्री मोक्ष की अधिकारी है तो द्रव्यनपुंसक भी मोक्ष का अधिकारी हो जायगा। क्योंकि नपुंसकवेद भी तो नवमें गुणस्थान तक माना गया है, लेकिन वहां तो भाव है द्रव्य नहीं। अतः द्रव्यस्त्रीवेद हो उस समय ही भाव-स्त्रीवेद हो ऐसा सर्वथा नियम नहीं है, सो जानना। देखिये षट्खण्डागम प्रथम खंड सूत्र नं० १०८—

मणुस्सा त्रिवेदा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टित्ति

इस सूत्र का यही अर्थ है।

जीव के त्रेपन भाव बतलाये गये हैं और इन भावों के साथ अविनाभाव—सम्बन्ध है अर्थात तादात्म्य सम्बंध है। ये वैभाविक शक्ति के विभाव कार्य हैं। इस लिये एक में विचित्रता होने से सब भावों में तारतम्यता से विचित्रता होती है।

मोहनीय कर्म के क्षयोपशम व क्षय होने से सब कर्म ढीले पड़ जाते हैं। जैसे वृक्ष की जड़ काटने से उसकी शाखा उपशाखा सब सूख जाती है। चाहे देर से सूखे लेकिन सूख जरूर जावेगी। क्योंकि उनका एक रूप है। यह विचित्रता सूक्ष्मातिसूक्ष्म शास्त्रीय निर्णय और कर्मसिद्धांत से सिद्ध है और यह विचित्रता निष्पक्षपात से तथा परम वीतराग भाव से तथा स्वानुभव से मनन करने से सिद्ध होगी, अन्यथा नहीं। क्योंकि रागी पुरुष अपनी तरफ खींचते हैं अर्थात वह पक्षपात की तरफ जाते हैं और वीतरागी पुरुष वीतराग मार्ग पर जाते हैं और वे वस्तु का निर्णय करते हैं। क्योंकि पक्षपात करनेका कारण नहीं रहा। पक्षपात का कारण केवल विषय-कषाय और रागद्वेष आदि ही तो हैं। इस लिये तो यह है कि पुरुष प्रमाणत्वेन तद्वाक्यं प्रमाणं भवेत्।

और भी देखिये तत्वार्थसूत्रके अध्याय ८ का सूत्र इस प्रकार है—

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नाम-गोत्रान्तरायाः।

तत्वार्थसूत्रके इस सूत्रकी टीका में साफ लिखा हुआ है कि—

एकेनात्मपरिणामेनादीयमानाः, पुद्गलाः ज्ञाना-वरणाद्यनेकभेदं प्रतिपद्यन्ते । सकृदुपभुक्तान्न-परिणामरसरुधिरादिवत् ॥

—सर्वार्थ सिद्धि अ० ८

इसका कारण यह है कि कोई मनुष्य विकृत परिणामी ईर्षालु द्वेषवश से किसी का अपमान व मूर्ख बनाये रखने के हेतु से पाठशाला को कोई न कोई युक्ति लगाकर बन्द करवाता है। या पुस्तक उपकरण आदि देने में रोक देता है। इन दुष्कृत परिणामों से ज्ञानावरण कर्म का बन्ध होगा। अर्थात ज्ञान का रोकने के लिये जो परमाणु आवेंगे वे बहुत भाग ज्ञान को रोकने में ही मिलेंगे और शेषकर्म में तारतम्यता से उन उन रूप परिणमन हो जाते हैं अर्थात सब में मिलते हैं। जैसे यह नियम है कि ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध करने वाले जो पुद्गल परमाणु सबके सब उसी में मिलने चाहिये वे दूसरे दर्शनावरणीय वेदनीयादि दूसरे में भी मिल जाते हैं। अतः सामान्य दृष्टि से उसमें भेद है किन्तु विशेष दृष्टि कोई भेद नहीं है। मोहनीय कर्म का तीव्र उदय होने से वेदनीय कर्म सताने लगता है और

वेदनीय कर्म को शांत करने के लिये खाया हुआ आहार का रक्त, मांस, मज्जा आदि सप्त धातु रूप परिणमन हो जाता है। जिह्वा इन्द्रिय से खाया हुआ अन्न जिह्वा इन्द्रिय को ही पुष्ट करना चाहिये किन्तु वह अन्न पांचों इन्द्रियों को पुष्ट करने में कारण हो जाता है सो इसी तरह गौण और मुख्य रीति से विषमता दिखती है परन्तु वास्तविक विषमता नहीं है।

अगर और गहन विचार करें तो सामान्यता से कर्मबन्ध एक ही है किन्तु मन्द—बुद्धि वालों को समझाने के लिये चार भेद रूप बतलाया है। प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध प्रदेशबन्ध, और उत्तर ज्ञानावरणादि आठ भेद बतलाया है। एक सौ अड़तालीस भेद रूप है और इसके बाद द्रव्य क्षेत्र काल के निमित्त से क्षण क्षण भर में जितने भाव होंगे वे सब कर्म के ही भेद हैं। तब ही तो उत्तरभेद असंख्यातरूप माने गये हैं। वेद की विषमता के बारे में और भी खुलासा देखिये—

पुरुषवेद कर्म के उदय होने से स्त्रियों से रमनेकी इच्छा होती है और स्त्रीवेद कर्म का उदय होने से मुख्यरीति से पुरुष से रमने की इच्छा होती है और नपुंसकवेद कर्म के उदय से स्त्री पुरुष दोनों से मुख्य रीति से रमने की इच्छा होती है। परन्तु गौण-रीति से इसके विपरीत भी होता है। जैसे पुरुष घर में स्त्री होने पर भी लड़के के साथ विषय-वासनाओं को पूरी करता है। यह विषय लिखानेमें मेरी भाषा समिति को कुछ दोष लगता है किन्तु वस्तु स्थिति का जहां निर्णय करना पड़े वहां लिखना पड़ता है।

इसी तरह बैल, घोड़ा, भैंस आदि में तथा हस्त-मैथुन आदि ये सब विपरीत क्रियायें हैं। ये सब वैषम्यता दिखती है किन्तु वास्तविक वैषम्यता नहीं ये सब परिणामों की विचित्रता है।

और भी विशेष देखिये—विशेषतः दाढ़ी और मूंछ पुरुष का चिन्ह है। परन्तु कोई ऐसे भी पुरुष हैं जिनके दाढ़ी मूंछ नहीं होती है और उसके हाव-भाव चाल-चलन स्त्री सरीखे होते हैं। परन्तु हैं तो पुरुष और उनके बाल बच्चे भी होते हैं।

और स्त्री का चिन्ह यह है कि मूंछ आदि नहीं होती। लेकिन कोई स्त्रियां भी ऐसी होती हैं जिनके कुछ २ मूंछ के बाल भी होते हैं। जिनकी बोल-चाल, हाव-भाव पुरुष सरीखे होते हैं। लेकिन है तो वह द्रव्यस्त्री; जिसके बाल-बच्चे भी होते हैं। जैसी द्रव्यस्त्री या पुरुष के शरीर में व हाव-भाव में विषमता होने पर भी सन्तान उत्पत्ति होती है वैसी द्रव्यनपुंसक स्त्री पुरुष के शरीर में व हाव-भाव में विषमता होने पर भी बाल-बच्चे नहीं होते। इस प्रकार इन तीनों में यह अन्तर है।

और भी देखिये—सुलोचना आदि नाटक में पुरुष का बहुत सारा काम स्त्री करती है। उन्मत्तता से। और स्त्री का काम पुरुष करता है। अर्थात स्त्री उच्च बन जाती है और पुरुष नीच हो जाता है। साफ इसी से समझिये।

नाटक में पुरुष स्त्रीवेष धारण करके प्रत्यक्ष स्त्री के समान हाव भाव दिखलाता है और स्त्री भी पुरुष के वेशको धारण कर प्रत्यक्ष पुरुष का काम दिखलाती है। ये भाव केवल बाह्य ही नहीं किंतु अन्तरंग भी होते हैं रात्रि स्वप्न आदि दोष में विकृति हो जाती है। और भी देखिये—

स्वप्न में अनेक प्रकार की विकृति हो जाती है।

जो नहीं देखने में आया वह देखने में आता है। पुरुष स्त्री बन जाता है और स्त्री पुरुष बन जाती है। और तद्रूप क्रिया करके इन्द्रिय-पतन भी हो जाता है। यह सब विपरीत परिणति होने का कारण इस भव परभवके संस्कार व दिन-रात्रि मनन किया हुआ किया का फल है। अथवा यों कहिये कि विभाव परिणति का यह विकृत दुष्परिणाम है। ऐसे परिणाम आठवें गुणस्थान से आगे नहीं ठहरते। इस प्रकारके परिणाम की अपेक्षा से मुनि के नीचे से आठवें गुणस्थान तक ऐसे पूर्वोक्त परिणाम हो जाते हैं। किन्तु यह परिणाम आत्मा का बिलकुल पतन करने वाले नहीं। ऐसे परिणाम वाला मुनि चौदवें गुणस्थान तक पहुंच जाता है। भूतपूर्व नय की अपेक्षा से स्त्रीवेद चौदहवें गुणस्थान तक माना है।

त०सू० दशम अध्याय सूत्र ६ की टीका देखिये—"अमी परिनिर्वृता गतिजात्यादि—भेदकारणाभावात्–तीतभेदव्यवहारा एवेति।' ततः वेद नवमें गुणस्थान से पहले नष्ट हो जाता है किन्तु उपचार से चौदहवें गुणस्थान तक कहा जाता है।

जैसे कोई राजा अपने पुत्रको राज्य देकर अलग हुआ तो भी लोग उसको राजा कहते हैं। परन्तु वह राजा नहीं, क्योंकि राजा का काम तो राजपुत्र ही कर रहा है। किन्तु भूतपूर्व नय की अपेक्षा से यह कहा जा सकता है। इस प्रकार सूक्ष्मतर शास्त्रीय निर्णय व कर्मसिद्धांत व गुणस्थान विवेचन द्वारा द्रव्यस्त्री को इस पर्याय से मुक्ति पाना वीतरागी पुरुषों ने निषेध किया है और वह स्त्री सपरिग्रही होने से और वज्रवृषभ नाराच संहनन की धारी न होने से पंचमगुणस्थानवर्ती देशव्रती ही मानी गई है। अर्थात् उत्कृष्ट श्राविका ही है।

उसमें दो भेद हैं—एक आर्जिका और दूसरी क्षुल्लिका। यह प्रवृत्ति वीतराग धर्म में अनादि से है और अनन्त काल तक रहेगी। चाहे इस क्षेत्र में मलिन परिणाम से न रहे यह बात दूसरी है। परन्तु विदेह आदि क्षेत्रमें ऐसी ही प्रवृत्ति चल रहीहै। हुंडावसर्पिणी काल बीत जाने पर प्रवृत्ति निर्विघ्नता से इस भूमि पर चलेगी।

अभी भी वह प्रवृत्ति निर्विघ्नतासे चल रहीहै किंतु कुछ लोगों द्वारा बाधा उपस्थित की जाती है। परन्तु यह दोष उनका नहीं है यह काल और कर्मका दोष है। इस प्रकार यह संक्षेप से खुलासा लिखा है। सो जानना। और भी विशेष लिखा सकता था किन्तु विषय बढ़ जायगा इस लिये इतने में ही समाप्त कर दिया है।

प्रोफेसर साहब! श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने शास्त्रीय निर्णय व कर्मसिद्धांतके निर्णयसे ही स्त्री-मुक्ति निषेध किया है। इस लिये आपका लिखा हुआ प्रमाण असत्य एवं अप्रमाण ही है।

इस प्रकार स्त्री-मुक्ति निषेध नामा द्वितीय प्रकरण समाप्त हुआ।



वस्त्र–मुक्ति–निषेध



मान्यवर प्रोफेसर साहब हीरालाल जी का कहना है 'कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सम्पूर्ण वस्त्र का त्याग करके सब गुणस्थान प्राप्त कर सकता है और वस्त्र को धारण करके भी मोक्ष का अधिकारी अथवा सब गुणस्थानका अधिकारी बन सकताहै। परन्तु प्रचलित दिगम्बर मान्यतानुसार सम्पूर्ण वस्त्र के त्याग से ही संयमी और मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। अतएव इस विषय का शास्त्रीय चिंतवन आवश्यक है।' ऐसा प्रोफेसर साहब का भाव है।

परन्तु प्रोफेसर साहब को बहुत सूक्ष्मता से विचार कर देखना चाहिये। प्रोफेसर साहब का जो यह कहना है कि 'दिगम्बर आम्नाय' में शास्त्रीय चिंतवन करने का शेष रह जाता है सो आपका कहना अनुचित और असत्य है क्योंकि दिगम्बर मतमें सूक्ष्मतर शास्त्रीय निर्णय होने से ही वस्त्र त्याग से ही मुक्ति होती है यह निश्चय किया हुआ है। इसमें नवीन शास्त्रीय पद्धति से विचार करने की कोई जगह नहीं है। सो जानना।

अगर शास्त्रीय चिंतवन के विचार करने की जगह है तो अपने भाई श्वेताम्बर सम्प्रदायमें शास्त्रीय चिंतवन व विचार करने की जगह है। सो कैसे ? देखिये—

आपने कहा कि श्वेताम्बर संप्रदाय में वस्त्र-त्याग से भी मुक्ति मिलती है और सवस्त्र से भी मुक्ति मिलती है। भाई ! अगर सवस्त्र ही मुक्ति मिलती है तो फिर वस्त्र-त्याग करनेकी क्या जरूरत पड़ी थी। वस्त्र पहिननेमें तो अनेक प्रकारकी डांस, मच्छर, शीत उष्ण, नग्नता आदि की बाधा दूर हो जाती है। फिर आनन्द ही आनन्द है। तब तो आनन्द से मोक्ष प्राप्त करना छोड़ करके सम्पूर्ण वस्त्र-त्याग करके और डांस-मच्छर, शीत-उष्ण, नग्न रूप आदि की बाधा सहन कर मुक्ति प्राप्त करने को कौन बुद्धिमान पुरुष होगा। जो ऐसी कठिनता से मुक्ति प्राप्त करने के लिये उपाय करेगा। क्योंकि ऐसी कठिन तपस्या करने का फल ही क्या रहा ? क्योंकि मोक्ष में तो अन्तर ही नहीं। वहां तो सुख समान है। हां अगर कोई मोक्ष सुख में अन्तर हो तो आपका कहना ठीक बन जायगा।

जैसे कुए का पानी बिना डोर से खींचे या परिश्रम से नीचे उतर कर लाये बिना ऊपर से ही ऐसे सुलभता से मिलता हो तो कौन पुरुष ऐसा करेगा जो कुए में नीचे उतर कर डोल से खींचकर परिश्रम से पानी लाने का प्रयत्न करे।

यदि चूल्हा सुलगाये बिना ही मीठा भोजन खाने को तैयार हुआ मिलजाय तो कौन मूर्ख ऐसा होगा जो चूल्हा सुलगाने के लिये प्रयत्न करेगा। आप कहोगे हलवाई के यहां बिना चूल्हा सुलगाये तैयार भोजन खाने को मिलेगा। बाबू जी ! वहां तो पैसा गांठ से खोल कर देंगे तब भोजन मिलेगा। अर्थात् परिश्रम बिना मिठाई व भोजन नहीं मिलेगा। सो प्रोफेसर साहब आपही जानिये। और आपने जो कहा कि यह बात शास्त्रीय निर्णय से रह जाती है सो ठीक

नहीं है। क्योंकि शायद यह बात श्वे० सम्प्रदाय में रह जाती होगी। किन्तु इसमें भी यह बात तो नहीं है केवल आपके कहने से रह जाती है। सो जानियेगा।

आप को शास्त्री का अर्थ यह करना चाहिये जो केवल शास्त्र को ही जानता है वह शास्त्री नहीं किन्तु वह शास्त्री है। केवल ज्ञान को ही प्राप्त कर लिया वह ज्ञानी नहीं क्योंकि ज्ञान का फल ही चारित्र है। अर्थात् वीतराग मार्ग पर चलना है। वीतराग मार्ग चलना और मोह माया को समूल उखाड़ कर मोक्ष को प्राप्ति में लगे रहना सो ही ज्ञान का फल है।

संसार खराब है ऐसे कहते भी जाओ और करते भी जाओ। मदिरा खराब है ऐसा कहते भी जाओ और मदिरा पीते भी जाओ। वैर-विरोध करना विश्व का विध्वंस करना है, ऐसे कहते भी जाओ और करते भी जाओ। तो बाबू जी! इसमें क्या प्रयोजन है? सो आप ही जानिये। आप बुद्धिमान हैं आपसे ज्यादा क्या कहूं। केवल नाम धरने से ही फायदा नहीं है। किन्तु नाम के माफिक काम भी करना चाहिये।

आज कई ऐसे "गोसांई" आदि साधु हैं जो अपना नाम "तपोधन" रखते हैं किन्तु अपने घर में स्त्री बाल बच्चे व लेन देन हजारों रुपयों की सम्पति गाय भैंस सब कुछ रखते हैं और पूरे गृहस्थ बने हुए हैं। ऐसे तपोधन के नाम धरने से क्या प्रयोजन? तपोधन नाम तो उन्हीं का सिद्ध है जो मुनि इच्छाओं का निरोध कर तप रूपी धन पास में रखता है उसी का 'तपोधन' नाम सार्थक है। जो अंतरंग और बहिरंग निर्मल रहते हैं। जो बाहिर निर्मल होता है उसका अंतरंग निर्मल होना सम्भव है और जो बाहिर मलिन होता है वह अंतरंग में मलीन होता है।

अगर यह कहें कि हम बाहिर मलीन होते हुए भी अंतरंग मलीन नहीं है। यह बात कहना उनके ही पास में रहने दें।

अपनी शुद्ध चिदानन्द चिद्रूप सुखमय अति शुद्ध आत्मा से अत्यन्त भिन्न पर-पदार्थों की इच्छा लालसा अज्ञान परिणति के सिवाय कौन बुद्धिमान ग्रहण करेगा? अर्थात् कोई भी ग्रहण नहीं करेगा।

हां, यदि तीव्र चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से सर्व संग परिग्रह का परित्याग न कर सकनेके कारण यदि पर-पदार्थ का ग्रहण करना होय तो अपनी निंदा गर्हा करते हुए संग का परित्याग करता रहे सो क्रम क्रम से सर्वसंग परिग्रह का त्याग करके किनारे पर पहुंच जागया।

केवल ज्ञानके ही घमंड में रहना हो और करना धरना कुछ न हो तो ऐसे शास्त्री कर्म सिद्धान्त का निर्णय करने वाले तो भव-भव भटकते ही फिरेंगे। कहने वाले तो घर २ मिलेंगे किन्तु करने वाले विरले ही मिलेंगे। गुड़ मीठा कहने से मुंह मीठा नहीं होता है किन्तु खाने से ही होगा। आचार्यों ने कहा भी है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन्किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः॥

इस श्लोक का यह भाव है कि क्रिया बिना ज्ञानवान भी मारा जाता है और ज्ञान बिना क्रियावान भी मारा जाता है। जैसे घोर अरण्य में अन्धा और पंगु दोनों बैठे थे। कर्म के संयोग से वनमें अग्नि लग गई तो पंगु ने कहा यहां अग्नि लगी हुई

है। यहां से भागना चाहिये। सो अन्धा यह सुन कर भागने लगा किन्तु नेत्र नहीं होने से जिधर अग्नि लगी हुई थी उधर ही भागा और जलकर मर गया और पंगु देख रहा है कि इधर२ अग्नि लग रही है, वन जल रहा है, लगते २ अग्नि पास आ गई है, लेकिन पंगु होने से दौड़ नहीं सका तो वह भी जल कर मर गया। ऐसा ही सांसारिक अरण्य है और उसमें मोह रूपी अग्नि लगी हुई है। ऐसे अरण्य में केवल शास्त्र का घमंड करने वाले मनुष्य पंगु के समान अनन्तानन्त जल जाते हैं तथा ज्ञान बिना केवल क्रिया ही को करने वाले अन्धे के माफिक इस संसार में मोहरूपी अग्नि में जलकर मर जाते हैं। भगवान वीतराग प्रणीत आगम में शास्त्र और कर्म-सिद्धांत के अनुसार सम्पूर्ण अंतरंग बाह्-रंग परिग्रह त्याग बिना मुक्ति है ही नहीं।

इस प्रकार आगम स्वानुभव युक्ति और प्रमाणसे सम्पूर्ण वस्त्र का त्याग ही मुक्ति का कारण रहा सो जानना जी। तथा अब आपने जिन शास्त्रों से सवस्त्र-मुक्ति को सिद्ध किया है वह भी अनुचित अप्रमाण है।

अध्याय छठा सूत्र नं० २४ में दर्शन-विशुद्धि भावना का लक्षण करते हुए भगवान अर्हत भगवान के बतलाये हुये निर्ग्रन्थ रूप मोक्षमार्ग में जिनके श्रद्धा व रुचि है उनको दर्शन-विशुद्धि की भावना सिद्ध होती है, इसके बिना नहीं। कहिये अब सवस्त्र मुक्ति कहां रही? इस तरह लक्षण करते हुए सूत्र २४ की टीका में कहा है—

जिनेन भगवताऽर्हत्परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षवर्त्मनि रुचिर्दर्शनविशुद्धिर्भावना विज्ञेया।

जिसके दर्शन विशुद्धि एक ही भावना शुद्ध नहीं है तो बाकी १५ भावना भाना वृथा है। "मूलाभावात्कुतः शाखा" अतः उपरोक्त कहा हुआ २४ वां सूत्र निर्वस्त्र-मुक्ति प्रतिपादन करने वाला ही है।

आपने श्वेताम्बरों और दिगम्बरों में तीन बातों का ही अर्थात् सवस्त्र-मुक्ति, स्त्री-मुक्ति, केवली कवलाहार का ही भेद बतलाया परन्तु प्रबल अन्य कारण तो छोड़ ही दिया जो कि यह है—

चौबीस घन्टे में एक ही बार आहार पान ग्रहण करना ये दिगम्बरियों के यहां साधुओं का एक मुख्य मूलगुण माना गया है। यह मूलगुण महान बड़ा व्रत है और यह मूल गुण वीतराग-वृत्ति को बढ़ाने वाला और विषय कषायों को घटाने वाला है। क्योंकि खाते पीते अनन्त काल बीत गया और केवल जप, ज्ञान आदि को बढ़ाने के लिये ही एक बार आहार लिया जाता है। ऐसे कठिन मूलगुण के होने से तथा च इस कठिन व्रत को न पाल सकने के कारण ही ये हजारों मत मतान्तर हो गये और हो रहे हैं। प्राचीन काल में इस व्रतको सब पालते थे और अभी भी दिगम्बर आम्नाय में साधु लोग पालते हैं। इस लिये यह कठिनतर व्रत होने से इस व्रत को पालने वाले थोड़े रहे। अथात् दिगम्बर समाज में कुल २०—२५ ही अब साधु हैं। लेकिन अजैन समाज में इन व्रतों का पालन करने का प्रतिबन्ध न होने से लाखों साधु हैं। उनको किस बात का दुःख है। जब भूख लगे तब खा लेते हैं और प्यास लगे तब पी लेते हैं। सर्दी गर्मी लगे तब वस्त्र पहिन लेते हैं। क्योंकि चौबीस घंटेमें एक बार ही भोजन करने के बाद यदि फिर भूख लग जाय तो उसको सहन करना ही क्षुधापरीषह का सहना है। अथवा—

चर्या को गया अन्तराय हो गया तो पहले चौबीस

घण्टे का तो उपवास था ही फिर भी २४ घण्टे का उपवास हो गया। फिर बीच में तो खाना है ही नहीं। खाना न होने से क्षुधा वेदना होती है सो उस क्षुधा वेदना को सहन करना ही क्षुधा परीषह है। यदि दिन में अनेकबार खाले तो क्षुधा परीषह ही कहां रहा और यह क्षुधा परीषह सहना साधुओंके लिये उत्तर गुण होते हुये भी मूल गुणों के समान है। यह नहीं पालें तो मूल गुण भी नहीं पलता। और मूल गुण पाले बिना मुनि नहीं और मुनि हुए बिना मुक्ति नहीं।

तृषा परीषह भी बड़ा भारी परीषह है। जब चौबीस घण्टे में एक बार भोजन लिया जाता है। उसी समय पानी लिया जाता है न कि बार बार। चाहे जितनी गरमी पड़ती हो जल पिये बिना रहना महान , कष्ट है। उस कष्ट को सहना ही तृषा-परीषह जय। जब प्यास लगे तब पानी पीने लग जाय तो तृषा ही कहां रही ? तृषा परीषह भी नहीं रही तो मुनिपना भी न रहा। यह कहना सुलभ है किन्तु करना दुर्लभ है। जो करता है उसी को इस का अनुभव होता है।

शायद आपको भी अनुभव होगा अगर कभी एकाशन किया हो तो। एकाशन करने वाले भी तृषा वेदना को न सह सकने के कारण दूसरी तीसरी बार पानी पी लेते हैं। इस लिये उनके एकाशनव्रत भी नहीं रहता है। चाहे वे एकाशन मान लेवें लेकिन वह एकाशन व्रत नहीं होता। शरीर जब चाहे तब उसे खाना पीना देना यह तो [illegible]हस्थ का धर्म है। मुनि का नहीं।

बावीस परीषहों के अन्दर नग्न परीषह भी बड़ा/यी है। जिसका स्वरूप तत्वार्थसूत्र सर्वार्थ-सिद्धि टीका में बतलाया है—

जातरूपधारणमकलंकजात[illegible]प्रकार[illegible]प्रार्थनीयं याचनरक्षणहिंसनादिदोषविनिर्मुक्तं निष्परिग्रहत्वान्नि-र्वाणप्राप्तिं प्रत्येकं साधनमनन्यबाधनं नाग्न्यं बिभ्रतो-मनोविक्रियाविप्[illegible]तिविरहात् स्त्रीरूपाण्यत्यन्ताशुचि कुणपरूपेण भावयतो रात्रिन्दिवं ब्रह्मचर्यमखण्डमा-तिष्ठमानस्याचेलव्रतधारणमनव[illegible]न्त-व्यम्।

इसमें साफ लिखा है कि निर्ग्रन्थ व्रत है वह अचेलक है यथाजातरूप है और निष्परिग्रह होनेसे मोक्ष प्राप्ति का कारण है। इसके बिना मोक्ष नहीं है। सो जानना जी।

इस व्रत को पालने में उनको महान कष्ट सहन करना पड़ता है अर्थात निर्विकार अवस्था करनी पड़ती है और मैं नग्न हूं ऐसा उसको मालूम भी पड़ता है। परम ध्यान में लीन रहते हैं और अपने को परम चिद्रूप चिदानन्द मूर्ति ही समझते हैं। अर्थात मैं हूं सो ही परमात्मा है। परमात्मा है सो ही मैं हूं। ऐसी उज्वल भावना धारण करते हुए भूतल पर मानो परमात्मा के समान विचरण करते हैं। इस लिये यह नग्न परीषह निर्ग्रन्थता की पुष्टि करता है और सवस्त्र-मुक्ति का सर्वथा निषेध करता है। अतः यह नग्न परीषह साधुओं के लिये अनि-वार्य है और नग्न परीषह अचेलक व्रत से होता है।

क्योंकि नग्न अवस्था न रहने से अर्थात वस्त्र पहनने से शीत उष्ण डांस मच्छर आदि सतावें उस समय कपड़े ओढ़कर सो सकता, बैठ सकता है, जिस से डांस मच्छर की बाधा नहीं रहे। ऐसे ही शीत परीषह की बाधा नहीं होगी। क्योंकि ठण्ड लगे तब कपड़े ओढ़ लेगा। या ग्राम ग्रामान्तर जाना हो

तब भी रास्ते में ठण्ड लगे तो कपड़े ओढ़ कर चले और गरमी लगे तब कपड़ा सिर पर डाल ले। जिस से गरमी भी नहीं लगे। तब तो बड़ा ही आनन्द हो जाय। तो फिर साधु होने में क्या दिक्कत रहेगी अचेलक व्रत होने से शीत-उष्ण, डांस-मच्छर नग्न आदि परीषह हो सकते हैं। इसके अभाव में नहीं। इन परीषहों का सहन करना शास्त्रों में साधुओं को बतलाया है और इनका पालन करना साधुओं के लिये अनिवार्य है। इनके पालन बिना साधु नहीं और साधु बिना मुक्ति नहीं सो जानना जी।

प्रोफेसर साहब लिखते हैं—

"तत्वार्थसूत्र अध्याय ६ वां सूत्र० ४६ में मुनि का लक्षण पांच प्रकार का बतलाया है। पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक इन पांचों प्रकार के मुनियों के लिये वस्त्र-त्याग करने का विधान अनिवार्य नहीं है और द्रव्यलिंग के भेद से पांचों निर्ग्रंथों में भेद किया है और भावलिंग की अपेक्षा से पांचों निर्ग्रन्थ हैं और टीकाकार ने कहीं २ लिखा है कि मुनि वस्त्र धारण कर सकते हैं और आपने यह भी लिखा है कि सवस्त्र से भी मुक्ति होती है और वस्त्र-त्याग से भी मुक्ति होती है।" ऐसा आपने तत्वार्थ-सूत्र १० अध्याय के सूत्र ६ के आधार लिखा से है आपने तदनुसार यह प्रमाण भी दिया कि—

"निर्ग्रन्थलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धि भूतपूर्वनयापेक्षया।" सो यह आपने जितने भी प्रमाण दिये सो अनुचित अप्रमाण और प्रकरणविरुद्ध हैं। सो कैसे? इसका समाधान नीचे दिया जाता है सो ध्यान से पढ़िये—

पांचों प्रकार के साधु (पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक) निर्ग्रन्थ ही हैं। सर्वार्थ-सिद्धि तत्वार्थ सूत्र टीका अध्याय ६ सूत्र ४६ इसकी टीका में साफ लिखा है कि "त एते पंचापि निर्ग्रन्था चारित्र—परिणामस्य प्रकर्षाप्रकर्षभेदे सत्यपि नैगमसंग्रहादिनयापेक्षया सर्वेऽपि ते निर्ग्रन्था ज्ञेयाः।" इस का अर्थ यह है कि ये पांचों मुनिराज सर्वसंगपरित्यागी हैं अर्थात दिगम्बर हैं। चाहे बाह्य और आभ्यंतर अपेक्षा से कुछ चारित्र में वृद्धि हानि होने पर भी पांचों मुनि सम्यग्दृष्टि और निर्ग्रन्थ ही हैं। भविष्यमें ये सब मुनि मोक्ष-गामी ही हैं। इस लिये नैगमनय लगाया है और संग्रहनय यह है कि सामान्य दृष्टि से ग्रहण करने से वह सब निर्ग्रन्थमुनि ही हैं। इनमें भेद नहीं क्योंकि भेद करना व्यवहारनय का लक्षण है सो जानना जी।

जैसे संग्रहनय का लक्षण यह है कि किसी ने पूछा कि ये कौन बैठे हैं? तब किसी ने जवाब दिया कि ये सब मनुष्य बैठे हुये हैं। और उनका कहना भी ठीक है। सब मनुष्य बैठे हुए हैं। जब हम सूक्ष्मदृष्टि से वहां देखते हैं तो वहां व्यवहार नय की प्रवृत्ति होती है तो कहना पड़ता है कि कोई काला मनुष्य है और कोई गोरा, कोई श्याम, कोई बुद्धिमान, कोई मूर्ख, कोई सेठ, कोई निर्धन है, किसीका चित्त शास्त्र सुनने में लग रहा है, किसी का मन इधर उधर डांवांडोल हो रहा है। इस अपेक्षा से उसमें भेद है लेकिन मनुष्य अपेक्षा से कोई भेद नहीं। सब बराबर हैं तथा निर्ग्रन्थ बाह्यलिंग में अर्थात २८ मूल गुणों के सामान्यता से कोई भेद नहीं है। किन्तु तीक्ष्ण बुद्धि वीतरागी महर्षियों ने व्यवहारनय की अपेक्षा से इन पांचों निर्ग्रन्थ मुनियों में भेद प्रभेद किये हैं। सो कैसे? देखिये—

ये पांचों निर्ग्रन्थ समान होने पर भी परिणाम

की अपेक्षा से शक्ति में भी फर्क होता है। अर्थात् नोकषाय के तीव्र मन्द उदय से इस बाह्य और आभ्यन्तर लिंग में कोई २ दोष भी लगता है और नहीं भी लगता है। सो कैसे ? देखिये—

पुलाक मुनि को कचित् कदाचित् अर्थात् कभी २ बलात्कार से या दुष्टों द्वारा उपसर्ग आदि के होने से इन पांच महाव्रतोंमें कुछ दोष लगता है, न कि अपनी इच्छा से। और उपसर्ग शांत होने पर प्रायश्चित्तसे शुद्ध होकर फिर अपने अठाईस मूल गुणों को पालने में तत्पर रहता है। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डांस मच्छर आदि परीषहों को सहन करते हुए इससे आगे जो उत्तरगुण हैं उनको पालने की भावना रखता है लेकिन पाल नहीं सकता उत्तरगुण नहीं पालने से मुनिपना नहीं रहे यह बात नहीं है। मुनियों के लिये अठाईस मूल गुण पालना जरूरी हैं। इस तरह पुलाक मुनि का खुलासा हुआ। अब सुनिये बकुश मुनि का—

बकुश मुनि दो तरह के होते हैं १—उपकरण बकुश, २—शरीर बकुश। उपकरण बकुश मुनि तो वे हैं जिनके चित्तमें कमंडलु पीछी शास्त्र आदि को अच्छा रखने या साफ स्वच्छ करने में तत्परता विशेष रहती है। इनके सिवाय और उनमें कोई दोष नहीं है ये भी दोष नहीं होना चाहिये। परन्तु नोकषाय का कुछ उदय होने से ऐसे परिणाम हो जाते हैं। शरीर-बकुश वह हैं जो संघ की वैया-वृत्ति आदि करने के हेतु से या पठन-पाठन आदि करने के हेतु से एकान्तर बेला तेला उपवास आदि नहीं करता है केवल चौबीस घण्टों में एकासन पर आहार जल ग्रहण करता है इसमें न्यूनाधिकता नहीं करता है। तथा घुटने से ऊपर पग या हाथ धोनेकी मनाई है। परन्तु वह मुनि घुटने के ऊपर हाथ व पांव धोता तो नहीं है किन्तु गीले हाथों से घुटने के ऊपर के जंघा शरीर पर हाथ फिराता है विशेष गरमी के कारण से। इसके सिवाय वह और कोई संस्कार नहीं करता है।

कुशील मुनि के दो भेद हैं १—प्रतिसेवना कुशील २—कषाय कुशील। प्रतिसेवना कुशील मुनि के उत्तर गुणों में कभी २ दोष लगता है। जैसे वृक्षमूल आतापन योग आदि कार्य में। इसके सिवाय इसमें और कोई दोष नहीं है। कषायकुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक इन तीनों में कोई दोष नहीं है। किन्तु कषाय कुशील से निर्ग्रन्थ अवस्था ऊंची है। निर्ग्रंथ अवस्था में, गुणस्थान, सामायिक, छेदोपस्थापना परिहार विशुद्धि सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात इन पांचों की अपेक्षा से पांचोंमें भेद है। इसके सिवाय बाह्य और आभ्यंतर में कोई भेद नहीं है और ये पांचों निर्ग्रंथ दिगम्बर ही हैं। अथवा वे सम्यग्दृष्टि एक दो भव लेकर या उसी भव में मोक्ष जाने वाले हैं। इसके सिवाय इसमें अन्यथा अर्थ करना वह सब दुराग्रह और कषाय पैदा करने का है।

श्रीमान पण्डित प्रोफेसर हीरालाल जी का कहना है कि सर्वार्थ सिद्धि १० वां अध्याय सूत्र ६ में लिखा है कि वस्त्रधारी भी मोक्ष जा सकते हैं जिसका आपने हेतु दिया कि "निर्ग्रंथलिंगेन सग्रंथलिंगेन वा सिद्धि-भूतपूर्वनयापेक्षया" परन्तु ये हेतु आपका अनुचित या असमझ है। सो कैसे ? देखिये—

ग्रंथ बांचने के पहिले या अन्वय टीका आदि देखने के पहिले नय निक्षेप स्वरूप जानना जरूरी है, इसके जाने बिना अर्थ विपरीत बैठ जाता है। यही विपरीतता स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, केवली कवलाहारमें

हुई है। सिद्ध परमात्मा में भेद बतलाने का ही इस सूत्र का अभिप्राय है। क्योंकि सिद्ध समान हैं ये संग्रह-नय का विषय है। सिद्ध एक से होने पर भी उसमें भेद करना सो व्यवहारनय है।

निर्ग्रंथलिंगसे ही मुक्ति है और जो सग्रन्थ लिंगमें लिखा है वह गृहस्थों की अपेक्षा से है। जो गृहस्थ सम्यग्दृष्टि हैं और विशिष्ट देव धर्म गुरु आदि की सेवा कार्य में निमग्न रहते हैं और आत्म-चिन्तवन में विशेष ध्यान देते हैं वे परम्परा से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये आचार्योंने शास्त्रमें लिखा है कि गृहस्थ और मुनि दोनों मोक्ष के अधिकारी हैं। तो इसका अर्थ यह नहीं कि गृहस्थ अवस्था से मोक्ष जावे। गृहस्थ अवस्था को छोड़कर मुनि होगा तब ही मोक्ष जायगा। इस लिये "भूतपूर्वनयापेक्षया" हेतु दिया है।

भूतपूर्वनय का अर्थ यह है कि जो पहले गृहस्थ अवस्था में आत्मसाधन का विशेष अभ्यास करता है पीछे वही मुनि होकर मोक्ष में जाता है। यह इसका अर्थ है, न कि सग्रन्थ मोक्ष में जाता है।

यदि आप ये अर्थ नहीं मानें तो यहां 'भूतपूर्व-नयापेक्षया" यह हेतु देने की जरूरत ही क्या थी? "सग्रन्थलिंगेन निर्ग्रंथलिंगेन वा सिद्धिर्भजनीय" ये हेतु देते तो आपका कहना ठीक हो जाता और बड़े पुरुष शब्द का वृथा उपयोग नहीं करते हैं। अतः यही अर्थ होता है कि जो पहले सग्रन्थ था वह पीछे निर्ग्रंथ होकर मोक्ष गया उसे पहले की अपेक्षा सग्रन्थ माना गया। इस तरह इस सूत्र का यह वास्तविक अर्थ हुआ। आपको इस विषय में विचार जरूर करना चाहिये कि सग्रंथलिंग से मुक्ति मिल जाती तो निर्ग्रंथ शब्द की जरूरत ही क्या थी। कौन ऐसा मूर्ख मनुष्य होगा जो सुख से मोक्ष जाना छोड़कर दुःख सहन कर मोक्ष को जाने की इच्छा करे? अर्थात् कोई नहीं करे। सारा संसार यह चाहता है कि मौज करते हुए मोक्ष जावें किन्तु ऐसे सांसारिक आनन्द करते २ न किसी को मोक्ष मिला है, न मिलेगा। केवल मत मतान्तर की वृद्धि करके विश्व में उपद्रव खड़ा करना है इसके सिवाय और कुछ नहीं।

ट्रैक्टमें भगवती आराधना की गाथा ७६-८३ का प्रमाण दिया कि "मुनियों के उत्सर्ग और अपवाद-मार्ग का विधान है इसके अनुसार अपवादलिंगी मुनि वस्त्र धारण कर सकता है" ऐसा मान्यवर प्रोफेसर साहब का अभिप्राय है। परन्तु यह प्रमाण भी अनुचित और असमझ है।

आपने जो ये प्रमाण बतलाया वहां वस्त्र का तो मुनियों के सम्बन्ध ही नहीं है। यह अपवादमार्ग बतलाया है वह तो केवल क्षुल्लक और ऐलक तथा उत्कृष्ट श्रावक अथवा अणुव्रती या एकदेशव्रती श्रावक के लिये है अथवा इनको वानप्रस्थ भी कहते हैं। ये सब अपवाद लिंग के धारी हैं। मुनियों के लिये अपवादमार्ग है ही नहीं। मुनियों के लिये तो उत्सर्ग मार्ग ही है।

यदि दुष्टों के द्वारा उपसर्ग होने पर मुनिव्रत (मूलगुण) में दोष लग जाय तो प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि का विधान है सो जानना जी। तथा शब्द से भी यह अर्थ होता है कि उत्सर्ग यानी निर्दोषमार्ग, अपवाद मार्ग यानी सदोषमार्ग तो फिर सदोषी के लिये मुक्ति कहां से? जब निर्दोषी होगा तब ही उत्सर्गमार्ग से ही मुक्त होगा। इस प्रकार भगवती आराधना का स्पष्ट खुलासा है।

लिंगनामा दूसरा अधिकार गाथा ७९ से १०० तक कुल गाथा २२ में वर्णन किया है उसमें आपने सवस्त्र मुक्ति सिद्ध करना चाहा लेकिन वह आपका करना गलती है। क्योंकि उसमें तो उत्सर्गलिंग निर्ग्रंथ मार्ग का वर्णन है और अपवादलिंग से ऐलक क्षुल्लक तथा श्रावक अणुव्रती का वर्णन किया है। अपवादलिंग मुनि का नहीं है। आप यदि विशेष विचार कर देखते तो आपको इतनी तकलीफ नहीं उठानी पड़ती।

सारांश यह है जहां दिगम्बर आम्नाय का प्रतिपादन है अथवा यों कहिये जहां निर्ग्रंथ वीतरागमार्ग का प्रतिपादन है वहां सग्रन्थ वस्त्रधारी का प्रतिपादन हो ही नहीं सकता। प्रत्यक्ष विरुद्ध मान है।

किसी लड़के ने कहा मेरी माता बांझ है ऐसा उस लड़के का कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है क्योंकि यहां प्रश्न होता है कि तेरी माता बांझ होती तो तू पैदा कहां से होता। तो यहां भी ऐसा ही समझना जहां निर्ग्रन्थ वीतराग मार्ग है वहां सग्रन्थ रागियों का काम ही क्या।

कोई बुद्धिमती स्त्री या बुद्धिमान रसोइया चावल पके या नहीं पके इसकी परीक्षा के लिये एक ही कण दबाता है और एक ही कण पका हो तो झट समझ लेता है कि सब पक गये। उस परीक्षा के लिये बुद्धिमान रसोइया अलग २ कण को दबाकर नहीं देखता है अगर असमझदार हो तो चाहे जो करे परन्तु फल कुछ भी नहीं। इस तरह से जहां निर्ग्रंथ वीतराग मार्ग का प्रतिपादन करने वाला एक ही शास्त्र सिद्ध हुआ या है तो बाद बाकी जितने ग्रन्थ हैं वे सब इसी मार्ग के समझने चाहिये उनको अलग, अलग परीक्षा करने की जरूरत नहीं। अगर इस वीतराग निर्ग्रंथमार्ग से विपरीत निरपेक्ष रीति से सग्रन्थ मार्ग का प्रतिपादन करने वाला हो वह निर्ग्रंथ वीतराग आम्नाय का ग्रन्थ ही नहीं है।

आगे प्रोफेसर साहब हीरालालजी ने धवलाग्रन्थ मे प्रमत्त संयतों का स्वरूप बतलाते हुए जो संयमकी परिभाषा दी है उसमें केवल पांच व्रतों के पालन का ही उल्लेख है।

(संयतो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्म—परिग्रहेभ्यो विरतिः) ये प्रमाण आपने दिया है और उसका उद्देश्य यह मालूम पड़ता है कि मुनियों के लिये पांच ही व्रत पालन करने का अधिकार है। अर्थात और अन्य व्रत पालन करने की जरूरत ही नहीं। यह आपका अभिप्राय है। अगर यह अभिप्राय आपका नहीं होता तो यह सूत्र देने की जरूरत ही क्या थी। परन्तु आप अपना अभिप्राय देकर जो सवस्त्र-मुक्ति सिद्ध करना चाहें वह सिद्ध नहीं हो सकती और इस सूत्र का अभिप्राय वास्तविक रूप से आपके समझमें नहीं आया . सो कैसे ? नीचे प्रमाण देखिये—

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७ वां सूत्र पहिला (हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्) इस सूत्र की टीका में लिखा है कि "सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं। तदेव छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधमिहोच्यते" अर्थ यह है कि अहिंसाव्रत को आदि में देने का मतलब यह है कि उस अहिंसा व्रत को कहने से ही बुद्धिमान पुरुष सहज ही में समझ जाता है और इससे अलग होने का प्रयत्न भी करता है। ये संक्षेपार्थ है। उस एक ही अहिंसाव्रत की रक्षा करने के लिये झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह त्याग इस प्रकार ये चार महाव्रत तथा पांच इंद्रिय निग्रह पांच समिति और छह आवश्यक इसके सिवाय

सात मूल गुण जैसे १-केशलोंच, २-स्नान त्याग, ३ चूर्ण आदि लगा करके दन्तधावन त्याग, ४-भूमि शयन, ५-अचेलक अर्थात् वृक्ष के छाल पत्ते तृण से बनी हुई चटाई अथवा वस्त्रादि से शरीर को ढकनेका त्याग, ६-खड़े होकर हस्तपात्र में आहार लेना, ७-चौबीस घण्टे में एक बार आहार लेना। इस प्रकार ये २७ व्रत अहिंसा महाव्रत के रक्षा के लिये हैं। जैसे खेती की रक्षा के लिये बाड़। बाड़ के बिना खेती की रक्षा नहीं होती उसी तरह से इन सत्ताईस मूल गुण व्रतों के बिना अहिंसा महाव्रत की रक्षा कभी भी नहीं होगी। और भी देखिये—

इस अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिये आगम में ८४००००० चौरासी लाख उत्तर गुण बतलाये हैं। तो क्या? प्रोफेसर साहब! आप की दृष्टि में ये सब वृथा ही हैं?

ये वृथा नहीं हैं प्रोफेसर साहब के समझने में फेर है। और देखिये—

'मे' इस शब्द का अर्थ होता है कि पुत्र, मित्र, स्त्री, धन-धान्य रागद्वेष आदि मेरा है और मैं उनका हूं ऐसा कहना मे का अर्थ है और इसी से बन्ध है और इससे विरुद्ध (मे न) अर्थात् पुत्र, मित्र, स्त्री, धन-धान्य, रागद्वेष आदि मेरे नहीं हैं और न मैं उनका हूं ऐसा समझना मोक्ष है। परन्तु (मे) इस एक अक्षर को छुड़ाने के लिये गणधरादि महा ऋषियों को एकादशांग चौदह पूर्वादि की रचना करनी पड़ी। तो क्या प्रोफेसर साहब की दृष्टि में ये महर्षियों द्वारा की गई सम्पूर्ण द्वादशांग श्रुत की रचना वृथा है?

प्रोफेसर साहब की समझ में फेर है ये द्वादशांग वाणी वृथा नहीं है। क्योंकि इतनी विशेष रचना किये बिना मार्ग-प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् "मे" एक अक्षर को छोड़ना वह किस तरह छोड़ना उसका खुलासा किये बिना काम नहीं चलता है इसी लिये उसका अच्छा खुलासा किया है। और भी खुलासा देखिये—

जितनी प्रचंड पवन चलेगी उतना ही समुद्र क्षोभायमान होगा और जितना पवन मन्द चलेगा उतनी ही समुद्र के अन्दर तरंगें मन्द चलेंगी और बिलकुल पवन रुकने से समुद्र बिलकुल शांत और गम्भीर व तरंग आदिक उपद्रव से रहित होता है ऐसे ही आत्मा के लिये जितने विषय कषाय अलंकार आभूषणादि जितने परिग्रह ज्यादा बढ़ते रहेंगे उतनी ही आत्मा में आकुलता बढ़ती जायगी। और जितने विषय कषाय राग द्वेष परिग्रह आदि घटेंगे उतना ही आत्मा निर्मल और शांत होता जायगा। और सम्पूर्ण विषय कषाय आदि परिग्रह छूट जाने से आत्मा बिलकुल निराकुल बन जावेगा ये सब प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। विशेष देखना हो तो मनो-निग्रह पुस्तक देखना चाहिये। वह स्वास इस उद्देश्य से बनाई गई है। इस लिये वीतरागी महर्षियों ने विषय-कषायों को घटाने के लिये और वीतरागवृत्ति बढ़ाने के लिये अनावश्यक वस्तु का त्याग करना बतलाया है। इसका उद्देश्य यही है कि अनावश्यक वस्तु का त्याग करो जिससे तुम्हारे आत्मा में शांति होगी और विश्व का कल्याण होगा। क्योंकि अनावश्यक वस्तु ग्रहण करने से आशा रूपी पिशाच बढ़ता जायगा और हजारों दुर्भावनाएं पैदा होंगी और विश्व में हा हाकार मच जायगा जैसे कि आजकल मच रहा है। जैसे देखिये—किसी मनुष्य के घर में आदमी हैं और उसके खान-पान आदि सालाना दो

हजार रुपये खर्च होते हैं अब वह मनुष्य दो हजार रुपयों के सिवाय जितना कमायेगा वह सब धन अना वश्यक है क्योंकि जितना खाने पीने का खर्चा है वह दो हजार में पूरा हो जाता है यदि वह दुर्भावनावश अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह करता जावे और परोपकार में न लगावे तो केवल उसके दुर्भावना के सिवाय अन्य प्रयोजन ही क्या रहा। इसी माफिक किसी के पास पचास हजार रुपयों से खानपानादि व्यवहार पूरा हो जाता है और वह अनावश्यक वस्तु को ग्रहण कर लक्षाधिपति बनने की इच्छा करे और किसी के पास दश करोड़ की स्टेट है और उसी से उसका खान पानादि व्यवहार चल जाता है वह अनावश्यक वस्तुओं को ग्रहण कर पच्चीस करोड़ की स्टेट करना चाहे और परोपकार में न लगावे तो यह सब उसके दुर्भावना के सिवाय प्रयोजन ही क्या है। केवल उनकी दुर्भावना ही नहीं किन्तु उसके साथ २ विश्व का विनाश करना है। अर्थात अन्न पानी के लिये कई लोग मर गये और मर रहे हैं। इस लिये अनावश्यक वस्तुओं को सम्पूर्ण जीवों के हित के लिये लगाना चाहिये। सेठ राजा, महाराजा आदि सम्पूर्ण पुरुष अनावश्यक वस्तु को विश्व-कल्याण में लगायेंगे तो आज ही विश्व शांति हो जायगी। यह नहीं होने से कई सम्पत्ति मिट्टी में मिल जाती है और करोड़ों मन धान्य सड़ जाता है या कीड़े खा जाते हैं और उनके घर के लोग अजीर्ण व रोग में ही मर जाते हैं। ये अनावश्यक वस्तु के संग्रह करने का दुष्फल है। इस प्रकार आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त न होने से करोड़ों जीव भूख से मर गये और मर रहे हैं। ये साक्षात आपको दृष्टिगोचर हो रहा है।

इस लिये मानवो! आव श्यक वस्तुओं का संग्रह करिये और अनावश्यक वस्तु को जगत्-कल्याण में लगाइये। इसी में आनन्द रहेगा। जैसे बच्चा जितना आवश्यक होता है उतना ही मां का दूध पीता है व अनावश्यक होने के बाद मां को छोड़कर आनंद से खेलता फिरता है। अगर कोई मूढ़ माता उसको जबरन दूध पिलावे तो उस बालक के आनन्द में बाधा होगी और वह बालक अनेक रोगों से ग्रसित होकर अपने प्राण भी खो देगा। क्योंकि उस माता ने बालक की इच्छा बिना अनावश्यक वस्तु का ग्रहण कराया। अथवा—

कोई मूढ़ मनुष्य पेट में जितने अन्न की आवश्यकता है उतना न खाकर लोलुपता से ज्यादा खा लेवे तो अजीर्ण हो जायगा, रोग से ग्रसित हो जायगा, आखिर में प्राणान्त भी हो जायगा। क्योंकि जितने रोग होते हैं वह अनावश्यक वस्तु को ग्रहण करने से अथवा प्रकृति-विरुद्ध वस्तु को सेवन करने से ही होते हैं। इस लिये अनावश्यक को त्यागने के लिये ही महर्षियों ने कहा है और इसी को यानी अनावश्यक वस्तुओं को त्यागना ही गृहस्थों का एकदेशव्रत कहा जाता है या अणुव्रत कहा जाता है और इसी से गृहस्थ जीवन का सुधार है। अर्थात इस व्रत से विषय कषाय, आदि घट जायेंगे और परम्परा से मोक्ष के भागी बनेंगे।

किसी अज्ञान मनुष्य का कहना है कि जैनियों के अहिंसाधर्म से ही भारत गारत हुआ है और जैन धर्म विश्व-व्यापी नहीं है। परन्तु यह उनका कहना अनुचित और असमझ का है। उनको उपरोक्त कथन से अपनी भूल को स्वीकार कर प्रायश्चित लेकर शुद्ध होना चाहिये। क्योंकि विश्व का कल्याण और

विश्व का न्याय जैनधर्म व वीतरागी महर्षियों के द्वारा ही पहले होता था तभी तो सर्वत्र शांति थी। क्योंकि महर्षि हमेशा पक्षपात व विषय कषायों से रहित होते हैं।

इस लिये उनसे अन्याय होना सम्भव नहीं है। अब मनुष्य महर्षियों के वचन उल्लंघन करने लगे और स्वयं विषय कषाय के आधीन होकर मन माना न्याय करने लगे तब अनेक मत-मतान्तर खड़े हो गये। विश्व में कोलाहल मच रहा है। इस लिये आत्म-कल्याण व विश्व-कल्याण करना हो तो वीत-राग जैनधर्म व वीतरागी महर्षियों के चरण में आना चाहिये। वीतरागी महर्षियों के बिना विश्वहित करने वाला कोई नहीं हो सकता। क्योंकि पुरुष प्रमाण हो तो उसका वाक्य भी प्रमाण माना जाता है। इस प्रकार गृहस्थियों के अणुव्रतों का वर्णन हुआ अथवा अनावश्यक वस्तुओं के त्याग का वर्णन हो चुका।

अब वीतरागी परमहंस दिगम्बर महर्षियों का वर्णन तथा अनावश्यक पदार्थोंके त्याग अर्थात सम्यक् मुक्ति के निषेध का वर्णन थोड़ा सा और देखिये—

वीतरागी मुनियों के लिये एक अहिंसा महाव्रत ही मुख्य महाव्रत है। वास्तविक अहिंसा महाव्रत वही है जो विषय-कषाय, राग-द्वेष, आहार-विहार निद्रा, वस्त्राभूषण आदि सम्पूर्ण आरम्भ व परिग्रह का त्याग कर देना तथा शुद्ध चिद्रूप परमानन्द-मय अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के लिये आ-कुलता बिना रहना ही वास्तविक अहिंसा महाव्रत है। उसके साथ ही सत्य आदि चार महाव्रत तथा पांच समिति का पालन, पंच इन्द्रियों का निग्रह, षट आ-वश्यक पालन और बावीस परीषहों के सहन करने से ही अहिंसा महाव्रत हो सकता है। इसके बिना अहिंसा महाव्रत नहीं हो सकता है। इसके बिना जो व्रत ग्रहण करता है सो अणुव्रत में ही गिना है। सिर्फ अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिये ही साधु पीछी कमंडल रखते हैं। शरीर रक्षा के लिये नहीं।

अब मुनियों के लिये केवल शरीर परिग्रह ही रहा और कोई परिग्रह नहीं रहा। वह शरीर परि-ग्रह भी इसी लिये रक्खा गया है कि जिसके द्वारा ध्यान, तपश्चर्या व वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सके। निरन्तर स्वाध्याय व विश्व-कल्याणार्थ ग्रन्थ निर्माण करने व अपनी बुद्धि को विशद बनाने के लिये शरीर की आवश्यकता है। और इस शरीर-स्थिति के लिये छठे गुणस्थानवर्ती छद्मस्थ साधुओं के लिये आहार की आवश्यकता है और वह भी चौबीस घंटे में एक बार निरन्तराय आहार लेते हैं। शरीर न ठहरने से ज्ञान-ध्यान, जप-तप नहीं होगा। ज्ञान, ध्यान, तप न होने से कर्म-बन्धन भी नहीं छूटेगा। कर्म-बन्धन न छूटने से संसार में भटकना पड़ेगा। इस लिये छद्मस्थ वीतरागी छठे गुणस्थानवर्ती साधुके लिये चौबीस घण्टे में एक बार आहार लेना आव-श्यक समझा है। दिन में कई बार खाना वह तो अनावश्यक है। अनावश्यक वस्तु ग्रहण करना साधु के लिये अनुचित है।

शरीर-स्थिति के लिये वस्त्राभूषण, स्त्री, घर, दौलत की जरूरत नहीं। इसके बिना भी शरीर रह सकता है। अनावश्यक वस्तुओं का ग्रहण महापुरुषों के लिये अनुचित है और उसका संग्रह करने से अनवस्था हो जावेगी। जहां अनवस्था होगी वहां दुख ही है। अनावश्यक वस्तु संग्रह करने से

अहिंसा महाव्रत कदापि पल नहीं पलेगा।

महापुरुषों के लिये शरीर और अन्न सिवाय दुनियां के जितने भी पदार्थ हैं सब अनावश्यक हैं। अथवा यों कहिये "परमात्मा है सो मैं हूं और मैं हूं सो परमात्मा" ऐसे पूर्ण ज्ञानियों के लिये अनावश्यक वस्तु की कभी भी जरूरत नहीं है। ऐसा नियम आगम युक्ति स्वानुभव प्रमाण विश्व-कल्याण के लिये महर्षियों द्वारा बांधा गया है। ऐसी मर्यादा को तोड़ देना विश्व का विध्वंस करके कोलाहल मचाना ही है। अथवा यों कहिये अज्ञानी व अविवेकी मनुष्य अनावश्यक वस्तु को ग्रहण करते हैं। जो अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह कर अपना नाम बड़ा रखना चाहता है। "वह जैसे एक अक्षर का भी ज्ञान न हो और विश्व-विद्यालय का प्रधान अध्यापक बनना चाहे" तो यह मूर्खता के सिवाय और क्या। अगर ज्ञानी ही व्यर्थ वस्तुओंका संग्रह करे तो फिर मूर्खों के लिये तो कहना ही क्या है।

आचार्यों ने जो मार्ग व क्रम बतलाया है उसमें हस्तक्षेप करना महा अन्याय है। आचार्य ने शक्ति के अनुसार संयम बतलाया है। जिसको साधु होने की शक्ति है वह साधु होवे। अशक्त को साधु होने के लिये कौन जबरन करता है। साधु पद धारण न हो सके तो एक लंगोट धारण कर ऐलक बने अथवा वह भी न बन सके तो एक लंगोट व तीन हाथ की चादर रखकर क्षुल्लक बने। ये भी न बन सके तो पूर्ण वस्त्र रखकर स्त्री को छोड़कर ब्रह्मचारी बने। ये भी न बन सके तो पूर्ण गृहस्थी रहकर भी दान, पूजनादि नित्य षटकर्म करते हुये शक्ति बढ़ाकर परम्परा से मुक्ति पाने की अभिलाषा रक्खे। किन्तु मर्यादा उल्लंघन कर शिथिलाचारी बनकर मतमतान्तर बनाना अनुचित एवं हानिकारक है।

व्यवहार में भी देखते हैं कि जिसमें जिलाधीश बनने की योग्यता नहीं वह तहसीलदार बनता है। तहसीलदार बनने की योग्यता नहीं तो थानेदार बनता है। थानेदार बनने की भी योग्यता नहीं तो वह सिपाही बनता है। जितनी योग्यता होती है उस कार्य को करता है। व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है तो फिर पारमार्थिक जो क्रम बतलाया है उस क्रम में शिथिलता लाना कितने अन्याय की बात है।

इस प्रकार "स्वैराचारविरोधिनी" निर्ग्रन्थलिंगसे निर्बंध मुक्ति सिद्ध हुई और सग्रंथलिंग व स्वैराचार बढ़ाने वाली सवस्त्र मुक्ति का निषेध नाम का तृतीय प्रकरण सम्पूर्ण हुआ।

केवली-कवलाहार-निषेध

प्रोफेसर साहब हीरालाल जी ने केवली भगवान को कवलाहारी सिद्ध करने के लिये जिन २ ग्रन्थों के प्रमाण दिये वे भी अनुचित हैं—

आपने लिखा कि "कुन्दकुन्दाचार्य ने केवली के कवलाहार निषेध किया है। परन्तु तत्वार्थसूत्र ने सफलता से कर्मसिद्धान्तानुसार सिद्ध किया है कि—"वेदनीयोदयजन्य क्षुधा-तृषादि ग्यारह परीषह केवली के होते हैं। देखो अध्याय ९ वां सूत्र ७ वां और १७ वां।"

परन्तु इन सूत्रों से केवली के कवलाहार सिद्ध

नहीं होता। आठवें सूत्र का अर्थ यह है—"वीत-राग निर्ग्रन्थमार्ग से च्युत नहीं होने व विशिष्ट कर्मों की निर्जरा के लिये छद्मस्थ छठे सातवें गुणस्थान-वर्ती साधु के लिये मुख्यतः परीषह सहने का उपदेश दिया है न कि केवली के लिये और गौण रीति से श्रावकों के लिये परीषह सहने का आदेश है।

शास्त्रानुकूल श्रावकों के लिये दो बार भोजन बतलाया है दो वक्त सिवाय भूख लग जाय तो उत्तम श्रावकों का कर्तव्य है कि भूख की वेदना को सहन करें। छठी प्रतिमा से नीचे वाले श्रावकों के लिये दो बार भोजन है और वह इन परीषहों को सहन करे। शास्त्रों की आज्ञा है कि देव गुरु सेवा व आहारदान आदि व शास्त्र स्वाध्याय करने के बाद भोजन करे उसके पहिले भूख लगे तो उस वेदना को सहन करे। यह भी परीषह है। क्रिया बिना जो सुबह खाने बैठता है सो मार्ग से च्युत है। अपने कर्तव्य से च्युत नहीं होने के लिये ही तो यह सूत्र है। सो छद्मस्थ और मुनि श्रावकों के लिये है न कि केवली के लिये। केवली भगवान भी यदि स्व पद से च्युत हो जावे तो गजब हो जाय। अगर मेरु पर्वत ही पवन से उड़ जाता हो तो और पर्वतों और सुमेरु पर्वत में अन्तर ही क्या रहेगा।

संज्वलन चार कषाय और हास्यादि नोकषायोंके उदय से मुनियों के चारित्र से गिरने के लिये भय रहता है !

इस लिये उनके लिये ही उपदेश है और केवली भगवान के इन सब प्रकृतियों का नाश हो जाता है। इस लिये उनको गिरने का कारण ही क्या। इस लिये इस सूत्र से केवली कवलाहार सिद्ध करने का कोई सम्बन्ध नहीं है।

और १७ वां सूत्र का जो प्रमाण दिया वो अनुचित है उससे भी केवली कवलाहार सिद्ध नहीं होता है। २२ परीषहों में से १९ परीषह मुनियों के लिये एक साथ हो सकती हैं। इस उद्देश्य से यह सूत्र बतलाया गया है। न कि केवली के कवलाहार सिद्ध करने के लिये। शीत और उष्ण दो परीषहों में से एक समय में एक ही होगी। तथा शय्या निषद्या और चर्या इन तीनों में से एक समय में एक ही होगी। मतलब यह है कि एक समय में तीनों मेंसे एक ही होगी। अर्थात् बावीस में से तीन निकल आनेसे १९ परीषह रहती हैं। क्योंकि उनके संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्य, अरति, रति आदि नो कषायों के होने से परीषह होना सम्भव है ही।

शय्यापरीषह—काष्ठ चटाई तृण और शिला पर सोने के कारण शरीर पर अनेक कष्ट सहने की सम्भावना है।

चर्य्या परीषह—नगर नगरान्तर देश देशान्तर पर्यटन में कांटा कंकर आदि से अनेक प्रकार की वेदना होने का सम्भव है। इत्यादि परीषह केवली भगवान के कैसे हो सकते हैं ? दिव्य परम औदारिक शरीरधारी केवली भगवान के शीत-उष्ण परीषह का कारण ही क्या है ? भगवान तो आकाश मार्ग से चलते हैं और नीचे कमल रचना देव करते हैं तो भी उनपर भगवान पैर न देते हुए अधर ही चलते हैं। अतः उनके चर्या परीषह से क्या संबंध है। आकाश में ईंट पत्थर कंकड़ ऊंची नीची जमीन भी नहीं है। यह तो जमीन वाले मुनियों के परीषह हो सकती है।

शय्यापरीषह —केवली भगवान सोते ही नहीं तो शय्यापरीषह कहां ? शय्यापरीषह का कारण जो निद्रा प्रकृति है उसको तो पहले से नष्ट कर चुके हैं, तब भगवान को शय्या परीषह होना कैसे सम्भव हो सकता है। सामान्य ऋद्धिधारी मुनियों को भी ये परीषह दुःख नहीं देती हैं तो भला परम उत्कृष्ट औदारिक शरीर वालों के लिये तो अशक्य ही है। केवली भगवान को जो परीषह मानी हैं वह केवल उपचार से ही मानी हैं। उपचार का अर्थ यह है कि मुख्य चीज के अभाव में भी उसी के नाम को पुकारना उपचार है। जैसे जली हुई रस्सी को भी रस्सी कहना। जली हुई को देखने में रस्सी का आकार सा मालूम पड़ता है। लेकिन वास्तविक रस्सी का गुण न होने से वह रस्सी नहीं कही जायगी।

इसी प्रकार केवली भगवान के परीषह उपचार से ही हैं।

तत्वार्थसूत्र का आपने प्रमाण दिया कि केवली कवलाहार कर सकता है। यह आपका कहना कितनी भूल का है। शायद आपने तत्वार्थसूत्र पूरा देखा ही नहीं। अगर देखा होता तो यह शंका आपको नहीं रहती। देखिये तत्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धिमें केवली कवलाहार का निषेध साफ लिखा है-

देखिये सातवें अध्याय का १३ सूत्र—

"केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

केवली अवर्णवाद—स्वात्मोत्थ शुद्ध भोजन से कवलाहार बिना सदा सुखी रहने वाले केवल परमानन्द मूर्ति होने पर भी "केवली भगवान कवलाहार से ही जीते हैं। कवलाहार नहीं हो तो नहीं जी सकते" ऐसा असमझ से झूठा अवर्णवाद करना केवली अवर्णवाद है।

शास्त्र में मांस आदि भक्षण का विधान न होते हुए भी शास्त्र में मांस आदि भक्षण का विधान बतलाया है। इस तरह असमझ से शास्त्र में झूठा दोष लगाना सो "शास्त्रावर्णवाद" है।

अन्तरंग बहिरंग दोनों से पवित्र निर्ग्रंथ परमहंस परमात्मा तुल्य पवित्र होते हुए भी साधु को शूद्र, अपवित्र, मलीन, अविवेकी कहना ऐसा झूठा अवर्णवाद करना "संघावर्णवाद" है।

धर्म मानवमात्र का कल्याण करने वाला है धर्म बिना जीवन मृत्यु तुल्य है ऐसे जिनभाषित धर्म को निर्गुण कहना अर्थात उस धर्म में कुछ सार नहीं है उसके सेवन करने वाले असुर अर्थात अविवेकी होते हैं। इस प्रकार जैन धर्म का अवर्णवाद करना "धर्मावर्णवाद" है।

देव कल्पवृक्ष से उत्पन्न स्वर्ग सुख के सिवाय और कोई चीज को नहीं लेते हैं ऐसे पवित्र देव होते हुए भी "देव मांस खाते हैं, मदिरा पान करते हैं" आदि अनेक प्रकार के झूठे अपवाद लगाना देवावर्णवाद है।

इस तरह के अनेक अवर्णवाद करने से तीव्र दर्शन मोहनीय का आस्रव होता है। तथा अवर्णवाद करनेवाला मनुष्य भवर में मूर्ख तथा मदिरा पिये हुये के समान उन्मत्त रहता है तथा पद २ पर अपमानित होता रहता है। प्रोफेसर साहब ! आपने इस सूत्र का कुछ ख्याल ही नहीं किया।

तत्वार्थसूत्र आदि दिगम्बर आम्नाय के किसी भी ग्रन्थ में ऐसा आपको नहीं मिलेगा कि निरपेक्ष रीति से एक में तो केवल कवलाहार का निषेध किया हो और दूसरे में विधान।

केवली भगवान को ११ परीषह उपचार से हैं।

इस लिये परीषह का फल जो हर्ष विषाद पैदा करना है सो नहीं। हर्ष विषाद का मूल कारण मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म नहीं होने से वहां हर्ष विषाद नहीं होने से वहां इन्द्रियजन्य सुख दुख भी नहीं।

मुख्य रीति से इन्द्रियजन्य सुख दुख गृहस्थों के होता है और गौणता से छद्मस्थ मुनियों के होता है अति इन्द्रिय होने से इन्द्रियजन्य सुख, केवली को दुख कदापि काल नहीं होते। देखिये आचार्यों ने स्वयं प्रश्न उठाकर समाधान किया है—

तत्त्वार्थ सूत्र सर्वार्थसिद्धि टीका अध्याय ६ वां सूत्र ११ वें में बताया है—

"एकादश जिने" ।११।। जिने एकादश परीषहा संति इत्यर्थः।

परन्तु स्वयं आचार्य ने मोहनीय कर्म सहायक न होने से केवली के वेदना का अभाव बतलाया है। इस लिये भगवान के परीषह का होना नहीं बनता। यह आपका कहना ठीक है। यह आपने बहुत अच्छा कहा किन्तु केवल द्रव्यकर्म सद्भावापेक्षा से उपचार मात्र से परीषह कहा है। जैसे एक समयमें अन्य सहाय बिना सम्पूर्ण पदार्थों को जानने देखने वाला केवलज्ञान का अतिशय होने पर केवलियों के सूक्ष्म क्रिया प्रतिपात नामा शुक्लध्यान बतलाया है। किन्तु वह ध्यान वहां उपचार से है। देखिये टीका "केवलतत्फलकर्मनिर्हरणफलापेक्षया ध्यानोपचारात्"

इस लिये यह बहुत अच्छा है और स्पष्ट है।

भावमन बारहवें गुणस्थान तक रहता है या उस भाव को वैभाविक परिणति का विभाव परिणाम माना है और बारहवें गुणस्थान से आगे वह नहीं रहता है तो तेरहवें गुणस्थानमें ध्यान कैसा ? अर्थात् आगे 'अनेक प्रकार की दुश्चिन्ताओं को रोककर केवल आत्मा में लीन होकर तन्मय होना ऐसा ध्यान नहीं।' किन्तु वहां तो उपचार से ध्यान है। जैसा उपचार ध्यान है वैसे उपचार से परीषह हैं। ऐसा सर्वार्थसिद्धिकार का कहना है। यह बात है भी बराबर।

अथवा "एकादश परीषहा न सन्ति" अर्थात् वहां पर एकादश परीषह नहीं है। ऐसा जानना चाहिये। "सोपस्कारत्वात् सूत्राणां" ऐसा वाक्य है अर्थात् मोहनीय कर्म न होने से वहां क्षुधा वेदना नहीं है। वहां क्षुधा तृषा आदि ग्यारह परीषहों की वेदना नहीं होने से परीषह भी नहीं हैं।

और भी प्रमाण केवली कवलाहार निषेध के लिये देखिये—

जीव के त्रेपन भाव बतलाये हैं उसमें क्षायिक भाव के ६ भेद हैं उन ६ भावों में से कुछ ये हैं—

ज्ञानावरण कर्म का अत्यन्त क्षय होने से क्षायिक (केवल) ज्ञान होता है और दर्शनावरण कर्म का अत्यन्त समूल क्षय होने से क्षायिक दर्शन होता है।

लाभान्तराय कर्म का अत्यन्त समूल नाश होने से कवलाहार की क्रिया न होने पर भी केवली भगवान के शरीर स्थिति के लिये अन्य साधारण मनुष्यों को अप्राप्य परम अत्यन्त शुभ और अत्यन्त सूक्ष्म अनन्त पुद्गल परमाणुओं का समागम प्रतिसमय होने के कारण केवली भगवान का शरीर बना रहना क्षायिक लाभ है।

सो यह बात बिलकुल ठीक है। कवलाहार बिना भी शरीर रह सकता है। परन्तु यह परम औदारिक दिव्य शरीर को धारण करने वाले व अनन्त-चतुष्टय को धारण करने वाले व अनन्त आनंद के पूरसे भरपूर श्री केवली भगवान के ही रह सकता

है। दूसरे सामान्य पुरुषों के नहीं। देखिये व्यवहार में भी अनुभव से सिद्ध है—

जब बालक अज्ञानी रहता है तब तक उसके खाने पीने की कोई संख्या नहीं है और जब ज्ञान बढ़ता जाता है तब राग प्रवृति घटती जाती है। तथा गृहस्थ मनुष्य के राग विशेष होने से कई बार खाता पीता है। वही मनुष्य रागांश कम होने से और ज्ञान के बढ़ने से यानी वानप्रस्थ होने से खाना पीना कम करता है। इससे आगे वही मनुष्य दिगम्बर निर्ग्रंथ वीतराग परमहंस अवस्था को धारण करता है तब सम्यग्ज्ञान का विशेष प्रादुर्भाव होने से व परिणति विशेष नष्ट होने से सिर्फ चौबीस घण्टे में एक ही वक्त आहार जल लेता है। इससे आगे अर्थात आठवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक राग अत्यन्त सूक्ष्म हो जाने पर भी कवलाहार नहीं है तो आगे तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली के कवलाहार कैसे हो सकता है? वहां राग है ही नहीं।

इस लिये यह सिद्ध है कि आहार का कारण राग ही है। राग बिना आहार आदि पर-पदार्थ ग्रहण होता ही नहीं है। पर पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा हुई सो अपराध है और अपराधी को मोक्ष कहां से मिले। अर्थात उसके लिये मुक्ति नहीं है। महर्षियों ने भी कहा है—

"येनांशेन रागः तेनांशेन बन्धः" अर्थात राग ही से बन्ध होता है और बन्ध पर पदार्थों के ग्रहण करने से होता है। इस लिये केवली भगवान रागी नहीं हैं और रागी न होने से उनके कवलाहार भी नहीं है। हां! उनके लिये बन्ध बतलाया है सो ईर्यापथ आस्रव होनेसे उपचार से बन्ध है और उस बन्ध का भी उदय एक ही समय में हो जाता है। एक ही समयमें आना, बन्धना, निकल जाना वह ही भगवान के शरीर स्थिति के लिये आहार है। उसी को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। उसी को क्षायिक के नव भावों में क्षायिक लाभ माना गया है। सारांश यह है कि क्षायिक लाभ से कवलाहार बिना भगवान का शरीर बना रहता है। और भी देखिये—

व्यवहार में भी प्रत्यक्ष द्रव्य क्षेत्र काल और भाव का अपूर्व प्रभाव पड़ता है। वर्षा ऋतु में मनुष्य एक महीने तक अन्न जल के बिना बिलकुल शांति से रह सकता है। क्योंकि उस समय शीतल मन्दपवन का प्रचार होने से उपवास में बाधा नहीं पड़ती है और ग्रीष्म ऋतु में अन्न जल बिना आठ दिन भी रहना मुश्किल हो जाता है क्योंकि उस समय बाह्य वातावरण गर्म होने से उपवास करने में बाधा पहुंचती है।

ग्रीष्म ऋतु में शांति के लिये कई लोग हिमालय आदि ठण्डे प्रदेश में चले जाते हैं। गरम देश में चाहे जितना पानी पिया जाय तो भी शांति नहीं होती और ठण्डे प्रदेश व वर्षा या शीत ऋतु में जल कम पीने पर भी शांति रहती है। तो इससे यह सिद्ध होता है कि जितनी कवलाहार से शांति होती है उससे भी ज्यादा बाह्य पुद्गल परमाणु अर्थात् बाह्य वातावरण फल फूल आदि से शोभित बगीचा और जहां फव्वारा आदि से समस्त शीतल हुई भूमि से उपवास वाले को तथा और मनुष्य को शान्ति ज्यादा मिलती है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

देखिये ग्रीष्म काल में भोजन करके दोपहर को बिना जूते पहिने चार कोस तक बिना जल पिये चलने वाले को कितना दुःख होता है। क्योंकि उस समय बाह्य गरम पुद्गल परमाणु शरीर में घुसकर

शरीर को सुखा डालते हैं। कवलाहार किया तो क्या हुआ। किन्तु उतना शीत ऋतु में मनुष्य न खा पी करके भी चार कोस के बदले आठ कोस भी चले तो भी शरीर के अन्दर शांति रहती है। क्योंकि उस समय शीत ऋतु के परमाणु शरीर में प्रवेश होने से शांति रहती है। इसी लिये साधुओं को व सामान्य मनुष्यों को योग्य क्षेत्र काल देखकर रहना चाहिये। इस प्रकार सामान्य मुनिराज और सामान्य मनुष्यों के लिये कवलाहार बिना भी शांति मिलती है।

और भी कहा है—स्वर्गवासी आदि देवों के लिये केवल मानसिक आहार ही है और वृक्ष आदि के लिये लेप्य आहार ही है। ये सब कुछ अवस्था विशेष और शुद्धाशुद्ध भावापेक्षा से है। कुछ बाह्य कवलाहार की आवश्यकता को रखते हैं और कुछ नहीं भी रखते हैं।

अरहन्त भगवान के छयालीस गुण बतलाये सो भी केवली कवलाहार का निषेध ही करते हैं। यदि आप कवलाहार मानेंगे तो केवली भगवान के छयालीस गुण ही नहीं बनेंगे। देखिये प्रमाण—

अरहन्तों के छयालीस गुणों में से कुछ गुण केवली के कवलाहार निषेध करते हैं।

मोक्षमार्ग प्रदीप—३४ पृष्ठ से ५१ पृष्ठ तक ५० श्लोकों में उन गुणों का वर्णन किया है और अन्यत्र अन्य सर्व ग्रन्थों में भी वर्णन मिलता है। क्योंकि अरहन्त भगवान पुरुष विशेष वीतरागी होने से उन की वृत्ति भी अलौकिक है।

४६ गुणों में जन्म के कुछ अतिशय—भगवान का शरीर सुगन्धित द्रव्य पुद्गल परमाणुओं से बना पसेव रहित, मल मूत्र से रहित है अतुल्य बल, उनके दूध के समान सफेद रक्त होता है। वज्रवृषभ नाराच संहनन यानी-वह इतना मजबूत होता है कि पर्वत पर भी गिर जाय तो भी नहीं टूटे। यह बल का ही सूचक है।

केवलज्ञान के अतिशय देखिये—जहां भगवान विराजते हैं वहां एक सौ योजना पर्यंत सुभिक्ष रहता है। वहां मनुष्य बड़े आनन्द में रहते हैं। भगवान आकाश में चलते हैं, उनका चतुर्मुख दिखता है, भगवान के चरण में रहने वाले जीव वैर विरोध से रहित होते हैं और जहां भगवान विराजते हैं वहां सम्पूर्ण जनता रोग और उपसर्ग से रहित होती है। केवली भगवान के कवलाहार नहीं होता है। उनका शरीर प्रति समय आने वाली नो कर्म वर्गणा से ही स्थिर रहता है। भगवान सम्पूर्ण विद्या के ईश्वर होते हैं। भगवान के शरीर में मल न होने से नख केश भी नहीं बढ़ते हैं। मोहनीय कर्म का अत्यन्त क्षय होने से भगवान के पलक भी नहीं गिरते हैं और भगवान के परम—औदारिक शरीर होने से शरीर की छाया भी नहीं पड़ती है।

देवकृत अतिशय—

जहां भगवान रहते हैं वहां दुर्दिन नहीं रहता। जहां भगवान का विहार होता है वहां छहों ऋतुओं के फल फूल फूल जाते हैं। अर्थात सर्वत्र आनन्द ही आनन्द रहता है। जहां भगवानका विहार होता है वहां सुगन्ध मन्द पवन चलता रहता है। जहां भगवान रहते हैं वहां सम्पूर्ण सन्ताप को नष्ट करने वाली गन्धोदक वृष्टि होती है। सम्पूर्ण पृथ्वी और सम्पूर्ण दिशा धूलि और कंटक रहित होती हैं और भव्य जीवों को शांति पैदा करने वाली देवों द्वारा समवशरण में भगवान पर पुष्प-वृष्टि होती है और

उन भगवान पर चौंसठ चमर देवों द्वारा ढोरे जाते हैं। इतने मनोहर द्रव्य क्षेत्र और उत्तम काल तथा भगवान के भाव ज्ञान सुखमय होने से भगवान के कवलाहार का नाम भी नहीं और शीत, उष्ण, अति-वृष्टि अनावृष्टि की भी बाधा नहीं। क्योंकि वहां दुःख देने वाले पदार्थ भी सुखरूप हो जाते हैं। इस प्रकार उपरोक्त साधन होने से युक्ति प्रमाण स्वानुभव और आगम से केवली कवलाहार का निषेध स्वयं सिद्ध है।

अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इनका अविनाभाव सम्बन्ध है। इनको अनुजीवी गुण अथवा भावात्मक गुण कहते हैं। सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व ये प्रतिजीवी गुण कहलाते हैं। अनुजीवी गुण के अन्दर विकार होने से प्रतिजीवी गुण के अन्दर भी विकार होता है। जैसे मन में विकार उत्पन्न होने से पांचों इन्द्रियों में विकार उत्पन्न होता है और मन निर्विकार होनेसे पांचों इन्द्रियां भी निर्विकार ही रहती हैं। इस लिये अरहन्त भगवान के अनुजीवी गुण निर्विकार एवं सम्पूर्ण बाधाओं से रहित हैं। केवली भगवान के अनन्त चतुष्टयों में कोई बाधा नहीं है क्योंकि बाधा करने वाले कर्म नष्ट हो गये। चाहे प्रतिजीवी गुण नहीं प्राप्त हुए तो भी हर्ज नहीं वे अपने समय पर प्राप्त हो जायेंगे। जैसे वृक्ष का मूल कटने से शाखा पत्ता आदि धीरे धीरे सूख जाते हैं। उनको सुखाने के लिये कोई नवीन कार्य नहीं करना पड़ता। इसी तरह अनन्त चतुष्टयों के प्राप्त हो जाने पर चारों प्रतिजीवी गुणों को प्राप्त करने के लिये, चार अघातिया कर्म आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय को नष्ट करने के लिये केवली भगवान को कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उनकी जो प्रवृत्ति होती है वह निर्विकल्प रूप होती है। दिव्य—ध्वनि भी स्वयमेव मेघनाद के समान गम्भीर होती है। केवली भगवान के जो ध्यान शुक्ल बतलाया है सो भी उपचार से है।

इस प्रकार वास्तविक शास्त्रीय निर्णय व कर्म-सिद्धान्त के अनुसार केवली के कवलाहार का निषेध हो गया। फिर भी केवली भगवान को कवलाहार मानोगे तो वे केवली भगवान नहीं कहला सकते वे तो छठे सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि ही कहलायेंगे। अथवा मति श्रुत अवधि के धारक ही कहलायेंगे।

यह नियम है कि क्षुधा—दुख सहन न होने से आहार करने की इच्छा होती है। यदि आहार नहीं किया जाय तो ध्यान, जप तप, स्वाध्याय आदि नहीं होते हैं। स्वाध्याय नहीं होने से ज्ञान की वृद्धि भी नहीं होती। आहार ज्ञान, ध्यान, जप, तप की वृद्धि के लिये ही किया जाता है और आहार करने के बाद मुनि को गुरु के पास ईर्यापथ सम्बन्धी प्रायश्चित लेना पड़ता है। यह सब छद्मस्थों की विधि है। यदि केवली भगवान पीड़ा सहन न होने से आहार को निकलेंगे तो उनके लिये अनन्त सुख नहीं रहा। अनन्त सुख के न रहनेसे अनन्त शक्ति भी नहीं रहेगी। क्योंकि आहार नहीं लेने से आ-कुलता और कायरता बढ़ती जायगी। फिर शक्ति घटी और कायरता बढ़ी तो केवली के अनन्त वीर्य नहीं रहा। क्योंकि इन चार अनन्त चतुष्टयों का अविनाभाव सम्बन्ध है।

अगर आप कहें कि केवली भगवान को आकु-लता नहीं होती फिर भी आहार लेते हैं तो आपका यह कहना गलत है। क्योंकि कारण के बिना कार्य

करना अथवा स्वपर-हित के बिना कार्य करना अविवेकियों का काम है। क्या आप भगवान को "अविवेकी" बनाना चाहते हैं ?

क्योंकि यदि भगवान चर्या को निकलेंगे तो उस के लिये अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, कायक्लेश आदि बाह्य तप करने पड़ेंगे और प्रायश्चित, व्युत्सर्ग आदि अन्तरंग तप भी करने पड़ेंगे।

यदि आप कहें भगवान को तप करनेकी जरूरत नहीं तो आहार लेवें और तप नहीं करें तब तो प्रमाद बढ़ जायगा। इस लिये यह क्रिया तो छठे सातवें गुणस्थानवर्ती साधुओं के लिये है। केवली भगवान के लिये नहीं। सो जानना जी।

और भी देखिये—

केवली को आहार लेने के लिये इच्छा हुई तो वह इच्छा भावमन बिना होती नहीं। अगर वहां भावमन रहा तो वैभाविक शक्ति का विभाव परिणाम रागद्वेष भी रहा। क्योंकि भावमन है वह वैभाविक शक्ति का विभाव परिणाम है। भावमन बारहवें गुणस्थान से नीचे रहता है, ऊपर नहीं। जहां भावमन है वहां पांचों ही इन्द्रियों का ज्ञान मौजूद है। जहां पांचों इन्द्रियां और भावमन हैं वहां मतिज्ञान श्रुतज्ञान ही है अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य नहीं। मतिज्ञान श्रुतज्ञान सम्पूर्ण द्रव्य-पर्यायों को नहीं जान सकता।

इस लिये यह सिद्ध होता है कि कवलाहारी छठे सातवें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रंथ मुनि ही होते हैं। यदि सग्रंथ हों तो पांचवें गुणस्थानवर्ती देशव्रती श्रावक ही कहे जाते हैं। सो ऐसी अवस्था वालोंको आप केवली मानते हैं ?

इस प्रकार केवली कवलाहार निषेध नाम चौथा प्रकरण सम्पूर्ण हुआ।

आप्तमीमांसा का प्रमाण

और आपने लिखा कि समन्तभद्र आचार्य ने "आप्तमीमांसा" में वीतरागके भी सुख दुखका सद्भाव स्वीकार किया है सो यह लेख भी आपका अनुचित और अप्रमाण है। आप्तमीमांसा में जो प्रमाण दिया है सो केवली भगवान के लिये नहीं हैं। छठे सातवें गुणस्थान वाले ऋषियों के लिये है उन्हें भी वीतराग कहते हैं और उनके लिये सुख दुख का होना सम्भव है। सो ठीक है।

"वीतरागो मुनिर्विद्वान" यहां पर पुण्य और पाप छोड़ना वीतरागी मुनियों का है। पाप से दुख होता है और पुण्य से आत्मघात होता है। क्योंकि इन दोनों से सुख दुख होता है। इस लिये इन दोनों को छोड़ने का भाव दिखलाया है। इसमें केवली का कोई सम्बन्ध नहीं है। "केवली भगवान सुख दुख को भोगने वाले होते हैं" यदि समन्तभद्राचार्य का ऐसा अभिप्राय होता तो "रत्नकरण्ड श्रावकाचार" में आप्तका लक्षण करते हुए क्षुधातृषादि अठारह दोषोंका निषेध करने वाला श्लोक नहीं कहते किन्तु कहा है इस लिये आपका प्रमाण असत्य रहा। देखिये—

…पिपासाजरातङ्क…मान्तकभयस्मयाः।

न रागद्वेष मोहाश्च यस्याप्तः सः प्रकीर्त्यते ॥६॥

यानी—क्षुधा, तृषा, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, खेद, आश्चर्य, राग-द्वेष, दुख, शोक, निद्रा, चिन्ता आदि ये अठारह दोष जिसमें नहीं हों वह वीतरागी आप्त है। प्रोफेसर जी! विचार करिये आचार्य एक ठिकाने क्षुधा का निराकरण करें और अन्यत्र न करें यह परस्पर विरोधी है। शायद कभी आपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारको देखा भी नहीं। यदि देखा होता तो ऐसा नहीं लिखते। समन्तभद्र आचार्य जैसे कट्टर वीतराग निर्ग्रन्थ मार्गावलम्बी पुरुषों के ग्रन्थों में कहीं भी समंध मार्ग नहीं मिलेगा। सो जानना जी।

इस प्रकार समन्तभद्राचार्य को केवली के सुख दुख का प्रतिपादक कहने का निषेध नामा पांचवां प्रकरण सम्पूर्ण हुआ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य का सैद्धान्तिक ज्ञान

आपने कुन्दकुन्दाचार्य को दिगम्बरमत स्थापक बतलाया। सो बहुत अनुचित है। 'दिगम्बर वीतराग मार्ग अनादि काल का है, इसका खुलासा पहिले प्रकरण में बतलाया है। तथा आपने "जो कुन्दकुन्दाचार्य ने गुणस्थान, कर्मसिद्धान्त और शास्त्रीय विचार से स्त्री-मुक्ति और केवली कवलाहार का निषेध नहीं किया, यों ही लिख दिया" लिखा है सो आपका यह लिखना अन्याय है।

गुणस्थान, कर्म सिद्धांत, शास्त्रीय निर्णय से कुंदकुन्दाचार्य के वस्तु-विवेचन करने वाले भूतबलि पुष्पदन्त आदि कई आचार्य हुए वे कट्टर दिगम्बर आम्नाय के थे। इसी माफिक उनके बराबर कुंदकुंदाचार्य हुए हैं। उन आचार्यों से कम समझना आप का खयाल अनुचित एवं भूल है।

'मूलसंघ के प्रधान कुंदकुंदाचार्य गुणस्थान आदि की चर्चा नहीं जानते' यह तो छोटे मुख बड़ी बात कहना है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने आध्यात्मिक विषय पर जो अपनी लेखनी चलाई है वह अनुपम है उससे असंख्य मुमुक्षुओं ने आत्म-कल्याण किया है। फिर भी कोई व्यक्ति कुन्दकुन्दाचार्य की विद्वत्ता को न समझ पावे तो यह उसे अपना असाधारण दुर्भाग्य समझना चाहिये। आज हमारे प्रोफेसर साहिब थोड़ा सा सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करके श्री कुन्दकुन्द के सैद्धान्तिक ज्ञान की परीक्षा लेने तय्यार हुए हैं यह उनका दुस्साहस है।

श्री कुंदकुंदाचार्य का सैद्धांतिक ज्ञान अगाध था। जीव समास, मार्गणा स्थान और गुणस्थान जीवके मूलकर्म उत्तरप्रकृति आदि वैभाविक शक्ति के विभाव परिणाम से होते हैं। इस लिये ये वास्तविक रूप से शुद्ध आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। ऐसा जान करके श्री कुन्दकुन्द ने उनका त्याग करने का ही प्रतिपादन ग्रन्थों में किया है। उनका उद्देश्य यह था कि इन कर्म प्रकृतियों का विचार करते २ अपनी आत्मा को भूल न जाय और दूसरा यह विचार था कि चंचल चित्त वालों के लिये गुणस्थान आदि विवेचन व मनन प्रथम अवस्था में प्राह्य होते हुए भी इससे

आगे बढ़ने के लिये उपदेश दिया और इन कर्म-प्रकृतियों का विचार करने से संकल्प विकल्प होता रहता है और संकल्प विकल्प ही संसार है। इस लिये इस संकल्प विकल्प को छुड़ाने के लिये संयमी और अत्यन्त वैरागी तथा विशिष्ट ज्ञानी स्थिर चित्त वालों के लिये त्याग बतलाया है। सो यह बात नहीं कि वे इन विषयों को वास्तविक जानने वाले न थे परंतु इससे आगे बढ़कर परमानन्द प्राप्त कराने के लिये उन्हों ने इन बातों का निषेध किया है।

छह आवश्यक मुनियों के लिये मूलगुण माने हैं। किन्तु षट् आवश्यकों का भी उन्होंने निषेध किया है। क्योंकि छह आवश्यकों से भी पुण्यबंध होता है और इस पुण्य बन्ध को भी आचार्य ने विष कुम्भ कहा है और प्रतिक्रमण करने वाले को अमृत-कुम्भ कहा है। क्या ही अच्छी बात कही है। किंतु इन कुन्दकुंदाचार्य का अभिप्राय नहीं जाननेमें कितने ही समयसार आदि स्वेच्छाचारियों को कुंदकुंदाचार्य ने स्वयं सम्बोधन किया है। देखिये गाथा नम्बर ३०६ तथा ३०७ समयसार में।

हे भव्यो ! नीचे २ क्यों गिरते हो प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमण दोनों स्थानों से रहित शुद्ध चिद्रूप अनन्त सुखमय जो तृतीय पद है उसमें विराजमान होओ और वहां आनन्द करो। नीचे क्यों गिरते हो। कितना मधुर मिष्ट प्रबोध है।

सारांश—कुन्दकुन्दाचार्य का उद्देश्य और अभि-प्राय समझना साधारण मनुष्यों का काम नहीं है। षट् आवश्यकादि का प्रतिक्रमण जो मोक्षमार्ग का बाधक बताया है और जो प्रतिक्रमणादि रहित स्वे-च्छाचार अवस्था मोक्ष को रोकने वाली वृत्ति केवल विषकुम्भ नहीं है। किन्तु विषकुम्भ से भी विषकुम्भ है ? तो क्या वह कभी मोक्ष साधक हो सकता है ? हरगिज नहीं। जैसे—

मोक्षसाधन में जहां भक्ष्य पदार्थ को भी अभक्ष्य गिना जाता है, वहां क्या अभक्ष्य भी कभी भक्ष्य हो सकता है, अर्थात् कभी नहीं। परब्रह्म परमात्मा में रहने के लिये स्वर्ण को भी छोड़ जाता है तो क्या वह भी परस्त्री का ग्रहण कर सकेगा ? हरगिज नहीं।

इस लिये उन्होंने चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा में ठहरने के लिये ही ये सम्पूर्ण विधि विधान बनाया है। यदि आप सम्पूर्ण परिग्रह छोड़कर निज परमा-नन्दपदमें न ठहर सकते हों तो गृहस्थावस्थाका सांसा-रिक सुख सेवन करते हुए और अपनी निंदा गर्हा आदि करते हुए दान पूजनादि के साथ २ अपनी शक्ति को बढ़ाओ और सद्गुरु की संगति करो तो कभी न कभी आपको सन्मार्ग मिल जायगा। ऐसा आचार्य का उपदेश है और ये उपदेश बहुत ही अच्छा और अनुकरणीय है और हमारा भी उद्देश्य यही है कि वर्तमान में साहित्य-निर्माण ऐसा होना चाहिये जिसमें सर्वसाधारण, सब जनता लाभ उठा सके। अतः 'कुन्दकुन्दाचार्य कर्म सिद्धांत नहीं जानते' ऐसा कहना कितना अविवेक और असमझ का है।

इस प्रकार इन प्रकरणों में आगम युक्ति स्वानु-भव और प्रत्यक्ष प्रमाण से १-दिगम्बर वीतरागधर्म प्राचीनतर नहीं, २-द्रव्य स्त्रीमुक्ति, ३-सवस्त्रमुक्ति, ४-केवलीकवलाहार, ५-स्वा० समन्तभद्रने केवलि को सुख दुख का भोक्ता कहा है ? ६-दिगम्बर मत की स्थापना करने वाले कुंदकुन्दाचार्य हैं और वे कुंदकुंदा-चार्य कर्म सिद्धांत नहीं जानते इन छह बातों का वीत-राग बुद्धि से निषेध किया है न कि पक्षपात या राग-

बुद्धि से। सो आपना जी।

वीतरागी महर्षि किसी का खण्डन मण्डन कभी नहीं करते हैं किन्तु वास्तविक वस्तुतत्व का प्रतिपादन करना उनका स्वाभाविक धर्म है। इनमें राग-द्वेष नहीं है। इतना भी आपको बुरा लगे तो क्षमा करें। क्योंकि हम एकइन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदि समस्त जीवों से प्रति दिन त्रिवार क्षमा मांगते हैं तो आपसे क्षमा मांगने में कोई बुराई की बात नहीं है।

आपने स्त्री-मुक्ति आदि चर्चा उठाई है वह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों आम्नायों में एकता लाने के अभिप्राय से मालूम पड़ती है। सो यह अभिप्राय तो आपका प्रशंसनीय है। परन्तु वास्तविक तत्व को छिपाकर या नष्ट करके दोनों आम्नायों को एक करने में क्या फल है? अर्थात कोई फल नहीं। दोनों आम्नायों को मिलाना हो तो वास्तविक तत्व का समन्वय करके मिलाना चाहिये। सो आपने मिलाने का यत्न नहीं किया। इस लिये यह परिश्रम आपका वृथा है। आपने श्वेताम्बर भाइयों को अपने में मिलाने का यत्न किया सो तो बहुत ही अच्छा किया। जरूर मिलाना ही चाहिये वह तो हमारे सगे भाई ही हैं परन्तु केवल श्वेताम्बर भाइयों को मिलाने में लुरा नहीं रहना चाहिये। बल्कि सत्य व सार्वधर्म समन्वय करके सर्व धर्मावलम्बी लोगों को एक धर्मावलम्बी बनाना चाहिये जिससे विश्व में खूब आनन्द रहे। वह कैसे बनाना? यह बात "सत्यार्थ दर्शन" पुस्तक में मैंने बताई है। वह ग्रन्थ अभी सोलापुर पण्डित वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री के प्रेस में छप रहा है उसे आप देखने की कृपा करें।

यह उत्तर केवल प्रोफेसर साहब के लिये ही नहीं है किन्तु प्रोफेसर साहब जैसे अन्य कोई भी मनुष्य के ऐसे भाव हों उन सबके लिये यही उत्तर है।

इस प्रकार छठा प्रकरण समाप्त हुआ।

प्रोफेसरस्य* मतखण्डन एव काऽपि।
दुर्भावना ऽस्ति न च मेऽखिल—विश्वबन्धोः॥
सद्विश्वशांति—सुखदस्य कदाग्रहिंसा—
धर्मस्य लोप इति मेऽस्ति भवेन्न हेतुः॥

वीर सं० २४७०, विक्रम सं० २००१ भाद्र शुक्ल १० मंगलवार ११ बजे शुभ लाभ चौघड़िया में समाप्त किया है।

श्रीमान पूज्य तपोनिधि विश्ववंद्य, चारित्र चूड़ामणि, पूज्यपाद १०८ श्री दिगम्बर जैनाचार्य कुन्थुसागर जी गुरुदेव के कहे माफिक उपरोक्त विषय को लिखा है।

द: छगनलाल जैन दोशी विशारद

---

* प्रोफेसर इति शुभोपपदधारिणः हीरालाल-महोदयस्य।

श्रीमान पण्डित पन्नालालाल जी सोनी

सिद्धांत शास्त्री

मैनेजर–श्री ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन,

ब्यावर (राजपूताना)

क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासनों में कोई मौलिक भेद नहीं है ?

प्रोफेसर हीरालाल जी अमरावती कतिपय वर्षों से महाकर्म प्रकृति प्राभृत के पूर्ण ज्ञाता, गुरुमुख से उसका अध्ययन करने वाले भगवत्पुष्पदन्त और भगवद्भूतबली गणधराचार्य प्रणीत 'षट्खण्डागम' और भगवद्वीरसेन स्वामि-रचित 'धवल' का हिंदी अनुवाद (कहते हैं) लिख रहे हैं। सत्प्ररूपणा से ले कर अल्पबहुत्वानुगम तक के आठ अनुयोग द्वारों का अनुवाद तो प्रकाशित भी हो चुका है। षट्खण्डागम के आद्य पांच खण्डों का परिमाण छह हजार श्लोक प्रमाण है और धवल का प्रमाण मूल सहित बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण है। इतने बड़े शास्त्र समुद्र का मन्थन करके आपने 'स्त्रीमुक्ति' अन्वेषण की है। षट्खण्डागम पर बड़े बड़े महर्षियोंने बड़ी बड़ी टीकायें लिखी हैं सब की दृष्टिमें स्त्री-मुक्ति ओझल रही। गुरुमुख से अनेकों मुनियों ने षट् खण्डागमको पढ़ा। परन्तु इसका उन्होंने मण्डनके बजाय खण्डन कर डाला। क्या महर्षि इसके समझने में भूल कर गये या उनके सिर पर साम्प्रदायिक मोह सवार हो गया था स्त्रियों से द्वेष होगया था ? जिससे वे इस सूत्रका मण्डन न कर सके। महर्षियों ने षट्खण्डागम को गुरुमुख से पढ़ा भी था, वे आगम-भीरु भी थे। एक अक्षर भी वे आगम विरुद्ध न बोलते थे और न लिखते थे जो भी वे श्रुत देवता से क्षमा की भिक्षा मांगते थे। उन्हें भय था कि आगम विरुद्ध बोलना या लिखना महान नरक-निगोद का कारण है। इसी वजह से वे स्त्री-मुक्ति का मण्डन न कर खण्डन कर गये हैं। ऐसा मालूम देता है। इसके विपरीत प्रोफेसर हीरालाल जी ने षट्खण्डागम को और उसकी टीका धवलाको न गुरुमुख से पढ़ा है और न वस्तुतत्या मुनियों को छोड़ और कोई पढ़ने के अधिकारी ही हैं। अंग्रेजी के आप अच्छे विद्वान हैं, तर्क-वितर्क पर भी आप का खासा अधिकार है। निर्भीक भी आप हैं। इस लिये निर्भीकता के साथ किसी भी इच्छित विषय को बाहर फेंक ही देते हैं। वह चाहे आगम के अनुकूल हो, चाहे प्रतिकूल हो। समाज में इसका क्या परिणाम होगा इस बात की चिंता आप नहीं रखते। उद्भूत भावों को दबाना आप पाप समझते हैं।

कुछ भी हो प्रोफेसर जी ने महर्षियों की अनुगन्ता दिगम्बर जैन समाज के सामने कुछ विषय रक्खे हैं। उनके नाम हैं—'स्त्रीमुक्ति', 'संयमी और वस्त्र त्याग' तथा 'केवलि कवलाहार'।

१-स्त्री-मुक्ति

प्रोफेसर जी ने जो कुछ लिखा है वह आगम के अनुकूल है या नहीं यह जानने की खास जरूरत है। इसी लिये यह प्रयास किया जा रहा है। सबसे पहले आपने आचार्य कुन्दकुन्द को आड़े हाथों लिया है। यथा—

"कुन्द-कुन्दाचार्य ने अपने ग्रंथों में स्त्रीमुक्ति का स्पष्टतः निषेध किया है। किन्तु उन्होंने व्यवस्थासे न तो गुणस्थान चर्चा की है और न कर्म-सिद्धान्तका विवेचन किया है। जिससे उक्त मान्यता का शास्त्रीय चिन्तन शेष रह जाता है।"

कुन्दकुन्दाचार्य जो "मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गोतमो गणी। मंगलं कुंदकुंदार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥१॥" इस श्लोक द्वारा वीरभगवान के गोतम गणधर के और उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म के बराबरी पर बैठाये गये हैं वे इतनी बड़ी गलती कर गये यह बड़ी आश्चर्य-भरी बात है। गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धान्त का विवेचन किये बिना ही उन्होंने बड़े बड़े गहनशाली ग्रंथ लिख डाले और उनमें एक दम स्त्रीमुक्ति का निषेध; वह भी स्पष्टतः कर डाला। जिससे प्रोफेसर महोदय को एड़ी से चोटी तक विपरीत पसीना बहाकर शास्त्रीय-चिंतन करना पड़ा। क्या यह सच है कि प्रत्येक विषय का प्रतिपादन या निराकरण गुणस्थानोंकी चर्चा पूर्वक और कर्मसिद्धांत के विवेचनपूर्वक ही करना चाहिये, अन्यथा वह व्यर्थ हो जाता है। यदि यही कदाग्रह है तो देखिये कुन्दकुन्दाचार्य प्राकृत 'सिद्धभक्ति' में क्या कहते हैं—

पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति॥

अर्थात्—भाव पुरुषवेद का अनुभव करते हुए जो द्रव्यपुरुष क्षपक-श्रेणी में आरोहण करते हैं वे और शेषोदय अर्थात् भावस्त्री और भावनपुंसकवेद के उदय से भी जो द्रव्यपुरुष क्षपक श्रेणी में आरोहण करते हैं वे भी शुक्लध्यान से उपयुक्त हुए सिद्धिपद को प्राप्त करते हैं।

इस गाथा में स्पष्ट कहा गया है कि द्रव्यपुरुष तीनों भाववेदों के उदय से क्षपक श्रेणी चढ़ते हैं और शुक्लध्यानके जरिये मुक्ति जाते हैं। गाथा में पुरिसपद पड़ा हुआ है जो द्रव्यपुरुष को कहता है अन्यथा उसके बिना भी काम चल सकता था। 'पुंवेद' और 'शेषोदय' पद भाववेदों को कहते हैं। 'खवगसेढिमारूढा' इससे स्पष्ट होता है कि तीनों भाव वेदियों का आरोहण क्षपक श्रेणि तक होता है। क्षपक श्रेणि के आठवां नौवां दशवां और बारहवां ये चार गुणस्थान हैं। इनमें से नौवें गुणस्थान के सवेद और अपगतवेद ऐसे दो भेद हैं। उनमें से सवेदभाग के यथायोग्य भेदों तक वेदों का उदय और सत्व पाया जाता है। अतः मिथ्यादृष्टि से लेकर नौवें तक के नौ गुणस्थान तीनों भाववेदों में साबित होते हैं। इसके अपगतवेद भाग से लेकर चौदहवें तक के गुणस्थानों में वे ही द्रव्यवेदी पुरुष जिनके पहिले उक्त भाववेद होते हैं—आरोहण करते हैं, भाववेद इन गुणस्थानों में यद्यपि रहते नहीं हैं तो भी भूतपूर्वन्याय से मान लिये गये हैं। इस लिये वेदों में उदय-सत्व की अपेक्षा नौ गुणस्थान और उदय-सत्व के अभाव में अवशिष्ट चार गुणस्थान भी कहे जाते हैं। जो क्षपक नौवें में पहुंचते हैं वे ऊपर के गुणस्थानों में भी पहुंचते ही हैं। इस लिये उनकी अपेक्षा चौदह गुणस्थान भी कह दिये जाते हैं। द्रव्यपुरुषवेदी जीव क्षपक श्रेणि में पहुंचते हैं और शुक्लध्यान को ध्याकर सिद्धिपद प्राप्त करते

हैं। इससे द्रव्यस्त्री न क्षपक—श्रेणि तक पहुंचती है और न गुणस्थान के अभाव में सिद्ध ही होती है। यह निषेध भी इसी गाथा से आ उपस्थित होता है। क्षपक श्रेणि गुणस्थान है ही और तीनों भाववेद कर्म हैं ही, उनकी सत्ता और उदय नौवें तक है ही। अब गुणस्थान चर्चा न करना और कर्मसिद्धान्त का विवेचन न करना इनमें से कौन सी बात बाकी रह जाती है जिससे यह कहना सुशोभित हो कि 'उक्त मान्यता का (स्त्रीमुक्ति के निषेध का) शास्त्रीय चिंतन शेष रह जाता है।'

तात्पर्य यह है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने जो द्रव्यस्त्री को मुक्तिकी अधिकारिणी नहीं माना है वह गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धांत के विवेचन पूर्वक ही है। षट्खण्डागम में भी तो यही कहा गया है कि—

'मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्ठित्ति॥१०८॥ तेण परमवगदवेदा चेदि१६।

इस सूत्र में द्रव्यमनुष्य तीन वेद वाले कहे गये हैं उनके उन वेदों में अनिवृत्ति तक के नौ गुणस्थान होते हैं, आगे वे अपगतवेद होते हैं। तथा—

इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडी जाव अणियट्टित्ति॥१०२॥

णवुंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्टित्ति॥१०३

स्त्रीवेद और पुरुषवेद असंज्ञि मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर और नपुंसकवेद एकेन्द्रिय को आदि लेकर नौवें तक होते हैं। यहां पर तीनों भाववेदों में जीवसमास और गुणस्थान कहे गये हैं। सूत्र नं० १०८ में मणुस्सा पद द्रव्यमनुष्य का सूचक है उसमें तीन वेद और नौ गुणस्थान कहे गये हैं। मणुस्सा का अर्थ भाव मनुष्य नहीं है अन्यथा मनुष्य और उसके तीन यह कहना मनः प्रीतिकर नहीं हो सकता क्योंकि भावमें भाव नहीं होता है। अतः मनुष्य-पद का अर्थ द्रव्यमनुष्य है। सूत्र नं० १०२ और १०३ में वेदों में जो नौ गुणस्थान कहे गये हैं भाव-वेद की अपेक्षा से कहे गये हैं, क्योंकि द्रव्यवेद की अपेक्षा तो पांच और चौदह गुणस्थान होते हैं। 'ये तीनों वेद द्रव्यस्त्रियों में भी होते हैं, इस लिये द्रव्य-स्त्रियों में भी नौ गुणस्थान होते हैं' यह अर्थ लगाना नितान्त भूल भरा हुआ है। क्योंकि यह कथन किसी गति की अपेक्षा से नहीं है किन्तु वेद की अपेक्षा से है। यदि इस तरह गति की अपेक्षा इस में जोड़ी जायगी तो नं० १०२ में देव भी ले लिये जावेंगे और नं० १०३ में एकेन्द्रिय आदि और नारक भी ग्रहण किये जा सकेंगे। क्योंकि देवों में स्त्री और पुरुष ऐसे दो वेद तथा एकेन्द्रिय और नारकों में नपुंसकवेद पाया जाता है। ऐसी हालत में देवों और नारकों में भी नौ गुणस्थान कहे जा सकेंगे। यदि यहां देव-नारक नहीं लिये जा सकते तो मणु-सिणी या स्त्रियां भी नहीं ली जा सकतीं। क्योंकि जिस तरह देवों में दो वेदों के होते और नारकों में नपुंसकवेद के होते हुए भी चार चार गुणस्थान और एकेन्द्रियादिकों में एक पहला गुणस्थान होता है उसी तरह द्रव्यस्त्रियों में भी तीनों के होते हुए भी पांच ही गुणस्थान हैं, न कि नौ। यथा—

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे,
सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ॥६२॥
सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिसंजदा-
संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ॥६३॥

नं० ६२ में यह कहा गया है कि मनुष्यिणियां मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान में पर्याप्तक भी

होती हैं, अपर्याप्तक भी होती हैं। क्योंकि मनुषिणियां मरकर इन दो गुणस्थानों युक्त ही उत्पन्न होती हैं, जब तक उनके शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक वे अपर्याप्तक होती हैं और शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने पर पर्याप्तक हो जाती हैं इस लिये इन दोनों गुणस्थानों में पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों तरह की मनुषिणियां होती हैं। नं० ९३ में कहा गया है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानमें पर्याप्तक ही होती हैं, अपर्याप्तक नहीं होतीं। क्योंकि तीसरे और पांचवें गुण में तो मरण नहीं होता है चौथे में मरण होता है परन्तु उस चौथे गुणस्थान वाला कोई भी जीव मर कर द्रव्य-भाव कोई भी मनुषिणीयों में उत्पन्न नहीं होता इस लिये इन गुणस्थान वाली स्त्रियां अपर्याप्तक नहीं होतीं। पर्याप्तक हो जाने पर भी इनके ये गुणस्थान आठ वर्ष से पहले होते नहीं। इस लिये कहा गया है कि इन तीन गुणस्थानों में स्त्रियां पर्याप्तक ही होती हैं। अब विचारणीय बात यहां पर यह है कि ये मनुषिणियां द्रव्यमनुषिणियां हैं, या भावमनुषिणियां। भावमनुषिणियां तो हैं नहीं, क्योंकि भाव तो वेदों की अपेक्षा से है, उनका यहां पर्याप्तता अपर्याप्तता में कोई अधिकार नहीं है क्योंकि भाववेदों में पर्याप्तता और अपर्याप्तता ये दो भेद हैं नहीं। जिस तरह कि क्रोधादि कषायों में पर्याप्तता और अपर्याप्तता ये दो भेद नहीं हैं। इसलिये स्पष्ट होता है कि ये द्रव्यमनुषिणियां हैं। आदि के दो गुणस्थानों में पर्याप्त और अपर्याप्त, आगे के तीन गुणस्थानों में पर्याप्तक इस तरह पांच गुणस्थान कहे गये हैं। इससे भी स्पष्ट होता कि ये द्रव्य-मनुषिणियां हैं। भावमनुषिणियां होतीं तो उनके नौ या चौदह गुणस्थान कहे जाते। किन्तु गुणस्थान पांच ही कहे गये हैं। षट्खण्डागम के इन नं० ९२-९३ १०२-१०३ और १०८ सूत्रों से ज्ञात होता है कि कुंदकुंदाचार्य का कथन षट्खण्डागम से विरुद्ध नहीं है। अतः कुन्दकुन्दाचार्य पर जो आक्रमण किया गया है भूल के सिवा कुछ तथ्य नहीं रखता है। गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धान्त के विवेचनपूर्वक ही उनने स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है जिससे कोई शास्त्रीय चिंतन शेष नहीं रह जाता है।

"दिगम्बर जैन आम्नाय के प्राचीनतम ग्रन्थ षट्खण्डागम के सूत्रों में मनुष्य और मनुष्यनी अर्थात पुरुष और स्त्री दोनों के अलग अलग चौदह गुणस्थान बतलाये गये हैं।" इसके आगे इन सूत्रों की संख्या दी गई है जिनमें 'मणुसिणी' और इत्थिवेद ये शब्द आये हैं। जिन्हें हम आगे सूत्र सहित लिखेंगे। जो बात 'पुंवेदं वेदंता' इत्यादि गाथा से सिद्ध है वही षटखण्डागम के उन सूत्रों में कही है। उन सूत्रों में गुणस्थानों में सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोग द्वार मनुषिणी और स्त्रीवेदमें कहे गये हैं। "इस से मनुषिणी में तो चौदह गुणस्थानों और स्त्रीवेद में नौ गुणस्थान साबित होते हैं यह स्त्रीमुक्ति के प्रतिपादक महोदय का आशय है। मनुषिणी दो तरह की होती हैं द्रव्यमनुषिणी और भावमनुषिणी। इसी तरह स्त्रीवेद भी दो तरह का होता है द्रव्यस्त्रीवेद और भावस्त्रीवेद। सूत्रों में सामान्यतः मनुषिणी और स्त्रीवेद पद प्रयुक्त हुए हैं। इन पदों पर से सन्देह हो जाता है कि यहां पर द्रव्यमनुषिणी ही ली गई है या भावमनुषिणी। इस तरह द्रव्यस्त्रीवेद लिया गया है या भावस्त्रीवेद। वेदों में तो सर्वत्र

भाववेद की अपेक्षा सेही कथन किया गया है परन्तु मनुषिणी में कहीं द्रव्य की अपेक्षा और कहीं भाववेद की अपेक्षा कथन है। ऐसे अवसर पर सन्देह हो जाता है। इस सन्देह को दूर करने के लिये 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः न हि सन्देहादलक्षणं' इस परिभाषा का अनुसरण कियाजाता है। इसका आशय है 'व्याख्यान से, विवरण से, टीका से विशेषप्रतिपत्ति-निर्णय होता है। सन्देह हो जाने से लक्षण अलक्षण नहीं हो जाता।' तदनुसार टीका ग्रन्थों में और अन्य ग्रन्थों में उक्त सन्देह दूर कर लिया जाता है। मूल ग्रन्थ के भी आगे पीछे के प्रकरणों पर से सन्देह दूर कर लिया जाता है। ग्रंथान्तरों में और टीका ग्रन्थों में स्पष्ट कहा गया है कि मनुषिणी के भावलिंग की अपेक्षा चौदह गुणस्थान होते हैं और द्रव्यलिंग की अपेक्षा से आदि के पांच गुणस्थान होते हैं। जिन्हें आगे खुलासा किया जायगा। सूत्रों में 'मनुषिणी' यह सामान्य शब्द अवश्य आया है परन्तु उसके साथ जिस तरह भावपद नहीं है उसी तरह द्रव्यपद भी तो नहीं है फिर भावमनुषिणी का अपहरण कर द्रव्यकी यह अर्थ किस आधार पर से लिया गया है? इसके लिये भी तो कोई आधार होना ही चाहिये। इसका आधार यदि केवल शाब्दिक तर्क है तो वह माना नहीं जा सकता। सम्भव है वह तर्क अन्यथा भी अर्थात् आगम से विरुद्ध पड़ता हो।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि वेदों में सर्वत्र भाववेद की अपेक्षा लेकर कथन किया गया है। क्योंकि वेद औदयिक भाव माना गया है। इस बात को हम ही नहीं मानते हैं किन्तु स्त्रीमुक्ति के प्रतिपादक आगम भी हमारी बात को पुष्ट करते हैं। चन्द्रर्षि पंच संग्रह में कहते हैं—'आ बायरो तो वेदेसु तिसुपि' अर्थात् यावदनिवृत्तिबादरस्तावत्सर्वेऽपि मिथ्यादृष्ट्याद्या वेदेसु त्रिष्वपि भवन्ति।' वे कहते हैं जहां तक अनिवृत्तिबादर गुणस्थान है वहां तक सभी मिथ्यादृष्ट्यादि गुणस्थान तीनों ही वेदों में होते हैं। इसपर उनने स्वयं शंका उठाकर समाधान भी किया है। यथा—

त्रिष्वपि वेदेषु बादरकषायं यावद्भवन्तीत्युक्त आह ते हि किं द्रव्यवेदेषु उताहो भाववेदेषु? यदि द्रव्यवेदेषु तदानी प्रत्यक्षविरोधः तदुपरितनेष्वपि तद्दर्शनात्। अथ चेद् भाववेदेषु तत्कथं वेदोदये सत्यपि तेषां चरणमिति। अत्रोच्यते—

द्रव्यवेदोदयस्तावदत्र नैवाहतो मया।
भाववेदोदये न मग्रहणमत्र (णंतु) यथा भवेत् ॥१॥
सवघातिकषायाणां क्षयोपशमसंभवं।
भाववेदोदयो नैतद् हन्ति यस्मात्स देशहा ॥२॥
हन्त्येव नहुला यद्वत सवायुरनलस्मृणां।
देशहा केवलस्तस्य स्वोदयप्रकीर्तितः ॥३॥

पंचसंग्रह पत्र १२ A

आशय यह है कि तीनों ही वेदों में बादरकषाय तक के नौ गुणस्थान होते हैं इस प्रकार कहे जाने पर कोई कहता है—क्या वे द्रव्यवेदों में हैं या भाववेदों में? यदि द्रव्यवेदों में हैं तो यह प्रत्यक्ष विरोध है, क्योंकि बादरकषाय के ऊपर के गुणस्थानों में भी द्रव्यवेद देखे जाते हैं। यदि भाववेदों में हैं तो वेदों का उदय होते हुए भी उनके अर्थात् उन गुणस्थान वालों के चारित्र कैसे होगा इस शंका का परिहार करते हैं—मैंने यहां द्रव्यवेद नहीं अंगीकार किया है किन्तु भाववेद अंगीकार किया है। भाववेद

का उदय रहते हुए जिस तरह चारित्र होता है उसे हम कहते हैं। सर्वघाति कषायों के क्षयोपशम से चारित्र उत्पन्न होता है उसको भाववेद का उदय घातता नहीं है क्योंकि वह वेदोदय देशघाती है, इस लिये जिस तरह वायु सहित अग्नि तृण को जलाती है उसी तरह कषायों का बल पाकर तो वह चारित्र का घात करता ही है। किन्तु उसका केवल अपना उदय देशघाती कहा गया है। इत्यादि। इससे निश्चित होता है कि वेदों में तो नौ तक के गुणस्थान भाववेद की अपेक्षा लेकर कहे गये हैं।

आगे आप इस विषय का समाधान करने वाले आचार्यों के उस समाधान पर असन्तोष जाहिर करते हैं—

२—"पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि टीका और नेमिचन्द्रकृत गोम्मटसार ग्रन्थ में भी तीनों वेदों में चौदहों गुणस्थान की प्राप्ति स्वीकार की गई है। किन्तु इन ग्रन्थों में संकेत यह किया गया है कि यह बात केवल भाववेद की अपेक्षा से घटित होती है। इसका पूर्ण स्पष्टीकरण अमितगति वा गोम्मटसार के टीकाकारों ने यह किया है कि तीनों भाववेदों का तीनों द्रव्यवेदों के साथ पृथक् पृथक् संयोग हो सकता है जिससे नौ प्रकार के प्राणी होते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य द्रव्य से पुरुष होता है वही तीनों वेदों में से किसी भी वेद के साथ क्षपक श्रेणी चढ़ सकता है। ३—किन्तु यह व्याख्यान सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि।"

आचार्यों ने द्रव्य-भाव की उलझन को सुलझाया है उससे स्त्रीमुक्ति चहीता महोदय को सन्तोष नहीं है। जिस 'षट्खण्डागम' के ऊपर से यह नई उछल-कूद मचाई गई है औरों को जाने दीजिये उस से ही यह साबित हो जाता है कि वेदोंमें चौदह या नौ गुणस्थान भाववेद की अपेक्षा से हैं। जिसका बहुत स्पष्टीकरण ऊपर हो चुका है और भी आगे प्रकरणानुसार हो जायगा। तथा एक एक द्रव्यवेद में तीन तीन भाववेद हैं यह भी षट्खण्डागममें से ही साबित हो जाता है। सब कर्म ग्रंथों का प्राणाधार 'षट्खण्डागम' ही है उसी के अनुसार आचार्यों ने उस गुत्थी को सुलझाया है। यह हम आगे बतावेंगे।

पूज्यपाद जैसे प्रखर प्रकाण्ड विद्वान और निरीह आचार्यों का व्याख्यान आपके लिये सन्तोषजनक नहीं है। नमक के पहाड़ पर रहने वाली चींटी मिश्री के पहाड़ पर चली जाय तो भी मुंह में नमक की डली लगी रहने के कारण उसे मिश्री मीठी नहीं लगती है। प्रोफेसर महोदय के चित्त में भी तो येन केन प्रकारेण स्त्रीमुक्ति समाई हुई है अब वे षट्खण्डागम तक पहुंच गये तो क्या हुआ, स्त्रीमुक्ति की बू थोड़ी ही चली गई है। और तो हुआ सो हुआ साथ में 'षट्खण्डागम' को भी घसीट कर जनता को उसके नाम से पथ-भ्रष्ट करने का नतीजा ढूंढ निकाला है। अस्तु, आगम से वे स्त्रीमुक्ति न सिद्ध कर सके हैं और न कर ही सकेंगे। अतः आगम को झूठा साबित करने के लिये तर्क का सहारा लेते हैं। यथा—

१—"सूत्रों में जो योनिनी शब्द का उपयोग किया है वह द्रव्यस्त्री को छोड़ अन्यत्र घटित ही नहीं हो सकता।" यह है स्त्रीमुक्ति सिद्ध करने के लिये पहला तर्क। परन्तु जो सूत्र प्रमाण में दिये गये हैं उनमें या षट्खण्डागम के और सूत्रों में यदि मनुष्य स्त्री के लिये योनिनी शब्द न आया हो तो मानुषी आदि शब्दों को द्रव्यस्त्री को छोड़ अन्यत्र

भावमानुषी या भावस्त्रीवेद में घटित होता मानेंगे या नहीं। हम दावे के साथ कहते हैं प्रोफेसर महोदय सूत्रों में योनिनी शब्द का प्रयोग स्वप्न में भी नहीं बतला सकेंगे। प्रथम आप अपने द्वारा प्रमाण में पेश किये गये सूत्रों को ही लीजिये—

सम्मामिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

—सत्प्ररूपणा

इस सूत्र में योनिनी शब्द का नाम निशान भी नहीं है। इसमें ऊपर के नं० ९२ सूत्र में 'मणुसिणीसु' शब्द है उसकी अनुवृत्ति नं० ९३ में आती है। इस मनुषिणी शब्द को यदि आप द्रव्यस्त्री मानें तो बड़ी खुशी की बात होगी, क्योंकि यहां मनुषिणी के पांच ही गुणस्थान कहे हैं। पांच गुणस्थान वाली मनुषिणी द्रव्यस्त्री होती है। यह पांच गुणस्थानों के होने से तो कहीं मुक्ति चली ही नहीं जायगी। टिप्पणी में दिये गये 'संजद' शब्द का सहारा यदि लेंगे तो भी भावमानुषी ही सिद्ध होगी न कि आप की योनिनी। दोनों सूत्रों का भाव ऊपर दिया जा चुका है।

मणुसिणीसु सासणसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलित्ति दव्वपमाणेण केवडिया? संखेज्जा ॥४९॥ —द्रव्यप्रमाणानुगम

यहां यह पूछा गया है कि मनुषिणियों में सासादन सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगि केवली तक द्रव्यप्रमाण में कितने जीव हैं उत्तर देते हैं संख्यात हैं। इस सूत्र में भी योनिनी नदारत है। मनुषिणी है। पर वह भावमनुषिणी है, द्रव्यमनुषिणी नहीं। इसमें ऊपर के नं० ४८ में भी मणुसिणी शब्द ही है।

मणुसगदीए मणुस-मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगकेवली केवडि खेत्ते? लोगस्स असंखेज्जदिभागे ॥११॥

—क्षेत्रानुगम

गणधरदेव वीर भगवान से पूछते हैं भगवन्! मनुष्यगति में सामान्यमनुष्य, पर्याप्तमनुष्य और मानुषीमनुष्य में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोग केवलि तक के कितने क्षेत्र में निवास कर रहे हैं, भगवान उत्तर देते हैं—

हे गौतम! लोक के असंख्यातवें भाग में निवास करते हैं। इस सूत्र में भी योनिनी लापता है मनुषिणी है वह भी द्रव्य से तो मनुष्य है और भावों से मानुषी है। स्वयं प्रोफेसर जी भी तो मानुषियों को द्रव्यस्त्री नहीं कह रहे हैं। वे कह रहे हैं योनिनियों को।

मणुसगदीए मणुस-मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु मिच्छादिट्ठीहि केवडियं खेत्तं पोसिदं लोगस्स असंखेज्जदिभागो ॥३४॥ सव्वलोगो वा ॥३५॥

—स्पर्शानुगम

यहां पर भी यह पूछा गया है कि मनुष्यगति में मनुष्यसामान्य, मनुष्यपर्याप्त और मनुष्यनियों में मिथ्यादृष्टि जीवों ने कितने क्षेत्र का स्पर्श किया है? उत्तर दिया गया है कि लोक का असंख्यातवां भाग या सब लोक स्पर्श किया है। आगे के नं० ३६-३७ में सासादन सम्यग्दृष्टियों के सम्बन्ध में और ३८ में सम्यग्मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगि केवली तक के जीवों के स्पर्शक्षेत्र के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर है। नं० ३४ में मनुषिणी शब्द आया है, 'योनिनी' शब्द तो गधे के सिर सींगों की तरह उड़ा हुआ है। यहांपर भी मनुषिणी शब्द भावमनुषिणी का द्योतक है।

मणुसगदीए मणुस-मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु

मिच्छादिट्ठी केवचिरं कालादो होंति ? णाणा जीवं पडुच्च सव्वद्धा ॥६८॥

—कालानुगम

प्रश्नोत्तर इस प्रकार है कि मनुष्यगति में मनुष्य मनुष्यपर्याप्त और मनुषिणियों में मिथ्यादृष्टि कितने काल तक पाये जाते हैं ? नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल में पाये जाते हैं। आगे ८७ तक के सूत्रों में नाना जीव, एक जीवको लेकर अयोगिकेवलि तक ऐसे ही प्रश्नोत्तर हैं। इन सूत्रों में भी मनुषिणी पद है, योनिनी तो कहीं हवा तक नहीं है।

आगे सूत्र नं० ५७ से ७७ तक इक्कीस सूत्रों में मनुष्य, मनुष्यपर्याप्त और मनुषिणी में नाना जीव जीव और एक जीव को लेकर सब गुणस्थानों का अन्तर बतलाया गया है। उन सूत्रों में से सिर्फ एक ही सूत्र यहां देते हैं। उसी में मनुषिणी शब्द है औरों में तो इसकी अनुवृत्ति गई है।

मणुसगदीए मणुस-मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु मिच्छादिट्ठीणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ? णाणा-जीवं पडुच्च णत्थि अंतरं ॥५७॥ अंतरानुगम मणुसगदीए मणुस-मणुसपज्जत्त-मणुसिणीसु मिच्छादिट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ओघं ॥२२॥

—भावानुगम

आगे अल्पबहुत्वानुगम के सूत्र नं० ५३ से ८० तक सब गुणस्थानों में मनुष्यसामान्य, मनुष्यपर्याप्त और मनुषिणी में अल्पबहुत्व कहा गया है। नं० ५३ का सूत्र देते हैं।

मणुसगदीए मणुस-मणुसपज्जत्त मणुसिणीसु तिसु अद्धासु उवसमा पवेसणेण तुल्ला थोवा ॥५३॥

अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम के इन उक्त सूत्रों में मणुसिणी शब्द है।

ऊपर बताए हुए सब सूत्रों में मणुसिणी शब्द ही आया है योनिनी का नाम निशान भी नहीं है।

ऊपर नं० १०२ सूत्र दिया गया है, जो सत्प्ररूपणा का है उसमें इत्थिवेद पद है। द्रव्यप्रमाणानुगम के १२४ वें सूत्र में, क्षेत्रानुगम के सूत्र ४३ में, स्पर्शनानुगम के १०२ वें सूत्र में, कालानुगम के २२७ वें सूत्र में, अन्तरानुगम के १७८ वें सूत्र में, भावानुगम के ४१ वें सूत्र में और अल्पबहुत्वानुगम के १४४ वें सूत्र में 'इत्थिवेदा' पद है। 'योनिनी' शब्द तो इसमें भी नहीं है। यह कहा जा चुका है कि वेदों का कथन भावापेक्ष ही है। इस लिये नौ गुणस्थानों में भावस्त्रीवेद वाले जीवों की सत्ता, संख्या क्षेत्र, स्पर्शन काल, अन्तर और अल्पबहुत्व कहा गया है। खयाल रहे स्त्रीवेद सामान्य में तिर्यंच मनुष्य और देव इन तीन गतियों के स्त्रीवेदी जीव सामिल हैं। केवल मनुष्यगति के स्त्रीवेदी ही नहीं हैं। हां, चौथे गुणस्थान तक इन तीन गति वाले स्त्रीवेदी, पांचवें में तिर्यंच और मनुष्यगति वाले स्त्रीवेदी हैं ऊपर ६-६ तक मनुष्यगति के स्त्रीवेदी हैं। यह विभाग स्वीकार न किया जायगा तो देवगति और तिर्यंचगति के स्त्रीवेद वालों के नौ गुणस्थान मानने पड़ेंगे।

षट्खण्डागम के उक्त सूत्रों में तथा उसके अन्य सूत्रों में भी योनिनीशब्द इस तरह उड़ा हुआ है जिस तरह मेंढक के सिर पर से चोटी। अतएव 'सूत्रों में जो योनिनी शब्द का उपयोग किया गया है वह द्रव्यस्त्री को छोड़ अन्यत्र घटित ही नहीं हो सकता' यह लिखना कितना भद्दा और अविचारितरम्य है।

सम्भवतः स्त्रीमुक्ति के प्रतिपादक भूल पर भूल कर रहे हैं, नहीं तो षट्खण्डागम के इन्हीं सूत्रों पर

से मानुषियों की तरह तिरश्चियों और देवियों को भी मुक्ति पहुंचा सकते हैं। कैसे ? सुनिये—जहां षट्खण्डागम के मूल सूत्रों में वेदापेक्ष कथन है वहां 'इत्थिवेद' पद का उपयोग किया गया है और उस स्त्री वेद की सत्ता और उदय को लेकर नौ गुणस्थान कहे हैं। 'इत्थिवेद' यह सामान्य पद है, सामान्य में सभी अन्तर्भूत हैं इस लिये जिस तरह मनुष्य स्त्रियां इस में गर्भित हैं। उसी तरह तिरश्चियां और देवांगना भी गर्भित हैं, इस तरह स्त्रीवेद के नाते नौवें क्षपक तक के गुणस्थान हो सकते हैं। क्षपक श्रेणि वाले नीचे गिरते नहीं, क्रमशः ऊपर के गुणस्थानों में ही आरोहण करते हैं। ये सब भी चौदहवें तक पहुंचेंगी, वहां वे अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पांच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण काल तक रहकर आगे एक ही समय में सात रज्जू ऊंचे लोक के अग्रभाग में जा प्रविष्ट होंगी। यही गति पुरुषवेद की अपेक्षा तिर्यंच और देव पुरुषवेदियों की होगी। नपुंसक भी नपुंसकवेद के नाते पीछे न रहेंगे। तथा च कोई भी जीव मुक्ति जाने से वंचित न रहेगा। षट्खण्डागम के उक्त सूत्रों में गतिभेद और द्रव्यभाव भेद न कर सामान्यतः स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद में मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर अनिवृत्तिकरण तक के सभी जीव कहे गये हैं। यदि कहा जाय कि नारक और देवों में चार चार गुणस्थान और तिर्यंचों में एक और पांच गुणस्थान कहे गये हैं इस लिये सामान्य में अन्तर्गत होते हुए भी वे नहीं लिये जा सकते तो फिर द्रव्यस्त्रियों में भी पांच गुणस्थान कहे गये हैं, नौवें अनिवृत्तिकरण तक उन्हें क्यों लिया जाता है, जब कि वेद का कथन केवल भाव से सम्बन्ध रखता है। अस्तु, योनिनी शब्द का प्रयोग न तो जीवट्ठाण के किसी भी सूत्र में हुआ है और न क्षुल्लक बन्ध, बन्धस्वामित्व आदि अवशेष खण्डों में ही हुआ है। षट्खण्डागम में सर्वत्र मनुषिणी शब्द का ही प्रयोग देखा जाता है।

हां, अन्य ग्रन्थों की टीकाओं में योनिनी या योनिमती, मानुषी या मनुषिणी आदि शब्द परस्पर एक दूसरे के बदले में प्रयुक्त देखे जाते हैं। जो कहीं द्रव्यस्त्री के और कहीं भावस्त्री के बदले में प्रयुक्त हुए हैं। यह बात प्रकरणानुसार जान ली जाती है। यथा—

पज्जत्तमणुस्साणं तिचउत्थो
माणुसीण परिमाणं।

—जीवकांड

यह नं० १५८ की गाथा का पूर्वांश है। इसमें आये हुये 'माणुसीण' शब्द का अर्थ केशववर्णी की कनड़ टीका के अनुसार संस्कृत टीकाकार नेमिचंद्र 'द्रव्यस्त्रीणां' और केशववर्णी के गुरु अभयचन्द्र सैद्धांती 'द्रव्यमनुष्यस्त्रीणां' ऐसा करते हैं।

तिगुणा सत्तगुणा वा,
सव्वट्ठा माणुसीपमाणादो ॥१६२॥

—जीवकांड

इस गाथा की टीका में 'मानुषी' शब्द का अर्थ मनुष्यस्त्री किया गया है। यह मनुष्यस्त्री या मानुषी द्रव्यस्त्री है। क्योंकि सर्वार्थसिद्धि के देवों की संख्या द्रव्यमनुष्यस्त्री की संख्या से तिगुणी अथवा सात गुणी है।

मूलोघं मणुसतिए मणुसिणि-
अयदम्हि पज्जत्तो।

—जीवकांड

इस गाथा में आये हुए मनुषिणी शब्द का अर्थ योनिमती किया है। यथा—'योनिमदसंयते पर्याप्तालाप एव' योनिमत् असंयत में एक पर्याप्तालाप ही होता है। यहां योनिमत का अर्थ द्रव्यमानुषी और भाव मानुषी दोनों हैं। तथा इसी गाथा की टीका में 'असंयतमनुष्यां प्रथमोपशम-वेदक-क्षायिकसम्यक्त्वत्रयं च संभवति तथापि एको भुज्यमानपर्याप्तालाप एव। योनिमतीनां पंचम गुणस्थानादुपरि गमनासंभवात् द्वितीयोपशम-सम्यक्त्वं नास्ति।' अर्थात असंयतमानुषी में प्रथमोपशमसम्यक्त्व, वेदकसम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व ये तीनों सम्यक्त्व सम्भवते हैं तो भी उनमें एक भुज्यमान पर्याप्तालाप ही होता है। योनिमतियों का पंचम गुणस्थान से ऊपर गमन असम्भव है इस लिये उनमें द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं है। यहां असंयतमानुषी शब्द भावस्त्री का वाचक है। क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व भावस्त्रियों में होता है द्रव्यस्त्रियों में नहीं होता। इसका कारण यह कि दर्शनमोहनीय कर्म की क्षपणा का प्रारम्भ कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ द्रव्यमनुष्य ही केवली श्रुतकेवली के पादमूल में करता है। वह मनुष्य भावपुरुषवेदी और भावस्त्रीवेदी दोनों तरह का होता है। द्रव्यस्त्रियों के दर्शनमोहनीय का क्षय नहीं होता चाहे वे कर्मभूमि में उत्पन्न हुई हों और केवली श्रुतकेवली के पादमूलमें ही क्यों न हों। टीकोक्त योनिमती शब्द द्रव्यस्त्री का वाचक है, क्योंकि पंचम गुणस्थान से ऊपर गमन न होने से द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उनमें नहीं होता है। द्रव्यपुरुष भावस्त्रियों में तो होता है वे उपशम श्रेणि भी चढ़ती हैं। क्योंकि द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उपशमश्रेणि में ही होता है।

योनिमती या योनिनी शब्द द्रव्यस्त्रियों के लिये आया हो यह बात नहीं है। वह भावस्त्रियों के बदले में भी आता है। यथा—'योनिमन्मनुष्ये तु क्षपकश्रेण्यां न तीर्थं तीर्थसत्ववतोऽप्रमत्तादुपरि स्त्रीवेदित्वासंभवात्।' अर्थात योनिमन्मनुष्य यानी द्रव्यपुरुष भावस्त्री में क्षपकश्रेणि में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता नहीं है क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता रखने वाला जीव अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान से ऊपर स्त्रीवेदी नहीं होता। यहां पर योनिमन्मनुष्य का अर्थ भावस्त्री है। इतने विवेचन से यह निश्चित होता है कि सूत्रों में मानुषी या मनुषिणी को छोड़ योनिमती या योनिनी का प्रयोग नहीं है। टीका ग्रन्थों में अवश्य है परन्तु वहां वह कहीं द्रव्यस्त्री और कहीं भावस्त्री और कहीं दोनों के बदले प्रयुक्त हुआ है, न कि केवल द्रव्यस्त्री के बदले। गोम्मटसार मूल में भी मानुषी या मनुषिणी शब्द का ही प्रयोग देखा जाता है, योनिनी शब्द तो वहां भी मूल में नहीं है।

२—"जहां वेदमात्र की विवक्षा से कथन किया गया है वहां ८ वें गुणस्थान तक का ही कथन किया गया है, क्योंकि उससे ऊपर वेद रहता ही नहीं है।" यह है स्त्रियों को मुक्ति पहुंचाने के लिये दूसरा तर्क। ८ वें से ऊपर द्रव्यवेद नहीं रहता या भाववेद। द्रव्यवेद नहीं रहता तो क्या ८ वें से ऊपर योनि-मेहनादि उड़ जाते हैं? यदि भाववेद नहीं रहता तो सिद्ध होता है कि नौवें के सवेदभाग तक भाववेद रहता है। उसके अवेदभाग से लेकर चौदहवें तक कोई भी भाववेद नहीं रहता। 'तेण परमवगदवेदा चेदि।' इस सूत्र का भी यही अर्थ है कि नौवसे ऊपर

अपगत वेद या भाव वेदोदय से रहित होते हैं वे हैं द्रव्यपुरुष। 'वेद गति-कषाय-लिंग-मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः' इस सूत्रानुसार वेद एक औदयिकभाव है। तथा—

जो सो विवागपच्चइयो जीवभावबंधो णाम तत्थ इमो णिद्देसो सो देवेत्ति वा मणुस्सेत्ति वा तिरिक्खेत्ति वा णेरइएत्ति वा इत्थिवेदेत्ति वा, पुरिसवेदेत्ति वा णउंसयवेदेत्ति वा कोहवेदेत्ति वा माणवेदेत्ति वा मायवेदे त्ति वा लोभवेदे त्ति वा रागवेदे त्ति वा दोसवेदे त्ति वा मोहवेदे त्ति वा, किण्हलेस्से त्ति वा णीललेस्से त्ति वा काउलेस्से त्ति वा तेउलेस्से त्ति वा पम्मलेस्से त्ति वा सुक्कलेस्से त्ति वा असंजदे त्ति वा (असिद्धे त्ति वा) अविरदेत्ति वा अण्णाणे त्ति वा मिच्छादिट्ठि त्ति वा जे चामण्णे एवमादिया कम्मोदयपच्चइया उदयविवागणिप्पण्णा भावा सो सव्वो विवागपच्चइयो जीवभावबंधो णाम।

—वर्गणा खंड पृ० १५६४

इस सूत्र के अनुसार भी वेद औदयिकभाव है। तथा—

वेदाणुवादेण इत्थिवेदो पुरिसवेदो णउंसयवेदो णाम कथं भवदि? चरित्तमोहणीयस्स उदएण।

—खुद्दाबंध

पहले सूत्र में प्रश्न किया गया है कि स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद कैसे होता है? दूसरे सूत्र में उत्तर दिया गया है कि चारित्र मोहनीय के उदय से होता है। इसी तरह—

अवगदवेदो णाम कथं भवदि? उवसमियाए लद्धीए खइयाए लद्धीए वा। —खुद्दाबंध

अपगतवेद कैसे होता है? उत्तर—औपशमिक लब्धि से अथवा क्षायिक लब्धि से होता है। यहां भाववेद न मानकर यदि द्रव्यवेद माना जायगा तो क्या द्रव्यवेद से अपगत माना जायगा? इन उद्धरणों से विदित होता है कि वेद औदयिकभाव है। वेद कर्म के उदय से वेदभाव होता है। वेदकर्म जीव विपाकी कर्म है, उसका फल जीव में होता है। द्रव्यवेद जीवविपाकी नहीं है उसका फल पुद्गल अर्थात् शरीर में है। शरीर नाश के साथ योनि मेहनादि द्रव्यलिंग का नाश है, शरीर चौदहवें तक नष्ट नहीं होता इस लिये द्रव्यवेद भी चौदहवें तक नष्ट नहीं होता। इस लिये कहना चाहिये कि वेदों में नौवें तक के गुणस्थान, उनमें संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व ये सब भाववेद की अपेक्षा से कहे गये हैं। नौवें तक के गुणस्थान वेदमात्र की अपेक्षा से नहीं किन्तु भाववेदमात्र की अपेक्षा से कहे गये हैं। इस लिये यह तर्क भी द्रव्यस्त्रियों को मुक्ति भेजने में समर्थ नहीं है। यद्यपि यह तर्क कोई महत्वपूर्ण तो है नहीं। लेखक महोदय को इसमें क्या अभीष्ट है यह उनने स्पष्ट किया नहीं। वेद के साथ सिर्फ मात्रपद जुड़ा हुआ है, इसी में कोई करामात हो सकती है। वह या तो सामान्य रूप में हो या यह हो कि भाववेद तो ऊपर होते नहीं हैं, जो चौदह गुणस्थान कहे हैं वे द्रव्यवेद में घटित होते हैं। इस लिये द्रव्य स्त्री-नपुंसक चौदहवें तक पाये जाते हैं। किन्तु इसका उत्तर भी आगे-पीछे के प्रकरण में से हो जाता है।

२—"यह तर्क बहुत बड़ा है, उत्तर भी इसका बड़ा ही होना चाहिये। इसका पहला वाक्य है—

'कर्म सिद्धांत के अनुसार वेद-वैषम्य नहीं हो सकता' यह कौन सा कर्मसिद्धांत है जिसके अनुसार द्रव्यस्त्री के भावपुरुषवेद और भावनपुंसकवेद, द्रव्यपुरुषके भावस्त्रीवेद और भावनपुंसकवेद तथा द्रव्यनपुंसकके भावस्त्री और भावपुरुषवेद नहीं हो सकते ? दिगम्बर जैनाचार्य प्रणीत कर्मसिद्धान्त में तो वेदों में साम्य और वैषम्य दोनों हैं। इतना ही नहीं, स्त्री-मुक्ति के समर्थक सम्प्रदाय के ग्रन्थोंमें भी साम्य और वैषम्य दोनों मिलेंगे। गोम्मटसार, सं-पंचसंग्रह, प्रा०-पंचसंग्रह, धवल, जयधवल, कसायपाहुड, षट्खण्डागम आदि सब कर्मसिद्धान्त ही तो हैं। यह तीसरा कर्मसिद्धान्त और कोई होगा, शायद यही हो जो वेद-वैषम्य नहीं चाहता है। खैर, देखिये—दि० जैन कर्मसिद्धान्त का क्या अभिमत है।

पुरिसित्थिसंढवेदोदयेण पुरिसित्थिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा ॥२७१॥
—गो० जीवकांड नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्री

पुरुष, स्त्री और नपुंसकवेद कर्म के उदय से भावपुरुष, भावस्त्री और भावनपुंसकवेद वाला जीव होता है और नामकर्म अर्थात् निर्माण नामकर्म के उदय से युक्त अंगोपांग नामकर्म के विशेष उदय से द्रव्यपुरुष, द्रव्यस्त्री और द्रव्यनपुंसक होता है। ये द्रव्यभाववेद प्रायः अधिकतर सम होते हैं जो द्रव्य वेद वही भाववेद। किन्तु कहीं विषम भी होते हैं। देव, नारक तथा भोगभूमि के तिर्यंचों और मनुष्योंमें जैसा द्रव्यवेद होता है वैसा ही भाववेद होता है किन्तु कर्मभूमि और उससे सम्बन्धित क्षेत्रों में विषम-विसदृश भी होते हैं। द्रव्यपुरुष में भावस्त्रीवेद और भावनपुंसकवेद, द्रव्यस्त्रीवेदमें भावपुरुषवेद और भावनपुंसकवेद तथा द्रव्यनपुंसक में भावस्त्रीवेद और भावपुरुषवेद भी सम्भवता है।

देखो टीकाएं—

वेदकर्मोदयोत्पन्नो भाववेदस्त्रिधा स्मृतः।
नामकर्मोदयोत्पन्नो द्रव्यवेदोऽपि च त्रिधा ॥१८७
जीवस्यभावसम्मोहो भाववेदोऽभिधीयते।
योनिलिंगादिको दक्षैद्रव्यवेदः शरीरिणाम ॥१८८
स्त्री-पुं-नपुंसका जीवाः सदृशा द्रव्यभावतः।
जायन्ते विसदृक्षाश्च कर्मपाकनियंत्रिताः ॥१८९
—सं० पंचसंग्रह-अमितगतिः

आशय—वेदकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ भाव वेद तीन प्रकार है और नामकर्म के उदय से उत्पन्न द्रव्यवेद भी तीन प्रकार है। जीव के स्वभाव का जो संमोह है वह भाववेद कहा गया है और प्राणियों के योनि लिंग आदि को दक्ष पुरुषों ने द्रव्यवेद कहा है। स्त्री, पुरुष और नपुंसक जीव द्रव्य और भाव से सदृश-समान-सम होते हैं और कर्म के उदय से नियन्त्रित वे जीव द्रव्यभावमें विसदृश भी होते हैं।

उदयादो णोकसायाण भाववेदो य जंतूणं।
जोणीय लिंगमाई णामोदयदव्ववेदो दु ॥१०३॥
इत्थी-पुरिस-णवुंसयवेया खलु दव्वभावदो होंति।
ते चेव य विवरीया हवंति सव्वे जहाकमसो ॥१०४॥
प्रा० पंचसंग्रह यतिवृषभाचार्यः

स्त्री, पुरुष और नपुंसक इन तीन नोकषायों के उदय से जन्तुओं के भाववेद होता है और नामकर्म के उदय से योनिलिंग आदि द्रव्यवेद होता है। स्त्री पुरुष और नपुंसक द्रव्य और भाव से समान होते हैं किन्तु वे ही वेद द्रव्य और भाव से विपरीत-असमान-विषम भी होते हैं।

उक्त तीन कर्मसिद्धान्तों से वेदों में साम्य और वैषम्य, एक एक द्रव्यवेद में तीन तीन भाववेद तथा

द्रव्य-भाववेदों की उत्पत्ति के कारण आदि सब सिद्ध हैं।

जेसिं भावो इत्थिवेदो दव्वं, पुण पुरिसवेदो ते वि जीवा संजमं पडिवज्जंति, दव्विथिवेदा संजमं, ण पडिवज्जंति सचेलत्तादो। भावित्थिवेदाणं दव्वेण पुंवेदाणं पि संजदाणं णाहाररिद्धी समुप्पज्जदि, दव्वभावेण पुरिसवेदाणमेव समुप्पज्जदि ॥

—धवलसिद्धान्ते वीरसेनस्वामिनः।

जिनका भाव स्त्रीवेद है और द्रव्य पुरुषवेद है वे भी जीव संयम को प्राप्त होते हैं, द्रव्यस्त्रीवेद वाले जीव संयम को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि वे सवस्त्र होते हैं। भाव में स्त्रीवेद वाले, द्रव्य से पुरुषवेद वाले भी संयतों के आहार ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती है किन्तु जो द्रव्यभाव दोनों में पुरुषवेद वाले हैं उन्हीं संयतों-मुनियों के आहार ऋद्धि उत्पन्न होती है।

इस उद्धरण में द्रव्यपुरुष सम-विषम वेद वाला कहा गया है। संयमी तो विषमवेद वाला द्रव्य-पुरुष हो जाता है किन्तु उसके आहार ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती यह है वेद के वैषम्य का प्रभाव, किन्तु द्रव्य में और भाव में पुरुषवेद वाले के ही आहार ऋद्धि उत्पन्न होती है यह वेद की समानता का प्रभाव है।

इत्थिपुरिसणवुंसयवेदाणमण्णदरो वेदपरिणामो एदस्स होइ। तिण्हं पि तेसिमुदएण सेढिसमारोहणे पडिसेहाभावादो, णवरि दव्वदो पुरिसवेदो चेव खवगसेढिमारोहदि त्ति वत्तव्वं तत्थ पयारांतरा-संभवादो।

—जयधवलसिद्धान्ते जिनसेनार्याः

स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन तीनों में से कोई भी एक वेदपरिणाम इस क्षपक श्रेणि में आरोहण करने वाले के होता है, क्योंकि उन तीनों वेदों के उदय से श्रेणि चढ़ने का निषेध नहीं है, विशेष इतना है कि द्रव्य से पुरुषवेद ही क्षपक श्रेणि में आरोहण करता है ऐसा कहना चाहिये क्योंकि वहां पर प्रकारांतर द्रव्यस्त्रीवेद और द्रव्यनपुंसकवेद असम्भव है।

इस उद्धरण में भी एक द्रव्यपुरुष में तीनों भाववेद कहे गये हैं, इससे वेद की समता-विषमता सुविख्यात होती है। द्रव्यस्त्रीवेद वाले और द्रव्य-नपुंसकवेद वाले जीव श्रेणि नहीं चढ़ते हैं यह निषेध भी सुनिर्णीत होता है।

कसायखवणोवट्ठाणे परिणामो केरिसो हवे।
जोगो कसाय उवजोगो लेस्सा वेदो य कोहवे ॥

यह गाथा कसायपाहुड़ की है और उसका यह नीचे चूर्णि सूत्र है। यदि वेद-वैषम्य न होता तो 'वेदो कोहवे' इसके पूछने की आवश्यकता ही क्या थी।

वेदो को हवे त्ति विहासा, अण्णदरो।

—कषायप्राभृतचूर्णौ यतिवृषभपादाः

क्षपक श्रेणि में आरोहक के वेद कौन सा होता है, यह हुआ प्रश्न, इसका उत्तर देते हैं कोई एक वेद होता है। ऊपर इन्हीं दोनों चूर्णिसूत्रों की टीका दी गई है।

माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव भी इस गाथा में आये हुए 'वेदो को हवे' का अर्थ लिखते हैं "वेदः कीदृशो भवेत् ? भावापेक्षया त्रिष्वेको द्रव्यापेक्षया तु पुंवेद एव"।

—क्षपणासार

अर्थात् कषायों का क्षपण प्रारम्भ करने वाले के वेद कौन सा होता है ? कहते हैं भाव की अपेक्षा से

दोनों में से एक, द्रव्य की अपेक्षा पुंवेद ही अर्थात् द्रव्यपुरुष ही होता है।

अब आइये षट्खण्डागम की ओर, वह क्या कहता है, इस स्वाद को भी चखिये—

सामित्तेण उक्कस्सपदे आउवेयणा,

कालदो उक्कस्सिया कस्स ? ॥१०॥

स्वामित्वानुयोग की अपेक्षा से उत्कृष्टपद में आयु कर्म की वेदना काल से उत्कृष्ट किसके होती है। अर्थात् उत्कृष्ट आयु कौन बांधता है ? यह हुआ प्रश्न, उत्तर देते हैं—

अण्णदरस्स मणुस्सस्स पंचिंदियतिरिक्खजोणीयस्स वा, सण्णिस्स, सम्माइट्ठिस्स वा मिच्छाइट्ठिस्स वा, सव्वाहि पज्जत्तिहि पज्जत्तयदस्स, कम्मभूमिस्स वा कम्मभूमिपडिभागस्स वा, संखेज्जवस्साउअस्स, इत्थिवेदस्स वा पुरिसवेदस्स वा णवुंसयवेदस्स वा, जलचरस्स वा थलचरस्स वा, सागार-जागारतप्पाओग्ग-संकिलिट्ठस्स वा तप्पाओग्ग विसुद्धस्स वा, उक्कस्सियाए आबाधाए जस्स तं देवणिरयाउअं पढमसमए बंधंतस्स आउअवेयणा उक्कस्सा।

—वेयणाखंडे भूतबलिगणधरदेवाः।

भाव– यह कि संज्ञी, सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि, छह पर्याप्तियों से पर्याप्त, कर्मभूमिज अथवा कर्मभूमि प्रतिभाग वाला, संख्यात वर्ष की आयु वाला स्त्रीवेद वाला अथवा पुरुषवेद वाला अथवा नपुंसकवेद वाला, जलचर अथवा स्थलचर, साकार उपयोग वाला, जागृत, उत्कृष्ट आयुयोग्य संक्लेश परिणाम वाला अथवा उत्कृष्ट आयुयोग्य विशुद्ध परिणाम वाला, उत्कृष्ट आबाधा वाला, देवायु और नरकायु को पूर्वकोटि त्रिभाग के प्रथम समय में बांधने वाला ऐसा कोई एक मनुष्य अथवा पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनि जीव के उत्कृष्ट आयुवेदना होती है।

विशेषता यह कि परभव सम्बन्धी सातवें नरक की तेतीस सागर की उत्कृष्ट नरकायु के बांधने वाले तो संक्लेश परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच दोनों हैं और सर्वार्थसिद्धि सम्बन्धी तेतीस सागर की उत्कृष्ट देवायु का बांधने वाला विशुद्ध परिणामी सम्यग्दृष्टि निर्ग्रन्थ मनुष्य है। जलचर तिर्यंच ही होते हैं, मनुष्य नहीं होते। कर्मभूमि प्रतिभाग वाले भी अन्त के आधे द्वीप और स्वयंभूरमण समुद्रवर्ती तिर्यंच होते हैं। शेष विशेषण दोनों के समान हैं। इतना विशेष और समझना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि तिर्यंच भी विशुद्ध परिणामों से अपने योग्य अच्युत स्वर्ग सम्बन्धी देवायु को बांधता है।

इस उत्कृष्ट आयु के बांधने वाले मनुष्य और तिर्यंच कहे गये हैं, दोनों के वेद कहा गया है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। अब विचार यहां पर यह उपस्थित होता है कि नरक की और देवकी उत्कृष्ट तेतीस सागरकी आयु बांधने वाला मनुष्य द्रव्य पुरुष है या द्रव्यस्त्री है। द्रव्यस्त्री तो है नहीं, क्योंकि द्रव्यस्त्रीके छनरकसे नीचे सातवें नरकमें और अच्युत कल्प से ऊपर नवग्रैवेयकादिकोंमें जाती नहीं है। इस लिए इस उत्कृष्ट आयु का बंध करने वाला द्रव्यमनुष्य ही हो सकता है। वह भावों में चाहे स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेदी हो। अन्यथा 'इत्थिवेदस्स वा पुरिस वेदस्स वा नपुंसगवेदस्स वा' इसवेदविधान की कोई आवश्यकता नहीं थी। यदि मनुष्यपद से द्रव्यपुरुष का ग्रहण न किया जायगा द्रव्यस्त्रियां भी ग्रहण की जायेंगी तो इसका अर्थ यह होगा कि द्रव्यस्त्रियां भी सातवें नरक की उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम

नरकायु को बांधती हैं और सातवें नरक जाती हैं। तथा अच्युत से ऊपर नवग्रैवेयक, नवानुदिश, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तरों की उत्कृष्ट देवायु को बांधकर उनमें भी जाती हैं। इससे हानि क्या होगी, जाने दो, नहीं, 'आ पंचमाति सीहा इत्थीओ जंति छट्ठि-पुढवीति* । इस आगम में विरोध आवेगा तथा 'णियमा णिग्गंथलिंगेण+ । इस सूत्र में भी विरोध आवेगा । कारण, नवग्रैवेयकादिकों में उत्पाद निर्ग्रंथता से ही होता है। स्त्रियों में वस्त्रत्याग न होने से निर्ग्रंथता का अभाव है। यदि द्रव्यस्त्रियों के भी वस्त्रत्याग स्वीकार किया जायगा तो 'ण च दव्वित्थिणवुंसयवेदाणं चेलादिचागो अत्थि' इस छेदसूत्र के साथ विरुद्धता आ जायगी। अतः यह निश्चित होता है कि तीनों भाववेदी और द्रव्य-पुरुषवेदी मनुष्य ही उत्कृष्ट नरकायु और देवायु का बन्ध करता है और वही सातवें नरक को और सर्वार्थसिद्धि को जाता है। द्रव्यनपुंसकवेद भी सातवें नरक की उत्कृष्ट आयु बांधता है, यह भी भावों में तीनों वेद वाला है। यह हुई षट्खण्डागम में भी वेद की सम-विषमता।

स्त्रीमुक्ति मानने वाले श्वेताम्बराचार्य चन्द्रर्षि भी अपने पंचसंग्रह की स्वोपज्ञ टीका में यों लिखते हैं। ऊपर दिये गये तीन श्लोकों के अनन्तर—

भाववेद का उदय अनादि है और प्रतिक्षण है, एक द्रव्यवेद के होते हुए भी पर्याय से उसका (भाववेद का) उदय रहता है। क्योंकि उसके असंख्यातभेद हैं जो कि सिद्धांत से सिद्ध हैं, उनमें से कितने ही तो छद्मस्थों के ज्ञान-गोचर हैं। जैसे पित्तादि दोष सब जन्तुओं में पाये जाते हैं परन्तु वे उन जन्तुओं को बाधा नहीं पहुंचाते हैं। अथवा जिस तरह कषायों का मन्दोदय होते हुए उनको कषायव्यपदेश बाधक नहीं है इसी तरह भाववेद का उदय होते हुए भी वेदव्यपदेश बाधाकर नहीं है। द्रव्य में लिंगियों का निर्देश तीन प्रकार है। वस्तुतः सूक्ष्मादि गुणस्थानों में यह भी नहीं है। द्रव्यवेद है तो भी वह भाव का कारण नहीं है वह तो जली हुई रस्सी के आकार बराबर है। इस लिये द्रव्य-वेद यहां पर स्वीकार नहीं किया गया है। इस कारण भाववेद का उदय होते हुए तीनों चारित्र रहते हैं। यथा—

उदयो भाववेदस्य यतोऽनादिः प्रतिक्षणः ।
पर्यायेण तदेकस्मिन् द्रव्यवेदे हि सत्यपि ॥४॥

संख्यातीता हि भेदाः स्युस्तस्य सिद्धान्तसिद्धितः ।
तेषामन्तर्गताः केचिच्छद्मस्थानां प्रतीतिदाः ॥५॥

यथा पित्तादयो दोषाः सर्वजन्तुगता अपि ।
उत्कटत्वविहीनास्तु न भवेयुर्विबाधकाः ॥६॥

कषायस्योदये यद्वद् व्यपदेशो न मन्दके ।
भाववेदोदयेऽप्येवं व्यपदेशो न बाधनं ॥७॥

द्रव्यवेदाच्च निर्देशस्त्रिविधो लिंगिनां भवेत् ।
तत्त्वतो न भवत्येव सूक्ष्मादीनामसावपि ॥८॥

सत्यपि हि द्रव्यवेदे नासौ भावस्य कारणं ।
दग्धरज्जुवदाकारमात्रत्वाद् व्यवहारतः ॥९॥

उच्यते द्रव्यवेदो हि नासावत्रोररीकृतः ।
सति वेदोदये तस्माद्विद्यते चरणत्रयं ॥१०॥

अभिधानराजेन्द्रभाग ६ भी देख लीजिये, जिस

* तिलोयपण्णत्ती ।

\+ मूलाचार पर्याप्त्यधिकार

से रही सही शंका और दूर हो जाय। पृ० नं० १४२५ में लिखा है—

प्रत्येकं त्रिकभंगाः। त्रिविधेऽपि प्रत्येकं त्रिकभंगः कर्तव्यो भवति, कथमिति चेदुच्यते-पुरुषः पुरुषवेदं वेदयति, पुरुषः स्त्रीवेदं, पुरुषो नपुंसकवेदं वेदयति। एवं स्त्रीनपुंसकयोरपि वेदत्रयो मन्तव्यः।

दोनों सम्प्रदायों के आगम वेद-वैषम्य स्वीकार करते हैं, फिर दिगम्बर जैनों के लिये यह खास बात क्यों कही जाती है कि 'कर्मसिद्धान्त के अनुसार वेद-वैषम्य सिद्ध नहीं होता!' जिस तरह स्त्रीमुक्ति न मानने वाली समाज के लिये वेद-वैषम्य सिद्ध न होने का दोषारोपण किया जाता है उस तरह स्त्रीमुक्ति मानने वाली समाज में भी तो कहते कि तुम वेद-वैषम्य मानते हो इस लिये तुम्हारी स्त्रियां भी मुक्ति नहीं जा सकतीं।

यह हुआ प्रतिज्ञावाक्य का सदुत्तर। अब दृष्टांत और हेतु का सदुत्तर सुनिये। स्त्रीमुक्ति के कामी महानुभाव कहते हैं—"जिस इन्द्रिय सम्बन्धी उपांगों की उत्पत्ति का यह नियम बतलाया गया है कि जीव के जिस प्रकार के इन्द्रिय ज्ञान का क्षयोपशम होगा, उसी के अनुकूल वह पुद्गलरचना करके उसको उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति करेगा। चक्षु इन्द्रिय आवरण के क्षयोपशम में कर्ण इन्द्रिय की उत्पत्ति कदापि नहीं होती और न कभी उसके द्वारा रूप का ज्ञान हो सकेगा।" "इसी प्रकार जीव में जिस वेद का बन्ध होगा उसी के अनुसार वह पुद्गल-रचना करेगा और तदनुकूल ही उपांग उत्पन्न होगा। यदि ऐसा न हुआ तो वेद ही उदय में न आ सकेगा, इसी कारण तो जीवन भर वेद बदलता नहीं। यदि किसी भी उपांग सहित कोई भी वेद उदय में आ सकता तो कषायों व अन्य नोकषायों के समान वेद के भी जीवन में बदलने में कौन सी आपत्ति आ सकती है?" जब वेद-वैषम्य कर्मसिद्धांतसे सिद्ध है तब जिस तरह और, इसी तरह यह दृष्टान्त और हेतु आगम से विरुद्ध जा पड़ते हैं, ऐसी हालत में ये कोई अपना खास स्थान नहीं रखते।

वेद-वैषम्य न होने में इन्द्रियों के वैषम्य न होने का जो दृष्टान्त दिया गया है वह ठीक नहीं। क्योंकि चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण और स्पर्शन इन पांच इन्द्रिय ज्ञानावरणों का क्षयोपशम एक जीव में जुदा जुदा है और एक काल में है, इन्द्रियों के उपांग अर्थात निर्वृत्ति और उपकरण नाम की द्रव्येन्द्रियां जुदी जुदी हैं जिनसे इन्द्रियां रूप, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श को विषय करती हैं। अपने अपने उपकरणों से इन्द्रियां अपने अपने विषय को जानती हैं। वेदों में यद्यपि एक जीव में इन्द्रियों के क्षयोपशम की तरह उदय जुदा जुदा है किन्तु पांचों इन्द्रियों का क्षयोपशम जिस तरह एक—कालीन है उस तरह वेदों का उदय एक कालीन नहीं है। तथा जिस तरह इन्द्रियों के उपांग जुदे जुदे हैं उस तरह एक जीव में वेदों के उपांग योनि-मेहन जुदे जुदे नहीं हैं। इस लिये इंद्रियों के अवैषम्य का दृष्टांत वेदों को अवैषम्य सिद्ध करने में लागू नहीं पड़ता।

इंद्रियों के क्षयोपशम के अनुकूल पुद्गल-रचना करके उसको उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति करना यह कहना भी सुन्दर नहीं है। पुद्गल-रचना का कार्य यदि इंद्रियों के उपांग के योग्य कर्म बन्ध है तो क्षयोपशम का कार्य कर्मबन्ध नहीं है,

क्योंकि किसी भी ज्ञान के क्षयोपशम से कर्मबन्ध नहीं होता है। यदि पुद्गल-रचना का अर्थ द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति है तो उसकी रचना तो नाम कर्म के उदयसे मुख्य सम्बन्ध रखती है। क्षयोपशम का कार्य तो सिर्फ द्रव्येन्द्रिय की रचना में व्यापार या सान्निध्य है। तथा पुद्गल-रचना को उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति भी क्षयोपशम का कार्य नहीं है। क्षयोपशम के अनुकूल पुद्गल-रचना और उस पुद्गल-रचना को उदय में लाने के लिये उपांग की प्राप्ति बड़ी विकट समस्या है, एक ही क्षयोपशम से पुद्गल-रचना भी और उसी को उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति भी। इसी तरह वेद का बंध उससे पुद्गल-रचना फिर उसके अनुकूल योनि और लिंग नाम उपांगों की प्राप्ति यह भी बेतुका हिसाब है किसी भी वेद के बन्ध से न पुद्गल-रचना ही होती है और न उपांगों की प्राप्ति ही। वेद के बन्ध से तो जब कभी वह वेद उदय में आवेगा तब ही स्त्री-पुरुषों के साथ रमण की इच्छा होगी। न कि उससे पुद्गल-रचना और उपांगों की प्राप्ति।

'यदि ऐसा न हुआ' अर्थात् वेद के बन्ध के अनुसार पुद्गल-रचना और तदनुकूल उपांग न हुआ तो वेद ही उदय में न आ सकेगा।' यह भी एक टेढ़ी खीर है। वेद को उदय में लाने के लिये पहले पुद्गल-रचना और उपांग की प्राप्ति यदि आवश्यक है तो विग्रह-गति में, शरीरमिश्र काल में, शरीर पर्याप्ति काल में इतना ही नहीं, करीब करीब पांच या छह मास वाले गर्भस्थ बालक के योनि-मेहन नाम के उपांग नहीं हैं तब क्या इन अवस्थाओं में वेद का उदय नहीं है? शास्त्रों में भी देखा है और सुना भी है कि वेद का उदय अनादि है और प्रतिक्षण है, किन्हीं जीवों में अनन्त है यह कैसे बनेगा?

'जीव में जिस वेद का बन्ध होगा' तब क्या एक भव में एक ही वेद का बन्ध होता है? या तीनों वेदों का। यदि किसी एक वेद का ही एक भव में बन्ध होता है तब तो जब कभी वह एक ही एक वेद बन्धेगा, उसका वह बन्ध बदलेगा भी नहीं, हमेशह उसी एक खास वेद का बंध होता रहेगा तदनुसार ही पुद्गल-रचना होगी और उसको उदय में लाने के लिये तदनुकूल ही उपांग उत्पन्न होंगे। ऐसी अवस्था में जो जीव द्रव्यभाव पुरुषवेदी है वह हमेशह भवांतरों में भी द्रव्यभाव पुरुषवेदी ही रहेगा। द्रव्यभाव स्त्रीवेदी और द्रव्यभाव नपुंसकवेदी कभी होगा ही नहीं। इसी तरह जो द्रव्यभाव स्त्रीवेदी और द्रव्यभाव नपुंसकवेदी है वह भी हमेशह भवांतरों में द्रव्यभाव स्त्रीवेदी और द्रव्यभाव नपुंसकवेदी ही बना रहेगा। तो ऐसी हालत में स्त्री कभी पुरुष नहीं होगी। न नपुंसक होगी, और नपुंसक भी कभी स्त्री-पुरुष नहीं होगा। तब तो स्त्री पुरुष मरकर न नरक में जायेंगे और न एकेन्द्रियसे लेकर चौइन्द्रिय तक जीवों में जावेंगे, क्योंकि ये सब शुद्ध नपुंसक हैं। नारक और एकेन्द्रिय आदि जीव न स्त्री-पुरुष रहेंगे। ज्यादह से ज्यादह नारक मर कर एकेन्द्रिय आदि और एकेन्द्रियादि मरकर नारक हो सकेंगे। हां, देव-देवांगना, मनुष्य-स्त्री, तिर्यंच पुरुष-स्त्री ये ही मरकर परस्पर में एक दूसरे में या अपने में उत्पन्न होते रहेंगे। जिस तरह वेद का उदय वैषम्य नहीं हो सकता उसी तरह बन्ध-वैषम्य भी नहीं

हो सकता। न तीनों वेदों का एक जीव में सत्व ही पाया जा सकेगा, बंध बिना सत्व कैसा? यदि बंध-वैषम्य होता है तो उदय-वैषम्य को कौन रोक सकेगा। यदि उपांग है तो उपांग का कार्य उदय-वैषम्य को रोकना नहीं है।

यदि एक भव में एक जीव के तीनों वेदों का बन्ध होता है तो कभी किसी वेद का और कभी किसी वेद का उदय भी एक जीव के एक भव में हो सकेगा यह पक्ष ठीक भी है। क्योंकि मोहनीय की प्रकृतियों का बन्ध और उदय एक जीव में पाया जाता है, अन्तर इतना है कि एक बार में तीनों वेदों में से एक वेद का, हास्य-रति या अरति-शोक इन दो युगलों में से एक युगल का बन्ध होता है। इस हिसाब से मिथ्यात्व गुणस्थान में एक बाईस प्रकृति का स्थान है परन्तु है वह छह तरह का। एक मिथ्यात्व सोलह कषाय, तीन वेदों में से एक पुरुषवेद, हास्य-रति, भय और जुगुप्सा एक स्थान तो यह, दूसरा स्थान हास्य-रति के स्थान में अरति शोक मिलाने से हो जाता है। ये दोनों स्थान ऐसे हैं जिनमें पुरुषवेद ही है। इसी तरह दो स्थान स्त्रीवेद सहित और दो ही नपुंसकवेद सहित एवं छह स्थान मोहनीय के बन्धके मिथ्यात्व गुणस्थान में एक जीव और नाना जीवों के होते हैं।

बावीसमेक्कवीसं सत्तर सत्तार तेर तिसु णवयं।
थूले पणचदुतिय दुगमेक्कं मोहस्स ठाणाणि ॥४६३॥
छब्बावीसे चदु इगिवीसे दो दो हवंति छट्ठो त्ति।
एक्केक्कमदो भंगो बंधट्ठाणेसु मोहस्स ॥४६७॥

—गो० कर्मकांड

इन दोनों गाथाओं में यह कहा गया है कि मिथ्यात्व में २२ का, सासादन में इक्कीस का, तीसरे और चौथे गुणस्थान में सतरह सतरह का, पांचवें में १३ का, प्रमत्त, अप्रमत्त और अपूर्वकरण में नौ नौ का, अनिवृत्ति बादर में ५-४-३-२ और एक का, एवं ५ स्थान मोहनीय कर्म के बन्ध के हैं। उनमें बावीस में छह, इक्कीस में चार, छठे तक अर्थात सतरह और तेरह में दो दो, आगे के स्थानों में एक एक भंग अर्थात भेद होते हैं। सिर्फ मिथ्यात्व गुणस्थान में दृष्टांत के तौर बाईस प्रकृति के छह भेद बना दिये गये। सब के बनाने से लेख का कलेवर बढ़ता है। इस आगम से बंध—वैषम्य सिद्ध होता है। यह बन्ध-वैषम्य धवल से भी अविरुद्ध है जिन्हें देखना हो जीवट्ठाणकी द्वितीय चूलिका में देख लें।

इसी तरह उदय के १०-९-८ और सात ऐसे स्थान मोहनीय के मिथ्यात्व में हैं। मिथ्यात्व, क्रोध ४, पुरुषवेद, हास्य-रति और भय जुगुप्सा इन दश प्रकृतियों का उदय एक जीव में मिथ्यात्व गुणस्थान में पाया जाता है, हास्य-रति के स्थान में अरति-शोक जोड़ देने पर यह दूसरा उदय स्थान हो जाता है, यह एक पुरुषवेद के उदय की अपेक्षा से दो स्थान हैं। इसी तरह स्त्रीवेद और नपुंसकवेद की अपेक्षा से दो दो स्थान होते हैं। एवं छह हुए। ४ क्रोध की जाति को निकाल कर इन छह में चार मान मिला दिये तो छह हुए, चारों मानों को निकाल कर चार माया जाति के मिलाने से छह तथा माया को निकाल कर चार लोभ के मिलाने से छह इस तरह दश प्रकृति के स्थान में २४ भेद हो जाते हैं। तदपि यथा।

दस णव अट्ठ य सत्त य
छप्पणए चत्तारि दोण्णि एक्कं च।

उवयट्ठाणा मोहे

एव चेव य, होंति णियमेण ॥४७५॥

दस-णव-णवादि चउ-तिय-

तिट्ठाण णवट्ठसगसगादि चऊ।

ठाणा छादि तियं च य,

चदुवीसगदा अपुव्वो त्ति ॥४८०॥

इन दोनों गाथाओं का भाव यह है कि मोहनीय कर्म में उदय स्थान नौ ही नियम से होते हैं, वे हैं दस, नौ, आठ सात, छह, पांच, चार, दो और एक प्रकृति युक्त। इनमें से मिथ्यात्व, सासादन और सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में क्रम से दशादि के चार उदयस्थान, नव आदि के तीन उदयस्थान और नव आदि के तीन उदयस्थान हैं, असंयत, देशसंयत, प्रमत्त और अप्रमत्त इन चार गुणस्थानों में नवादि चार, आठ आदि चार, सात आदि चार, और सात आदि चार हैं और अपूर्वकरण में ६-५-४ प्रकृति रूप तीन स्थान हैं। जो अपूर्वकरण नाम के आठ गुणस्थान तक प्रत्येक स्थान चौबीस चौबीस हैं।

यह स्थानों की संख्या वेदों के उदय के बदलनेसे कषायों के उदय के बदलने से, दो युगलों के बदलने से तथा कहीं भय के न होने से, कहीं जुगुप्सा के न होने से, कहीं दोनों के न होने से होते हैं परन्तु सब में वेदों का परिवर्तन अवश्य है। कभी पुरुषवेद के उदय से युक्त, कभी स्त्रीवेद के उदय से युक्त और कभी नपुंसकवेद के उदय से युक्त ये सब स्थान हैं। इस तरह वेदों के बन्ध स्थानों में और वेदों के उदय स्थानों में वेद-वैषम्य पाया जाता है। बन्ध-उदय स्थानों में वेद-वैषम्य उनके यहां भी है जो स्त्री-मुक्ति मानते हैं। यथा—

दुगइगवीसा सत्तर तेरस नव पंच चउर तिग दु एगो।

बंधो इगि दुग चउत्थ य पणउणवमेसु मोहस्स ॥१६

हासरइ-अरइसोगाण बंधया आणवं दुहा सव्वे।

वेयविभज्जंता पुण दुगइगवीसा छहा चउहा ॥२०॥

—पंचसंग्रहे सप्ततिकाधिकारे

इगि दुग चउ एगुत्तर आदसगं उदयमाहु मोहस्स।

संजलणवेयहासरइभयदुगुंछतिकसाय दिट्ठी य ॥२३॥

दुग आइ-दसंतुदया कसायभेयण चउव्विहा तेउ।

बारसहा वेयवसा अदुगा पुण जुगलओ दुगुणा ॥२४

—पंचसंग्रहे

इन गाथाओं का अर्थ ऊपर जैसा ही है। इससे लिखा नहीं है, जिन्हें देखना हो इनकी टीकाएं भी देख सकते हैं।

'इसी कारण तो जीवन भर वेद बदल नहीं सकता' जिस कारण को लेकर यह कहा जाता है परन्तु जब वह कारण ही ठीक नहीं है तब जीवन भर वेद बदल नहीं सकता यह भी ठीक नहीं है, किन्हीं किन्हीं जीवों के यह वेद जीवन भर बदलता ही रहता है। द्रव्यवेद नहीं बदलता परन्तु भाववेद तो बदलता भी है। वेद के न बदलने के कारणों का निराकरण ऊपर किया ही जा चुका है। "यदि किसी भी उपाय सहित कोई भी वेद उदय में आ सकता तो कषायों व अन्य नो कषायों के समान वेद के भी जीवन में बदलने में कौन सी आपत्ति आ सकती है।' हम तो कहते हैं जीवन में कषाय व अन्य नोकषाय भी बदलते हैं और वेद भी बदलते हैं कोई सी भी आपत्ति नहीं है। ऊपर मोहनीय के उदय कूटों से स्पष्ट है कि जीवन में कषाय नोकषाय सब बदलते हैं उनके बदलते हुए उपांग तदवस्थ रहते हैं। क्योंकि ग्रहण की हुई कर्मवर्गणा के उदय से भाववेद होता है और नोकर्मवर्गणामें द्रव्यवेद तैयार होताहै। शरीर

और उपांग आहारक नाम की नोकर्मवर्गणा से बनते हैं उस वक्त यद्यपि नियतवेद और तदनुकूल अंगोपांग नाम कर्म की अवश्य आवश्यकता है परन्तु उस शरीर के बन जाने पर उस अंगोपांग के रहते हुए भाववेद नहीं बदलना चाहिये यह तो कोई नियम नहीं है। द्रव्यवेद अंगोपांग नाम कर्म के उदय से ग्रहण की हुई नोकर्मवर्गणा से बनता है, उसका शरीर से सम्बन्ध है। शरीर यदि बदल जाय तो वह द्रव्यवेद भी बदल जाय, शरीर जब जीवन भर बदलता ही नहीं है तो फिर उसमें बने हुए अंगोपांग कैसे बदल सकते हैं। भाववेद का द्रव्यवेद के साथ ऐसा कोई खास सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि द्रव्यवेद के न होते हुए भी भाववेद का उदय रहता है और द्रव्यवेद के होते हुए भी अपगत-वेद जीव होता है। यदि द्रव्यवेद का और भाववेद का ऐसा बड़ा जटिल सम्बन्ध हो तो जीव अपगतवेद हो ही नहीं सकेगा। अथवा भाववेदों के क्षपण से द्रव्य-वेदका भी क्षपण हो जायगा, पर होता नहीं है इसलिये जानते हैं कि भाववेद के उदय आने में या उसके बदलने में द्रव्य वेद बाधक नहीं है।

यदि यही एकांत आग्रह हो कि जहां द्रव्यवेद वहां भाववेद, जहां भाववेद वहां द्रव्यवेद। अथवा जहां द्रव्यवेद नहीं वहां भाववेद भी नहीं और जहां भाव-वेद नहीं वहां द्रव्यवेद भी नहीं तो नौवें क्षपक के अपगतवेद से लेकर ऊपर गुणस्थानों में द्रव्यवेद है भाववेद भी वहां होना चाहिए, पर है नहीं, अन्यथा वह अपगतवेद नहीं कहा जा सकता। विग्रह गति आदि कालों में भाववेद है वहां द्रव्यवेद नहीं है पर होना चाहिये, नहीं तो जहां भाववेद वहां द्रव्यवेद यह व्याप्ति नहीं बनेगी। इसी तरह जहां भाववेद नहीं वहां द्रव्यवेद भी नहीं यह माना जायगा तो नौवें अपगतवेद क्षपक से लेकर ऊपर के गुणस्थानोंमें भाव वेद नहीं है। इस लिये द्रव्यवेद भी वहां नहीं होना चाहिये तथा जहां द्रव्यवेद नहीं वहां भाववेद भी नहीं यह कहा जाय तो विग्रहगति में द्रव्यवेद नहीं है भाववेद भी नहीं होना चाहिये। द्रव्यवेद और भाववेद के अन्वय-व्यतिरेक दोनों ही अवस्थाओं में दोष पाया जाता है इस लिये द्रव्यवेद का कोई खास अविनाभाव नहीं है।

यदि दोनों का अविनाभाव है तो क्षपक श्रेणि में भाववेदों का क्षय हो जाता है तब द्रव्यवेदों का भी क्षय हो जाना चाहिये। तथा च भाववेद के क्षय-स्थान से लेकर चौदहवें तक द्रव्यवेद के चिन्ह मेहनादि नहीं पाये जाने चाहिएं परन्तु पाये जाते हैं फिर यह अविनाभाव कैसा ?

यदि षट्खण्डागम के उन सूत्रों में द्रव्यमनुष्यिणी और द्रव्यस्त्रीवेद नौवें और चौदहवें तक गया है या मनुष्यिणी शब्द से भावमनुष्यिणी और द्रव्यमनुष्यिणी दोनों या स्त्रीवेद शब्द से भावस्त्री और द्रव्यस्त्री दोनों लिये जाते हैं तो अच्छा बात है, मनुष्यशब्द से द्रव्य-भावमनुष्य और नपुंसक से द्रव्यभावनपुंसक भी लिये जा सकेंगे तो हम पूछते हैं क्षपण द्रव्यवेद का होता है या भाववेद का ? यदि द्रव्यवेद का तो क्या योनि-मेहनादि टूटकर गिर जाते हैं। यदि भाववेद का होता है वह क्यों, क्योंकि सूत्रों में आए हुए शब्दों से जब द्रव्यवेद ही लिया जाता है या द्रव्यभाव दोनों लिये जाते हैं तो फिर दोनों ही का क्षपण होना चाहिये न कि मीठा मीठा गप-गप और कड़ुवा कड़ुवा थू-थू। द्रव्यभाव दोनों वेदों से अप-गतवेद हुआ ही अपगतवेद कहलायेगा, अपगतवेद

का अर्थ भी तो यही है कि वेदों का नाश हो जाना, इस लिये द्रव्यभाव दोनों वेदों का नाश क्षपक श्रेणि में कहना चाहिये। अन्यथा जिस तरह वेदों के क्षपणा स्थान में मनुषिणी स्त्रीवेद आदि शब्दों से द्रव्यवेद नहीं लिया जाता है तो कहना होगा कि मनुषिणी स्त्रीवेद आदि शब्दों का अर्थ द्रव्यमानुषी या द्रव्यस्त्री नहीं है।

थी-पुंरिसोदयचडिदे पुव्वं संढं खवेदि थी अथि।
संढस्सुदए पढमं थीखविदं संढमत्थि त्ति ॥३८८॥
—गो० कर्मकांड

इस गाथा का अर्थ तो यह है कि जो द्रव्यपुरुष स्त्रीवेद और पुरुषवेद के उदय से क्षपक श्रेणि में आरोहण करता है वह पहले नपुंसकवेद का क्षय करता है, स्त्रीवेद की उसके सत्ता रहती है और जो द्रव्यपुरुष नपुंसकवेद के उदय से क्षपक श्रेणि चढ़ता है वह पहले स्त्रीवेद का क्षय करता है उस वक्त उसके नपुंसकवेद की सत्ता रहती है।

परन्तु स्त्री, पुरुष और संढ इन शब्दों का अर्थ यदि द्रव्यस्त्री, द्रव्यपुरुष और द्रव्यनपुंसक यह अर्थ किया जायगा तो गाथा का अर्थ होगा कि जो द्रव्य-स्त्री और द्रव्यपुरुष के उदय से श्रेणि चढ़ता है वह पहले द्रव्यनपुंसक का जो भी उसके चिन्ह हो उसका क्षय करता है और द्रव्यस्त्री अर्थात योनि उसके रहती है और द्रव्यनपुंसक अर्थात उसके चिन्हविशेष के उदय से श्रेणि चढ़ता है वह पहले द्रव्यस्त्री अर्थात योनि को नष्ट करता है उसके द्रव्यनपुंसक का चिन्ह विशेष सत्ता में रहता है। किन्तु यह अर्थ महा-खोटा है।

यदि इन शब्दोंका अर्थ यहां पर द्रव्यवेद नहीं है तो सूत्रोंमें भी जहां नौ और चौदह गुणस्थान कहे गये हैं, वहां भी द्रव्यवेद नहीं है। फिर द्रव्यवेद का अर्थ करने से तो क्षपणा में द्रव्यवेद ही अर्थ करना होगा उस हालत में एक जीव के तीनों द्रव्यवेद सिद्ध हो जावेंगे। तथा च सूखे में गिरने के बजाय गीले में गिरने वाली कहावत चरितार्थ होगी।

अब अन्तिम तर्क पर आइये। कहते हैं—

"नौ प्रकारके जीवोंकी तो संगतिही नहीं बैठती है क्योंकि द्रव्य ये पुरुष और स्त्रीलिंग के सिवाय तीसरा तो कोई प्रकार ही नहीं पाया जाता, जिससे द्रव्य-नपुंसक के तीन अलग भेद बन सकें" यहां तो लेखक महोदय ने पूरा कमाल कर डाला और तो हुआ सो हुआ परन्तु जिस षट्खण्डागम के ऊपर से स्त्रीमुक्ति सिद्ध करना चाहते हैं, उसका भी खण्डन, धन्य है। स्त्री और पुरुष इन दो द्रव्यलिंगों के सिवा तीसरा द्रव्यनपुंसक आपको न मिला। 'नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि' इस सूत्र के अनुसार पहली नरकभूमि से लेकर सातवीं नरक भूमि तक आप चक्कर काट आये, एकेन्द्रिय से चौइंद्रिय तक के शुद्ध नपुंसकों में भी घूम आये, संज्ञि-असंज्ञि तिर्यंच सम्मूर्छनों में भी छान-बीन कर आये, दुनियां भर के हीजड़े भी टटोल लिये, द्रव्यनपुंसक आपको कहीं नहीं मिला। क्यों महोदय!

णवुंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति

इस सत्प्ररूपणा के १०३ में, द्रव्यप्ररूपणा के १२६ में, क्षेत्रप्ररूपणा के ४५ में, स्पर्शन० १११ में, कालानु० २४० में, अन्तरा के २०७ में भावानुगम के ४१ में और अल्प के १०५ सूत्र में तथा अन्य अनेकों के सूत्रोंमें आये हुये णवुंवेदा, णवुंसयवेदेहिं, णवुं-सवेदेसु इत्यादि शब्दों में आगत नपुंसक कौन से नपुंसक हैं। द्रव्य हैं या भाव। द्रव्य तो आप नहीं

मानेंगे इस लिये भावनपुंसक कहने चाहिये परन्तु वेद-वैषम्य भी आप नहीं मानते हैं फिर यह भाववेद स्त्री-पुरुष द्रव्यवेदों को छोड़ क्या आकाशमें लटकता रहता है। यदि स्त्रीमुक्ति की तरह नपुंसकमुक्ति कह डालेंगे तो द्रव्यस्त्रियों की तरह इन सूत्रों से द्रव्य-नपुंसक भी सिद्ध हो जायंगे। और सुनिये—

णेरइया चदुसु ट्ठाणेसु सुद्धा णवुंसयवेदा ॥१०५॥
तिरिक्खा सुद्धा णवुंसगवेदा,
एइंदियप्पहुडि जाव चउरिंदिया त्ति ॥१०६॥

ये कौन से नपुंसक हैं, द्रव्य हैं या भाव हैं या द्रव्य-भाव दोनों हैं? यदि द्रव्यनपुंसक हैं तो भाव नपुंसक भी होंगे। यदि द्रव्यनपुंसक ये नहीं हैं तो द्रव्यस्त्री या द्रव्यपुरुष इन्हें स्वीकार कीजिये अन्यथा द्रव्यनपुंसक सिद्ध हो जायेंगे। यदि भावनपुंसक हैं तो भाव का आधार बताइये कौन से नपुंसक हैं। यदि दोनों हैं तो 'खात् पतिता नो रत्नवृष्टिः' यह तो हमारे लिये आकाश से रत्नों की वृष्टि हुई। कम से कम द्रव्य-भावात्मक नपुंसकवेद का तीसरा प्रकार सिद्ध हो गया। 'तिरिक्खा तिवेदा', मणुस्सा तिवेदा इत्यादि सूत्रों से भावस्त्रीवेद और भावपुरुषवेद भी सिद्ध ही हो जाता है। ऐसी हालत में द्रव्यपुंसकके तीन अलग अलग भेद सिद्ध हो जाते हैं।

पण्डितप्रवर टोडरमल जी लिखते हैं—

पुरुषवेद के उदयतैं स्त्री का अभिलाषरूप मैथुन संज्ञा का धारी जीव सो भाव-पुरुष हो है (१) बहुरि स्त्रीवेद के उदयतैं पुरुष का अभिलाषरूप मैथुन संज्ञा का धारक जीव भावस्त्री हो है (२) बहुरि नपुंसकवेद के उदयतैं पुरुष अर स्त्री दोऊनिका युगपत् अभिलाष रूप मैथुन संज्ञा का धारक जीव सो भावनपुंसक हो है (३)।

बहुरि निर्माण नाम कर्म का उदय पुरुषरूप आकार का विशेष लिये अंगोपांग नामा नामकर्म का उदय तैं मूंछ डाढ़ी, लिंगादि चिन्ह संयुक्त शरीर का धारक जीव सो पर्याय का प्रथम समय तैं लगाय अन्त समय पर्यन्त द्रव्यपुरुष हो है (१)। बहुरि निर्माण नाम का उदय संयुक्त स्त्रीवेदरूप आकार का विशेष लिये अंगोपांग नामा नामकर्म के उदयतैं रोम रहित मुख, स्तन, योनि इत्यादि चिन्ह संयुक्त शरीर का धारक जीव सो पर्याय का प्रथम समय तैं लगाइ अन्त समय पर्यंत द्रव्यस्त्री हो है (२) बहुरि नाम निर्माण का उदय तैं संयुक्त नपुंसक वेदरूप आकार का विशेष लिये अंगोपांग नामा नाम प्रकृति के उदय तैं मूंछ, डाढ़ी इत्यादि व स्तन योनि इत्यादिक दोऊ चिन्ह रहित शरीर का धारक जीव सो पर्याय का प्रथम समय तैं लगाइ अन्त समय पर्यंत द्रव्यनपुंसक हो है (३)। सो प्रायेण करि इहां बहुलता कर तो समान वेद हो है जैसा द्रव्यवेद होइ तैसा ही भाववेद होइ, बहुरि कहीं समानवेद न हो है, द्रव्यवेद अन्य होइ भाववेद अन्य होइ।

—गो० सम्यग्ज्ञानचन्द्रिकायां

पुंवेदोदयेन स्त्रियां अभिलाषरूपमैथुनसंज्ञाक्रान्तो जीवो भावपुरुषो भवति, स्त्रीवेदोदयेन पुरुषाभिलाषरूपमैथुनसंज्ञाक्रान्तो जीवो भावस्त्री भवति, नपुंसकवेदोदयेन उभयाभिलाषरूपमैथुनसंज्ञाक्रान्तो जीवो भावनपुंसकं भवति पुंवेदोदयेन निर्माणकर्मोदययुक्तांगोपांगनामकर्मोदयवशेन श्मश्रु कूर्च-शिश्नादि-लिंगांकितशरीरविशिष्टो जीवो भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यंत द्रव्यपुरुषो भवति।

स्त्रीवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्तांगोपांग-नामकर्मोदयेन निर्लोम-मुख-स्तन-योन्यादि-लिंगल-

।स्त्रशरीर:) को जीवो भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यंतं द्रव्यस्त्री भवति।

नपुंसकवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्तांगोपांग नामकर्मोदयेन उभयलिंगव्यतिरिक्त—देहांकितो भव-प्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यंतं द्रव्य-नपुंसकं जीवो भवति।

एते द्रव्यभाववेदाः प्रायेण प्रचुरवृत्त्या देवनारकेषु भोगभूमिसर्वतिर्यङ्मनुष्येषु च समाः द्रव्यभावा-भ्यां समवेदोदयांकिता भवन्ति, क्वचित्कर्मभूमि-मनुष्यतिर्यग्गतिद्वये विषमा विसदृशा अपि भवन्ति।

जीवतत्त्व प्रदीपिकायां नेमिचन्द्रः।

गोम्मटसार की मन्दप्रबोधिका टीका में अभय-चन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी यही बात लिखते हैं। आचार्य अमितगति ने भी इस विषय में स्पष्ट कर दिया है—

या स्त्री द्रव्येण भावेन साप्ति स्त्री ना नपुंसकः।
पुमान द्रव्येण भावेन पुमान्नारी नपुंसकः ॥१६२॥
पंढो द्रव्येण भावेन पंढो नारी नरो मतः।
इत्येवं नवधा वेदो द्रव्यभावविभेदतः ॥१६३॥
स्तनयोनिमती नारी पुमान श्मश्रुमेहनः।
न स्त्री न पुरुषः पापो द्वयरूपो नपुंसकः ॥१६४॥

—सं० पंचसंग्रह

अर्थात् जो द्रव्य से स्त्री है वह भाव से स्त्री, पुरुष और नपुंसक होता है और जो द्रव्य से नपुंसक है वह भाव से नपुंसक, स्त्री और पुरुष होता है, इस तरह वेद द्रव्य भाव के भेद से नौ प्रकार होता है।

तिव्वेदा एव सव्वे वि जीवा दिट्ठा दव्वभावादो।
ते चेव य विवरीया संभवहिं जहाकमं सव्वे ॥१०७

—पंचसंग्रह जीवसमासायां

सभी जीव तीन वेद वाले देखे गये हैं, वे ही सब जीव द्रव्य और भाव से विपरीत भी सम्भव होते हैं। सो यह विपरीतता ऊपर अमितगति आचार्य ने स्पष्ट कर ही दी है। अमितगति का पंचसंग्रह प्रा० पंच-संग्रह की श्लोकबद्ध टीका है।

इसी चतुर्थ तर्क में यह तर्क भी सुनिहित है कि "यदि वेद-वैषम्य हो सकता है तो वेद के द्रव्य और भाव भेद का तात्पर्य ही क्या रहा" इत्यादि वेद-वैष-म्य नहीं हो सकता यह एक बड़ा भारी शास्त्र ढूंढ कर निकाला गया है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही आगम वेद-वैषम्य का प्रतिपादन करते हैं, श्वेताम्बरों ने वेद-वैषम्य होते हुए भी द्रव्य स्त्रियों को मुक्ति जाना माना है, फिर न मालूम प्रोफेसर हीरा-लाल जी वेद-वैषम्य का निराकरण क्यों कर रहे हैं, सम्भवतः दिगम्बरों की खासकर उनके सम्प्रदाय की स्त्रियां वेद-वैषम्य के होते हुए मुक्ति न जा सकेंगी। फिर भी तात्पर्य सुनिये—

द्रव्यपुरुष किसी भी भाववेद के होते हुये नाग्न्य संयम धारण कर सकता है, तीनों भाववेदों में से किसी एक के उदय से क्षपक श्रेणि चढ़ मोक्ष जाता है। परन्तु द्रव्यपुरुष वेद ही भावपुरुष के होते हुए ही क्षपक श्रेणि में चढ़कर भाववेद को नष्ट कर तीर्थ-कर हो सकता है, द्रव्यस्त्री न नाग्न्य संयम धारण कर सकती है, न क्षपक श्रेणि चढ़ती है और न क्षा-यिक सम्यक्त्व ही उसके हो पाता है, तीर्थंकर का बन्ध भी उसके नहीं होता तथा सातवें नरक की आयु का बन्ध भी उसके नहीं होता है और न वह सातवें नरक ही जाती है, आदि के तीन संहनन भी भोगभूमि की द्रव्यस्त्री के नहीं होते हैं। स्वर्गों में अच्युत से ऊपर नहीं जाती है। इत्यादि अनेक कमजोरियां द्रव्यस्त्रियों में पाई जाती हैं, चाहे वे

भाव से पुरुष, स्त्री और नपुंसक कोई भी क्यों न हो इसी तरह द्रव्यनपुंसक के भी नाग्न्य संयम नहीं होता है, न क्षपक श्रेणि चढ़ता है, न अच्युत से ऊपर नवग्रैवेयकादिकों में जाता है। इत्यादि द्रव्य भाव वेदों में अनेकों विशेषतायें हैं इस लिये वेद-वैषम्य में ऐसे कई तात्पर्य सुनिहित हैं।

द्रव्य से जो पुरुष है भावों से वह स्त्रीवेदी हो तो तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध तो वह करता है परन्तु तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता रहते हुए वह उस स्त्रीवेद के उदय से क्षपक श्रेणि नहीं चढ़ता है या तो उसके क्षपक श्रेणि चढ़ते समय पुरुषवेद का उदय हो जाता है या तीर्थंकर प्रकृति सत्ता से निकल जाती है। आहारक ऋद्धि और मनः पर्याय ज्ञान भी उसके नहीं होता है यह द्रव्यपुरुष के वेद-वैषम्य का प्रभाव है। तथा द्रव्यपुरुष, भावस्त्रीवेद के उदय से क्षपक श्रेणि चढ़े तो वह पहले नपुंसक वेद का क्षय करता है, उसके बाद स्त्रीवेद का क्षय करता है और वही यदि भावनपुंसक वेद के उदय से क्षपक श्रेणि में आरोहण करे तो पहले स्त्रीवेद का क्षय करता है, बादमें नपुंसकवेद का क्षय करता है। और यदि वह भावपुरुषवेद के उदय रहते हुए क्षपक श्रेणि आरोहण करे तो उसके पुरुषवेद के बन्ध और उदय की व्युच्छित्ति एक साथ होती है परन्तु वह जीव यदि भावस्त्रीवेद और भावनपुंसक के उदय से क्षपक श्रेणि चढ़े तो उसके पुरुषवेदकी बंधव्युच्छित्ति अपने उदय के द्विचरम समय में अर्थात एक समय पहले हो जाती है। उक्त विशेषताओं में से श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी कितनी विशेषताएं मानी गई हैं। जैसे—

तिरयेव णरे णवरि हु तित्थाहारं च अत्थि एमेव।
सामण्ण-पुण्ण-मणुसिणिणरे अपुण्णे अपुण्णेव ॥
मणुणिणिए थीसहिदा तित्थयराहारपुरिससंढूणा।
पुण्णिदरेव अपुण्णे सगाणुगदिआउगं णेयं ॥३पु१
एवं पंचतिरिक्खे पुण्णिदरे णत्थि णिरयदेवाऊ।
ओघं मणुसतियंसु वि अपुण्णगे पुण अपुण्णेव ॥

—गो० कर्मकांड

गाथा नं० ११० में भावमानुषी के तीर्थंकर प्रकृति का और आहारक द्विक का बन्ध कहा गया है इस लिये उसके सभी १२० प्रकृतियों का बन्ध होता है। मनुष्य पर्याप्त में १२२ प्रकृतियों में से १०० उदय योग्य हैं उनमें तीर्थंकर आहारक द्विक पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये पांच प्रकृतियां इनको १०० में से घटा कर स्त्रीवेद के मिला देने पर ९६ प्रकृति भावमानुषी में उदय योग्य हैं यह गाथा न० ३०१ में कहा गया है। गाथा नं० ३४७ में कहा गया है कि मनुष्यत्रिक अर्थात सामान्य मनुष्य, पर्याप्तमनुष्य, मानुषीमनुष्य में गुणस्थानवत सत्ता है। गुणस्थानों में तीर्थंकर और आहारक द्विक का भी सत्व है। बन्ध है इस लिये सत्व तो होना ही चाहिये। परन्तु भावमनुषी के तीर्थंकर आहारद्विक का उदय नहीं है। तदपि यथा—

योनिमन्मनुष्ये तु क्षपकश्रेण्यां न तीर्थं तीर्थसत्व-तोऽप्रमत्तादुपरिस्त्रीवेदित्वासंभवात्।

—कर्मकांड वृहत्, पे० ५००

इसका भाव ऊपर किसी प्रकरण में आ गया है, जब भावमानुषी के क्षपक श्रेणि में तीर्थंकर प्रकृति का सत्व ही नहीं तब उदय तो आवेगा ही कहां से।

वेदाहारो त्ति य सगुणट्ठाणाणमोघमालावो।
णवरि य संढित्थीणं णत्थि हु आहारगाणदुगं ।७२३।

—गो० जीवकांड

इस गाथा में नपुंसकवेद के आहारकद्विक नहीं होता है। यह कहा गया है।

इत्थिवेदणवुंसयवेदाणमुदएण आहारदुगं मणपज्जवणाणं परिहारहार सुद्धिसंजमो च णत्थि।

—धवलखंड २ पे० ५७७

स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय रहते हुए आहारकद्विक, मनः—पर्ययज्ञान, और परिहार-विशुद्धि संयम ये चार नहीं होते हैं।

मणुसिणीसु असंजदसम्माइट्ठीण उववादो णत्थि, पमत्ते तेजाहार-समुग्घादा णत्थि।

—धवला खं० ३ पे० ७४, ७७२

असंयतसम्यग्दृष्टि मानुषी के उपपाद समुद्घात नहीं होता और उसके प्रमत्त गुणस्थान में तैजससमुद्घात और आहारक समुद्घात नहीं है।

पुरिसोदएण चडिदे बंधुदयाणं च जुगवदुच्छित्ती।
सेसोदएण चडिदे उदयचरिमम्हि पुरिसबंधछिदी॥

इसका भाव ऊपर आ गया है।

तित्थयरबंधस्स मणुस्सा चेव सामी, अण्णत्थ-त्थिवेदोदइल्लाणं तित्थयरस्स बंधाभावादो, अपुव्वकरणउवसामएसु बंधो ण खवएसु इत्थिवेदोदएण तित्थयरकम्मं बंधमाणाणं खवगसेढिसमारोहणाभावादो।

—धवल-बन्धस्वामित्व प० ७८४

तीर्थकर प्रकृति के बन्ध का स्वामी द्रव्य-मनुष्य ही है, अन्यत्र स्त्री वेद के उदय वाले द्रव्यमनुष्य के तीर्थंकर के बन्ध का अभाव है, इसी को स्पष्ट करते हैं—अपूर्वकरण उपशामक में उसके तीर्थंकर का बन्ध होता है परन्तु अपूर्वकरणक्षपक में नहीं होता, क्योंकि स्त्रीवेद के उदय से तीर्थंकर कर्म को बांधने वाले द्रव्यपुरुषों का क्षपक श्रेणि में आरोहण नहीं होता। यह द्रव्यपुरुष के स्त्री उदय का प्रभाव है, वेद-वैषम्य भी स्पष्ट है।

मणुसिणीसु............................
खवगसेढीए तित्थयरस्स णत्थि बंधो इत्थिवेदेण सह खवगसेढिमारोहणे संभवाभावादो।

—धवल बंधस्वामित्व प० ७४२

मनुष्यिणियों के क्षपक श्रेणि में तीर्थंकरकर्म का बन्ध नहीं है, क्योंकि द्रव्यमनुष्य का स्त्रीवेद के साथ क्षपक श्रेणि में समारोहण सम्भव नहीं है। इत्यादि वेद के द्रव्य,भाव भेद के अगणित तात्पर्य हैं। चौदह गुणस्थान, चौदह जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा. चौदह मार्गणा और उपयोग में सब प्ररूपणाएं द्रव्य भाववेदों में कोई समान हैं तो कोई असमान हैं। इसी तरह प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग-बन्ध, प्रदेशबन्ध, बन्धकाल, उदय, सत्ता, आयुबन्धा-बन्ध के भंग, त्रिकरणचूलिका, दशकरण आदि सभी द्रव्य भाववेदों में विभिन्नता को लिये हुए हैं, सो वे सब द्रव्य-भाव वेदों को लेकर कहीं सम हैं और कहीं विषम हैं। यदि ये वेदों का वैषम्य न हो तो फर असल में वेदों के द्रव्य-भावभेद का कोई तात्पर्य नहीं रहता।

स्त्रीमुक्ति के प्रतिपादक सिद्धांत भी देखिये—

एवं नपुंसगित्थी सत्तं छक्कं च बायर पुरिसुदए।
समकमगाओ दोण्णि वि आवलियाओ तओ पुरिसं॥
इत्थिउदए नपुंसं इत्थिवेयं च सत्तगं च कमा।
अपुमोदयम्मि जुगवं नपुंसइत्थी पुणो सत्त॥१३६॥

श्वेताम्बर तीनों ही द्रव्यवेदों से मुक्ति जाना मानते हैं, फिर भी वेद-वैषम्य वे भी मानते हैं इस वेद-वैषम्य का यह प्रभाव है कि जो पुंवेद के उदय से क्षपक श्रेणि में आरोहण करता है वह संख्यात स्थिति खण्डों के बीत जाने पर नपुंसकवेद का क्षय

करता है, फिर संख्यात खण्डों के बीत जाने पर स्त्री वेद का क्षय करता है, फिर संख्यात स्थितिखण्डों के चले जाने पर हास्यादि छह का क्षय करता है. फिर एक समय कम दो आवली प्रमाणकाल व्यतीत हो जाने पर पुरुषवेद का क्षय करता है। जो स्त्रीवेद के उदय से क्षपक श्रेणि में उपस्थित होता है वह पहले नपुंसकवेद का क्षपण करता है। और जो क्षपक व्यक्ति नपुंसकवेद के उदय के साथ चढ़ता है वह पहले स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का एक साथ क्षय करता है फिर पुरुषवेद युक्त हास्यादि सात का क्षय करता है।

चत्तारि अविरए चय थीउदए विउव्वमीसकम्मइया।
इत्थीनपुंसगउदए ओरालियमीसगो जन्ता ॥१२॥

—पंचसंग्रह प० ६१

यहां गाथा में तो जघन्य हेतुओं को अविरत गुणस्थान में दिखाते हुए योगों में वेदों को लेकर विशेषता दिखाई है कि अविरत गुणस्थान में स्त्रीवेद के उदय में वैक्रियिक और कार्मण योग नहीं है और स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद के उदय होते हुए औदारिक मिश्र योग नहीं है। इस लिए इन चार योग हेतुओं को कम कर देना चाहिये। यथा—

दो रूवाणि पमत्ते चयाहि एक्कं तु अप्पमत्तम्मि।
जं इत्थिवेदउदए आहारगमीसगा नत्थि ॥१३॥

—पंचसंगह प० ६३

प्रमत्त गुणस्थान में आहारक और आहारकमिश्र ये दो योग कम कर दो और अप्रमत्त में आहारक कम कर दो, कारण स्त्रीवेद के उदय होते हुए आहारक और आहारक मिश्र ये दो योग नहीं होते हैं। तात्पर्य यह है कि अविरत गुणस्थान में स्त्रीवेद का उदय होते हुए वैक्रियिक मिश्र और कार्मण काय योग नहीं होता क्योंकि सम्यग्दृष्टि मरकर देवस्त्री नहीं होता तथा स्त्रीवेद और नपुंसकवेद में औदारिक मिश्रयोग नहीं होता, कारण अविरत गुणस्थान वाला कोई भी जीव मरकर द्रव्य-भाव मनुष्य स्त्री में उत्पन्न नहीं होता, द्रव्य-भाव कोई भी स्त्री के प्रमत्त गुणस्थान में आहारक और आहारकमिश्र तथा अप्रमत्त में आहारक काययोग नहीं होता। वह स्त्री चाहे द्रव्यपुरुष और भावस्त्री हो या द्रव्यस्त्री और भाव में कोई भी वेद वाली हो। इस तरह द्रव्यपुरुष और भावस्त्री अथवा द्रव्यस्त्री और भाव में तीन वेद वाली स्त्रियों में अनेक विशेषताएं हैं। निष्कर्ष यह है कि वेद-वैषम्य शास्त्रोक्त है तथा द्रव्य और भाववेद की विभिन्नता में गूढ़ अगणित तात्पर्य हैं। किसी भी उपांग विशेष को पुरुष या स्त्री कहा ही क्यों जाय? इत्यादि सब युक्तियां व्यर्थ हैं क्योंकि योनि को लेकर द्रव्यस्त्री, मेहन को लेकर द्रव्यपुरुष तथा उभयाभावरूप विशेष चिन्ह को लेकर द्रव्य नपुंसक तथा स्त्री से रमण की इच्छा जिसमें हो उसे भाव-पुरुषवेद, पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा जिससे हो उसे भावस्त्री-वेद और दोनों के साथ रमण करने की इच्छा जिस में हो उसे भावनपुंसकवेद कहा जाता है।

यदि इन शब्दों से यह अर्थ न कहा जाय तो फिर कौन से शब्दों से क्या कहा जाय और कोई शब्दों से कहिए कुछ कहेंगे तो सही, फिर इन्हीं शब्दों से कहने में मुंह तो विकृत हो नहीं जाता है। वेद-वैषम्य के हो सकने पर उक्त दोष दिया गया है। वेद-वैषम्य न हो तभी स्त्री-पुरुष कहना, नहीं तो नहीं, यह तो कोई युक्तिसंगत बात मालूम नहीं देती। ये तो उक्त अर्थ को कहने वाले अनादि सैद्धान्तिक शब्द हैं, वेद चाहे सम हो, और चाहे विषम हो इन्हीं शब्दों से

कहे जावेंगे। जैसे चखने वाली इन्द्रिय को जिह्वा कहते हैं और सूंघने वाली को नाक कहते हैं। कहने में कौन सी बाधा है, वैषम्य में है तो वह शास्त्र और लोक दोनों से सिद्ध है।

'अपने विशेष उपांग के बिना अमुक वेद उदयमें आवेगा ही किस प्रकार? यदि आ सकता है तो ऐसी प्रकार पांचों इन्द्रियज्ञान भी पांचों द्रव्येन्द्रियों के परस्पर संयोग से पच्चीस प्रकार क्यों नहीं हो जाते? इत्यादि।'

इसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। वेदों को उदय में लाने के लिये उपांगों की आवश्यकता नहीं है, बिना उपांग के भी वेद उदय में आते रहते हैं। जैसे विग्रहगति आदि कालों में। कोई भी क्षण ऐसा नहीं जिसमें वेद का उदय न हो। स्त्री आदि के शरीर को देखकर पहले वेद उदय में आता है, लिंगोत्थानादि तो पीछे होते हैं। इस लिये यों कहना चाहिये कि वेद का उदय पहले होता है उससे अभिलाषा जागृत होती है फिर द्रव्यवेद में उत्थान-आदि क्रिया होती है। न कि पहले द्रव्यवेद में उत्थानादि क्रिया होती है और फिर वेद का उदय आता है। एक किसी विवक्षित जीव में जितनी द्रव्येन्द्रियां होती हैं उतनी भावेन्द्रियां होती हैं। जिसके एक या दो या तीन या चार या पांच द्रव्येन्द्रियां हैं उसके भावेन्द्रियां भी उतनी ही हैं। ऐसा नहीं है कि जिस तरह द्रव्यवेद का चिन्ह तो एक है और भाववेद तीनों हैं उस तरह द्रव्येन्द्रिय एक हो पांचों भावेन्द्रियों का क्षयोपशम एक साथ हो तब पांचों द्रव्य-भाव इन्द्रियों के परस्पर संयोग—जन्य पच्चीस भेदों का दोषारोपण सफल हो सकता है। जिसके एक द्रव्य-उपांग है और भाववेद तीनों कभी २ उदय में आते हैं तो भी उसके उस नियत वेद के उपांग-जन्य ही कार्य होता है अन्य वेदों के कार्य नहीं होते, उनकी अभिलाषा ही होकर रह जाती है क्योंकि उपांग न होने से कार्य नहीं होता है। यही हालत एक इन्द्रिय उपांग की होगी। कल्पना करें कि एक चक्षुइन्द्रिय का तो उपांग हो और क्षयोपशम पांचों इन्द्रियों का हो, उस हालत में एक चक्षु इंद्रिय ही रूप देखना रूप कार्य करेगी क्योंकि उसी का उपांग है, शेष इन्द्रियों का क्षयोपशम यों ही पड़ा रहेगा क्योंकि उनके उपांग उस जीव में नहीं हैं। यद्यपि इन्द्रियोंमें ऐसा है नहीं किन्तु ऐसा हो तो आपत्ति की कल्पना हो सकती है।

प्रोफेसर जी ने चार तर्क सब आगमों को अन्यथा करने के लिये प्रस्तुत किये थे। उनका आगम से और युक्ति से निरसन हो चुका अब उनकी अन्तिम पंक्तियों का उत्तर अवशिष्ट रह जाता है। उसके पहले स्त्री मुक्ति के संबन्ध में कतिपय आचार्यों का आशय जान लेना जरूरी है।

गोम्मटसार गाथा १३१ की मन्दप्रबोधिका टीका में अभयचन्द्र सैद्धान्ती कहते हैं—कि स्त्रियों के परिग्रह संज्ञा मौजूद है इस लिये क्षपक श्रेणि में आरोहण का अभाव होने से उनके मुक्ति किस तरह से हो सकती है, क्योंकि उनके वस्त्र त्याग पूर्वक सकल संयम का परमागम में प्रतिषेध है, इस लिये स्त्री को मुक्ति नहीं होती। यथा—

स्त्रीणां च परिग्रहसंज्ञा-सद्भावात् क्षपकश्रेण्यारोहणाभावेन कुतो मुक्तिः, तासां वस्त्रत्यागपूर्वकसकल-संयमस्य परमागमे प्रतिषिद्धत्वात्,..........ततः.......स्त्रीणां मुक्तिर्नास्तीति सिद्धः सत्सूरिसिद्धान्तः।

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।

मणुसो केवलि-दुले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ।६४७।

गो० जीवकाण्ड०

भाव यह है कि दर्शनमोह कर्म के क्षपका प्रारम्भ केवली-श्रुतकेवली के पादमूल में कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ मनुष्य करता है और उस।। निष्ठापन तो चारों ही गतियों में कर सकता है ।

गाथा में मनुष्य शब्द है जो द्रव्यमनुष्यका वाचक है। द्रव्य मनुष्य के ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है। द्रव्य-स्त्रियों के और द्रव्यनपुंसकों के क्षायिकसम्यक्त्व होता नहीं है, क्षायिक सम्यक्त्व के बिना मुक्ति नहीं होती है। इस तरह इस गाथासूत्र से स्त्रीमुक्ति का निषेध होता है ।

अंतिमतियसंहडणस्सुदओ पुणकम्मभूमिमहिलाणं ।
आदिम तिगसंहडणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।३२।

गो० कर्मकाण्ड०

अंत के तीन संहननों का उदय कर्मभूमिज स्त्रियों के है। उनके आदि के तीन संहनन नहीं होते हैं।

वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्ध-नाराच, कीलित और असंप्राप्तासृपाटिक ऐसे छह संहनन होते हैं। मुक्ति वज्रवृषभनाराचसंहनन वाला ही जाता है। कर्मभूमि की स्त्रियों के यह संहनन होता नहीं इस लिये इसके अभाव से भी स्त्रियों के मुक्ति का अभाव सिद्ध होता है। मुक्ति जाने में यही एक कारण नहीं है किन्तु उन अन्य कारणों के होते हुए उनमें एक यह भी है।

कषायक्खवणोवट्ठावे······वेदो को हवे।

यह कसायपाहुड की गाथा का एक अंश है, पूर्ण गाथा पहले दी जा चुकी है। इसमें गुणधर भट्टारक का प्रश्न सुनिहित है। वे कहते हैं, कषायों का क्षय प्रारम्भ करने वाले के वेद कौन सा होता है। यह निश्चित ही है कि कषायों का क्षपण क्षपक श्रेणि में होता है, उसके वेद कौन सा होता है। यह गाथा 'क्षपणासार' में माधवचन्द्र त्रैविद्य देवने उद्धृत की है। इसके इस प्रश्न के उत्तर में वे कहते हैं— भाव की अपेक्षा से तीनों वेदों में से कोई एक होता है, द्रव्य की अपेक्षा से तो पुरुषवेद ही होता है। यथा—

वेदः कीदृशो भवेत् ? भावापेक्षया त्रिष्वेकः द्रव्यापेक्षया तु पुंवेद एव ।

माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव क्षपक श्रेणि में द्रव्य की अपेक्षा एक द्रव्यपुरुषवेद ही क्षपण करने में कह रहे हैं, इससे भी स्पष्ट होता है कि द्रव्यस्त्री के श्रेणिसमा-रोहण नहीं है, श्रेणि—समारोहण के बिना मुक्ति कैसी ? इससे जाना जाता है स्त्रियों के मोक्ष नहीं होती है।

मुक्ति ज्ञान आदि कारण के परम प्रकर्ष से होती है, उसका परम प्रकर्ष स्त्रियों में है नहीं, जैसे कि उनमें सातवीं नरकभूमि में जाने का कारण अपुण्य, पाप का परम प्रकर्ष नहीं है। यहां शंका हो सकती है कि स्त्रियों में सातवीं नरक भूमि जाने का कारण अपुण्य का परम प्रकर्ष नहीं है तो न सही, इससे मोक्ष के कारण ज्ञानादि के परम प्रकर्ष के अभाव में क्या आया। अर्थात् ऊंचे अपुण्य के अभाव से ऊंचे ज्ञान का अभाव कैसा ? क्योंकि इन दोनों में न कार्य कारण भाव है और न व्याप्य-व्यापक भाव है, इन दो के बिना अन्य के अभाव में अन्य का अभाव कहना ठीक नहीं है, उत्तर देते हैं—यह कहना ठीक है परन्तु यह नियम है कि जिस वेद में मोक्ष जाने के कारण का परम प्रकर्ष है उसमें सातवीं नरक

भूमि आने का कारण अपुण्य का परम प्रकर्ष भी है, जैसे पुरुषवेद में। चरम शरीर वाले पुरुषवेद के साथ यह दोष कहा जा सकता है परन्तु वह ठीक नहीं है चरम शरीरी पुरुषवेद एक विशिष्ट पुरुषवेद है उसकी अपेक्षा से यह नहीं कहा है किन्तु पुरुष-वेद सामान्य की अपेक्षा से कहा गया है। जिसमें सातवीं नरकभूमि में जाने का कारण अपुण्यकर्म का परमप्रकर्ष है उसमें मोक्ष जाने के कारण का भी परम प्रकर्ष है। ऐसा विपरीत नियम तो संभवता ही नहीं है क्योंकि नपुंसकवेद में सातवीं पृथिवी में जाने का कारण अपुण्य कर्म का परम प्रकर्ष होते हुए भी उसके मोक्ष के कारण ज्ञानादि का परम-प्रकर्ष नहीं माना गया है और पुरुष में माना गया है। इस लिये स्त्रीवेद के भी यदि मोक्ष का हेतु परमप्रकर्ष है तो उसके अभ्युपगम से ही यह दूसरा अनिष्ट भी अवश्य आ प्राप्त होता है। अन्यथा पुरुष में भी वह अनिष्ट दोष नहीं हो सकेगा ? दोनों तादात्म्य-तदुत्पत्ति लक्षण प्रतिबन्धों का अभाव होते हुए भी कृतिकोदयादि हेतुओं के समान, उक्त दोनों परम प्रकर्षों का अविनाभाव सिद्ध हो जाने पर सातवीं पृथिवी में जाने का कारण अपुण्य कर्म के परमप्रकर्ष के निषेध से मोक्ष का हेतु ज्ञानादि का परमप्रकर्षका भी निषेध हो जाता है, इत्यादि। यथा—

मोक्षहेतुज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति परम-प्रकर्षत्वात् सप्तमपृथ्वीगमन—कारणापुण्यपरमप्रकर्ष-वत्। यदि नाम तत्र तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षाभावो मोक्षहेतोः परमप्रकर्षाभावे किमायातं ? कार्यकारण व्याप्यव्यापकभावाभावे हि तयोः कथमन्यस्याभावेऽ-न्यस्याभावोऽतिप्रसंगात् इति चेत्सत्यं अयं हि ताव-न्नियमोऽस्ति-यद्वेदस्य मोक्षहेतु—परमप्रकर्षस्तद्वेदस्य तत्कारणापुण्य—परमप्रकर्षोऽप्यस्त्येव यथा पुंवेदस्य। न च चरमशरीरेण व्यभिचारः पुंवेद-सामान्यापेक्षयोक्तेः। विपरीतस्तु नियमो न संभवत्येव नपुंसक-वेदे तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षे सत्यप्यन्यस्यानभ्युपगमात् पुंस्यभ्युपगमाच्च। अनित्यत्वस्य प्र[illegible]-त्वेतरत्वयवत्। ततश्च स्त्रीवेदस्यापि यदि मोक्ष-हेतुः परमप्रकर्षः स्यात् तदा तदभ्युपगमादेवापरोऽप्यनिष्टोऽवश्यमापाद्यते, अन्यथा पुंस्यपि न स्यात्। सिद्धे च प्रतिबन्धद्वयाभावेऽपि कृतिकोदयादिवदुक्तप्रकर्षयोर-विनाभावे स्त्रीणां तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षप्रतिषेधेन मोक्षहेतुपरमप्रकर्षो निषिध्यते।

तथा स्त्रियों का संयम मोक्ष कारण नहीं है क्योंकि वह नियम से ऋद्धि विशेष का अकारण अन्यथा हो नहीं सकता। जिनमें संयम सांसारिक लब्धियोंका भी कारण नहीं है उनमें वह निःशेषकर्म विप्रमोक्ष-लक्षण मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है। नियम से स्त्रियों का ही संयम ऋद्धि विशेष का कारण नहीं स्वीकार किया गया है, न कि पुरुषों का संयम। यथा—

स्त्रीणां संयमो न मोक्षहेतुः नियमेनर्द्धिविशेषाहेतुत्वान्यथानुपपत्तेः। यत्र हि संयमः सांसारिकलब्धी-नामप्यहेतुस्तत्रासौ कथं निःशेषकर्म—विप्रमोक्षलक्षण—मोक्षहेतुः स्यात्। नियमेन च स्त्रीणामेव ऋद्धि-विशेषहेतुः संयमो नेष्यते न तु पुरुषाणां। इत्यादि।

स्त्रियों का संयम सवस्त्र है इस लिये वह मोक्षका कारण नहीं है जैसे गृहस्थों का संयम। यथा—

सचेलसंयमत्वाच्च नासौ तद्धेतुर्गृहस्थसंयमवत्।

इत्यादि स्त्रियों के मोक्ष के सम्बन्ध में अनेक दोषों का आपादन प्रमेयकमल मार्तण्ड के पत्र ९४ से ९६ तक प्रभाचन्द्रदेव द्वारा किया गया है।

स्त्रीमुक्ति के प्रतिपादक आगम भी न स्त्रियों का सप्तम नरक में गमन मानते हैं और न उनके संयम को आहारकादि ऋद्धिविशेष का कारण मानते हैं। साधुओं के संयम को ही जब वे सवस्त्र मानते हैं तब स्त्रियों का संयम सवस्त्र मानने में तो बाधा ही क्या है। आहारकादि ऋद्धियां नहीं मानते यह पहले कहा जा चुका है। सवस्त्रता तो प्रत्यक्ष ही है। छठी पृथ्वी तक स्त्रियां जाती हैं। इस बात को कहने वाला उनका यह आगम है—

छट्ठि च इत्थियाओ मच्छा मणुया य सत्तमि पुढवि।
एसो परमुववाओ बोद्धव्वो नरयपुढवीसु ॥६२॥
—प्रवचन सारोद्धार प० ३२३

कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों के टीकाकार भगवज्जिनसेन कहते हैं कि द्रव्य से पुरुषवेद वाला क्षपकश्रेणी में आरोहण करता है। कारण क्षपक-श्रेणि में और द्रव्यवेद सम्भव नहीं है। प्रमाण ऊपर दे आये हैं। इससे भी मालूम होता है कि द्रव्यस्त्रियों का क्षपक श्रेणि में आरोहण नहीं है। क्षपक श्रेणि में आरोहण किये बिना मुक्ति होती नहीं है।

धवला टीका का एक प्रमाण तो ऊपर दे ही दिया गया है कि द्रव्यस्त्रीवेद वाले जीव संयम धारण नहीं करते हैं क्योंकि वे सवस्त्र हैं। संयम के बिना मुक्ति होती नहीं है—यह निषेध उससे निकलता ही है। और भी देखिये—ऊपर सत्प्ररूपणा के सूत्र ६२ और ६३ दे दिये हैं। उनमें कहा गया है कि मनुष्यिणियां मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान में पर्याप्तक और अपर्याप्त दोनों तरह की होती हैं तथा सम्यग्दृष्टि, असंयतासंयत गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक ही होती हैं। इस परसे शंका उठाई गई है कि हुंडावसर्पिणी में स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं उत्पन्न होते? इसका उत्तर दिया गया है कि नहीं उत्पन्न होते। तब शंकाकार पूछता है कि यह किस आधार से निश्चय किया गया? इसका उत्तर देते हैं कि इसी आर्ष से अर्थात् नं० ९३ के सूत्र से ही जाना।

हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किं नोत्पद्यन्ते इतिचेत्, न उत्पद्यन्ते कुतोऽवसी-यते? अस्मादेवार्षात्।

इस व्याख्या का अर्थ प्रोफेसर जी ने गलत किया है। वे शंकासमाधान यों लिखते हैं- हुण्डावसर्पिणी काल संबंधी स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं? नहीं, क्योंकि, उनमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं। शंका का अनुवाद तो ठीक है परन्तु समाधान ठीक ही नहीं, किन्तु सूत्र विरुद्ध भी है। सूत्र में स्त्रियां चौथे गुणस्थान में पर्याप्तक कही गई हैं। उनमें यदि सम्यग्दृष्टि मर कर उत्पन्न होता है तो वे चतुर्थ गुणस्थान में अपर्याप्तक भी होनी चाहिएं परन्तु हैं नहीं इस लिये समाधान ठीक नहीं है। यह बात कई आर्षों से निश्चित है कि सम्यग्दृष्टि मरकर स्त्री नहीं होता इस लिये अपर्याप्त अवस्था में उनके सम्यक्त्व नहीं होता। यह बात प्रकरणानुसार इस सूत्रमें इस प्रकार कही गई है कि असंयत सम्य-ग्दृष्टि गुणस्थान में मनुष्यिणियां नियम से पर्याप्तक ही होती हैं।

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसि-वण भवण सव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे॥
—गो० जीवकांड ॥१२७॥

प्रथम पृथ्वी को छोड़ कर नीचे की छह पृथ्वी के

नारकों के, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देवों के, सब स्त्रियों के अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व नहीं होता है और नारकों के अपर्याप्त अवस्था में सासादन भाव भी नहीं होता।

अरदापुण्णे ण हि थी संढो वि य घम्मणारयं मुच्चा।
थीसंढयदे कमसो णाणुचऊ चरिमतिण्णाणू ॥२८७॥

—गो० कर्मकांड

असंयत अपर्याप्त गुणस्थान में स्त्रीवेद का उदय नहीं है और घम्मा नाम की पहली पृथ्वी को छोड़ नपुंसक वेद का भी उदय नहीं है, इस लिये स्त्रीवेद वाले असंयत के चारों आनुपूर्वी का और नपुंसकवेद के उदय वाले असंयत के अन्तिम तीन आनुपूर्वी का उदय नहीं है।

इससे जानते हैं कि द्रव्यस्त्री दूर रहे भावस्त्री के भी अपर्याप्त अवस्था में चतुर्थ गुणस्थान नहीं होता है।

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-तिर्यङ्-नपुंसक-स्त्रीत्वानि।
दुष्कुल-विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिका॥

—रत्नकरंडके स्वामिसमन्तभद्रः

अर्थात्—जो जीव सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं वे अव्रतिक होते हुए भी मरकर नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री नहीं होते हैं तथा न दुष्कुलीन, विकृतशरीर और अल्प आयु वाले तथा दरिद्री भी नहीं होते हैं।

इससे भी मालूम पड़ता है कि अपर्याप्त अवस्थामें स्त्रियों के चतुर्थ गुणस्थान नहीं होता है।

जे पच्चया वियप्पा मिस्से भणिया पडुच्च दसजोगं।
ते चेव य अजईए अपुण्णजोगाहिया णेया ॥१७३
ओराल मिस्सजोगं पडुच्च पुरिसो तहा भवे एक्को।
वेउव्व मिस्स कम्मे पडुच्च इत्थी ण होइ त्ति ॥१७४
सम्माइट्ठी णिरि-तिरि जोइसि-
वण-भवण-इत्थि-संढेसु।
जीवो वद्धाउ पमोत्तूणो,
उववज्जइ त्ति वयणाओ ॥१७५॥

जो प्रत्ययों के भेद दश योगों को लेकर मिश्र-गुणस्थान में कहे गये हैं, वे ही प्रत्यय विकल्प असंयत नाम के चतुर्थ गुणस्थान में हैं किन्तु अपर्याप्त योगों से युक्त हैं। इस लिये इस अयत गुण में औदारिक मिश्रयोग को लेकर एक पुरुषवेद ही होता है तथा वैक्रियक मिश्र और कार्मण काय योग में स्त्रीवेद नहीं होता है। क्योंकि ऐसा वचन है कि सम्यक्त्व प्राप्त के पहले जिसने परभव सम्बन्धी आयु बांध ली है ऐसे सम्यग्दृष्टि को छोड़कर अबद्धायु सम्यग्दृष्टि जीव नरक तिर्यंच, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी, स्त्री और नपुंसक में उत्पन्न नहीं होता है।

इससे भी स्पष्ट होता है स्त्रियों के अपर्याप्त अवस्था में असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान नहीं होता है तब यह कहना कहां तक शोभायुक्त है कि 'उन (स्त्रियों) में सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं।

अब पुनः प्रकरण पर आइये। इसके अनन्तर कोई एक शंका करता है कि इसी आर्ष से द्रव्यस्त्रियों के मुक्ति सिद्ध हो सकती है, उत्तर देते हैं कि नहीं हो सकती, क्योंकि द्रव्यस्त्रियां वस्त्र सहित होती हैं इस लिये अप्रत्याख्यान गुण अर्थात् देशसंयत अथवा संयतासंयत गुणस्थान में स्थित द्रव्य स्त्रियों के संयम की उत्पत्ति नहीं है। फिर शंका करता है कि सवस्त्र होते हुए भी उन द्रव्यस्त्रियों के भावसंयम तो अविरुद्ध हो सकता है, आचार्य कहते हैं, उनके भावसंयम नहीं होता है, क्योंकि भाव असंयम का अविनाभावी वस्त्र ग्रहण उनके है। अन्यथा अर्थात् भावसंयम होता तो वस्त्र ग्रहण नहीं होता। वस्त्र ग्रहण है इस

लिये मालूम होता है कि भावसंयम द्रव्यस्त्रियों के नहीं होता है। फिर शंका होती है कि यदि उनमें भावसंयम नहीं है तो चौदह गुणस्थान कैसे होंगे? आचार्य कहते हैं—भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों के सद्भाव का कोई विरोध नहीं है। इस पर में फिर शंका होती है कि भाववेद बादर-नाम के नौवें गुणस्थान से ऊपर नहीं होता है इस लिये भाववेद में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव सम्भवता नहीं है आचार्य कहते हैं यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि चौदह गुणस्थानों के सद्भाव में वेद की प्रधानता नहीं है किन्तु गति प्रधान है वह वेद के साथ नष्ट नहीं हो जाती है। फिर शंका होती है कि जिसका वेद विशेषण है उस गति में वे चौदह गुणस्थान संभवते नहीं हैं, आचार्य इसका उत्तर देते हैं—यह शंका नहीं है, क्योंकि विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से वेद-व्यपदेश को धारण करने वाली मनुष्य गति में चौदह गुणस्थान के सत्व का विरोध नहीं है। यथा—

अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येदिति चेन्न सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेन्न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेन्न भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दश गुणस्थानानां संभव इति चेन्न अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्. गतिस्तु प्रधाना न साराद्विनश्यति वेदविशेषणायां गतौ न तानि संभवन्तीति चेन्न विनष्टेपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधान मनुष्यगतौ तत्सत्वाविरोधात्।

इस उद्धरण पर से द्रव्यस्त्रियों के मुक्ति का निराकरण होता है, भावसंयम का निषेध भी होता है। द्रव्यस्त्रियों के आदि के पांच गुणस्थान ही होते हैं, और द्रव्य मनुष्य जिसका भाव स्त्रीवेद रूप है उसके नौ गुणस्थान होते हैं ऊपर के गुणस्थान भाववेद में उपचरित हैं इत्यादि अनेक बातें सिद्ध होती हैं। संभवतः अनुवाद के बाद ये बातें याद नहीं रही हैं अथवा इन्हें भी वे नहीं मानते होंगे।

आचार्य विद्यानन्दी श्लोकवार्तिक के पे० ५११ में लिखते हैं कि—सिद्धि सिद्धगति में होती है, अथवा मनुष्यगतिमें भी पुरुषों के होती है। अवेदता से वह सिद्धि होती है अथवा भाव से तीनों वेदों से सिद्धि होती है। द्रव्य से तो साक्षात पुल्लिंग अर्थात पुरुष लिंग से होती है। स्त्री आदि के निर्वाण कहने वालों के जो अन्य द्रव्यलिंग से सिद्धि कही गई है वह आगम व्याघात होने से और युक्ति बाधा होने से ठीक नहीं है। अथवा जो लोग स्त्रीनिर्वाणवादी हैं उनके आगम व्याघात और युक्ति बाधा दोनों हैं।

> सिद्धिः सिद्धगतौ पुंसां स्यान्मनुष्यगतावपि।
> अवेदत्वेन सा वेदत्रितयाद्वास्ति भावतः ॥७॥
> पुल्लिंगेनैव तु साक्षाद्द्रव्यतोऽन्या तथागम-
> व्याघातायुक्तिबाधाभ्यां स्त्र्यादिनिर्वाणवादिनां ॥८

इन दोनों श्लोकों में भाव से तीनों वेदों से और द्रव्य से पुरुषलिंग से मुक्ति कही गई है और अन्य द्रव्यलिंग से मुक्ति मानने में आगम और युक्ति दोनों से बाधा आती है, यह स्पष्ट कहा गया है।

अकलंकदेव राजवार्तिकालंकार में कहते हैं कि अतीत को विषय करने वाले नय की अपेक्षा से सामान्यतः तीनों वेदों से सिद्धि होती है यह भाव को लेकर कहा गया है, द्रव्य को लेकर नहीं। द्रव्य

की अपेक्षा से तो पुल्लिंग से ही सिद्धि होती है। तथा पर्याप्त मानुषी में भाव लिंग की अपेक्षा से चौदह ही गुणस्थान होते हैं, द्रव्यलिंग की अपेक्षा से तो आदि के पांच गुणस्थान होते हैं। यथा—

अतीतागोचर-नयापेक्षया अविशेषेण त्रिभ्यो वेदेभ्यः सिद्धिर्भवति भावं प्रति, न तु द्रव्यं प्रति। द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिंगेनैव सिद्धिः।

राजवार्तिक पेज ३६६।

मानुषीपर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि संति भावलिंगापेक्षया, द्रव्यलिंगापेक्षेण तु पंचाद्यानि।
पेज ३३१।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव से तीनों वेदों से और द्रव्य से पुल्लिंग से सिद्धि होती है। तथा भावमानुषी के चौदह और द्रव्यमानुषी के प्रारम्भ के पांच गुणस्थान होते हैं इससे स्पष्ट होता है कि द्रव्य स्त्री के मुक्ति नहीं होती है, और उसके गुणस्थान भी पांच ही होते हैं।

आचार्य देवसेन कहते हैं यदि उग्र तप तपें, महीने २ पारणा करें तो भी स्त्री अपने कुत्सित-निंद्य लिंग के दोष के कारण सिद्ध नहीं होती है। स्त्रियां माया और प्रमाद से भरी पूरी होती हैं, प्रति महीने उनमें प्रस्खलन होता रहता है, हमेशाह योनि झरती रहती है, चित्त की दृढ़ता भी उनके नहीं होती है। उनकी योनि, नाभि और कुक्ष में तथा शरीर के अन्य प्रदेशों में भी सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों की उत्पत्ति हमेशाह होती रहती है इस कारण स्त्रियों के दोनों तरह के संयम का धारण नहीं होता है और संयम धारण किये बिना स्त्री-जन्म से मोक्ष नहीं होता है, यदि यह कहा जाय कि क्या स्त्रियों के जीव नहीं है या वे जीव नहीं है, या उनके ज्ञान, दर्शन, उपयोग चेतना नहीं है, यदि ऐसा है तो धीवरी, कलारी, वेश्या आदि सब स्त्रियों के जीव है तो फिर सभी स्त्रियां सिद्ध हो जानी चाहिएं। इस लिये स्त्री पर्याय को लेकर जीव के प्रकृति दोष से अभव्यकाल हो गया है इस कारण से उनके निर्वाणपद नहीं होता है। अति उत्तम संहनन अर्थात वज्रवृषभनाराच संहनन वाला कुलीन, काणत्वादि दोष रहित उत्तम पुरुष मोक्ष के योग्य है जो कि निर्ग्रन्थ और जिनलिंग का धारी होता है।

जइ तप्पइ उग्गतवं मासे मासे च पारणं कुणइ।
तह वि ण सिज्झइ इत्थी कुच्छियलिंगस्स दोसेण ॥६२
मायापमायपउरा पडिमासं तेसु होइ पक्खलणं।
णिच्चं जोणिस्सावो दारढ्ढं णत्थि चित्तस्स ॥६३॥
सुहुमापज्जत्ताणं मणुआणं जोणि-णाहि-कक्खेसु।
उप्पत्ती होइ सया अण्णेसु य तणुपएसेसु ॥६४॥
ण हु अत्थि तेण तेसिं इत्थीणं दुविहसंजमोद्धरणं।
संजमधरणेण विणा ण हु मोक्खो तेण जम्मेण ॥६५
अहवा एयं वयणं तेसिं जीवो ण होइ किं जीवो।
किं णत्थि णाण दंसण उवओगो चेयणा तस्स ॥६६॥
जइ एवं तो इत्थी धीवरि-कल्लालि वेसआईणं।
सव्वेसिमत्थि जीवो सयलाओ तहिं सिज्झंति ॥६७॥
तम्हा इत्थीपज्जय पडुच्च जीवस्स पयडिदोसेण।
जाओ अभव्वकालो तम्हा तेसिं ण णिव्वाणं ॥६८॥
अइउत्तमसंहणणो उत्तमपुरिसो कुलग्गओ संतो।
मोक्खस्स होइ जुग्गो णिग्गंथो धारियजिणलिंगो॥६६

—भावसंग्रह

आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—

लिंगेन केन सिद्धिः? अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिः, भावतो न द्रव्यतः। द्रव्यतः पुल्लिंगेनैव।

—सर्वार्थसिद्धि पे० ३२०

किस लिंग से सिद्धि होती है ? कहते हैं—अवेद पने में सिद्धि होती है, अथवा स्त्री, पुरुष और नपुंसक इन तीनों भाववेदों से सिद्ध होती है, द्रव्यवेदों से नहीं, द्रव्यवेद से तो एक पुल्लिंग में ही सिद्धि होती है।

इससे द्रव्यस्त्रीवेद से और द्रव्यनपुंसकवेद से सिद्धि नहीं होती यह स्पष्ट है। पूज्यपाद स्वामी ने वेदों में गुण चर्चा की ही है, अकलंकदेव और विद्यानन्दि भी गुणस्थान चर्चा पूर्वक ही द्रव्यस्त्रीवेद और और द्रव्यनपुंसक के सिद्धि का निषेध करते हैं।

कुन्दकुन्ददेव का अभिप्राय स्पष्ट ही है, जो कि ऊपर दिखाया गया है, उसपर से जो दोषारोपण उन पर किया गया है वह निर्मूल साबित होता ही है। और भी जनसाधारण की जानकारी के लिये एक दो प्रमाण यहां दे देना उचित समझते हैं। यथा—

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता।
घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पावया भणिया ॥२५

—सूत्र प्राभृत

यद्यपि स्त्री सम्यग्दर्शन से शुद्ध कही गई है, मोक्ष के उपस्थित मार्ग से भी संयुक्त है, घोर चारित्र का आचरण करती है तो भी उसके प्रव्रज्या-दीक्षा नहीं कही गई है। इत्यादि।

प्रव्रज्या बिना संयम नहीं, सयम के बिना मोक्ष नहीं, यह इस पर से निर्णीत होता है। तथा—

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥

—प्रवचनसार अ० ३

निश्चय से स्त्रियों के स्त्री जन्म से सिद्धि नहीं होती है, इस लिये स्त्रियों के उनके योग्य वस्त्रयुक्त लिंग कहा गया है। इत्यादि।

पद्मचरित्र जिसपर स्त्रीमुक्ति मानने वालों का एकांगी अधिकार है, जो वी० नि० पांच सौ तीस ५३० वि० सं० ६० साठ का बना हुआ कहा जाता जाता है। उसके कर्ता विमल सूरि का स्त्रियों की मुक्ति के सम्बन्ध में क्या अभिमत है—थोड़ा सा देखिये—

महाराज श्रेणिक इन्द्रभूति गणधरदेव से पूछते हैं—हे स्वामिन और भी सुनिये, जो नारी प्रव्रज्या-दीक्षा धारण करती है वह शील और संयम में रत होती हुई किस गति को प्राप्त करती है—यह मुझे कहिये। इन्द्रभूति गौतम गणधर कहते हैं—हे श्रेणिक जो स्त्री दृढ़शील है, पतिव्रता है, सीता के सदृश है वह पुण्य कमा कर स्वर्ग प्राप्त कर सकती है। हे राजन! घोड़े, रथ, पत्थर, लोह और वृक्ष इनमें जैसा भेद है वैसा ही पुरुषों में और स्त्रियों में भेद है। यथा—

अन्नं पि सुणसु सामिय ! जा हवइ पइव्वया इहं नारी।
सा सीलसंजमरया साहसु कवणं गई लहइ ॥६८॥
तो भणइ इंदभूई जा दढ़शीला पइव्वया महिला।
सीयाए हवइ सरिसी सा सग्गं लहइ सुकयत्था ॥६९॥
जह तुरयरहवराण पत्थरलोहाण पायवाणं च।
हवइ विसेसो नरवइ तहेव पुरिसाण महिलाणं ॥७०॥

—पर्व: ७७

यहां विमलसूरि ने श्रेणिक और गणधरदेव के प्रश्नोत्तर उद्धृत किये हैं। शील-संयुक्त स्त्रियों की गति के सम्बन्ध में प्रश्न है। और उसका उत्तर स्वर्गगमन दिया गया है तथा दृष्टान्तपूर्वक पुरुषों में और स्त्रियों में बड़ा अन्तर बताया गया है, वह अंतर पुरुष का मोक्ष जाने और स्त्रियों का मोक्ष न जाने रूप ही यहां हो सकता है। अन्यथा अन्तर बताने

की कोई आवश्यकता न थी।

यहां एक विरोध आ उपस्थित होता है, वह यह कि भरत महाराज की माता केकई जब भरत दीक्षित हो गये तब वह भी प्रतिबुद्ध हुई, तीव्र वैराग्य उसको हुआ, निम्न, अशुचि और दुर्गन्धित अपने शरीरकी उसने निन्दा की। पश्चात वह पृथिवी-मति नाम की आर्यिका के पास तीन सौ स्त्रियों के साथ दीक्षित हुई और उत्तम सिद्धिपद को प्राप्त हुई। यथा—

अह सा उत्तमनारी पडिबुद्धा तिव्वजायसंवेगा।
निंदइ नियमसरीरं बीभच्छं असुइ दुग्गंधं ॥११
नारीण सएहिं तिहिं पासे अज्जाए पुहइमईए।
पव्वइया दढभावा सिद्धिपयं उत्तमं पत्ता ॥१२॥
—पर्व ८३

यहां 'सिद्धिपद' का अर्थ मुक्ति है या और कोई, यह विचारणीय है, श्रेणिक और इन्द्रभूति के प्रश्नोत्तर में विमलसूरि ने स्त्रियों के लिये स्वर्ग तो बताया है, मुक्ति क्यों नहीं बताई? क्या यहां पर कुछ परिवर्तन कर दिया गया है या और कोई बात है, खेर, आगे का प्रकरण देखिये उससे क्या निर्णय होता है। सीता महादेवी को जब रामचन्द्र ने सारथी के साथ वन में छुड़ा दिया उस वक्त वह वज्रजंघ से अपना वृत्तान्त कहती हुई—कहती है—अपने पुत्र के शोक से युक्त हुई केकई भी दीक्षा लेकर चारित्र का आराधन कर उत्तम त्रिदश-विमान को प्राप्त हो गई। यथा—

सुयसोगसमावन्ना पव्वज्जं केगई वि घेत्तूणं।
सम्माराहियचरिया तियसविमाणुत्तमं पत्ता ॥८६॥
—पर्व ६५

गाथा में निर्भ्रान्त 'त्रिदश विमान' पद पड़ा हुआ है, त्रिदश विमान का अर्थ देव विमान स्वर्ग होता है और भी देखिये—सीता का जीव अच्युतेन्द्र रामचन्द्र केवलिसे नमस्कार कर पूछता है-हे भगवन्! जो यहां दशरथ आदि थे वे और लव-अंकुश किस गति को गये हैं—यह कहिये। इस प्रकार पूछे जाने पर बलदेव केवली कहते हैं—अनरण्य राजा का पुत्र दशरथ आनत कल्प में निर्मल वस्त्राभूषणों से युक्त देव हुआ निवास कर रहा है। वे दोनों ही जनक के पुत्र, केकई, सुप्रभा, सुमित्रा और अपराजिता ये सब स्वर्ग में उत्पन्न हुए हैं। तथा नाना प्रकार के तप और संयम में दृढ़, विशुद्ध शीलवान धीरवीर लव और अंकुश अव्याबाध मोक्ष स्थान को जावेंगे। यथा—

नमिऊण पुच्छइ सुरो भयवं जे एत्थ दसरहाईया।
लवणं कुसा य भविया साहसु कवणं गइं पत्ता ॥४०
जं एव पुच्छिओ सो बलदेवो भणइ आणए कप्पे।
वट्टइ अणरण्णसुओ देवो विमलंबराभरणो ॥४१॥
ते दो वि जणयतणया केगई तह सुप्पहा य सोमित्ती
अवराइयाए समयं इमाइं सग्गोववन्नाइं ॥४५॥
नाणातवसंजमदढा विसुद्धसीला लवंकुसा धीरा।
गच्छीहंति गुणधरा अव्वाबाहं सिवं ठाणं ॥४६॥
—पर्व ११८

गाथा ४५ में भी केकई को स्वर्ग में उत्पन्न हुई कहा गया है। शील सयम युक्त स्त्रियां स्वर्ग आती हैं। उसी एक केकई को एक स्थल में सिद्धिपद को प्राप्त हुई कहा गयाहै और आगे एक ही जगह नहीं दो जगह उसका त्रिदश विमान में और स्वर्ग आना लिखा है। यह विरुद्ध कथन खटकता है, रविषेण के पद्मचरित में तो सिद्धि पद का नाम निशान भी नहीं है। वह श्लोक यह है—

सकाशे पृथ्वीमत्याः सह नारीशतैस्त्रिभिः।

दीक्षां जग्राह सम्यक्त्वं धारयन्ती सुनिर्मलं ॥२४॥
—पर्व ८६

तीन सौ स्त्रियों के साथ पृथ्वीमती आर्यिका के समीप निर्मल सम्यक्त्व को धारती हुई केकई ने दीक्षा ग्रहण की।

इस सब विवेचन से यह मालुम पड़ता है कि 'सिद्धिपयं' यह पद परिवर्तित हो गया है। इसके स्थान में 'तिदिसपयं उत्तमं पत्ता' ऐसा भी पाठ सम्भव हो सकता है। यद्यपि आगेके दोनों उद्धरणों पर से यह निर्भ्रान्त सिद्ध हो जाता है कि केकई स्वर्ग गई है। शील-संयम युक्त आर्यिकाओं को अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जाना कहा गया है, स्वय पउमचरिय के प्रणेता विमलसूरि भी उनका स्वर्ग जाना लिख रहे हैं ऐसी हालत में 'सिद्धिपयं उत्तमं पत्ता' यह पद निर्भ्रान्त न होकर सभ्रान्त ही है।

इस तरह प्रख्यात प्रख्यात आचार्यों का अभिमत स्त्री-मुक्ति निषेधपरक है। केवल षट्खण्डागम के उन सूत्रों पर से निर्भ्रान्त विषय को सभ्रान्त बना देना युक्ति—संगत नहीं है। स्त्रीमुक्ति का निषेध सैकड़ों ग्रन्थों में पाया जाता है, उनमें से लवमात्र यहां उद्धृत किया गया है। स्त्री-मुक्ति का निषेध गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धान्त विवेचन पूर्वक है। इसमें कोई सन्देह ही नहीं है। जिन जिन ख्यात-नामा आचार्यों ने जैसे, यतिवृषभ, समन्तभद्र, अकलंकदेव, विद्यानन्दि, वीरसेन, जिनसेन, प्रभाचन्द्र आदि सभी आचार्यों ने स्त्रियां चाहे वे द्रव्य हों या भाव—उनमें सम्यग्दृष्टि का मरकर उत्पन्न होना नहीं माना है वहां पर भी यह कहा जा सकता है कि गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धान्त के विवेचन किये बिना कह दिया गया है! अथवा क्या गुणस्थान-चर्चा और कर्मसिद्धांत के विवेचन बिना उनमें निकला हुआ निष्कर्ष नहीं कहा जा सकता! 'तत्त्वार्थ सूत्रादिक' में कौनर सी बात गुणस्थानचर्चापूर्वक और कर्मसिद्धान्त के विवेचन पूर्वक कही गई है, प्रायः उसमें सभी विषय गुणस्थानचर्चा न कर ही कहे हैं, इस लिये यह दोष कोई महत्व नहीं रखता है। वस्तु का कथन गुणस्थानचर्चा पूर्वक भी होता है और गुणस्थान के बिना भी होता है। किसी भी वस्तु स्वरूप को कहते समय 'धवला' की तरह गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धान्त का विवेचन ही करते बैठना तो कोई युक्ति-युक्त नहीं है। खैर फिर भी स्त्रीमुक्ति का निषेध गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धान्त का विवेचनपूर्वक ही है।

२-सवस्त्र-मुक्ति

यह दूसरा प्रकरण है, इसमें आप लिखते हैं—"श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यतानुसार मनुष्य वस्त्र-त्याग करके भी सब गुणस्थान प्राप्त कर सकता है और वस्त्र का सर्वत्याग न करके भी मोक्ष का अधि-कारी हो सकता है। पर प्रचलित दिगम्बर मान्य-तानुसार वस्त्र के सम्पूर्ण त्याग से ही संयमी और मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। अतएव इस विषय का शास्त्रीय चिन्तन आवश्यक है।"

लेखक महोदय को दिगम्बर मान्यता में सन्देह हो गया है अतः उसपर श्वेताम्बर मान्यता का पुट चढ़ा देना चाहते हैं अतएव आप शास्त्रीय चिन्तनकी ओर अग्रसर हुए हैं। सबसे पहले हम दिगम्बर जैन शास्त्रों की उस मान्यता को व्यक्त कर देना चाहते हैं, बाद को आपके शास्त्रीय चिन्तन पर चिन्तन करेंगे।

आचार्य पात्रकेसरी कहते हैं—हे जिनेश्वर, कंबल, वस्त्र और पात्रग्रहण यह आपका मत नहीं है किन्तु सुखका कारण समझकर शीत उष्ण आदि परीषहों के सहने में असमर्थ व्यक्तियों ने अपने आप कल्पित कर लिया है। यदि यह कंबल, वस्त्र, पात्रग्रहण मुक्ति का मार्ग है तो आपकी नग्नता व्यर्थ होती है, क्योंकि भूमि पर स्थित पुरुषों के द्वारा हाथ से ही जो फल सुखसे तोड़े जा सकते हैं तो फिर उनको तोड़ने के लिये वृक्ष पर आरोहण नहीं किया जा सकता। यथा—

जिनेश्वर ! न ते मतं पटकम्बलपात्रग्रहो,
विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पितः।
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद्वृथा नग्नता,
न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते ॥४१॥

—पात्रकेसरी स्तोत्र

कितनी अच्छी बात कही गई है, यदि वस्त्र आदि के पहने हुए ही मुक्ति हो सकती है तो वस्त्र त्याग कर नग्न होना बुद्धिमानी नहीं है। जो कार्य वस्त्र धारण करने से हो सकता है उसको प्राप्त करने के लिये वस्त्र त्यागना यह कोई उचित न्याय नहीं है। वृक्ष के फल भूमि पर खड़े खड़े ही हाथ से तोड़े जा सकते हों तो उन फलों को तोड़ने के लिए वृक्ष पर चढ़ना बुद्धिमानी नहीं है। आचार्य देवसेन कहते हैं—

यदि सग्रंथ मोक्ष जा सकता है तो तीर्थंकर रत्नों के खजानों के साथ साथ अपना राज्य क्यों छोड़ते हैं और निर्जन वन में जाकर क्यों निवास करते हैं। जो रत्नों का खजाना तो त्यागता है और गृहस्थ के योग्य पात्र, दंड, वस्त्र और कंबल ग्रहण करता है सो क्यों ? यथा—

जइ सग्गंथो मुक्खं तित्थयरो किं मुयइ णियरज्जं।
रयणणिहाणेहि समं किं णिवसइ णिज्जणो रण्णे ॥८८
रयणणिहाणं छंडइ सो कि गिण्हेइ कंबलीखंडं।
दुद्धिय दंडं च पडं गिहत्थजोग्गं पि जं किं पि ॥८६॥

—भाव संग्रह

जब हाथी पर बैठी हुई और देवालय में बुहारा काढ़ती हुई स्त्रियों को ही मुक्ति हो जाती है तब तीर्थंकर जिनको कि मुक्ति अवश्यं-भाविनी है वे रत्नों के खजाने त्यागते हैं, निर्जन वनों में निवास करते हैं, घोर तप तपते हैं परीषह और उपसर्ग सहते हैं वे सब क्यों करते हैं। इससे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि सग्रंथ लिंग में मोक्ष नहीं होता अतः तीर्थंकर भी निर्ग्रंथलिंग धारण करते हैं।

सग्रंथ मुक्ति मानने वाले इस बात को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि अचेल दो तरह के होते हैं, एक वह जिसके पास चेल वस्त्र है, दूसरा वह जिस के पास वस्त्र नहीं है तीर्थंकर असच्चेल अर्थात निर्वस्त्र होते हैं और शेष सच्चेल अर्थात सवस्त्र होते हैं। शेष भी निर्वस्त्र होते हैं, ऐसा भी वे मानते हैं। यथा—

दुविहो होंति अचेलो संताचेलो असंतचेलो य।
तित्थगर असंतचेला संताचेला भवे सेसा ॥

—बृहत्कल्प

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रतिपादन करते हैं—जिन शासन में वस्त्रधर सिद्ध नहीं होता वह वस्त्रधर चाहे तीर्थङ्कर ही क्यों न हो। मोक्ष का मार्ग नग्न है, इसके अलावा शेष सब उन्मार्ग हैं। यथा—

ण वि सिज्झइ वत्थधरो,
जिणसासणे जइ वि तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो,

सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

—सुत्त-पाहुड़

उक्त उद्धरणों पर से यह निश्चित है कि दिगम्बर जैनों की वर्तमान मान्यता अपने उक्त आगमों के अनुकूल है, वस्त्र रखने में बड़े बड़े दोष ही नहीं संयम का लेश भी नहीं रहता है यह सब विषय आगे स्पष्ट किया जायगा।

अब पाठक महोदय प्रोफेसर जी के अत्यन्त आवश्यक शास्त्रीय चिन्तवन पर आइए—इस विषय में आपके पास तीन तर्क थे। उनमें से पहला तर्क है कि "दिगम्बर सम्प्रदाय के अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ भगवती आराधना में मुनि के उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का विधान है, जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है देखो गाथा (७६-८३)।"

भगवती आराधना यद्यपि कुन्दकुन्ददेव के ग्रंथों से प्राचीन नही है, परन्तु आप उसे अत्यन्त प्राचीन इस लिए लिखते हैं कि आप भगवती आराधना के अपवादमार्ग से मुनि वस्त्र धारण करते हैं यह सिद्ध करना चाहते हैं और एक किसी ट्रैक्ट में आप भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य को शिवभूति मान कर दिगम्बर मत का चलाने वाला लिख चुके हैं। यह बड़ी खुशी की बात है कि आप उसे किसी भी प्रकार अत्यन्त प्राचीन मानते हैं। आइए— अत्यन्त प्राचीन भगवती आराधना का क्या अभिमत है इसपर भी गौर कीजिये।

महर्षि शिवकोटि ने भगवती आराधना के भक्त-प्रत्याख्यान में चालीस सूत्रपद कहे हैं उनमें प्रथम के दो सूत्रपद हैं, अर्ह और लिंग। अर्ह नाम योग्य का है, भक्तप्रत्याख्यान के योग्य कौन हो सकता है यह बताते हुए कहा है—ऐसे और भी गाढ़ कारण आ उपस्थित होने पर विरत अर्थात मुनि और अविरत अर्थात श्रावक भक्त प्रतिज्ञा के योग्य होता है। यथा—

अण्णम्मि चावि एदारसम्मि आगाढकारणे जादे।
अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा ॥७४

अविरत शब्द का अर्थ पं० आशाधर जी मूला-राधनादर्पण में श्रावक करते हैं। इस लिये जान पड़ता है मुनि और श्रावक ये दो भक्त प्रतिज्ञा के योग्य होते हैं। प्रकरण भी मूल भूत दो हैं एक मुनियों का और दूसरा श्रावकों का; इससे भी अविरत शब्द का अर्थ श्रावक स्पष्ट होता है। जब भक्त-प्रतिज्ञा के योग्य मुनि और श्रावक दो हैं तब लिंग भी दोनों के जुदे जुदे होने चाहिए। लिंग भी भक्त प्रत्याख्यान की एक सामग्री है उसके बिना भक्त प्रत्याख्यान हो भी नहीं सकता। इस लिये लिंग प्रतिपादन करते हैं कि लिंग के दो भेद हैं। एक औत्सर्गिक निर्वस्त्र नग्न लिंग और अपवादिक सचेल सवस्त्र लिंग। जिसके पहले से औत्सर्गिक लिंग है उसके सामान्यकाल में वही औत्सर्गिकलिंग होता है। और जिसके पहले से आपवादिक सवस्त्र लिंग है यदि उसका मेहन-पुरुष चिन्ह चर्मरहितत्व, अतिदीर्घत्व, स्थूलत्व, बारबार उत्थानशीलत्व आदि दोषों से रहित और अंडकोष भी अति लंबमानत्वादि दोषों से रहित प्रशस्त है तो उसके भी मरणकाल में औत्सर्गिकलिंग होता है।

उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव।
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥७७

दोनों लिंगों का अर्थ यह है कि सब तरह के परिग्रहों के त्याग का नाम औत्सर्गिक है, जिसमें वस्त्र पात्र आदि नहीं हैं। अपवाद नाम परिग्रह का है

उस परिग्रह से युक्त लिंग का नाम अपवादिक लिंग है। जो वस्त्र पात्र आदि से युक्त होता है। इसपर से पाठक चौंकें नहीं कि यह क्या बात कह दी गई। इसका स्पष्टीकरण आगे आचार्य स्वयं करेंगे। यहां पर एक खास बात विचारणीय है कि अपवादलिंग वाले को औत्सर्गिकलिंग देना क्यों कहा गया जबकि दोनों से एक ही कार्य हो सकता है। औत्सर्गिक लिंग में ऐसी कौन सी करामात है जो मरते हुए को भी वह दिया जाय। इसमें मालूम होता है कि ऐसी कोई बात जरूर है जो अपवादिक लिंग से नहीं मिलती है, अन्यथा औत्सर्गिकलिंग की आवश्यकता ही नहीं रहती है। और भी देखिये—जिसके उक्त त्रिस्थानक अर्थात लिंग और दोनों कोषों में ऐसा दोष है जो औषध आदि से भी दूर नहीं किया जा सकता वह भी वसतिका के भीतर संस्तरारोहण काल में अचेलता लक्षण औत्सर्गिकलिंग ग्रहण करे ही। यथा—

जस्स वि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाणगो विहारम्मि।
सो वि हु संथारगदो गेण्हेज्जोस्सग्गियं लिंगं ॥७८॥

जो उक्त त्रिदोषों के कारण जन्मभर औत्सर्गिक लिंग धारण नहीं कर सकता उसे भी मरणकाल में बाहर नहीं, वसतिका में औत्सर्गिक लिंग दिये जाने का विधान कोई अभूतपूर्व बातका कहता है, अन्यथा औत्सर्गिक लिंग की आवश्यकता ही क्या है जब कि अपवादलिंग से ही नवग्रैवेयकादिक की और मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। तथा जो महर्द्धिक है, लज्जावान है, जिसके बन्धुवर्ग मिथ्यामतानुयायी हैं, उसके अयोग्य अविविक्त वसतिका में मरणकाल में अपवादिक अर्थात सचेल लिंग होता है। यथा—

आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महड्ढिओ हिरिमं।
मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं ॥

यह अपवादलिंग क्या है? यह है, कौपीनमात्र, या खंडवस्त्र रूप उत्कृष्ट श्रावकलिंग। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि इस अपवादिक लिंग से औत्सर्गिकलिंग के कार्य का सम्पादन हो जाता है, यदि ऐसा होता तो औत्सर्गिक लिंग की आवश्यकता ही नहीं रहती है। यह एक विवशता है जिसके कारण ऐसे व्यक्तियों के लिये अपवादिकलिंग कहना पड़ा है। यदि अपवादलिंगमें यह गुण होता तो इन्हें ही क्यों? औरों को भी दिया जाता। अपवाद लिंगधारी कौन होते हैं यह उक्त गाथा नं० ७६ से स्पष्ट हो जाता है।

आचार्य शिवकोटि ने औत्सर्गिकलिंग के चार विकल्प कहे हैं-एक आचेलक्य, दूसरा लोच, तीसरा व्युत्सृष्ट शरीरता, और चौथा प्रतिलेखन। यथा—

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥८०॥

हां, स्त्रियां रह गई हैं उनके भी मरणकाल में कौन सा लिंग होता है सुनिये—स्त्रियों के अर्थात आर्यिकाओं के और श्राविकाओं के जो कि मरणकाल में परिग्रह कम करना चाहती हैं उनके भी आगम में औत्सर्गिक लिंग होता है। यथा—

इत्थी वि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा।
तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करंतीए ॥८१॥

टीकाकार श्री शब्द का अर्थ तपस्विनी और इतर शब्द का अर्थ श्राविका करते हैं और कहते हैं कि जो स्त्रियां महर्द्धिक हैं, लज्जावती हैं और मिथ्यादृष्टि जिनके बन्धुवर्ग हैं उनके प्राक्तन अपवादलिंग ही होता है, इनके अलावा औरों के मरणकाल में वह भी वसतिका में औत्सर्गिक लिंग भी होता है।

पण्डितप्रवर आशाधर जी भी कहते हैं—

यदौत्सर्गिकमन्य । लिंगं दृष्टं स्त्रियाः श्रुते ।
पुंवत्तदिष्यते मृत्युकाले स्वल्पीकृतोपधेः ॥

अब औत्सर्गिक लिंग के गुण सुनिये, जो भगवती आराधना के कर्ता शिवकोटि के द्वारा कहे गये हैं। लिंग ग्रहण में ये गुण हैं—पहला गुण है—यात्रासाधन चिन्हकरण, इसको टीकाकार इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं कि यात्रा नाम शरीर की स्थिति का कारण भूत भोजन—क्रिया है उसका साधन चिन्ह यह लिंग है, क्योंकि गृहस्थवेष में स्थित गुणी है इस प्रकार सब जनता के द्वारा जाना नहीं जा सकता। जो लोग गुण विशेष नहीं जान सकते वे दान नहीं देते, इससे शरीर की स्थिति नहीं रह सकती, शरीर-स्थिति के न होने पर रत्नत्रय-भावना का प्रकर्ष क्रम से बढ़ेगा नहीं, रत्नत्रय की भावना के बढ़े बिना मुक्ति नहीं हो सकती, तब अभिलषित कार्य की सिद्धि ही न होगी, इस लिये गुणवत्ता का सूचन करने वाला नग्नलिंग है, उससे दानादिक की परम्परा बनी रहने से कार्य की सिद्धि होती है। यह भाव यात्रा-साधन चिन्हकरण पद का है। अथवा यात्रा शब्द का अर्थ गति है। जैसे— देवदत्त का यह यात्रा-काल है—गमन का समय है। गति सामान्य वचन होने से भी यह यात्रा शब्द शिवगति इस अर्थ में ही बनता है जैसे दारक अर्थात लड़के को तू देखता है, यहां लड़का सामान्य होते हुए भी अपना लड़का सिद्ध होता है, यात्रा अर्थात् मोक्ष गति का साधन जो रत्नत्रय उसका चिन्ह यह नग्नलिंग है। दूसरा गुण है 'जगत्प्रत्यय' इस लिंग पर जगत के जीवों को श्रद्धा होती है, 'सकलसंग-परिहारो मार्गो मुक्तेरित्यत्र भव्यानां श्रद्धां जनयति' अर्थात सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग मुक्ति का मार्ग है। ऐसी इस लिंग में भव्य-जीवों के श्रद्धा उत्पन्न होती है। तीसरा गुण है—'आत्मस्थितिकरण' अथात् मुक्तिमार्ग में अस्थिर अपनी आत्मा को स्थिर यह लिंग करता है कि 'किं मम परित्यक्तवसनस्य रागेण, रोषेण, मानेन, मायया लोभेन वा, वसननिमित्ताः सर्वा लोके अलंक्रियाः तच्च निरस्तं, अर्थात मेरे वस्त्रपरित्यागी के राग से, रोष से, मान से, माया से अथवा लोभ से क्या प्रयोजन है, लोक में सब अलंकार क्रिया वस्त्रपरि-धान पूर्वक है उसको तो मैंने त्याग कर ही दिया है, इस तरह वह अपनी आत्मा को नग्नलिंग में स्थिर करता है। चौथा गुण है 'गृहिभावविवेक' अर्थात् नाग्न्यलिंग अपने को गृहस्थभाव से जुदा दिखलाता है। नाग्न्यलिंग के बिना गृहस्थपने से जुदा नहीं होता, इससे ज्ञात होता है कि नाग्न्यलिंग का न होना गृहस्थपना है। इस तरह आचेलक्यलिंग में यह चार गुण हैं। यथा—

जत्तासाधणचिण्हकरणं खु जगपच्चयादठिदिकरणं।
गिहिभावविवेगो वि य लिंगग्गहणे गुणा होंति ॥८२

और भी देखिये—लिंग ग्रहण में पांचवां गुण परिग्रह त्याग लघुता है, परिग्रहवान हृदय पर आरोपित की गई शिला के समान भारी होता है, इस परिग्रह की मैं अन्य चोर आदि से कैसे रक्षा करूं इस प्रकार दुर्धरचित्त में उत्पन्न हुई खेद के दूर हो जाने से लघुता होती है। छठा गुण अप्रतिलेखन* है अर्थात वस्त्र-रहित लिंगधारी को केवल पिच्छिका का शोधन करना पड़ता है। सातवां गुण परिकर्म

* वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रखण्डादिकं शोधनीयं महत्। इतरस्य पिच्छादिमात्रं।

विवर्जन+ है। अर्थात् मांगना, सीना, सुखाना, धोना आदि अनेक व्यापार वस्त्रधारी करता है जोकि वस्त्र परिधारण ध्यान स्वाध्याय में विघ्नकारी है, अचेल के वह उस तरह का नहीं है। आठवां गुण भयरहितता है—भय से व्याकुल चित्त होने से रत्नत्रय की घटना में उद्योग नहीं होता। वस्त्र सहित मुनि वस्त्रों में जूं, लीख आदि सम्मूर्छन जीवों का परिहार करने के लिये अक्षम होता है। और अचेल तो उनका परिहार कर देता है इस प्रकार लिंग ग्रहण में संसर्जन परिहार नाम का नौवां गुण* है। यथा—

गंथच्चाओ लाघवमप्पडिलिहणं च गदभयत्तं च।
संसज्जणपरिहारो परिकम्मविवज्जणा चेव ॥८४॥

तथा अचेलतात्मक रूप जीवों को विश्वास* उत्पन्न करने वाला है, ये परिग्रह रहित मुनि कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते और न दूसरों का घात करने वाले गुप्त शस्त्रों का ग्रहण ही इन साधुजन के पास संभावित हो सकता है और न इन विरूप मुनियों में हमारी स्त्रियां राग भावानुबन्ध करती हैं इस प्रकार का विश्वास होता है। विषय—जनित शारीरिक सुखों में अनादर नाम का ग्यारहवां गुण होता है। सर्वत्र आत्मवशता नाम का बारहवां गुण होता है क्योंकि निर्वसन मुनि सब जगह इच्छानुसार बैठता है, चलता है, और सोता है। नग्नलिंग ग्रहण में तेरहवां गुण है परिषह अधिवासना×। क्योंकि नग्न मुनि के शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परिषहों का जीतना युक्त होता है। वस्त्राच्छादन वाले के शीत आदि की बाधा नहीं होगी जिससे उसके शीतादि के सहन रूप परिषह का जय हो। यथा—

विस्सासकरं रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु।
सव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासणा चेव ॥८५॥

तथा यह अचेललिंग जिन भगवान का है रूप प्रतिबिम्ब है, वे मुमुक्षु जिनेन्द्र मुक्तिका उपाय जानने वाले हैं. जो लिंग उनने ग्रहण किया था वही मुक्ति चाहीताओं के योग्य है यह अभिप्राय यहां पर है। जो विवेकवान जिस बात को चाहने वाला है वह उस बात की प्राप्ति का अनुपाय स्वीकार नहीं करता है, जैसे घट चाहने वाला तंतु आदि को ग्रहण नहीं करता। मुक्ति का चाहने वाला है मुनि, इस लिये वह चेल अर्थात् वस्त्र ग्रहण नहीं करता है। क्योंकि वस्त्र मुक्ति का उपाय नहीं है। जो अपने अभीष्ट का उपाय है उसी को वह नियम से ग्रहण करता है, जैसे कुम्हार चाक आदिको। इस प्रकार मुनि भी मुक्तिकी उपायभूत अचेलता को ग्रहण करता है। क्योंकि जिस तरह ज्ञानाचार और दर्शनाचार जिनेन्द्रों का आचरण है उसी प्रकार अचेलता भी जिनेन्द्रों का

+ याचनसीवनशोषणप्रक्षालनादिरनेको व्यापारः स्वाध्यायध्यानविघ्नकारी, अचेलस्य तन्न तथेति

* सवसनो यतिर्वस्त्रेषु यूकालिक्षादिसंमूर्छनजजीवपरिहारं विधातुं नार्हति अचेलस्तु तं परिहरति। —विजयोदया

* विश्वासकारि जनानां रूपं अचेलतात्मकं। —विजयोदया

× शीतोष्णदंशमशकादिपरीषहजयो युज्यते नग्नस्य, वसनाच्छादनवतो न शीतादि-बाधा येन तत्सहन-परिषहजयः स्यात्। तथा चाभ्यन्तरशीतोष्णदंशमशकपरिषहसहनमिह कथितं भवति। सचेलस्य हि सप्रावरणस्य न तादृशी शीतोष्णदंशमशकजनिता पीडा यथा अचेलस्येति मन्यते। —विजयोदया

आचरण* है। तथा वीर्याचार, रागादि दोषों का परिहरण इत्यादि बहुत से गुण आचेलक्य में हैं। यथा—

जिणपडिरूवं विरियायारो रागादिदोसपरिहरणं।
इच्चेवमादि बहुगा अच्चेलक्के गुणा होंति ॥८५॥

और भी अचेलता का माहात्म्य हृदयंगम कीजिये इस प्रकार वह सर्वसमितेन्द्रिय मुनि एक पाद समपाद आदि स्थान क्रिया, उत्कटासनादि आसन क्रिया, दंडायतशयनादि शयन क्रिया और सूर्याभिमुखगमनादि गमन क्रिया में नग्नता रूप रत्नत्रय की गुप्ति को प्राप्त हुआ दृढ़ चेष्टा करता है+।

इय सव्वसमिदकरणो ठाणासणसयणगमणकिरियासु णिगिणं गुत्तिमुवगदो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥८६॥

उक्त सब गाथाओं में अचेलता का कितना ऊंचा माहात्म्य दिखाया है, जो माहात्म्य अचेलता में है वह सचेलता में नहीं है यह बात भी अचेलता के माहात्म्य से स्पष्ट हो जाती है, मुक्ति का उपाय भी अचेलता, नग्नता, निर्वस्त्रता, विवसनता ही है इस से विपरीत सचेलता, अनग्नता, सवस्त्रता, सवसनता मुक्ति का उपाय नहीं है। यह बात उक्त गाथासूत्रों पर से तथा विजयोदया टीका पर से सिद्ध होती है। जो महोदय भगवती आराधना के अपवादलिंग से मुक्ति कह रहे हैं, उन्हें भगवती आराधना को ही कम से कम आंख खोलकर देखना चाहिये कि वह कहां तक उनका साथ दे रही है।

अब जरा अपवादलिंग पर भी दृष्टि डालिये, उस का धारक शुद्ध होता है या नहीं। होता है तो कब होता है और किस उपाय से होता है। सुनिये—

अपवादलिंग में स्थित व्यक्ति भी अपनी शक्ति को न छिपाकर, उपधि अर्थात परिग्रह का योगत्रय से त्याग करता हुआ और निन्दा और गर्हा से युक्त हो ।। हुआ शुद्ध होता है। यथा—

अववादियलिंगकदो वि सयासत्ति अगूहमाणो य।
णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदि उवधिं परिहरंतो ॥८७॥

अपवादलिंगीने जो उपधि धारण कर रक्खी हो उसका त्याग कर चुकने पर ही वह शुद्ध होता है, इतना ही नहीं उस उपधि की आत्मसाक्षी पूर्वक निंदा और गुर्वादिक की साक्षीपूर्वक गर्हा भी वह करता है तब बताइये अपवादलिंग से मुक्ति होती हो तो उस की निन्दा और गर्हा क्यों की जानी चाहिये। इस निन्दा गर्हा से तो बिलकुल साफ होता है कि वस्त्रपरिधारण युक्त अपवादलिंग से मुक्ति प्राप्ति रूप शुद्धि नहीं है।

टीकाकार अपराजितसूरि निन्दा-गर्हा को इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं—"सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तेर्मार्गो मया तु पातकेन वस्त्रपात्रादिकःपरिग्रहः परिषहभीरुणा गृहीत इत्यन्तःसन्तापो निन्दा। गर्हा परेषां एवं कथनं" अर्थात् सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग मुक्ति

---

* जिनानां प्रतिबिंबं चेदं अचेललिंगं। ते हि मुमुक्षवो मुक्त्युपायज्ञा यद्गृहीतवंतो लिंगं तदेव तदर्थिनां योग्यमित्यभिप्रायः। यो हि यदर्थी विवेकवान नासौ तदनुपायमादत्ते. यथा घटार्थी तन्तुरित्येवमादीन, मुक्त्यर्थी च यति नं चेलं गृह्णाति मुक्तेरनुपायत्वात। यच्चात्मनोऽभिप्रेतस्योपायस्तन्नियोगत उपादत्ते यथा चक्रादिकं, तथा यतिरपि अचेलतां तदुपायतां वा, अचेलतायां जिनाचरणादेव ज्ञानदर्शनाचारयोरिव।

+ कृतवसनत्यागस्य शरीरे निस्पृहस्य मम िं शरीरतर्पणेन तपसा निर्जरामेव कर्तुमुत्सहते, तपसि यतते इति भावः।

का मार्ग है। मुझ परीषह-भीरु पापी ने वस्त्र पात्र आदि परिग्रह ग्रहण कर रखा है। इस प्रकार अपने मनमें सन्ताप करना तो निन्दा है और ऐसा ही दूसरों को कहना सो गर्हा है।

अब पाठक सोचिये—यदि अपवादलिंगमें मुक्ति प्राप्ति रूप गुण होता तो मूल कर्ता शिवार्य क्यों उस की निन्दा-गर्हा का विधान करते और विजयाचार्य क्यों उसे स्पष्ट करते। जब परिग्रह से मुक्ति हो सकती है तो स्वयं शिवार्य उसका त्याग तो क्यों कराते हैं और नग्नता का इतना ऊंचा गुणगान करते हुए उसे मुक्ति का उपाय क्यों मानते हैं।

भगवतीकार यों तो महर्द्धिक आदि मनुष्यों को और स्त्रियों को अपवाद लिंग धारण करने का और मरणकाल में उन्हें उत्सर्गलिंग प्रदान करनेका विधान कर गये हैं। तथा सामान्यतः अविरत अर्थात् श्रावकों के अपवादलिंग का विधान भी कर गये हैं परन्तु सीधे शब्दों में उनका नाम ग्रहण नहीं कर रहे हैं। टीकाकार भी प्रायः प्रायः उनके अनुगंता प्रतीत हो रहे हैं, हां, 'तपस्विनीनां' और श्राविकाणां इन पदों का प्रयोग वे अवश्य करते हैं। इससे यह मालूम होता है कि अपवादलिंगधारी तपस्विनीएं और उत्कृष्ट श्राविकाएं होती हैं। इससे अपवादलिंग के दो भेद सूचित हो जाते हैं। जब उत्कृष्ट श्राविकाएं अपवादलिंग धारिणी हैं तब उत्कृष्ट श्रावक भी अनुक्त सिद्ध हो जाते हैं। इससे यह तात्पर्य निकल आता है कि उत्सर्गलिंग के धारी मुनि होते हैं तथा अपवादलिंग के धारी उत्कृष्ट श्रावक, श्राविकाएं और आर्यिकाएं होती हैं। इस तरह अपवादलिंग के दो भेद हो जाते हैं एक उत्कृष्ट श्रावक लिंग और दूसरा आर्यिका लिंग। भगवती का यह उपदेश कुंदकुंद देव के उपदेश का ही अनुसरण करता है। कुन्दकुन्द देव कहते हैं—एक लिंग तो जिनेन्द्र का नग्न रूप है, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का रूप और तीसरा आर्यिकाओं का रूप। इन तीन लिंगों को छोड़ कर जिन दर्शन में चौथा लिंग नहीं है। यथा—

एगं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु।

अवरट्ठियाणं तइयं चउत्थं पुणलिंग दंसणे णत्थि

तब बताइये मुक्ति पहुंचाने वाला वस्त्रधारी चौथा लिंग कहां से फूट पड़ा। भगवतीकार उत्सर्ग और अपवाद ऐसे दो लिंग कहते हैं और उन्हीं के शब्दों में अपवादलिंग के दो भेद भी सिद्ध होते हैं। कुन्दकुन्ददेव उत्सर्ग और अपवाद भेद न कर उन्हीं के जिनलिंग, उत्कृष्ट श्रावकलिंग और आर्यिकालिंग ऐसे तीन भेद कर देते हैं। दोनों आचार्यों का उपदेश वचन-भंगी को छोड़कर परस्पर में कौन सा विरोध प्रदर्शित कर रहा है। इनमें सिर्फ शब्द-भेद है अर्थ-भेद कुछ है ही नहीं।

भगवती आराधना के अपवादलिंग को मुनियोंका लिंग समझ लेना और उसका अर्थ वस्त्रधारी मुनि भी मुक्ति के अधिकारी होते हैं ऐसा समझ लेना भगवती आराधना के तात्पर्य को न समझने के सिवा कोई खास तथ्य नहीं रखता है।

तत्वार्थसूत्रकार बाईस परीषहों का नामोल्लेख करते हैं, उनमें वे नाग्न्य परीषह का सहन कह रहे हैं। वस्त्रधारी मुनि इस परीषहको क्या खाक सहन करेगा और शीत, उष्ण, दंशमशक परीषहों का सहन भी दूरोत्सरित हो जायगा, ऐसी हालत में बाईस परीषहों के सहन का विधान केवल खिलौना ही साबित होगा। खैर, भगवती आराधना के अनुसार भी न तो मुनियों के लिये अपवादलिंग है और

न उससे मुक्ति ही होती है यह उसके उक्त-विवेचन से सुस्पष्ट है। प्रमाण तो भगवती आराधना के और भी बहुत हैं, उन्हें यहां न देकर इस पहले तर्क की यहां अन्त्येष्टि किये देते हैं।

दूसरा तर्क भी मुनियों के वस्त्र [illegible] में या सग्रंथलिंग से मुक्ति पहुंचाने में सहायक नहीं है उस में आप लिखते हैं—

२—"तत्वार्थसूत्र में पांच प्रकार के निर्ग्रंथों का निर्देश किया गया है जिनका विशेष स्वरूप सर्वार्थ-सिद्धि व राजवार्तिक टीका में समझाया गया है। (देखो अध्याय ६ सूत्र ४६-४७) इसके अनुसार कहीं भी वस्त्रत्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता। बल्कि बकुश निर्ग्रंथ तो शरीर संस्कार के विशेष अनुवर्ती कहे गये हैं।"

यह दीक्षा विधि के न जानने का प्रतिफल है जो व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करना चाहता है वह घर, परिवार आदि को त्याग कर आचार्य के पास जाता है, उन्हें नमस्कार कर दीक्षा देने की प्रार्थना करता है, आचार्य उसे दीक्षायोग्य समझकर उसे स्वीकार करते हैं, वहां वह यथाजात रूप को अर्थात नग्नत्व को धारण करता है, बाह्य और आभ्यन्तरलिंग या द्रव्यलिंग और भावलिंग ऐसे दो लिंग उसके होते हैं। द्रव्य-लिंग में पांच बातें होती हैं। एक यथाजातरूप अर्थात नग्न होना, बालों का उत्पाटन करना अर्थात लोच करना, सर्वसावद्य योग से रहित शुद्ध होना, हिंसादिक से रहित होना और अप्रतिकर्म अर्थात शरीर संस्कार न करना। इसी प्रकार भावलिंग से भी पांच बातें होती हैं. मूर्छा और आरम्भ से रहित होना, उपयोग और योग से युक्त होना और परद्रव्य की अपेक्षा से रहित होना। यह दोनों प्रकार का जैन लिंग मोक्ष का कारण है। इस प्रकार गुरुप्रदत्त द्रव्यभाव दोनों लिंग धारण कर वह व्रत सहित प्रति-क्रमण क्रिया को सुनकर श्रमण मुनि होता है। यथा—

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरु-कलत्त-पुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥२॥
समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहिं तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो
णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जध जादरूवधरो ॥४॥
जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥५॥
मुच्छारंभविमुक्कं जुत्तं उपजोगजोग सुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥६॥
आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥

—प्रवचन चूलिका अ० ३

इन गाथाओं के टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि और जयसेन सूरि का भी मत यही है।

उक्त रीत्या वस्त्रत्याग तो वह प्रारम्भ में ही कर देता है ऐसी हालत में 'वस्त्रत्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता' यह कथन विशिष्टावेशवशीकृत है। यदि कहें कि सर्वार्थ सिद्धि और राजवार्तिक के अनुसार यह कहा गया है तो भी अयुक्त है, क्योंकि पुलाकादि पांच मुनि माने गये हैं, वे पांचों ही चारित्र परि-णाम के प्रकर्ष और अप्रकर्ष भेद के होने पर भी नैगम संग्रहादि नयों की अपेक्षा से निर्ग्रन्थ हैं। ग्रन्थ नाम परिग्रह का है, परिग्रह से जो रहित होते हैं वे निर्ग्रन्थ हैं, निर्ग्रन्थ नग्न को कहते हैं। नग्न हुए बिना निर्ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते। जब वे निर्ग्रन्थ

हैं तो वस्त्रत्यागपूर्वक नग्न भी हैं। इस तरह स्वयं तत्वार्थसूत्र पर से ही वस्त्रत्याग अनिवार्य है, सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक तत्वार्थसूत्र की ही तो टीका है, वह मूल से विरुद्ध तो जायगी ही नहीं। फिर भी सुनिये वह टीका किस आशय को पुष्ट करती है—

आचार्य कहते हैं-'त एते पंच निर्ग्रन्था:' अर्थात ये पांच निर्ग्रन्थ हैं इस पर से कोई कहता है जैसे-गृहस्थ चारित्र के भेद से 'निर्ग्रन्थ' इस नाम का धारक नहीं होता है उसी तरह पुलाकादिक भी चारित्र के प्रकृष्ट अप्रकृष्ट और मध्यमभेद से निर्ग्रन्थ नहीं हो सकते। आचार्य उत्तर देते हैं—यह दोष नहीं है, क्योंकि जिस तरह चारित्र अध्ययन आदि के भेद से भिन्न होते हुए भी सब ब्राह्मणों में जाति की अपेक्षा से ब्राह्मण शब्द पाया जाता है उसी तरह प्रकृष्ट अप्रकृष्ट और मध्यम चारित्र भेद के होते हुए भी पांचों में निर्ग्रन्थ शब्द पाया जाता है। तथा सम्यग्दर्शन और भूषा, वेष, और आयुध इनसे रहित निर्ग्रन्थरूप सामान्यतया सब पुलाकादिकों में पाया जाता है इस लिये पांचों पुलाकादिकों में निर्ग्रन्थ शब्द युक्त है। फिर शंका करता है कि यदि अपरिपूर्ण व्रत में भी निर्ग्रन्थ शब्द रहता है तो श्रावक में अपरिपूर्ण व्रत है इस लिये उसमें भी निर्ग्रन्थ शब्द होना चाहिये अर्थात अल्पव्रत वाले को निर्ग्रन्थ कह सकते हैं तो श्रावक को भी निर्ग्रन्थ कहना चाहिये। उत्तर देते हैं—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि श्रावक में 'रूप' का अभाव है, हमें यहां निर्ग्रन्थ रूप प्रमाण है श्रावक में निर्ग्रन्थ नग्न रूप नहीं है इस लिये श्रावक निर्ग्रन्थ नहीं कहा जाता। फिर वह शंका करता है कि यदि नग्नरूप प्रमाण है तो अन्य समान रूप अर्थात नग्नमें निर्ग्रन्थ व्यपदेश प्राप्त होता है। आचार्य कहते हैं नहीं होता, क्यों? उसमें सम्यग्दर्शन का अभाव है, सम्यग्दर्शन के साथ साथ जिसमें नग्न रूप है उसमें निर्ग्रन्थ नाम पाया जाता है, रूपमात्र अर्थात केवल नग्न में निर्ग्रन्थ व्यपदेश नहीं पाया जाता। यथा—

कश्चिदाह—·········यथा गृहस्थश्चारित्र—भेदा त्रिनिर्ग्रन्थव्यपदेशभाग् न भवति तथा पुलाकादीनामपि प्रकृष्टाप्रकृष्टमध्यमचारित्रभेदान्निर्ग्रन्थत्वं नोपपद्यते। न वैष दोषः, कुतः·········यथा जात्या चारित्रा-ध्ययनादिभेदेन भिन्नेषु ब्राह्मणशब्दो वर्तते तथा निर्ग्रन्थशब्दोऽपि। किं च—सम्यग्दर्शनं निर्ग्रन्थरूपं च भूषावेशायुधविरहितं तत्सामान्ययोगात्सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्ग्रन्थशब्दो युक्तः। यदि भग्नव्रतेऽपि निर्ग्रन्थशब्दो वर्तते श्रावकेऽपि स्यादित्यतिप्रसंगो नैष दोषः कुतो रूपाभावात, निर्ग्रन्थरूपमत्र नः प्रमाणं न च श्रावके तदस्तीति नातिप्रसंगः। स्यादेतत, यथा रूपं प्रमाणं अन्यस्मिन्नपि सरूपे निर्ग्रन्थव्यपदेशः प्राप्नोतीति तन्न, किं कारणं? दृष्ट्यभावात, दृष्ट्या सह यत्र रूपं तत्र निर्ग्रन्थ-व्यपदेशः, न रूपमात्रे, इति।

—राजवार्तिक पे० ३५८

पाठक अकलंकदेव के उक्त वक्तव्य पर गौर कीजिये वे पांचों पुलाकादिकों को सम्यग्दर्शन और निर्ग्रन्थ रूप से युक्त मानते हैं, वस्त्रधारी श्रावकों को वे निर्ग्रन्थ नहीं मानते, चाहे कौपीनमात्र-धारी उत्कृष्ट श्रावक ही क्यों न हो। फिर धोती, दुपट्टे, कम्बल पहनने और ओढ़ने वालों की बात तो बहुत दूर आ पड़ती है। निर्ग्रन्थ की व्याख्या भी वे भूषा, वेश, आयुध रहित करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि

पुलाकादि पांचों निर्ग्रन्थ, भूषा अर्थात् आभूषणोंसे, वेष अर्थात् वस्त्रों से आयुध अर्थात् दंडे आदि से रहित नग्न हैं। ओह! फिर भी प्रोफेसर जी कहते हैं सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक टीका के अनुसार कहीं भी वस्त्रत्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता। कितनी बड़ी हवल झूठ है, यदि हम इस झूठ को 'गप्पाष्टक' कह डालें तो भी कोई हर्ज नहीं होगा। आचार्य विद्यानन्दी तो स्पष्ट शब्दों में निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ यथाजात भूषा, वेषायुध से रहित करते हैं। यथा—

निर्ग्रन्थरूपं हि यथा-जात-रूपमसंस्कृतं भूषावेशायुधविरहितं।

—श्लोकवार्तिक पे० ४०७

भगवन् अकलंकदेव और विद्यानन्दी की यह मान्यता गौतम मान्यता के विरुद्ध नहीं है। चैत्यभक्ति में वे कहते हैं:—

हे भगवन! आपका रूप रागभाव का उदय न होने से आभरण रहित हुए भी भासुर अर्थात् ऊंची शोभा को लिये हुए है। आपका स्वाभाविक रूप निर्दोष है इस लिये वस्त्ररहित होते हुए भी मनोहर है आपका यह रूप न तो औरों के द्वारा हिंस्य है और न औरों का हिंसक है, इस लिये आयुध रहित होने पर भी अत्यन्त निर्भय स्वरूप है। तथा नाना प्रकार की क्षुत्पिपासादि वेदनाओं के विनाश हो जाने से आहार न करते हुए भी तृप्तिमान है। यथा—

निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदया-
न्निरंबरमनोहरं प्रकृतरूप-निर्दोषतः।
निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसाक्रमा-
न्निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानां क्षयात् ॥३२॥

इस छन्द में जिनेश्वर का रूप आभरण रहित वस्त्र-रहित और आयुध-रहित कहा गया है। पर एक गजब और हो गया इसी छन्द में भगवान कवलाहार से विरहित कह दिये गये हैं। गणधर देव ने भगवत्प्रतिमा का रूप भी इस प्रकार लिखा है।

विगतायुधविक्रियाविभूषाः,
प्रकृतिस्थाः कृतिनां जिनेश्वराणां।
प्रतिमाः प्रतिमागृहेषु कान्त्या-
प्रतिमाः कल्मषशान्तयेऽभिवन्दे ॥१३॥

अर्थात् आयुध, विकार और आभूषण से रहित अपने स्वाभाविक स्वरूप में स्थित, कान्तिकर अतुल्य ऐसी कृतकृत्य जिनेश्वरों की चैत्यालयों में विराजमान प्रतिमाओं की मैं गौतम वन्दना करता हूं।

जैसा जिनेश्वर का रूप और जैसा उनकी प्रतिमा का रूपहै, वैसाही उनके शिष्य-प्रशिष्यों का भी होना ही चाहिये इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात ही नहीं है। अतएव—

णिग्गंथो जिणवसहो णिग्गंथं पवयणं कयं तेण।
तस्साणुमग्गलग्गा सव्वे णिग्गंथ महरिसिणो ॥१३४

—भावसंग्रह

निर्ग्रन्थ जिनदेव ने निर्ग्रंथ ही प्रवचन कहा है, उनके मार्ग में लगे हुए सब महर्षि भी निर्ग्रन्थ हैं। अर्थात् भूषा, वेष आयुधत्यागी हैं। मल्लिबाई तीर्थंकरी का रूप तो स्त्री का और उसकी प्रतिमा पुरुष की ऐसा दिगम्बर सम्प्रदाय में नहीं है।

'बकुश निर्ग्रंथ तो शरीर संस्कार के विशेष अनुवर्ती कहे गये हैं' इसका भी उत्तर सुनिये—'बकुश का लक्षण प्रतिपादक भाष्यमें नैर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिताः' कहा गया है। इससे मालूम होता है कि बकुश मुनि भी निर्ग्रन्थ यथाजातरूप नग्न होते हैं। ऐसी हालत में

शरीर संस्कार का अर्थ 'वे अच्छे अच्छे वस्त्रों से शरीर नहीं सजाते हैं।' शरीर संस्कार का अर्थ 'वस्त्र-परिधारण' समझ लेना अक्षम्य भूल है, शरीरसंस्कार में तो वे निम्न बातें कही गई हैं—जल से स्नान करना, घृत तैल आदि से मालिश करना, नाना सुगन्धित पदार्थों से उबटन करना, नख, केश, दाढ़ी, मूंछ का संस्कार अर्थात् उनको घिसना, स्निग्ध करना आदि, दांत, ओठ, कर्ण, नासिका, आंखें और भ्रू इनका यथा सम्भव संस्कार करना इत्यादि शरीर-संस्कार है उसका तो उनके व्युत्सृष्ट-शरीरता नाम के लिंग विकल्प से ही त्याग होता है, इनमें से यदि किसी को वे चाहते भी हों तो भी वस्त्र-परिधारण अर्थ तो शरीर संस्कार का हो ही नहीं सकता। यथा—

सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणाणि णह केसमंसु संठप्पं।
दंतोट्ठकण्णमुहणासियच्छि भमुहाइ संठप्पं ॥९३॥
वज्जेदि बंभचारी गंधं मल्लं च धूववासं च।
संवाहणपरिमद्दणपिणिद्धणादीणि य विमुत्तो ॥९४॥
जल्लविलित्तो देहो लुक्खो लोमकदवियडबीभत्थो।
जो रुद्ध णक्खजोमो सा गुत्ती बंभचेरस्स ॥९५॥

—भगवती आराधना

औत्सर्गिकलिंग का तीसरा विकल्प व्युत्सृष्ट शरीरता है जिसका अर्थ है तीनों गाथाओं में कहे हुए संस्कार का त्याग।

मुहणयणदंतधोवण-व्वट्टणपादधोयणं चेव।
संवाहणपरिमद्दण सरीरसंठावणं सव्वं ॥७१॥
धूवण वमण विरेयण अंजण अब्भंग लेवणं चेव।
णत्थुय वत्थियकम्मं सिरवेज्झं अप्पणो सव्वं ॥७२॥

—मूलाचार अनगार भावना

शरीर उपकरण विभूषानुवर्ती बकुश मुनि कहे गये हैं। यह बात ठीक है। यहां विभूषा का अर्थ वस्त्राभूषण नहीं है और न उपकरण का अर्थ पात्र है। शरीर उनके है ही, कमंडलु और पिच्छी आदि उपकरणों का ही विधान है। इसलिये स्नान न करना मालिश न करना, उबटन न लगाना, यह तो उनके अस्नान नाम मूल गुण है सो तो वे करते ही नहीं हैं नखादिक का संस्कार शेष रह जाता है। सम्भव है इनमें से किसी का सौन्दर्य वे चाहते हों, इसी तरह पिच्छी कमंडलु आदि के सौन्दर्य के भी वे अनुवर्ती हों। इसके सिवा शरीर विभूषानुवर्ती और उपकरण विभूषानुवर्ती का और कोई अर्थ हो नहीं सकता। क्योंकि 'अखंडितव्रताः' यह एक विशेषण भी उनका है। इससे मालूम होता है कि उनके मूल गुण अखंडित होते हैं और उत्तर गुण होते नहीं हैं। सम्भव है उत्तर गुणों के न होने से वे उक्त शरीर—विभूषानुवर्ती हों। परन्तु इस का अर्थ 'नैर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिताः' इसके अनुसार वस्त्रपरिधारण नहीं हो सकता, अन्यथा वे निर्ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते। फटे-टूटे, मैले-कुचैले वस्त्र को पहनते हुए भी कम से कम दि० जैन मुनि तो निर्ग्रन्थ कहे नहीं जाते। हां, उक्त प्रकार के वस्त्र वाले चाहे नग्न मानते हों तो मान लें परन्तु दिगम्बरजैन सम्प्रदाय में तो ऐसे वस्त्रोंका विधान भी मुनियोंके लिये आगममें [illegible] है। बस, इसे यहीं रहने दीजिये, आगे चलिये—

आप लिखते हैं 'यद्यपि प्रतिसेवना कुशील ७ मूल गुणों की विराधना न होने का उल्लेख किया है तथापि द्रव्यलिंग से पांचों ही निर्ग्रन्थों में विकल्प स्वीकार किया गया है "भावलिंगं प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्था लिंगिनो भवन्ति द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः (त० सू० ९, ४७ स० सि०) इसका टीकाकारों ने

यही अर्थ किया है कि कभी कभी मुनि वस्त्र भी धारण कर सकते हैं।"

जैसे लिंग दो तरह का होता है द्रव्यलिंग और भावलिंग, वैसे ही संजम भी दो तरह का होता है द्रव्यसंयम और भावसंयम, इसी तरह महाव्रत भी दो तरह के होते हैं द्रव्य महाव्रत और भावमहाव्रत। द्रव्य का बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध है और भाव का अन्तरंग परिणामों से सम्बन्ध है। वस्त्रादि बाह्य पदार्थों का त्याग सो द्रव्यलिंग और सर्वविरति रूप परिणामों का होना भावलिंग है। इसी तरह द्रव्यसंयम में और द्रव्यमहाव्रत में भी बाह्य पदार्थों के त्याग की प्रधानता है और भावसंयम और भावमहाव्रत में विरति रूप परिणामों की मुख्यता है। विरति रूप परिणाम संज्वलन कषाय के उदय से, उपशम से और क्षय से होते हैं। इस लिये संज्वलन कषाय के उदय से, उत्पन्न हुआ विरति परिणामरूप भाव वह भावसंयम या भावमहाव्रत या भावचारित्र है। द्रव्यलिंग, द्रव्यसंयम, द्रव्यमहाव्रत द्रव्यचारित्र ये सब प्रायः एक ही अर्थ के वाचक हैं। और भावलिंग, भावसंयम, भावमहाव्रत, भावचारित्र ये सब भी एक ही अर्थ के वाचक हैं। द्रव्यलिंग आदि तो भावलिंग के बिना भी हो जाते हैं, जैसे द्रव्यलिंगी मुनि के। परन्तु भावलिंग आदि द्रव्यलिंग के बिना होते नहीं हैं, जैसे गृहस्थ के। द्रव्यलिंगी मुनि के नग्नतादि द्रव्यलिंग तो है परन्तु संज्वलन के उदय से जायमान विरति रूप परिणाम नहीं है। मतलब यह है कि द्रव्यलिंग के होते हुए भावलिंग हो भी और न भी हो परन्तु भावलिङ्ग के होते हुए द्रव्यलिङ्ग अवश्य ही हो। इन्हीं द्रव्यभावलिङ्गादिक को दूसरे शब्दों में बाह्य लिङ्ग और अन्तरंगलिङ्ग आदि या व्यवहारलिङ्ग और निश्चयलिङ्ग आदि कह सकते हैं। द्रव्यलिङ्ग, भावलिङ्ग के साधन हैं। द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग का स्वरूप ऊपर कहा ही गया है। द्रव्यसंयम और भावसंयम का स्वरूप भी इस प्रकार कहा गया है।

व्रतों का धारण करना, समितियों का पालना, कषायोंको निग्रह करना, दंडोंका त्यागना और इन्द्रियों को जीतना सो संयम अर्थात् द्रव्यसंयम है। तथा सत्तावन प्रकार के जीवों की हिंसा सो प्राणासंयम है और अट्ठाईस प्रकार के इन्द्रियों के विषयों को न त्यागना सो इन्द्रियासंयम है, इनसे जो विरत रूप भाव है वह संयम अर्थात् भावसंयम है।

इसी तरह आगमानुसार द्रव्य महाव्रत और भावव्रत का स्वरूप भी जान लेना चाहिये, लेख बढ़ने के भय से नहीं लिखा गया है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यलिंग द्रव्यसंयम और द्रव्यमहाव्रत इन शब्दों में अर्थ भेद के होते हुए भी सब का तात्पर्य एक दूसरे में सन्निहित है। तथा भावलिंगादिक में तो सर्वत्र चारित्रावरण कषाय के क्षयोपशमादि से जायमान विरतिरूप परिणाम है ही। प्रकृत में पांचों पुलाकादि मुनियों के द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनों हैं। सबके संज्वलन के उदय या क्षयोपशम से उपशम से और क्षय से बाह्य विषयों की निवृत्ति रूप एक परिणाम है इस लिये इस भावलिंग की अपेक्षा पांचों ही पुलाकादिक भावलिंगी हैं। द्रव्यलिंग सामान्य रूप सबमें एक होते हुए भी बाह्य में भेद है, किसी के उत्तर गुण तो हैं ही नहीं परन्तु कभी कहीं व्रतों की परिपूर्णता भी नहीं है, किसी के व्रत परिपूर्ण हैं तो उत्तर गुण नहीं हैं, किसी के मूलव्रत और उत्तरव्रत दोनों हैं परन्तु किसी तरह उत्तर गुणों की विराधना

होती है, इत्यादि द्रव्यलिंग में भेद है इस लिये पुलाकादि पांच द्रव्यलिंग से भाज्य कहे गये हैं। जैसे संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लेश्या, उपपाद और संयम स्थान किसी के कुछ हैं तो किसी के कुछ। इसी तरह भावलिंग तो सामान्यतः एक है परन्तु बाह्य हिंसादिक का त्याग रूप व्रतों की अपेक्षा या मूल गुण या उत्तरगुणों की अपेक्षा से द्रव्यलिंग जुदा २ है, वह जुदापन ऊपर कहा ही गया है उस जुदेपन रूप द्रव्यलिंग से वे भाज्य हैं। स्वयं वस्त्र परिधारण जहां पर है वहां भावलिंग से ही च्युति हो जाती है। भावलिङ्ग ही क्या द्रव्यलिङ्ग भी नहीं रहता है। यदि किसी ने मुनि पर कपड़ा डाल दिया या पहना दिया तो वह एक उपसर्ग है, उनने अपनी इच्छा से कपड़ा परिधारण नहीं किया है इस लिये भावलिङ्ग उनके तदवस्थ रहता है। कपड़ा पहनना तो दूर रहे मनमें कपड़ा पहनने की इच्छा होते ही भावलिंग से च्युति हो जाती है। इस लिये उपसर्गजन्य बात और है और इच्छा करना या इच्छा से कपड़ा पहन लेना और है। एक के होते हुए भावसंयम नष्ट नहीं होता है। और दूसरे के होते हुए भावसंयम नष्ट हो जाता है, ऐसी हालत में पुलाक, बकुश और कुशील ये संज्ञाएं ही नहीं रहती हैं।

पुलाकादि संज्ञाएं षष्ठादि गुणस्थान और सामायिकादि संयम वालों की हैं। स्वेच्छा से वस्त्र परिधारण कर लेने पर न षष्ठादि संयत स्थान रहते हैं और न सामायिकादि संयम ही रहते हैं। व्यालावस्थापन्न मुनि पर किसी ने वस्त्र डाल दिया तो वह उपसर्ग है, न कि अपवाद। वह तो पराभियोगजन्य अवस्थाओं की प्रतिसेवना हो सकती है। पुलाक—बकुश और प्रतिसेवना कुशील के जो प्रतिसेवना कही गई है, उसका अर्थ वस्त्र-परिधारण करना दिगम्बर जैनागम के बाहर की बात है। विचित्र परिग्रह का अर्थ वस्त्र नहीं है। यदि वस्त्र अर्थ है तो अकलंकदेव के उक्त अभिप्राय से विरुद्ध जान पड़ता है, यह नहीं हो सकता कि उसी प्रकरण में तो वे वस्त्र त्याग रूप निर्ग्रन्थ रूप को प्रमाण मानें और उसी प्रकरण में वस्त्र का विधान भी कर दें। आगम के हृदय को न टटोलकर ऐसे शब्दों को टटोल कर मुनि के वस्त्र-परिधारण का आशय खींचना निषेधविरुद्ध है। नग्नता आदि विधानों की तरह वस्त्र-परिधारण की खास विधि कहीं से ढूंढ के लाना चाहिये। कहने से काम नहीं चलता, सीधा प्रमाण बताना चाहिये कि यह मुनियों के लिये कभी कभी वस्त्र-परिधारण की विधि करता है। अन्यथा अपना मतलब सिद्ध करने के लिये केवल टीकाओं का नाम लेना तो सरासर धोखा देना है। वर्तमान में सर्वार्थसिद्धि, तत्वार्थराजवार्तिक और श्लोकवार्तिक ये तीन टीकाएं गीतार्थ और संविग्न आचार्यों द्वारा प्रणीत हैं, जो स्वतः प्रमाण रूप हैं, इन प्रमाणों को प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है। इनमें कहीं वस्त्र विधान हो तो बताना चाहिये। क्योंकि "गीदत्थो संविग्गो अत्थुवदेसं ण संकणिज्जो दु।" बस, इसे भी यहीं रहने दीजिये—

अब आगे चलिये—"मुक्ति भी सग्रन्थ और निर्ग्रन्थ दोनों लिंगों से कही गई है "निर्ग्रन्थ-लिंगेन सग्रन्थ—लिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया" (त० सू० १०, ६ स० सि०) यहां भूतपूर्वनय का अभिप्राय सिद्ध होने से अनन्तर पूर्व का है।"

यह कमाल भी तारीफ के योग्य है। क्योंकि मुक्ति चारों ही गतियों से, पांचों ही ज्ञानों से और

पांचों ही चारित्रों से कही गई है। यह देखिये—

"पूर्वभावप्रज्ञापनस्य चतसृषु गतिषु जातः सिद्ध्यति" "ज्ञानेन एकेन द्वित्रिचतुर्भिश्च ज्ञानविशेषैः सिद्धिः" "चतुर्भिस्तावत् सामायिकछेदोपस्थानासूक्ष्मसांपराय-यथाख्यातचारित्रैः, पंचभिस्तैरेव परिहारविशुद्धिचारित्राधिकैः।" यह कहेंगे कि इन सब गतियों का, ज्ञानों का और चारित्रों का आनन्तर्य नहीं है, आनन्तर्य सिर्फ मनुष्यगति, केवलज्ञान और यथाख्यात चारित्र का है और तो सब भूत हैं. बस, यही न्याय निर्ग्रन्थ और सग्रन्थ में भी लगा देना युक्तिसंगत है, जिस तरह मनुष्यगति, केवलज्ञान और यथाख्यात चारित्र का सिद्धगति से आनन्तर्य है उसी तरह निग्रंथ का सिद्ध गति से आनन्तर्य है, न कि सग्रन्थ का। सग्रन्थ भी तो नरकादि गतियों, मत्यादि ज्ञानों और सामायिकादि चारित्रों की तरह भूत है। यथा—"अपरः प्रकारः—लिंगं द्विविधं निग्रन्थलिंगं सग्रन्थलिंगं चेति। तत्र प्रत्युत्पन्ननयाश्रयेण निग्रंन्थ-लिंगेन सिद्ध्यति, भूतविषयनयादेशेनतु भजनीयं।" अर्थात् दूसरा प्रकार यह है कि लिंग दो तरह का होता है निर्ग्रन्थलिंग और सग्रंथलिंग। इनमें से प्रत्युत्पन्ननयाश्रय से निर्ग्रन्थलिंग से सिद्ध होता है, भूत विषय नयादेश से तो भजनीय है। निग्रंथ रूप के पहले सग्रंथ रूप अर्थात् उत्कृष्ट श्रावक रूप हो भी और न भी हो। यद्यपि जब कभी सिद्धि होती है तब निग्रंथलिंग से ही होती है। भजनीयता तो भूतपूर्वनय की अपेक्षा से है, न कि प्रत्युत्पन्ननय नय की अपेक्षा से। प्रत्युत्पन्न नय में या निर्ग्रन्थपने में कोई भजनीयता नहीं है। यदि यहां पर भूत-पूर्वनयका अभिप्राय सिद्ध होनेसे अनंतरपूर्व का है तो 'भूतपूर्वगत्या तु द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिश्च ज्ञानविशेषैः सिद्धिर्भवति" अर्थात् भूतपूर्व गति की अपेक्षासे मति-श्रुत दो ज्ञानों से, मतिश्रुत अवधि अथवा मतिश्रुतमन पर्यय तीन ज्ञानों और मतिश्रुत अवधि मनःपर्यय चार ज्ञानों से सिद्धि होती है। यहां पर भूतपूर्वगति का अर्थ सिद्धि होने से अनंतर पूर्व है या नहीं। यदि है तो निग्रंथलिंग के बिना केवल सग्रंथलिंग से सिद्धि मानी जा रही है उसी तरह केवलज्ञान के बिना भी उक्त दो ज्ञानों से, तीन ज्ञानों से और चार ज्ञानों से भी सिद्धि माननी पड़ेगी। यदि यहां भूतपूर्वनयका अभिप्राय सिद्ध होने से अनंतर पूर्व नहीं है, सो क्यों यह नहीं हो सकता कि कहीं तो भूतपूर्व का अर्थ सिद्ध होने से अनंतर पूर्व ले लिया जाय और कहीं न लिया जाय। यदि यह कहा जाय कि मत्यादि ज्ञानों के साथ भूतपूर्वनय का अभिप्राय सिद्ध होने से अनंतर लिया जायगा तो अनेक दोष आवेंगे, सो ये अनेक दोष सग्रंथ के साथ भी उक्त अर्थ के लेने में आवेंगे। अस्तु, जिस तरह मतिज्ञानादि सिद्ध होने से अनंतर पूर्व नहीं हैं, उसी तरह सग्रंथलिंग भी नहीं है। जिस तरह से केवलज्ञान से पूर्व मतिज्ञानादि हैं उसी तरह निग्रंथ से पूर्व सग्रंथ है, जिस तरह भूतपूर्व नय से मतिज्ञानादि और प्रत्युत्पन्न नय से केवलज्ञान लिया जाता है, उसी तरह भूतपूर्व-नय से सग्रन्थ लिंग और प्रत्युत्पन्न नय से नि-र्ग्रंथलिंग भी लिया जाता है। बारहवें के अन्त में मतिज्ञानवरणादिक के नाश से जिस तरह केवल ज्ञान होता है उसी तरह प्रथम या चतुर्थ या पंचम के अंत में सग्रंथता के नाश से निर्ग्रंथता उत्पन्न होती है या दशवें के अंत में लोभ परिग्रह के विनाश से बारहवें के आदि में निर्ग्रंथता उत्पन्न होती है। इस लिये प्रत्युत्पन्ननय से जैसे मनुष्यगति, केवलज्ञान,

यथाख्यात चारित्र से सिद्धि होती है और भूतपूर्वनय से इनसे पहिले जो गति, ज्ञान, चारित्र होते हैं उनसे सिद्धि कही जाती है। उसी तरह प्रत्युत्पन्ननय से ही निर्ग्रंथलिंग से सिद्धि होती है और भूतपूर्वनय से बारहवें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रंथलिंग से पहले जो छठे से दशवें तक का सग्रंथ या प्रथम, चतुर्थ पंचम का सग्रंथ है उसमें सिद्धि कही जाती है। बहुत हो चुका अब द्वितीय तर्क की भी यहां अन्त्येष्टि की जाती है।

तीसरे तर्क में लिखा गया है—३ "धवलाकार ने प्रमत्तसंयतों का स्वरूप बतलाते हुए जो संयम की परिभाषा दी है, उसमें केवल पांच व्रतों के पालन का ही उल्लेख है 'संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः।"

उक्त तर्क में केवल पद पढ़ा हुआ है जो इस संयम को छोड़कर प्रमत्तसंयत के अन्य अनुष्ठानों का निषेध करता है। परन्तु हम इतने महत्वपूर्ण अनुष्ठान से वस्त्र-त्याग का अभाव प्रमत्तसंयतों के कैसे हो गया। यह संयम परिभाषा तो वस्त्र-परित्याग का विधान करती है। उक्त परिभाषा में परिग्रह से विरति भी संयम कहा गया है। परिग्रह बाह्य और आभ्यन्तर दो तरह का होता है, दोनों प्रकार के परिग्रहों से विरति का नाम परिग्रह त्याग नाम या संयम है। परिपूर्ण आभ्यंतर परिग्रह का त्याग यद्यपि दशवें के अंत में होता है तो भी षष्ठादि गुणस्थानोंमें कार्य रूप से परिग्रह संज्ञा नहीं है, यहां वह केवल लोभ कर्म के अस्तित्व के कारण उपचार से कही गई है। बाह्यपरिग्रहों* से विरति प्रमत्तोंके उक्त परिभाषा के अनुसार परिपूर्ण है ही। बाह्य परिग्रह के दश भेद हैं। दशों का त्याग प्रमत्तसंयत के होता ही है। वे दश परिग्रह हैं-क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, कुप्य, वस्त्र, भांड-हिंगु मिरच आदि, द्विपद-दासीदासादि, चतुष्पद-हाथी घोड़ा बैल आदि, यान-पालकी विमान आदि और शयनासन। इनमें वस्त्रत्याग है ही यद्यपि यावन्मात्र व्रतपरिकर उक्त पांच में ही आ जाता है परन्तु मन्दबुद्धि पांच पर से यावन्मात्र अनुष्ठान का समझ नहीं पाता इस लिये उसके अनुग्रहार्थ अन्य अनुष्ठानों का भेद से उपदेश है। जिस तरह अहिंसा में सत्यव्रतादि या हिंसा में असत्यादि× का समावेश होते हुए भी उनका भेद से उपदेश है। अथवा सर्वसावद्ययोग विरति में जिस तरह अनृत स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरति का समावेश होते हुए भी पृथक रूप से उपदेश है। जो नट के नृत्य के देखने के निषेध पर से नटी के नृत्य देखने का निषेध भी समझ लेता है, उसके लिये अभेद कथन किया जाता है और जो नट-नृत्य के देखने के निषेध पर से नटी के नृत्य देखने का निषेध नहीं समझता उसके लिये नट-नटी दोनों के निषेध का भेद रूप से कथन किया जाता है। सर्व सावद्य

* चेलादिसव्वसंगच्चाओ पढमो हु होदि ठिदिकप्पो।
इहपरलोइयदोसे सव्वे आवहदि संगी हु ॥११२२

देसामासियसुत्तं आचेलक्कं ति तं खु ठिदिकप्पे।
लुत्तोऽत्थ आदिसद्दो जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥११२३

ण य होदि संजदो वत्थमित्तचागेण सेससंगेहिं।
तम्हा आचेलक्कं चाओ सव्वेसि होइ संगाणं ॥११२४
—आराधना भगवती

× आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥
—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

विरति का नाम भी संक्षेप से संयम* है, हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से विरति का नाम भी उससे विस्तृत संयम है, क्योंकि कहने में विभाग करने में और जानने में बड़ी सरलता पड़ती+ है। इस लिये उन पांच व्रतों ही को तो धवलाकार ने संयम कहा है। इतना ही नहीं उनने व्रत, समिति, कषाय, दंड और इन्द्रियां इन पांचों का क्रमशः धारण करना, पालन करना, त्याग करना और जीतना इनको भी तो संयम कहा है। यथा—

व्रतसमितिकषायदंडेन्द्रियाणां, धारणानुपालन-निग्रहत्यागजयाः संयमः।

वयसमिइकसायाणं दंडाणं तहिंदियाण पंचण्हं।
धारणपालणणिग्गहचागजया संजमो भणिओ ॥९२

—धवल खं० १ पे० १४५

जो इतने पर भी तमाम मूल व्रतोंको नहीं समझ पाते हैं, उनके लिये अट्ठाईस मूल गुणों का कथन किया गया है। उनमें एक खास नाग्न्य व्रत है ही। बस जिस तरह से प्राणियों का हित हो सकता है उस उस तरह का अवलम्बन लेकर उनके हित का उपदेश ग्रंथानुकूल आचार्यों ने दिया है। ग्रंथानुकूल का अर्थ है जिस प्रकरण के जैसे जैसे ग्रंथ हैं उनके अनुसार कथन किया जाना। धवला आचार ग्रन्थ तो है नहीं जिससे सब तरह के संयम या व्रत या उनके संरक्षण आदि सब कह दिये जाते। फिर भी संयम की व्याख्या कहीं गुणस्थानों को लेकर और कहीं संयम मार्गणा को लेकर विस्तार के साथ कह ही दी है।

इससे भी विस्तार देखना हो तो मूलाचार, मूलाराधना आदि में देखा जा सकता है, उनमें संयम ही संयम का व्याख्यान है। अन्यथा समिति,× इन्द्रिय निरोध, षडावश्यक, केशोत्पाटन, स्नान त्याग, क्षितिशयन, अदन्तधर्षण, खड़े भोजन, एकाशन इन सबका अभाव कहना पड़ेगा। यदि उक्त परिभाषा पर ही अवलम्बित रहा जायगा तो धवलाकार द्वारा प्रतिपादित संयम की उक्त व्याख्या का और उनके द्वारा उद्धृत सामायिकादि पांच संयमों का अभाव कहना होगा। इतना ही नहीं 'संजमाणु-वादेण' इत्यादि सूत्रों में कहे गये सब मूल संयम-भेदों का उनके सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, भाव अल्पबहुत्व आदि सबका अभाव ठहरेगा। इस लिये 'मुनि वस्त्र परिधारण भी करते हैं' एक इस बात को सिद्ध करने के लिये इतने नीचे तो नहीं उतर जाना चाहिये। थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय कि उक्त परिभाषा में वस्त्र त्याग होते हुए भी वह नहीं है तो क्या अन्यत्र कहीं भी वस्त्र-त्याग का उपदेश नहीं है? आप कहेंगे उक्त परिभाषा में वस्त्र-परित्याग नहीं है, हम कहते हैं। इस विचार को दूर करने के लिये ग्रन्थान्तरों का अनुसरण लेना ही होगा। हम तो कहते हैं परिग्रह-त्याग में वस्त्र-त्याग भी आता

---

* संगहिय सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं।
जीवो समुव्वहंतो सामाइयसंजदो होदि॥

—प्रा० पंचसंग्रह

\+ आचरिदुं विभजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंचपण्णत्ता॥

—मूलाचार-आवश्यक निर्युक्ति

× पंच य महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो॥२॥
अच्चेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव।
ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु॥३॥

—मूलाचार पे० ४-५

है, वस्त्र के होते हुए संयमभाव होता नहीं है, वस्त्रादि गुणस्थान ही वस्त्र-त्याग के अभाव में नहीं होते हैं। 'आचे... देसिय' 'देसामासिय सुत्तं' इत्यादि सूत्रों में वस्त्र-त्याग ही उपदिष्ट है। इन सूत्रों की विजयोदया टीका तो वस्त्र-परिधारण में दोष और वस्त्र-त्याग में गुण अत्यंत गर्व के साथ भारी विस्तार को लिये हुए प्रतिपादन करती है। पूर्व पक्ष के उत्तर में आर्यिकाओं के और भिक्षु अर्थात उत्कृष्ट श्रावकों के वस्त्र स्वीकार करती हुई पूर्वपक्ष के आगमानुसार ही मुनियों के लिये वस्त्र-त्याग का उपदेश करती है, विस्तारभय के कारण उसको यहां प्रमाण में पेश नहीं किया गया है, जिन्हें देखना हो 'आचेलक्कुद्देसिय' इस गाथा की विजयोदया टीका देखकर निर्णय कर लेवें। यथालंदक संयम, परिहारविशुद्धिसंयम, भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनमरण, जिनकल्प, स्थविरकल्प इन सबमें एक सिरे से औत्सर्गिकलिंग कहा गया है। अपवादलिंग का तो नाम-निशान भी नहीं है। तब सब संयमियों के और अर्हन, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के नग्नलिंग होता है। गृहस्थ सग्रन्थ होते ही हैं। इन दो के अलावा यह तीसरा कौन सा लिंग है और उस का नाम क्या है ?

णग्गो य अर्हतो रत्तो बुद्धो णियंबरो कण्हो।
कच्छोटियाए बंभो को देवो कंबलावरणो ॥१

वस्त्र-त्याग के सम्बन्ध में पउमचरिय का थोड़ा सा हवाला देकर इस प्रकरण को पूर्ण कर देना चाहते हैं। देखिये पउमचरिय के निम्न उपदेशों से क्या शिक्षा मिलती है—भगवान आदिदेव तीर्थंकर ने दीक्षा लेते समय माता-पिता-पुत्र आदि स्वजन वर्ग से पूछ कर कटिसूत्र, कटक, वस्त्र आदि वस्त्राभूषण त्याग दिये थे। यथा—

आपुच्छिऊण सव्वं मायापिय...सयणपरिवग्गं।
तो मुयइ भूसणाइं कडिसुत्तय-कडय वत्थाइं ॥१३५
—उद्देश ३

जिन चार हजार राजाओं ने भगवान के साथ दीक्षा ली थी वे क्षुधा से पीड़ित होने लगे तब वे वृक्षों से फल ग्रहण करने लगे, उस वक्त आकाशवाणी हुई कि श्रमणरूप से अर्थात नग्नरूप से वृक्षों से फल ग्रहण मत करो। तबसे उनने वल्कल, चीवर-वस्त्र—कुशपत्र पहन लिये, फलाहार करने लगे, और स्वच्छन्द बुद्धि होकर अनेक प्रकार के तापस बन गये।

अह ते छुहाकिलंता फलाइं गिण्हंति पायवगणेसु।
अंबरतलम्मि घुट्टं मा गिण्हह समणरूवेण ॥१४२॥
ताहे वक्कल-चीवर-कुसपत्तनियंसणा फलाहारा।
सच्छंदमइवियप्पा बहुभेया तावसा जाया ॥१४३॥
—३ उद्देश

भगवान आदिनाथ ने वस्त्राभूषण त्यागे थे, उनके साथ दीक्षित राजा लोगों ने भी वस्त्र त्यागे थे, श्रमणरूप वृक्षों से फल तोड़कर न खाने के लिये आकाशवाणी हुई थी। इससे मालूम होता है कि श्रमणरूप नग्न होता है अन्यथा बाद में वे कोई वृक्षों की छाल कोई वस्त्र और कोई कुशपत्र न पहनते। और न आकाशवाणी ही होती।

तथा जो पहले दीक्षा ग्रहण कर उससे भ्रष्ट हो गये थे उनने वल्कल वृक्षों की छाल के वस्त्र पहन लिये और तापस पाखंडी बन गये। यथा—

जे वि य ते पढमयरं पव्वज्जं गेण्हिऊण परिवडिया
ते वक्कलपरिहाणा तावसपासंडिणो जाया ॥८४॥
—४ उद्देश

यह बात भरत चक्रवर्ती द्वारा स्थापित ब्राह्मणों के समय कही गई है। इससे मालूम पड़ता है पउम चरियकार नग्नव्रत धारण करने को प्रव्रज्या मानते थे। और वस्त्रधारियों को पाखंडी। तथा—

जे ते सामियभत्ता तेण समं दिक्खिया नरवरिंदा।
दुस्सहपरिस्सहेहिं छम्मासब्भंतरे भग्गा ॥२२॥
असणतिसाए किलंता सच्छंदवया कुधम्मधम्मेसु।
जाया वक्कलधारी तरुफलमूलासणा मूढा ॥२३॥
—उद्देश ८२

इन दोनों गाथाओं में यह कहा गया है कि जो राजे भगवान आदिनाथ के भक्त थे, जो उनके साथ दीक्षित हुये थे वे छह महीने के भीतर ही दुस्सह परीषहों से दुःखी हो गये। और भूख और प्यास से पीड़ित होकर कुधर्म और अधर्म में स्वच्छन्द व्रती हो गये तथा वे मूर्ख वल्कल-वस्त्रधारी हो गये और वृक्षों के फल, फूल खाने लगे। तथा—

सा कन्ना पव्वइया अम्हे वि य ते सुणेवि वित्तंतं।
जाया निग्गंथमुणी पासम्मि अणंतविरियस्स ॥६२॥
—उद्देश ४१

वह कन्या प्रव्रजित हो गई और हम भी उसका वृत्तान्त सुनकर अनन्तवीर्य के पास निग्रंथ मुनि हो गये।

यहां निग्रंथ शब्दका अर्थ है नग्न सग्रंथ और नि-ग्रंथलिंगसे मुक्ति मानने वाले प्रोफेसरजी भी निग्रंथका अर्थ निर्वस्त्र-नग्न मानते ही हैं, इस लिये इस विषय में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। मुनियों के लिये पउमचरिय में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग अग-णित स्थानों में आया है। यह सिर्फ नमूना दिया गया है।

अब थोड़ा सा गृहस्थधर्म के सम्बन्ध में भी पउमचरियकार की बुलंद आवाज को सुनिये, दशरथ जब दीक्षा की तयारी करने लगे उस वक्त भरत को वैराग्य होने लगा। पिता ने भरत को समझाया हे पुत्र! गृहस्थाश्रम में भी धर्म है और वह महान गुणों का खजाना कहा गया है, तुम उसी में रत होते हुए सब राज्य के अधिपति बनो। इसका भरत उत्तर देते हैं—यदि गृहस्थ धर्म में स्थित रहता हुआ पुरुष मुक्ति का सुख प्राप्त कर सकता है तो आप संसार से डर कर घर क्यों छोड़ते हैं। यथा—

गेहासमे वि धम्मो पुत्त! महागुणपरो समक्खाओ।
तम्हा गिहधम्मरओ होहि तुमं भयल रज्जवई ॥८३
जइ लहइ मुत्तिसोक्खं पुरिसो गिहधम्मसंठिओ संतो
तो कीस मुंचसि तुमं गेह संसार परिभीओ ॥३१॥
—उद्देश ३१

दुविहो जिणवरधम्मो सायारो तह य होइ निरायारो
सायारो गिहधम्मो, मुणिवरधम्मो णिरायारो ॥६१
सावयधम्मं काऊण णिच्छिओ अंतकाल समयम्मि।
कालगओ उववज्जइ सोहम्माईसु सुरपवरो ॥६२॥
अह पुण जिणवर विहियं दिक्खं घेत्तूण पवरमट्ठाए
हंतूण य कम्ममलं पावइ सिद्धि धुयकिलेसो ॥६४॥
—उद्देश २१

सायार निरायारो दुविहो धम्मो जिणेहि उवइट्ठो।
मन्नंति जे हु तइयं मूढा ते मोहजलणेण ॥११८॥
गच्छंति देवलोगं पुरिसा सायारधम्मलद्धयहा।
भुंजंति पवरसोक्खं अच्छरसामज्झयारगया ॥१२२
महरिसिधम्मेण पुणो अव्वाबाहं सुहं अणोवमियं।
पावंति समणसीहा विसुद्धभावा णरा जे उ ॥१२३॥
सावयधम्मुब्भूया देवा चविऊण माणुसे लोए।
समणत्तणेण मोक्खं तिसु दोसु भवेसु वच्चंति १२४
—उद्देश ६

स्थानवर्ती भी जब इन परीषहोंको सहते हैं तब भारी आश्चर्य है कि केवली उन्हें सह नहीं पाते हैं। कैसे अनन्तबली हैं और अनन्त सुखी भी कैसे हैं जब कि इन परीषहों के वशवर्ती हैं। भूख लगने पर जरूर हीनशक्ति हो ही जाते होंगे, और भूख-जन्य पीड़ा से दुःख भी होता ही होगा। परीषह ग्यारह केवली में हैं, वेदनीय कर्म भी उनके है. तो तब क्या इसका अर्थ यह हुआ कि वेदनीय के होते हुए अवश्य ही परीषहें होनी चाहियें। तब तो अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती मुनि ध्यान में ही खा लेते होंगे क्योंकि वेदनीय का उदय है, डरते भी होंगे क्योंकि उनके भयकर्म का उदय है, भय को दूर करने के लिये डण्डा आदि शस्त्र जरूर रखते होंगे नहीं तो भय का उदय वहां माना क्यों जाय। रिरंसा अर्थात् स्त्री-पुरुष के साथ रमण की इच्छा भी उनके होती ही होगी क्योंकि उनके तीनों वेदों का उदय है, इस पीड़ा को मिटाने के लिये स्त्री-रमण भी जरूर करते ही होंगे अन्यथा वेद का उदय माना ही क्यों गया। अच्छे अच्छे परिग्रह भी उनके होने ही चाहियें, क्योंकि लोभ का उदय उनके है, नहीं तो लोभ का उदय-जन्य परिग्रह संज्ञा वहां मानी ही क्यों गई और निष्फल लोभोदय भी क्यों माना गया।

अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती मुनियोंके आहारसंज्ञा नहीं है क्योंकि उसका कारण असाता-वेदनीय कर्म की उदीरणा है, उसकी उदीरणा अप्रमत्त गुणस्थानके नीचे ही खत्म हो लेती है। उसके ऊपर आहार-संज्ञा का अभाव है परन्तु केवली उदीरणा के बिना उदय सामान्य के होते हुए खाते-पीते हैं। यह कोई आश्चर्य होगा। शेष भय, मैथुन और परिग्रह-संज्ञाएं अप्रमत्तादि गुणस्थानों में उनका कारण भय, वेद और लोभ कर्म की उदीरणा का उनकी उदय व्युच्छित्ति के चरम समय पर्यंत अस्तित्व नाम के निमित्त रूप उपचार से है, पलायन, रतिक्रीड़ा, और परिग्रह स्वीकार रूप अपने अपने कार्य में प्रवृत्ति का अभाव होने से, मन्द, मन्दतर, मन्दतम अतिसूक्ष्म अनुभाग के उदय से युक्त संयम विशेष से समाहित ध्यान में उपयुक्त महामुनियों के भयादि संज्ञाएं मुख्यवृत्या नहीं हैं, यदि ये संज्ञाएं अप्रमत्तादि गुणस्थानों में मुख्य वृत्ति से हों तो कभी भी उन महानुभावों के न शुक्लध्यान होगा और न घाति कर्मों का क्षय ही घटित होगा। इस लिये मोक्ष की इच्छा रखने वाले स्याद्वादियों को क्षपक श्रेणि में आहारादि चारों संज्ञाओं का अभाव ही सम्भावित करना चाहिए, तब बताइए केवली के कवलाहार भुक्ति किस कारण से होगी, क्योंकि आहार संज्ञा का उनके निषेध है। यथा—

> णट्ठपमाए पढमा सण्णा णहि तत्थ कारणाभावा।
> सेसा कम्मत्थित्तेणुवयारेणत्थि ण हि कज्जे ॥१३८
>
> —गो० जीवकांड

नष्टप्रमादे—अप्रमत्तसंयतादुपरितन-गुणस्थानेषु प्रथमासंज्ञा आहारसंज्ञा न अस्ति। कुतः कारणात् तत्र अप्रमत्तादौ आहारसंज्ञाकारणस्य असातावेदनीयोदीरणाख्यस्याभावात्। सातासातावेदनीयमनुष्यायुष्याणां त्रिप्रकृतीनां प्रमत्तविरते एव उदीरणा भवतीति परमागमे प्रसिद्धत्वात्। शेषा भयमैथुनपरिग्रहसंज्ञा अप्रमत्तसंयतादिगुणस्थानेषु तत्तत्कारणभयवेदलोभकर्मोदीरणानां तत्तदुदय-व्युच्छित्तिचरमसमयपर्यंतमस्तित्वेन निमित्तेनोपचारेण सन्ति स्वस्वकार्ये पलायन-रतिक्रीडा-परिग्रहस्वीकाररूपे प्रवृत्त्यभावात् मन्द-मन्दतर--मन्दतमातिसूक्ष्मानुभागोदयसहित—

संयमविशेषसमाहितध्यानोपयुक्तानां महा- नीनां भयादिसंज्ञा मुख्यवृत्त्या न सन्त्येव, अन्यथा कदाचिदपि शुक्लध्यानं घातिकर्मक्षयो वा न घटते............। ततो मोहमिच्छतां स्याद्वादिनां ...कर्मक्षयामाहारादि चतुः संज्ञानामभाव एव संभावनीय इति केवलिनां कुतः कवलाहारभुक्तिराहारसंज्ञानिबंधाम्।

—मन्दप्रबोधिकायां अभयचन्द्र सैद्धांती

यहां मूलमें अप्रमत्तादि गुणस्थानों में प्रथम आहारसंज्ञा का निषेध और उसके कारण का अभाव कहा गया है। अवशिष्ट तीन संज्ञाओं का वहां पर उपचार से सद्भाव कहा है, उपचार का कारण है उन उन कर्मों की उदीरणा का अस्तित्व; फिर भी कार्यरूप से, मुख्यरूप से वे संज्ञाएं वहां नहीं होतीं। टीका में तो मुख्य रूप से न होने का कारण भी कह दिया गया है। तात्पर्य यह है कि अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में उपचार से ये संज्ञायें हैं, वास्तव में हैं नहीं। यही न्याय केवली के क्षुधादि परिषहों के सम्बन्ध में हैं। केवली के वेदनीय कर्म के उदय का अस्तित्व है, उस अस्तित्व नाम के उदय को लेकर उपचार से या शक्ति रूप से क्षुधादि परीषहें हैं, कार्य रूप से या मुख्यरूप से अथवा व्यक्त रूप से नहीं हैं। कथन कहीं उपचार से या शक्ति की अपेक्षा से होता है और कहीं मुख्य रूप से या व्यक्ति की अपेक्षा से होता है। केवली में क्षुधादि का अस्तित्व उपचार से या शक्ति की अपेक्षा से कहा गया है। इस लिये कहा जाता है कि ग्यारह परीषह केवली में उपचार से हैं। मुख्य रूप से या व्यक्ति रूप से क्षुधादिक का अभाव कहा गया है, इस लिये कहा जाता है कि ग्यारह परीषह केवली में कार्य रूप से नहीं हैं। इस प्रकार का समर्थन ग्रंथों में होते हुए भी आज कल के परीक्षा—प्रधानी नहीं मानते हैं। केवल शब्दों पर से जिनागम की मान्यता को विपरीत रूप में प्रस्तुत करना ही अपना एक ध्येय रखते हैं।

सर्वार्थसिद्धि के प्रणेता आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि चार घाति कर्मों से रहित भगवान जिनेन्द्र में वेदनीय कर्म का सद्भाव है, इस लिये ग्यारह परीषह उनमें होती हैं। इसपर से कोई शंका करता है कि मोहनीय के उदय की सहायता का अभाव होने से जिनेन्द्र में क्षुधादि वेदना का अभाव है इस लिये क्षुधादि वेदना के अभाव में उनके परिषह का व्यपदेश करना युक्त नहीं है। आचार्य कहते हैं यह शंका कुछ ठीक है, परन्तु क्षुधादि वेदना के न होते हुए भी द्रव्यकर्म के सद्भाव की अपेक्षा से परीषहों का उपचार किया जाता है। जिस तरह कि सम्पूर्ण ज्ञानावरण के नष्ट हो जाने पर एक साथ सम्पूर्ण पदार्थों को अवभासन करने वाले केवलज्ञान रूप अतिशय के होते हुए भगवान के चिन्तानिरोध का अभाव है, उसके होते हुए भी उसका फल कर्मोदय की निर्जरा रूप फल की अपेक्षा से ध्यान का उपचार किया जाता है, अर्थात् जिस तरह भगवान जिनेन्द्र के ध्यान का फल कर्मों की निर्जरा है इस लिये उन में चिन्तानिरोध न होते हुए भी उपचार से सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ऐसे दो शुक्ल ध्यान माने गये हैं। उसी प्रकार वस्तु रूप से क्षुधादि वेदना का अभाव है परन्तु द्रव्य वेदनीयकर्म का उनके सद्भाव है इस अपेक्षा को ध्यानमें रखकर उपचार से कही गई हैं। मतलब यह कि ध्यान जिस तरह उनमें उपचारसे है उसी तरह परीषह भी उपचार से हैं। अथवा ग्यारह परीषह जिनेन्द्र में

सागार और अनगार दो ही धर्म हैं, तीसरा धर्म नहीं, मुनिवर धर्म से मोक्ष, सागारधर्म से स्वर्ग प्राप्त होता है, मनुष्य ही मोक्ष जाते हैं, इस बात को 'णरा' यह पद व्यक्त करता है। इन सब अभिप्रायों से विदित होता है कि सग्रंथलिंगसे मुक्ति होती नहीं। सग्रन्थ और निर्ग्रन्थ के सिवा और कोई लिंग भी नहीं। निर्ग्रन्थलिंग होता है मुनियों का और सग्रंथलिंग होता है श्रावकोंका। यह सब वी० नि० २४३० में प्रकाशित व वि० सं० ६० में बने हुए पउमचरिय पर से स्पष्ट होता है। बस, अंतिम पंक्तियों का उत्तर देकर इस प्रकरण को यहीं पर समाप्त कर देना चाहते हैं।

अन्त में आप ऊंची दृष्टि से कहते हैं—"इस प्रकार दिगम्बर शास्त्रानुसार भी मुनि के लिये एकान्ततः वस्त्र-त्याग का विधान नहीं पाया जाता। हां, कुन्दकुन्दाचार्य ने ऐसा विधान किया है पर उसका उक्त प्रमाण ग्रन्थों से मेल नहीं बैठता।"

किसी भी दिगम्बर जैन शास्त्र में मुनि के लिये वस्त्र का विधान नहीं है, वस्त्र-त्याग का विधान सैकड़ों ग्रन्थोंमें भरा पड़ा है, वस्त्र-त्याग के बिना मुनि होता ही नहीं है, मुनि के औत्सर्गिक लिंग ही होता है, पुलाकादि पांच भी निर्ग्रन्थ नग्न होते हैं। अपवादिकलिंग का अर्थ सग्रंथलिंग है उससे सीधी मुक्ति होती नहीं और न वह मुनियों का लिंग है, इत्यादि अनेक विधान अनेकों शास्त्रों में पाये जाते हैं, इसमें मुनियों के लिये एकान्ततः वस्त्र-त्याग का ही विधान पाया जाता है। 'उक्त प्रमाण ग्रन्थों से कुन्दकुन्दाचार्य का वस्त्र-त्याग का विधान मेल नहीं खाता।' यह है छोटे मुंह बड़ी बात, केवल अपवादलिंग, सग्रन्थलिंग, इत्यादि शब्दों पर से अपना मतलब हासिल न होते हुए भी हासिल समझ कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थोंको अप्रमाण उद्घोषित करना भारी भूल है। कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों से विपरीत लिखने वाले ही अप्रमाण हो सकते हैं यह खास ध्यान में रखना चाहिये। जो जो ग्रन्थ सग्रंथ लिंग से मुक्ति होने में पेश किये गये हैं, वे सभी प्रामाणिक अवश्य हैं परन्तु उनसे भी सग्रन्थ लिंग से मुक्ति सिद्ध नहीं होती।

इस प्रकार उक्त सब प्रमाणों पर से मुनियों के लिये सर्वथा वस्त्र-त्याग का विधान ही पाया जाता है और कुन्दकुन्दाचार्य के ही कथन का सब ग्रंथकार समर्थन करते हैं।

३-केवली और कवलाहार

अब पाठक तीसरे प्रकरण पर आइये। इसमें प्रोफेसर जी ने 'तत्वार्थमहाशास्त्र' के अनुसार 'केवली के भूख-प्यास आदि की वेदना' होती है इस बात को पुष्ट करने की चेष्टा की है। 'तत्वार्थमहाशास्त्र' को सम्भवतः आज तक किसी ने समझा ही नहीं, दिखता है। इसपर पचासों छोटी बड़ी टीकाएं अनेक भाषाओं में लिखी गई हैं, किसी में प्रोफेसर जी के मत का समर्थन नहीं है। क्या उनके कर्ता सब के सब आगम-भक्त थे। उनमें क्या एक भी परीक्षा प्रधानी नहीं था। जिससे किसी ने भी प्रोफेसर जी के मत का समर्थन नहीं किया। बात दर असल यह है कि स्वामी समन्तभद्र, अकलंकदेव, पात्रकेसरी, विद्यानन्दी आदि सभी महाविद्वान परीक्षा—प्रधानी थे। जिसे परीक्षा कहते हैं उसे ही वे करते थे। समन्तभद्र इन सब में आद्य परीक्षा-प्रधानी माने गये हैं। क्या उनके किसी भी ग्रन्थ में किसी भी अन्य

आचार्यों के मन्तव्यों का खण्डन देखने में आता है। बल्कि परीक्षा के द्वारा उनने पूर्वाचार्यों के मन्तव्यों का समर्थन ही किया है। परमात्मा में क्षुधादि दोष नहीं होते यह पूर्वाचार्यों का मन्तव्य था उसी का भगवत्समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड, स्वयंभू स्तोत्र आदि महाशास्त्रों में समर्थन किया है। वर्तमान काली· परीक्षा का ढङ्ग और है, पूर्वाचार्यों के मतव्यों के समर्थन को तो वर्तमान के कितने ही विद्वान रूढ़िवाद कहकर चेलेंज दे डालते हैं। पूर्वाचार्यों में विरुद्ध कहना यह आज कल की परीक्षा है। या अपन ने जिस बात की धारणा कर ली उसी को येन केन प्रकारेन पुष्ट करना परीक्षा है। वह पूर्वागमोंमें विरुद्ध पड़ती हो तो पड़े। एक राजा के पूछने पर उसको किसी मूर्ख पण्डित ने एक श्लोक का अर्थ यह बता दिया कि महाराज!

> शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजं।
> प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१॥

इस श्लोक का अर्थ बड़ा गूढ़ है, इसे मैं ही जानता हूं, आपको विश्वास न हो तो प्रत्येक विद्वान से पूछ लीजिये कोई भी यह अर्थ नहीं बता सकेगा। इसका अर्थ सुनिये—एक दही बड़ों का स्तोत्र है, यह श्लोक उसी में का है, इसका अर्थ है कि—'दही रूपी शुक्लाम्बर को धारण करने वाला, सर्वत्र मिलने के कारण विष्णु के समान, चन्द्रमा की तरह गोल गोल चतुर मनुष्य के खाने योग्य, स्मरण करते ही मुख को प्रसन्न कर देने वाला बड़ा; खाये जाने पर सब विघ्नबाधाओं को दूर कर देता है।'

राजा जो भी विद्वान राजसभा में आवें उनसे इसका अर्थ पहले पूछे, किसी से भी उक्त अर्थ न बने, तब उन्हें वहां से लज्जित होकर चला जाना पड़े राजा और अर्थों को माने नहीं, क्योंकि उसके हृदय में तो उक्त अर्थ ठसा हुआ था। यही गति आज कल के विद्वानों की हो रही है।

वे कहते हैं—वाह! 'एकादश जिने' इस सूत्रमें केवली के ग्यारह परीषह कही गई हैं। उनके नाम हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृण-स्पर्श और मल। इनको दूर करने के लिये केवली खाते हैं, पानी पीते हैं, अच्छे अच्छे बेश-कीमती शाल-दुशाले ओढ़ते हैं, गर्मी में ठण्डी ठण्डी छाया का आलंबन करते हैं, और डांसमच्छर आदि के काटने पर तीखे नखों से खुजाते हैं, अच्छी अच्छी सवारियों पर चढ़कर वे गमन करते हैं, मुलायम बिस्तरों पर वे सोते हैं, मारने पीटने वालों पर तीव्र रोष करते हैं, पेचिश आदि रोग भी उनके होते हैं, कंटक आदि का स्पर्श भी उनके होता है और मल टट्टी-पेशाब भी वे करते हैं। खाना-पीना और टट्टी-पेशाब न करना यह अच्छा नहीं लगता। ये परीषहें वेदनीय कर्म के उदय में होती हैं, क्योंकि कहा है—'वेदनीये शेषाः'। "वेदनीय का उदय सयोगी और अयोगी गुणस्थान में भी आयु के अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है, इसके मानते हुए तत्सम्बन्धी वेदनाओं का अभाव मानना शास्त्र-सम्मत नहीं ठहरता।" पाठक! सोचिये इस महावाक्य के अनुसार उपर्युक्त ग्यारह वेदनाएं केवली में हुई या नहीं। तारीफ यह है कि प्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती ऋषि तो इन्हें सहते हैं। केवली तो सहना दूर रहा वे तो खा-पीकर, ओढ़-बिछाकर दूर कर लेते हैं। यदि केवली वस्तुवृत्या खा-पीकर अपनी वेदनाओं को दूर कर लेते हैं। तो वे इन परीषहों को सहते कब हैं। प्रमत्तादि गुण-

'नहीं हैं' यह वाक्यशेष यहांपर कल्पित करना। क्योंकि सूत्र सोपस्कार हुआ करते हैं। वह इस लिये कि मोह के उदय की सहायता से की गईं क्षुधादि वेदना का जिनेन्द्र के अभाव* है।'

यहां टीका में ग्यारह परीषहों का सद्भाव और अभाव कह दिया गया है, द्रव्यकर्म के सद्भाव की अपेक्षा से तो उपचार से सद्भाव और मोहनीय के उदय की सहायता न होने से कार्य रूप से उनका अभाव। यही बात अकलंक देव ने राजवार्तिक में और विद्यानन्दी ने श्लोकवार्तिक में इसी 'एकादश जिने' सूत्र में कही है। जिन्हें देखना हो वे उन ग्रन्थों में देख सकते हैं। लेख बढ़ने के डर से यहां नहीं लिखी गई है।

उपचार से और मुख्यवृत्ति से, शक्ति से और व्यक्ति की अपेक्षा से, निश्चय और व्यवहार से, उत्सर्ग से और अपवाद से तथा क्षेत्रपात्रादिक की अपेक्षा से अनेकों कथन देखे जाते हैं। इन अपेक्षाओं को छोड़ देने पर विरोध प्रतीत होने लगता है। इस लिये इन अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए सूत्रों की योजना की जानी चाहिये। जैसे सप्तभंगी योजना अपेक्षाकृत है उसी तरह उपचारादि कथन भी अपेक्षाकृत हैं। अन्यथा है ही, नहीं ही है इत्यादि विरोध तदवस्थ बने रहते हैं। किस अपेक्षा से है और किस अपेक्षा से नहीं, इस तरह अपेक्षा से विचार करने पर वही विरोध दूर हो जाता है। केवली में क्षुधादि परीषह उपचार से हैं, क्योंकि उनका कारण असातावेदनीय द्रव्यकर्म का उदय उनमें है, कार्यरूप से क्षुधादि परीषह केवली में नहीं हैं, क्योंकि वह क्षुधादि परीषह मोहनीय के उदय की सहायता से युक्त या घाति कर्मों के उदय की सहायता से युक्त असाता वेदनीय के उदय से होती हैं। जिस तरह केवली में चिन्तानिरोध लक्षण ध्यान उपचार से है, मुख्यवृत्ति से उनके चिन्तानिरोध का अभाव होने से ध्यान नहीं है। इसी तरह सर्वार्थसिद्धि के देवों का गमन सप्तम पृथिवी तक कहा गया है, सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र सर्वार्थसिद्धि विमान को छोड़कर कहीं जाते नहीं हैं, किन्तु यह उनकी शक्ति की अपेक्षा से कहा गया है कि उनमें वहां तक जाने की शक्ति है, व्यक्ति रूप से जाते नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि जहां जैसी विवक्षा हो वहां वैसी ही अपेक्षा से काम लेना चाहिये। विरोध परिहार का यह एक खास तरीका है।

यदि यह कहा जाय कि मोहनीय कर्म के अभाव के पश्चात् वेदनीय का उदय माना ही क्यों जाता है, इसका उत्तर यह है कि यह वस्तुस्वभाव है, वस्तुस्वभाव प्रश्नमात्र से हटाया नहीं जा सकता। अनिवृत्ति परिणाम मोहनीय कर्म और अन्य सोलह कर्मों को ही नाश कर पाता है, असाता वेदनीय को वह नाश नहीं करता इस लिये उसका केवल उदय-सत्व मोहनीय के नाश हो जाने पर भी बना रहता है।

अनेक कर्म ऐसे हैं जो अन्य कर्मों की सहायता

*ननु मोहनीयसहायाभावात् क्षुधादिवेदनाभावे परीषहव्यपदेशो न युक्तः, सत्यमेवमेतत्, वेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परीषहोपचारः क्रियते। निरवशेषनिरस्तज्ञानावरणे युगपत्सकलपदार्थावभासिकेवलज्ञानातिशये चिन्तानिरोधाभावेऽपि तत्फलकर्मनिर्हरणापेक्षया ध्यानोपचारवत्। अथवा एकादश जिने न सन्तीति वाक्यशेषः कल्पनीयः सोपस्कारत्वात् सूत्राणां।........ मोहोदयसहायीकृत क्षुधादिवेदनाभावात्।

से भी कार्य करते हैं, इसे हम ही नहीं मानते किन्तु केवली कवलाहार मानने वाले भी मानते हैं। ऊपर की प्रकरण में चन्द्रर्षि के उदाहरण दिये गये हैं उन से ज्ञात होता है कि सर्वघातिकषायों के क्षयोपशम से चारित्र होता है उसको भाववेद का उदय नाश नहीं करता है क्योंकि भाववेद का उदय देशघाती है, सर्व घाती कषायों का बल पाकर तो भाववेद का उदय भी चारित्र को घातता ही है। जैसे कि वायु सहित अग्नि तृणों को जलाती है। अतः स्पष्ट है कि कई कर्म पर की सहायता से स्वकार्य करते हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि वेदनीय कर्म मोहनीय कर्म के बल से-सहायता से घाति कर्मों की तरह जीवों को सुख-दुःख का अनुभव करा उनका घात करता है इस लिये घातियाओं के मध्य में और मोहनीय की आदि में वेदनीय का पाठ रखा गया है। यथा—

घादिंव वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिदं तु ॥१६
—गो० कर्मकांड

जब तक रागद्वेष रहते हैं तभी तक यह जीव किसी को बुरा और किसी को भला समझता है, एक वस्तु किसी को बुरी मालूम पड़ती है, वही वस्तु किसी को अच्छी मालूम पड़ती है। जैसे नीम मनुष्यों को अप्रिय और ऊँट को प्रिय लगता है, वस्तु बुरी-भली नहीं होती, वस्तु स्वतः बुरी-भली हो तो दोनों को एक सी मालूम होनी चाहिये। इससे यह आया कि मोहनीयात्मक रागद्वेष के होते हुए ही इन्द्रियजन्य सुख-दुःख का अनुभव होता है, मोहनीय कर्म के बिना अकेला वेदनीय कर्म सुख-दुःख का अनुभव नहीं कराता। जैसे कि सैन्य-नायक के बिना अकेली सेना कुछ नहीं कर पाती है।

इस लिये सर्वार्थसिद्धिकार और राजवार्तिककार ने जो यह कहा है कि मोहनीय कर्मोदय के अभाव में वेदनीय का प्रभाव जर्जरित हो जाता है इससे वे वेदनाएं केवली के होती नहीं। कर्मसिद्धान्त पर से ही यह बात सिद्ध होती है। क्योंकि वेदनीय जन्य वेदना रागद्वेषजन्य परिणति के निमित्त से होती है, रागद्वेष परिणति के बिना केवल वेदनीय स्वकार्यकरण में असमर्थ है।

जिन शास्त्रों में केवली क्षुधादि अठारह दोषों से रहित कहे गये हैं, वे शास्त्र हैं या नहीं। यदि वे भी शास्त्र हैं तो वेदनीय—सम्बन्धी वेदना का अभाव शास्त्र सम्मत क्यों नहीं। यदि वे शास्त्र नहीं हैं अकेला तत्त्वार्थ शास्त्र ही शास्त्र है, यह कैसे ? प्रायः एक नहीं, अनेक शास्त्र केवली के क्षुधादि वेदना का सद्भाव कहते हैं और अन्य शास्त्र कार्य रूप से उसका निषेध करते हैं। अथवा तत्त्वार्थ शास्त्र भी कार्यरूप से क्षुधादि वेदना का निषेध करता है। जैसे कि कि अन्य शास्त्र। इस तरह क्षुधादि वेदनाओं का अभाव शास्त्र-सम्मत ही है। जिस तरह एकाग्र चिन्ता निरोध का नाम ध्यान है, केवली के वस्तुवृत्त्या यह ध्यान नहीं है तो भी कर्मों की निर्जरा रूप फल की वजह से उपचार से मान लिया गया है। इसी तरह केवली में मुख्यवृत्त्या क्षुधादि वेदना नहीं है, क्योंकि वहां मोहनीय कर्म की सहायता नहीं है, केवल वेदनीय का उदय है इस लिये शक्ति की अपेक्षा क्षुधादि वेदना यहां मान ली गई है।

क्षुधादि अठारह दोषों का अभाव केवली के अनेक शास्त्रों में वर्णित है। कुछ प्रमाण देखिये। आचार्य देवसेन लिखते हैं कि तीनों लोकों में क्षुधादि

अठारह दोष कहे गये हैं, जो सब जीवों में सामान्यतया पाये जाते हैं, उनके अभाव से परमात्मा होता है। यथा—

दोसा छुहाइ भणिया अट्ठारस होंति तिविहलोयम्मि।
सामण्णा सयलजणे तेसिमभावेण परमप्पा ॥२७३॥

—भावसंग्रह

समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि क्षुधा, पिपासा, निद्रा, जरा, आतंक, जन्म, मरण, भय, स्मय, राग द्वेष, मोह इत्यादि दोष जिसमें नहीं हैं वह आप्त कहा गया है। यथा—

क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः सः प्रकीर्त्यते ॥६॥

—रत्नकरंडक

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि क्षुधा, तृषा, भय, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, खेद, स्वेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग ये अठारह दोष हैं। इन सब अठारह दोषों से जो रहित है और केवलज्ञानादि परम विभव कर संयुक्त है वह परमात्मा कहा गया है। इससे जो विपरीत है अर्थात जिसमें उक्त अठारह दोष हैं वह परमात्मा नहीं है। यथा—

छुह तण्ह भीरु रोसो,
रागो मोहो चिंताजराउजामिच्चू।
स्वेदं खेद मदो रइ विम्हिय णिद्दा जणुव्वेगो ॥६॥
णिस्सेसदोसरहियो केवलणाणाइपरम विभवजुदो।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥७॥

—नियमसार

'दसअट्ठ दोसरहिओ सो देवो णत्थि संदेहो' अर्थात अठारह दोषों से जो रहित होता है वह देव होता है, इसमें सन्देह नहीं। इत्यादि रीत्या अनेकों ग्रंथों में परमात्मा के क्षुधादि अठारह दोषों का अभाव कहा गया है।

केवलि जिन कवलाहार करते हैं इसका निषेध भी थोड़ा सा हृदयंगम करना चाहिये। भगवज्जिनसेनाचार्य कहते हैं—हे जिनेन्द्र! आप क्षीणमोह हैं इससे आपके अनन्तसुख का उदय है इसलिये आपके भुक्ति अर्थात् भोजन क्रिया नहीं है, क्योंकि जो जन्तु क्षुधा की पीड़ा से पीड़ित होता है, वह कवलाहार करता है। जो मूर्ख असातावेदनीय का उदय होने के कारण आपमें कवलाहार की योजना करता है उसको मोह रूपी अग्नि का प्रतीकार करने के लिये पुराने घी का अन्वेषण करना चाहिये असाता वेदनीय रूप विष घाति कर्मों के विध्वंस से ध्वस्त शक्ति हो जाता है, वह आप में कुछ भी करने को समर्थ नहीं है जिस तरह कि मंत्र की शक्ति से विष मारण शक्ति से रहित हो जाता है। हे नाथ! असातावेदनीय का उदय घातिया कर्म रूप सहकारी के नाश से आपमें अकिंचित्कर हो गया है। क्योंकि सामग्री से फल की प्राप्ति होती है। यथा—

न भुक्तिः क्षीणमोहस्य तवानन्तसुखोदयात्।
क्षुत्क्लेशबाधितो जन्तुः कवलाहारभुग्भवेत् ॥१॥
असद्वेद्योदयाद्भुक्ति त्वयि यो योजयेदधीः।
मोहानिलप्रतीकारे तस्यान्वेष्यं जरद्घृतं ॥२॥
असद्वेद्यविषं घातिविध्वंसध्वस्तशक्तिकं।
त्वय्यकिंचित्करं मंत्रशक्त्येवापबलं विषं ॥३॥
असद्वेद्योदयो घातिसहकारिव्यपायतः।
त्वय्यकिंचित्करो नाथ! सामग्र्या हि फलोदयः ॥४

—आर्षे आदिपुराणे प० २५

आचार्य देवसेन तो कवलाहार का निषेध खूब ही विस्तार के साथ करते हैं, वे कहते हैं कि जो श्वेत-

पट अर्हंत में कवलाहार कहते हैं सो वह अर्हंत में नहीं है क्योंकि उस परम योगी अर्हन्त के मन नष्ट हो गया है, जो गुप्तित्रय से युक्त है, इन्द्रियों के व्यापार से रहित जिसका चित्त हो गया है और भावेन्द्रिय की जिसके प्रधानता है उस जीव के निश्चल-ध्यान होता है। उस ध्यान से उस जीव के जीव और मन का समरसीकरण होता है और फिर समरसीकरण से नियम से संवित्ति होती है। उस संवित्ति से तृष्णा निद्रा और क्षुधा ये उसके नष्ट हो जाने पर वह ध्यानी पुरुष क्षपक श्रेणि में आरोहण करता है। फिर क्षपक श्रेणि में आरूढ़ हुआ वह निद्रा आदि का कारण जो मोह कर्म है उसे निःशेष क्षय करता है। उसके क्षीण हो जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है। वह केवलज्ञान अठारह दोषों के क्षय हो जाने पर होता है, वे अठारह दोष हैं क्षुधा आदि, वे केवली के नहीं होते। यदि कितने ही क्षुधादि दोष उसके होते हैं तो वह परमात्मा नहीं है, अथवा अनन्तवीर्य वाला नहीं है। नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, ओज-आहार और मन-आहार इस प्रकार छह प्रकार का आहार होता है, इनमें से नोकर्माहार और कर्माहार ये दो तो सभी चतुर्गति वाले जीवों के होते हैं, कवलाहार मनुष्यों और पशुओं के होता है, वृक्षों के लेपाहार होता है, अंडों में रहने वाले पक्षियों के ओजाहार होता है और देवों के मन-आहार होता है। इन छहों आहारों में से कवलाहार, लेपाहार, ओज-आहार और मन-आहार यह चार प्रकार का आहार केवली के नहीं होता। नोकर्म आहार और कर्म-आहार केवली के होता है, वह भी आगम में उसके उपचार से कहा गया है, निश्चय से तो वह भी नहीं है, क्योंकि केवली उत्कृष्ट वीतराग हैं। जो जीमता है, भोजन करता है वह सोता है, सोता हुआ अन्य विषयों का भी भोग करता है, विषयों का भोग करने वाला वीतराग ज्ञानी कैसे हो सकता है। इस लिये केवली के कवलाहार दोनों ही नयों से नहीं है, जो केवली के कवलाहार मानते हैं वे आगमज्ञ नहीं हैं। यथा—

केवलभुत्ती अरुहे कहिया जा सेवडेण तहिं तेण।
सा णत्थि तस्स णूणं णिट्ठमणो परमजोईणं ।।१०३
गुत्तित्तयजुत्तस्स य इंदियवावाररहियचित्तस्स।
भाविंदियमुक्खस्स य जीवस्स य णिचलं झाणं १०४
झाणेण तेण तस्स हु जीवमणस्साण समरसीयरणं
समरसभावेण पुणो संवित्ती होइ णियमेण ।।१०५।।

संवित्तीए वि तहा,

तण्हा णिद्दा य छुहा य तस्स णस्संति।

णट्ठेसु तेसु पुरिसो खवयस्सेणि समारुहइ ।।१०६।।
खवएसु य आरूढो णिद्दाईकारणं तु जो मोहो।
जाइ खयं णिस्सेसो तक्खीणे केवलं णाणं ।।१०७।।
तं पुण केवलणाणं दसट्ठदोसाण हवइ णासम्मि।
ते दोसा पुण तस्स हु छुहाइया णत्थि केवलिणो।।१०८
जइ संति तस्स दोसा केत्तियमित्ता छुहाइ जे भणिया
ण हवइ सो परमप्पा अणंतविरिओ हु सो अहवा ।।
णोकम्म-कम्महारो कवलाहारो य लेप्पहारो य।
उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो येओ ।।
णोकम्म-कम्महारो जीवाणं होइ चउगइगयाणं।
कवलाहारो णरपसु रुक्खेसु य लेप्पमाहारो ।।१११।।
पक्खीणुज्जाहारो अंडयमज्झेसु वट्टमाणाणं।
देवेसु मणाहारो चउव्विहो णत्थि केवलिणं ।।११२।।
णोकम्म-कम्महारो उवयारेण तस्स आयमे भणिओ।
ण हु णिच्छएण सो वि हु वीयराओ परो जम्हा ।।

जो जेमइ सो सोवइ सुत्तो अण्णो वि विसयमणुहवइ
विसए अणुहवमाणो स वीयराओ कहं णाणी ॥११४
तम्हा कवलाहारो केवलिणो णत्थि दोहि वि णएहि।
मण्णंति य आहारं णे वे मिच्छायअण्णाणि ॥११५॥

—भावसंग्रह

भगवान अकलंकदेव यों लिखते हैं कि लाभान्तराय के परिपूर्ण निरास से कवलाहार के त्यागी केवली के जिससे कि शरीर बलाधान के कारण, अन्य मनुष्यों में न पाये जाने वाले, परमशुभ, सूक्ष्म, अनन्त पुद्गल प्रतिक्षण सम्बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं वह क्षायिक लाभ है। इस कारण औदारिक शरीर की किंचिन्न्यून्य पूर्वकोटि वर्ष की स्थिति कवलाहार बिना कैसे सम्भव होती है, इस प्रकार का जो वचन है वह अशिक्षित-कृत मालूम पड़ता है। यथा—

लाभान्तरायस्याशेषनिरासात्परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतः शरीरबलाधान-हेतवोऽन्य-मनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्मा अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः तस्मादौदारिकशरीरस्य किंचिन्न्यूनपूर्वकोटिवर्षस्थितिः कवलाहारमन्तरेण कथं संभवतीति यद्वचनं तदशिक्षितकृतं विज्ञायते।

—तत्वार्थवार्तिक पे० ७३

स्वामि पूज्यपाद कहते हैं कि भगवान केवली के घातिया कर्मों के क्षय से अतिशय गुण होते हैं, वे दश ही हैं चार सौ कोश तक सुभिक्ष होना, आकाश में गमन, अप्राणिवध, भुक्ति-कवलाहार का अभाव, उपसर्ग का अभाव, चतुर्मुखता, सब विद्याओं का ईश्वरपना, शरीर की छाया न पड़ना, चक्षुओं की टिमकार का न होना और नख केश न बढ़ना।

गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षता गगनगमनमप्राणिवधः।
भुक्त्युपसर्गाभावश्चतुरास्यत्वं च सर्वविद्येश्वरता ॥३
अच्छायत्वमपक्ष्मस्पन्दश्च समप्रसिद्धनखकेशत्वं।
स्वतिशयगुणा भगवतो घातिक्षयजा भवन्ति तेऽपि दशैव ॥४॥

—नन्दीश्वर भक्ति

इन दश अतिशय गुणों में एक भुक्त्यभाव नाम का अतिशय गुण है और वह घाति कर्मों के क्षय से प्रकट होता है। तुच्छ वेदनीय प्रकृति की इतनी बड़ी कीमत जिसके उदयापन्न होते हुए केवली के भोजन होना ही चाहिये और घाति कर्मों के क्षय की कोई कीमत ही नहीं- जिससे बड़े बड़े अतिशय गुण प्रकट होते हैं, यदि भुक्त्यभाव नहीं होता तो इसका यह अर्थ भी हुआ कि शेष नौ अतिशय भी भगवान केवली के नहीं होते हैं। तथा च दत्तः सर्वेभ्य आगमेभ्यो जलाञ्जलिः।

त्रिलोक प्रज्ञप्ति जो प्राचीनता को लिये हुए है, तीन लोक का विस्तार के साथ वर्णन करने वाला ग्रंथ इसके बराबरी का अब तक दूसरा उपलब्ध नहीं है और जो धवल और जयधवल के द्वारा खूब ही प्रमाण माना गया है। यद्यपि काल दोष से इसके कर्ता का नाम उपलब्ध नहीं है तथा पर भी यह परम प्रामाणिक आर्ष है, उसमें लिखा है कि चारों दिशाओं में सौ योजन तक सुभिक्षता, आकाशगमन, अहिंसा-परमदया, भोजन-परिहीनता, उपसर्गरहितता, सर्वाभिमुख अर्थात चतुर्मुखता शरीर की छाया का अभाव नेत्रों का अपरिस्पन्द, सर्वविद्येश्वरता, नख-केशों में समानता अर्थात इनका न बढ़ना, और अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुल्लकभाषा, संज्ञी जीवों की अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक सब भाषाएं, इन सब

भाषाओं में तालु, दांत, ओष्ठ और कंठ के हिलन-चलन व्यापार के बिना एक ही काल में भव्यजनोंको दिव्य उपदेश देने वाली स्वभाव में अस्खलित और निरुपम दिव्य ध्वनि खिरती है जो तीनों सन्ध्याओं में नव मुहूर्त तक खिरती है और एक योजन पर्यन्त सुनाई देती है, इसके अलावा समय में भी गणधर देव, इन्द्र और चक्रवर्ती के प्रश्नानुसार सप्तभंगी द्वारा अर्थ का निरूपण करती हुई वह दिव्यध्वनि खिरती है। तथा वह दिव्यध्वनि, भव्यजीवों को छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पांच अस्तिकाय और सात तत्व का उपदेश देती है; ये महान आश्चर्यजनक ग्यारह अतिशय घातिकर्म के क्षय से, तीर्थंकरों के केवलज्ञान उत्पन्न होने पर होते हैं। यथा—

जोयणसदमज्जादं सुभिक्खदा चउदिसासु णियराणा ।
णहगमणमणहिंसा भोयण-उवसग्गपरिहीणा ॥
सव्वाहिमुहट्ठियत्तं अच्छायत्तं अपक्खफंदित्तं ।
विज्जाणं ईसत्तं समणहरोमत्तणं सजीवम्हि ॥
अट्ठरस महाभासा खुल्लयभासासयाइं सत्त तहा ।
अक्खरअणक्खरप्पयसण्णीजीवाणसयलभासाओ ॥
एदासु भासासु तालुवदंतोट्ठकंठवावारे ।
परिहरिय एक्ककालं भव्वजणे दिव्वभासित्तं ॥
पगदीए अक्खलिओ संज्झत्तिदयम्मि णवमुहुत्ताणि ।
णिस्सरदि णिरुवमाणो दिव्वज्झुणी जाव जोयणयं ॥
सेसेसुं समएसुं गणहर-देविंद-चक्कवट्टीणं ।
पण्हाणुरूवमत्थं दिव्वझुणी अ सत्तभंगीहिं ॥
छद्दव्व-णवपयत्थे पंचट्ठीकाय-सत्ततच्चाणि ।
णाणाविहहेदूहिं जादा एक्कारस अदिसया महच्छरिय,
एदे तित्थयराणं केवलणाणम्मि उप्पण्णे ॥

—तिलोयपण्णत्ती अधि० ४

इस तरह जहां देखिये वहां केवली के कवलाहार के अभाव की गुण गाथा गाई गई है। प्रमेयकमल-मार्तण्डमें यह तो विषय अनेकों युक्तियों द्वारा विस्तार के साथ निरूपण किया गया है, थोड़ा सा उसका नमूना भी देखिये।

जो आत्मा के जीवन्मुक्ति में कवलाहार मानते हैं उनके जीवन्मुक्ति में इसके अनन्त चतुष्टय स्वभाव का अभाव हो जाता है।

उस जीवन्मुक्त के अनन्तसुख का अभाव भी यों हो जाता है कि वह बुभुक्षा से उत्पन्न हुई पीड़ा से युक्त हो जाता है। बुभुक्षाजन्य पीड़ा के परिहार के लिये सब जीवों का कवलाहार के ग्रहण करने में प्रयास प्रसिद्ध ही है। तथा भूख लगने पर यह केवली समवशरण में बैठा बैठा ही भोजन करता है या चर्यामार्ग से जाकर, यदि समवशरण में ही भोजन करता है तब तो उसने मार्ग ही नाश कर दिया, तथा भूख लग जाने के पश्चात् आहार न मिलने पर म्लान हुए यथावद्बोध—हीन भगवान के मोक्षमार्ग का उपदेश कैसे बनेगा। यदि यों कहो कि भूख लगने के बाद देव समवशरण में आहार ले जाते हैं। यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है, कहें कि आगम प्रमाण है यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तुम्हारे और हमारे प्रसिद्ध आगम का भी प्रमाण है, तुम्हारे यहां प्रसिद्ध आगम के होते हुए भी उससे उक्त बात सिद्ध नहीं होती क्योंकि 'भुक्त्युपसर्गाभाव' अर्थात केवली के भोजनाभाव और उपसर्गाभाव इत्यादि प्रमाणभूत आगम भी मौजूद है। यदि चर्यामार्ग से जाकर केवली भोजन करता है तो चर्यामार्ग में भी क्या घर-घर जाता है या एक ही घर में भिक्षा का लाभ जानकर प्रवृत्ति करता है। पहले पक्षमें भिक्षाके लिये

घर-घर पर्यटन करने वाले केवली के अज्ञानपने का प्रसंग आता है, दूसरे पक्ष में उसके भिक्षाशुद्धि न होगी। फिर वह भगवान् व्याध लुब्धक आदि के द्वारा सब जगह, सर्वकाल में व्याहन्यमान मत्स्यादि प्राणियों और उनके मांसों को तथा अशुचि पदार्थों को साक्षात् करता हुआ कैसे आहार ग्रहण करता है, इनको साक्षात् देखता हुआ भी आहार कर लेता है तो वह भगवान दयाहीन ठहरता है। जीवों का वध और विष्ठादिक को साक्षात करते हुए व्रतशील से विहीन भी भोजन नहीं करते हैं, भगवान तो व्रतादिक से सम्पन्न हैं वह उन वस्तुओं को देखता हुआ कैसे भोजन कर लेता है, नहीं तो वह भगवान उनसे भी हीन शक्ति वाला साबित हो जाता है। इत्यादि,

अन्त में यह जो लिखा गया है कि समन्तभद्र-स्वामी ने आप्त—मीमांसा में वीतराग के भी सुख और दुःख का सद्भाव स्वीकार किया है। यथा—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात् पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युंज्यान्निमित्ततः ॥९३"

सोचिये और विचारिये, इस बात को कम से कम कवलाहार का पोषक समाज भी नहीं मानता है, दिगम्बर जैन संप्रदाय को केवली कवलाहार मनाने के लिये ऐसे अनुचित अवलम्बन तो नहीं लेना चाहिये। यह साता-असाताजन्य सुख दुःख यदि केवली भगवान के हैं तो उनके ये ऐन्द्रियज हैं या आत्मोत्थ, ऐन्द्रियज हैं तो क्या भगवान के घाति कर्मों के नाश हो जाने पर ऐन्द्रियज, अनित्य सुख-दुःख बने रहते हैं तो भगवान के मतिज्ञानादिकों का प्रसंग आवेगा तब क्या भगवान के मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञान भी हैं। यदि ऐन्द्रियज नहीं हैं तो सभी प्राणियों के साताअसाताजन्य सुख-दुःख आत्मोत्थ ठहरेंगे फिर अनन्त सुख जो घाति क्षय से उत्पन्न होता है वह कहां रहेगा, एक ही केवली में घातिक्षयज अनन्त सुख भी और सातासाताजन्य वैषयिक अनित्य सुख-दुःख भी। यह तो एक अपूर्व बात हुई, जो अब तक किसी को भी ज्ञात न थी। इसकी खोज पांचों ज्ञानों के अलावा और ही किसी ज्ञान से हुई मालूम पड़ती है।

उक्त श्लोक में अपने दुःख-सुख से पुण्य और पाप का बंध कहा गया है, तब क्या, श्लोकगत वीतराग केवली हैं या और कोई। यदि केवली हैं तो उनके अपने में सुख-दुःख उत्पन्न करने से कौन से पाप-पुण्य का बन्ध होता है और उसका फल केवली रहते हुए कब भोगेंगे। कर्म — बन्ध का फल भोगना जरूर चाहिए जब कि असाता के उदयजन्य अर्थात् क्षुधादि पीड़ा भोगते हैं। यदि नहीं भोगते तो असातोदय बुभुक्षा दुःख भी केवली नहीं भोगते।

केवली के बन्ध एक सिर्फ सातावेदनीय कर्म का होता है, जो समय-स्थितिक है। वह भी सूखी दीवाल पर लगी हुई धूलि के समान है, जो दीवाल की तरह केवली का भला-बुरा करने में समर्थ नहीं है। फिर दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में तो अपने सुख-दुःखों से पुण्य-पाप का बन्ध भी तो नहीं माना है, 'विशुद्धिसंक्लेशांगं' इत्यादि श्लोक न कहते और उसमें कही हुई विशुद्धि से पुण्यबन्ध और संक्लेश से बन्ध का समर्थन न करते। केवली वीतराग के पापबन्ध तो होता ही नहीं है, ऐसी हालत में अपने में सुख उत्पन्न करने से जिसके पापबन्ध तो होता है वह केवली वीतराग न होकर और कोई वीतराग होगा जिसको लेकर भगवान समन्तभद्र स्वामी ने आपत्ति दी है। दर असल में बात है भी यही।

क्योंकि टीका में कहा है कि 'वीतरागस्यकायक्लेशादिरूपदुःखोत्पत्तेः विद्वुषस्तत्वज्ञानसन्तोषलक्षण सुखोत्पत्तेः'। अर्थात् वीतराग के कायक्लेशादि रूप दुःख की उत्पत्ति होती है, विद्वान के तत्वज्ञान से उत्पन्न सन्तोष लक्षण सुख की उत्पत्ति होती है। आतापनादियोगों के धारण करने से कायक्लेशादि होते हैं, केवली तो उन कायक्लेशादि का फल प्राप्त कर चुके, अब केवल अवस्था में कायक्लेशादि हैं नहीं। सन्तोष लक्षण सुख भी नहीं है, सन्तोष एक मोहनीय कर्म की पर्याय है, मोहनीय कर्म भगवान केवली के है नहीं इस लिये उसकी पर्याय सन्तोष-लक्षण सुख भी नहीं है। इससे मालूम होता है कि सुख-दुःख के निमित्त से पुण्य-पाप से लिप्त होने वाला और कोई वीतराग है, केवली वीतराग विद्वान नहीं हैं। अतः इसमें सातासातजन्य सुख-दुःख की कथा अपना सा मुंह लेकर सात समुद्र पार पहुंच जाती है।

बस, अब इस विषय का यहीं पर अन्त किया जाता है कि 'जैनसमाज के दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो सम्प्रदाय मुख्य हैं। इन सम्प्रदायों में शास्त्रीय मान्यता सम्बन्धी जो भेद हैं उनमें प्रधानतः तीन बातों में मतभेद पाये जाते हैं, यह लिख वे तीन बातें लिखी गई हैं, जिनका कि ऊपर निराकरण किया गया है। 'प्रधानतः तीन बातों में मतभेद पाये जाते हैं' इससे मालूम पड़ता है कि मतभेद तो और भी हैं परन्तु वे प्रधान नहीं हैं। प्रधान न सही परन्तु वे अप्रधान मतभेद रहेंगे कहां, उन्हें दिगम्बर मान लेंगे या श्वेताम्बर छोड़ देंगे। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ऐसी कई बातें कही गई हैं जो दिगम्बर सम्प्रदाय के विरुद्ध पड़ती हैं। जैसे—एक युगलिये का मर जाना और उसकी युगलन सुनन्दा को आदिनाथ की वधूटी के रूप में नाभिराय द्वारा, स्वीकार कर लिया जाना। मरुदेवी को हाथी पर बैठे बैठे ही केवलज्ञान हो जाना, उपाश्रयमें झाड़ू लगाती हुई के केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाना, मल्लिबाई का तीर्थंकरी होना, श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं का रात दिन का अन्तर, मुनियों का पात्र रखना, भगवान महावीर जिनेश्वर का विवाह होना, उनके यशोदा नाम की लड़की का होना, भगवान के उपसर्ग होना, उनपर तेजोलेश्या के छोड़ने से पेचिश हो जाना, छह महीने तक उस रोग का रहना, अन्त में कुक्कुट खाने को देना, केवली के दर्शन और ज्ञान का क्रमवर्ती मानना, मरुदेवी के उदर से ऋषभदेव और सुमंगला का युगल उत्पन्न होना और दोनों का पति पत्नी होना। भरत चक्रवर्ती को गंगा देवी द्वारा अपने रतिगृह में ले जाना और वहां एक हजार वर्ष तक भरत के साथ भोगविलास करना. इत्यादि अनेक मतभेद ऐसे हैं जो आचार्यों के मतभेद कहकर टाले नहीं जा सकते। इन सब विषयों को लेकर हमें तो दिगम्बर और श्वेताम्बर शासनों में पूरा मौलिक भेद प्रतीत हो रहा है। जो दैवों द्वारा भी अपरिहार्य है।

इस प्रकार प्राचीन और अर्वाचीन शास्त्रों पर से यह निश्चित रूप से जाना जाता है कि दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में न तो स्त्री-मुक्ति उसके किसी भी आगम से सिद्ध है, न संयमी के वस्त्र-त्याग अनिवार्य है और न केवली के कवलाहार की ही विधि है, षट्खण्डागम का सम्पूर्ण कथन भावमानुषी और भाववेद को लेकर है, चौदह और नौ तक के इनके गुणस्थान भाव से सम्बन्ध रखते हैं। द्रव्य से

द्रव्य पुरुष के ही ये नौ गुणस्थान कहे गये हैं। द्रव्य स्त्री के पांच से ऊपर के गुणस्थान नहीं हैं। इस लिये द्रव्यस्त्री को मुक्ति प्राचीन षट्खण्डागम से भी सिद्ध नहीं है। कुन्दकुन्दादि ऋषियों ने जो द्रव्यस्त्री के मुक्ति का निषेध किया है वह गुणस्थानचर्चा और कर्मसिद्धान्त के विवेचनपूर्वक ही है।

भगवती आराधना के अनुसार षष्ठादि गुणस्थानवर्ती मुनियों के सवस्त्र अपवादलिंग नहीं है और न अन्य सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक धवल आदि मे ही मुनियों के वस्त्र-परिधारण सिद्ध है अत एव किसी भी जैनागम में सवस्त्र-सग्रन्थलिंगधारी अपनी सग्रन्थ पर्याय मे मुक्ति का अधिकारी नहीं है, मुक्ति निर्ग्रन्थ लिंग में ही होती है।

केवली के कवलाहार भी किसी दिगम्बर जैन आगम से सिद्ध नहीं है, तत्त्वार्थसूत्र का कथन उपचार से क्षुधादि परीषहों का विधान करता है और कार्य-रूप से निषेध करता है। तत्त्वार्थसूत्र सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती के सूक्ष्म लोभ रूप चारित्र मोह का उदय होते हुए भी मुनि के आठ परीषहों का अभाव कहता है और चौदह का ही नियम करता है, वहां अतिसूक्ष्म लोभ नहीं के बराबर माना जाकर आठका अभाव कहा गया है, इसी तरह केवली के मोहोदय विरहित वेदनीय का उदय होते हुए क्षुधादि परीषहों का अभाव कहा गया है या सिर्फ वेदनीय के उदय-सत्व की अपेक्षा से उपचार सत्व कहा गया है, शेष शास्त्र कार्यरूप से क्षुधादि का निषेध करते हैं अतः परस्परमें कोई विरोध नहीं है इस तरह किसी भी दि० जैन शास्त्र से उक्त तीनों विषय सिद्ध नहीं हैं बल्कि तीनों का सब दि० जैन शास्त्रों में जोरों के साथ निराकरण पाया जाता है।

अन्त में हम प्रोफेसर जी से क्षमा-याचना करते हैं, कि कहीं कोई कटुता का प्रसंग आ गया हो तो वे हमें क्षमा प्रदान करें। शास्त्रोक्त विधि से तीनों विषय विपरीत पड़ते हैं इस लिये हमें श्रुतभक्ति-वश यह निराकरण लिखने को बाध्य होना पड़ा है, बाकी आपके प्रति कोई प्रकार का द्वेष या वैमनस्य नहीं है।

मैं इस वर्ष मृत्यु शय्या तक पहुंच चुका था, फिर भी कर्म विधाता मुझे छोड़ गया, मैं पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ भी नहीं कर सका था, इतने में मेरे कुछ मित्रों की प्रेरणा और सौहार्द ने मुझे आ घेरा। एक तो समय कम, दूसरे पूर्ण स्वास्थ्य का अभाव, तीसरे परिश्रमसे पुनः अस्वस्थ हो जाने का डर, इन कारणों के होते हुए विषय संकलन में कोई त्रुटि रही हो तो श्रुत देवता से व पाठक वर्ग से भी क्षमा-याचना कर इस विषय से विश्राम लेता हूं।

छसद्द तूसद्द लोओ सव्वं अवसंतयस्स साहुस्स।
कि जूयभए साडी विवज्जियव्वा णरिंदेण॥१॥

नशियां, ब्यावर
आसोज सुदी ५ सं० २००१

श्रुतभक्त—
पन्नालाल सोनी,
न्याय सिद्धांत शास्त्री

---

[११]

सत्पथ—दीपक

(यानी)

[प्रोफेसर हीरालाल जी की असत् धारणा का निराकरण]

अजितकुमार जैन शास्त्री

मुलतान सिटी

प्राक्कथन

विश्ववंद्य श्री वीर प्रभु तथा श्री कुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी समन्तभद्राचार्य का अनुयायी यह कब कहता है कि नेत्र बन्द करके सब कुछ मानते चले आओ। जब कि उसके गुरु स्वामी समन्तभद्राचार्य अपने आराध्यदेव भगवान महावीर के सन्मुख उनकी ही परीक्षा करने के लिये (देवागम स्तोत्र द्वारा) खड़े हो जाते हैं तब उनके पदचिन्हों पर चलने वाला उन का अनुयायी इस बात से कब कतरावेगा कि श्री वीर जिनेश द्वारा प्रतिपादित तथा कुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी समन्तभद्राचार्य, अकलंकदेव, विद्यानन्दि आदि दिग्गज मेधावी विद्वान ऋषिवरों द्वारा प्रचारित तत्व-माला की सचाई को अपनी बुद्धि कसौटी पर कोई भी व्यक्ति न परखे। यह तो उसके सौभाग्य की बात है और जब कि यह काम उसका अपना भाई ही करे तब तो परम सौभाग्य मानना चाहिये।

अतः सुपरिचित श्रीमान बा० हीरालाल जी एम. ए., प्रोफेसर एडवर्ड कालेज अमरावती (वर्तमान में मोरेस कालेज नागपुर) सम्पादक—'धवला' ग्रन्थ ने स्त्री-मुक्ति, केवली कवलाहार और सग्रन्थी साधु का का असाधारण विषय पर अपने अनुकूल विचार प्रकट किये हैं, यह एक हर्ष की बात है। इन विषयों को उन्होंने जैसा कुछ समझा वैसा लेखबद्ध किया है। इतनी त्रुटि उनसे अवश्य हुई है कि उन्होंने अधूरी कच्ची खोज को पूर्ण, सत्य, पक्का निर्णय समझ कर प्राच्य सम्मेलन बनारस में जाकर सुना दिया। आपकी इस क्रिया से श्रोताओं को भ्रान्त धारणा हुई होगी।

आप दिगम्बर जैन समाज के माननीय विद्वान हैं आपके ऊपर समाज ने धवला सरीखे महान ग्रन्थ का सम्पादन भार रक्खा हुआ है। इस दिशा में आपको दिगम्बर जैन समाज का सच्चा प्रतिनिधि-त्व करना था। ऐसा न करते हुए आपने इसके विपरीत दिगम्बर जैन सिद्धान्त की बुनियाद को हिलाने का यत्न किया। आप उसमें कितने सफल या असफल हुए यह तो अगले पृष्ठ बतलावेंगे किन्तु इतना तो निश्चित है कि जिन बुनियादों (नींव) को सैकड़ों हजारों वर्षों से अनेक बार हिलाने की चेष्टायें असफल हुई हैं जिनकी सुरक्षा के लिये महान प्रख्यात विद्वानों आचार्यों ने अकाट्य युक्तियों से पूर्ण अनेक ग्रन्थ निर्माण कर डाले हैं वे यों हिल भी नहीं सकती। अस्तु।

श्री दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई ने प्रोफेसर साहब के लेख की नकल छपाकर मेरे पास भेजी और मुझे उसका प्रतिवाद लिखने के लिये प्रेरित किया। तदर्थ उसे धन्यवाद है। मुलतान नगर की गर्मी भारतवर्ष में प्रसिद्ध है जिन दिनों में ये कुछ पृष्ठ लिखे गये हैं उन दिनों में तो गर्मी यौवन पर थी कुछ अन्य निजी रुकावटें भी थीं अतः इस पुस्तक के लिखने में न यथेष्ट समय मिला है, न सुविधा। अतः भाषा सम्बन्धी तथा अन्य त्रुटि रह जाना सम्भव है। जो सज्जन मुझे मेरी त्रुटि बतलावेंगे मैं उनका कृतज्ञ हूंगा।

अकलंक प्रेस, — अजितकुमार जैन शास्त्री,
आषाढ़ सुदी १४ — (चावली) आगरा,
बुधवार वीर सं० २४७० — (वर्तमान) मुलतान नगर
५—७—४४

कुछ और—

अपना लेख बम्बई पंचायत के पास पास भेजते हुए मैं ने यह लिखा था कि 'पुस्तक का प्रूफ संशोधन अच्छा होना चाहिये जिससे पुस्तक में कोई अनर्थ-कारिणी अशुद्धि न रह जावे।' इसके उत्तर में बम्बई पंचायत ने सारा ग्रन्थ ही छपने मुझे दे दिया मेरी स्वल्प शक्ति तथा स्वल्प साधनों के कारण तथा अन्य विघ्नों के कारण पुस्तक प्रकाशन में आशातीत विलम्ब हुआ है।

इसी बीच में धवला के भाषा टीकाकार श्रीमान पं० हीरालाल जी न्यायतीर्थ उज्जैन का जैनसन्देश २८ दिसम्बर १९४४ के अंक में दूसरे पृष्ठ पर निम्न-लिखित लेख प्रगट हुआ है—

प्रोफेसर हीरालाल जी के वक्तव्य पर मेरा

—स्पष्टीकरण—

'जैनसन्देश' के ताजे ३० नवम्बर के अङ्क में 'प्रोफेसर हीरालाल जी से चर्चा' शीर्षक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने "प्रारम्भ में मैं इस विषय को बिल्कुल नहीं जानता था, उस समय जो विद्वान काम करते थे उन्हीं की सलाह पर निर्भर रहना पड़ता था" आदि अपना वक्तव्य प्रकट किया है, वह बहुत भ्रामक और असत्य है। सच बात यह है कि प्रथम दो भागोंका अनुवाद अम-रावती पहुंचनेके पूर्व ही मैं उज्जैनमें कर चुकाथा और उसमें मूल, अर्थ या टिप्पणी में कहीं भी मैंने 'संजद' पद ९३ वें सूत्र में नहीं जोड़ा था। अमरावती पहुंचने पर वहां की व्यवस्था अनुसार प्र० भाग के अनुवाद की प्रेस कापी करने का काम पं० फूलचन्द जी को सौंपा गया, उस स्थल के विचा-रार्थ सामने आने पर मैंने अपनी ओर से जोड़ने का विरोध ही किया था और इसी कारण मूल सूत्र में वह पद जोड़ा भी नहीं जा सका। अनुवाद में वह कैसे जुड़ गया यह आप दोनों ही जानें, क्योंकि अनुवाद की प्रेस कापी करने वाले प्रूफ रीडिंग और छपने को आर्डर देने वाले आप दोनों ही क्रमशः जिम्मेदार हैं। इसी सूत्र के 'भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगति' पद का जो भ्रामक अर्थ छपा है, उसके भी जिम्मे-दार आप दोनों ही हैं। प्रमाण के लिये मेरे हाथका अनुवाद अब भी देखा जा सकता है।

—पं० हीरालाल शास्त्री उज्जैन"

इस लेख की बातें यदि सत्य हैं तो बहुत आ-श्चर्य और बहुत खेद की बात है कि श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी अपने कर्तव्य—पालन में स्थिर न रह सके। सर्वोच्च सिद्धान्त ग्रंथ के सम्पादन में उन्हें ग्रन्थ प्रणेता आचार्य का भाव ज्यों का त्यों रखना था उसमें अपना अनुमान या भाव न मिलाना था। जब कि (धवला) षट्खण्डागम के ९३ वें सूत्र में 'संजद' शब्द है ही नहीं तब आपने भाषा अर्थ में 'संजद' शब्द क्यों जोड़ा? तथा टिप्पणी में "अत्र 'संजद' इति पाठशेषः प्रतिभाति" ऐसा क्यों अपने पास से छपाया। यदि पं० हीरालालजी

न्यायतीर्थ विरोध न करते तो सम्भव है सूत्र में भी 'संजद' शब्द जोड़कर आप महा अनर्थ कर देते।

जब कि दि० परम्परा में स्त्री के पांच ही गुणस्थानों का विधान है और वैसा ही स्पष्ट विधान षट्-खण्डागम के इस ९३ वें सूत्र में है फिर आपने अपनी मनोनीत स्त्रीमुक्ति इस सर्वप्राचीन ग्रन्थ से सिद्ध करने के लिये इस प्रकार चेष्टा की है यह बहुत अनुचित एवं अनधिकार यत्न है। जो कि आप सरीखे महानुभाव के द्वारा कदापि न होना चाहिये था। दिगम्बर जैन समाजने आपके ऊपर विश्वास करके जिस महान कार्य को आपके हाथ सौंपा उसमें ऐसी काल्पनिक असत् आनुमानिक जोड़ तोड़ एवं मूल सूत्र में 'संजद' शब्द न होते हुए भी अपने पास से रख देने जैसी बात न होनी चाहिये थी। जहां आपने दिगम्बर जैन सिद्धान्त के महान सर्वोच्च सिद्धान्त ग्रन्थ के निःस्वार्थ सम्पादन का प्रशंसनीय कार्य किया है वहां यह महती त्रुटि करके अमृत में विष बिन्दु मिश्रण जैसा कार्य भी किया है।

हम आपकी अनुपम सेवाओं का हृदय से आदर करते हैं तथापि 'शत्रोरपि गुणाः वाच्याः दोषा वाच्याः गुरोरपि' नीति के अनुसार स्पष्ट रूप से यह भी अवश्य कहेंगे कि आपका यह कार्य आप सरीखे विश्वस्त पुरुष के अनुरूप नहीं।

अन्त में 'धवला प्रकाशन समिति' से यह निवेदन है कि वह धवला की प्रकाशित जिल्दों का कुछ सिद्धान्तवेत्ता विद्वानों द्वारा ध्यानपूर्वक स्वाध्याय करावे और यदि कोई अन्य भी त्रुटि रह गई हो तो उसका भी इस त्रुटि के साथ संशोधन कराकर ग्रन्थकार के [illegible] की रक्षा करे। तथा जिन महानुभावों के पास या जिन भण्डारों में धवला की पहली जिल्द पहुंच गई है वे महानुभाव धवला के ३३२ वें पृष्ठ पर छपी टिप्पणी (सबसे नीचे की पंक्ति) १—"अत्र 'संजद' इति पाठशेषः प्रतिभाति" को एवं ९३ वें सूत्र के भाषा अर्थमें 'संयत' शब्द को बिलकुल मिटा देवें।

इसके सिवाय इस सूत्र की संस्कृत टीका के अर्थ में और भी दो बड़ी त्रुटियां रह गई हैं उनका भी सुधार होना चाहिये।

पहली त्रुटि (पृ० ३३२)

"हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, उत्पद्यन्ते।"

(भाषा) शंका—हुण्डावसर्पिणी काल सम्बन्धी स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं।"

धवला में छपा हुआ यह अंश यों होना चाहिये—

"हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेत्, न उत्पद्यन्ते।"

यानी—शंकाकार पूछता है कि 'क्या हुण्डावसर्पिणी काल में सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री शरीर में उत्पन्न नहीं होते ?

ग्रन्थकार का उत्तर—'नहीं उत्पन्न होते हैं।'

यह अर्थ सिद्धान्त अनुसार ठीक बैठता है। जो अर्द्धविराम का चिन्ह (कौमा) 'न' के पीछे लगाया है वह उसके पहले होना चाहिये जिससे 'नुक्ते के हेर-फेर से खुदा जुदा हुआ' सरीखा असत् अर्थ न होवे।

तदनन्तर शंकाकार ने शंका की है कि सम्यग्दृष्टि

स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता "यह बात कैसे जानी जाय ?"

ग्रन्थकार ने समाधान किया कि "इसी आर्ष आगम प्रमाण से।"

तब शंकाकार ने फिर (इसी ग्रन्थ में स्त्रियों के चौदह गुणस्थानों का विधान देखकर) शंका की कि "इसी आर्ष आगम से द्रव्यस्त्रियों के मोक्ष भी सिद्ध हो जायगी ?" टीकाकार ने उत्तर दिया कि "नहीं, स्त्रियां वस्त्र रूप परिग्रह सहित होती हैं अतः वे पंचम गुणस्थान-वर्तिनी होती हैं अतः उनके सकल संयम (संयत छठा गुणस्थान) नहीं होता।"

तब शंकाकार ने कहा कि "कपड़ा पहने हुए भी स्त्रियों के भाव संयम तो हो सकता है ?" टीकाकार इसके समाधान में लिखते हैं कि "स्त्रियों के भाव-संयम नहीं होता है क्योंकि यदि उनके भावसंयम होता तो भावअसंयम का अविनाभावी वस्त्र आदि परिग्रह उनके नहीं होना चाहिये था।"

तब शंकाकार ने प्रश्न किया है कि "फिर स्त्रियों के चौदह गुणस्थान किस प्रकार होते हैं ?"

इसके समाधान में टीकाकार ने लिखा है कि—

"इति चेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्वा-विरोधात।"

इसकी भाषा यों प्रकाशित हुई है "नहीं, क्योंकि भावस्त्री में अर्थात् स्त्रीवेद युक्त मनुष्य गति में चौदह गुणस्थानों के सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।"

इस भाषा अर्थ में थोड़ी सी दूसरी त्रुटि हुई है जिससे कि स्वाध्याय करने वाले संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्ति को भ्रम हो सकता है क्योंकि 'अर्थात्' के पीछे जो 'स्त्रीवेदयुक्त' शब्द रक्खा गया है वह अस्पष्ट एवं भ्रामक है। अतएव उपर्युक्त वाक्य का अर्थ यों करना चाहिये।

"नहीं (शंकाकार की शंका ठीक नहीं) क्योंकि भावस्त्रीवेद वाले मनुष्य के चौदह गुणस्थान हो सकते हैं।"

यदि इतना संक्षिप्त अर्थ भी कर दिया जाता तो भी विषय स्पष्ट अभ्रान्त दीख पड़ता। यदि यहीं पर विषय को स्पष्ट करने के लिये—

"द्रव्यस्त्री के यद्यपि पहले पांच ही गुणस्थान होते हैं किन्तु भावस्त्रीवेदी द्रव्यपुरुष के समस्त गुण-स्थान हो सकते हैं।"

इतनी पंक्ति और जोड़ दी जाती तो बहुत अच्छा होता। अस्तु।

अब प्रोफेसर जी का तथा धवला प्रकाशन समिति का मुख्य कर्तव्य है कि इन तीनों त्रुटियों के सुधारणार्थ सफल यत्न करें। जिससे कि जहां २ पर धवला की प्रति मौजूद है वहां वहां पर संशोधन हो सके। अन्यथा भविष्य में यह और भी अनर्थ की कारण हो सकती हैं।

माघ बदी पंचमी वीर सं० २४७१ ३-१-४५

निवेदक—
अजितकुमार जैन
मुलतान



सत्पथ-दीपक



आज से प्रायः दो हजार वर्ष पहले का वह समय भारत के लिये विशेष कर अखंड जैन संघ के लिये अत्यन्त अशुभ था जब कि मालवा प्रान्त में लगातार बारह वर्ष का अकाल पड़ा था। उस अकाल के कारण जो जैन साधुओं का संघ भद्रबाहु आचार्य के नेतृत्व में दक्षिण प्रान्त (मद्रास, मैसूर, कर्णाटक) की ओर प्रस्थान कर गया वह अपनी साधु चर्या पर पूर्ववत आरूढ़ रहा उसमें कोई विकार न आने पाया क्योंकि दक्षिण प्रान्त अकाल की भयानक परिस्थिति से अछूता था।

परन्तु जो साधु संघ उस समय मालवा प्रान्तमें रहा आया उस पर असहनीय विकराल दुष्काल की की विकट परिस्थिति ने बुरा प्रभाव डाला। उनकी पवित्र साधुचर्या स्वच्छ न रह सकी और उसमें विकार आ गया। वे अपने नग्न व्रत (अचेलकता) को अक्षुण्ण न रख सके। दुःसमय के विकट थपेड़े ने उन्हें कुछ वस्त्र ग्रहण करने के लिये विवश (लाचार) किया। जो कि उनमें से बहुत से साधुओं का स्वभाव सा बन गया और अकाल का अन्त हो जाने पर भी उनके उस विकृत शिथिलाचार का अन्त न हुआ।

इस प्रकार जैन साधुओं का एक संघ अब दो रूप में विभक्त हो गया।

श्वेताम्बरीय ग्रंथ कल्पसूत्र में भी श्रुत केवली भद्रबाहु आचार्य के समय बारह—वर्षी दुर्भिक्ष (अकाल) पड़ने का उल्लेख आया है—

"अन्यत्र द्वादशवर्ष-दुर्भिक्ष-प्रान्ते सङ्घाग्रहेण श्री भद्रबाहुभिः साधुपञ्चशत्या प्रत्यहं वाचनासप्तकेन" इत्यादि।

—पृष्ठ १६२ वि० सं० १९७९ में बम्बई से प्रकाशित

कुछ दिनों तक यह संघभेद की व्यवस्था गोलमाल रूप से चलती रही। फिर विक्रम सं० १३६ या १३८ में दोनों साधुसंघों ने अपना अपना भिन्न भिन्न नामकरण कर लिया। जो साधु प्राचीन निर्ग्रन्थ नग्न वेश के अनुयायी रहे उनका नाम 'दिगम्बर' (दिशा रूपी वस्त्रों का उपयोग करने वाले अर्थात् नग्न) प्रचलित हुआ और जो नवीन विकृत रूप में आये उन साधुओं के संघ का नाम "श्वेताम्बर" (सफेद वस्त्र पहनने वाले) प्रचलित हुआ। दोनों साधु संघों के अनुयायी श्रावक भी अपने पूज्य साधुओं के अनुसार दो (दिगम्बर, श्वेताम्बर) में विभक्त हो गये। इस प्रकार एक अखंड जैनसंघ के दो खण्ड हो गये।

किन्तु अर्हन्त प्रतिमाओं का निर्माण विक्रम ९.० १०० तक नग्न वीतराग रूप में ही होता रहा। प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान प० बेचरदास जी लिखित "जैन साहित्य में विकार" नामक पुस्तक के अनुसार किसी प्रतिमा के विषय में दिगम्बर श्वेताम्बर संघ का परस्पर बहुत विवाद हुआ उस समय से श्वेताम्बर जैन संघ ने अपनी प्रतिमाओं पर लंगोट (कन्दोरा) चिन्ह लगाना प्रारम्भ कर दिया शेष रूप वीतराग रूप में ही रक्खा। मुकुट, कुण्डल, आंगिया आदि वस्त्र आभूषणों द्वारा अर्हन्त प्रतिमाको सजाने की पद्धति तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में बहुत पीछे (अर्वाचीन) प्रचलित हुई है।

श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों का निर्माण वीर सं० ९८० में प्रारम्भ हुआ जैसा कि कल्पसूत्र के १४८ वें सूत्र में १२६ वें पृष्ठ पर लिखा है—

वल्लभीपुरंमि नयरे देवड्ढिपमुहसयलसंघेहिं।
पुत्थे आगमलिहिओ णवसयअसीआओ वीराओ॥

यानी—वल्लभीपुर में देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण आदि समस्त साधु संघ ने वीर सं० ९८० में आगम पुस्तक रूप लिखे।

किन्तु दिगम्बरीय ग्रन्थरचना इससे लगभग ४५० वर्ष पहले प्रारम्भ हो गई थी। षट्खण्डागम उन का पहला सिद्धान्त ग्रंथ बना। उसके पीछे समयसार आदि ग्रंथों का निर्माण हुआ। समयसार के रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द का समय प० चक्रवर्ती आदि [illegible]ओं ने गहरी छानबीन के साथ विक्रम सं० की पहली शताब्दी निश्चित किया है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य विक्रम सं० ४४ में आचार्य पद पर आरूढ हुए थे।

षट्खण्डागम के रचयिता श्री पुष्पदन्त भूतबलि आचार्य कुन्दकुन्द से पहले हुए हैं।

इस विभक्त जैन संघ के कारण जैनसमाज की शक्ति क्षीण हो गई है तथा होती जा रही है। इस हानि से चिन्तित अनेक समाज-हितैषी महानुभावों ने दोनों संघों को मिलाकर एक ९.र देने की अनेक बार चेष्टा की है किन्तु उसमें इस कारण सफल नहीं हो पाये कि दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायों के सैद्धान्तिक मतभेद की खाई को पाट देने में वे असमर्थ रहे।

किन्तु श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी एडवर्ड कालेज अमरावती ने अभी हाल में ही ऐसा यत्न किया है।

श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी, एडवर्ड कालेज अमरावती, (वर्तमान मोरिस कालेज नागपुर) दि० जैन समाज के उन कुछ एक विद्वानों में से हैं जिन्हों ने जिनवाणी के उद्धार में पर्याप्त श्रम किया है। अपभ्रंश प्राकृत भाषा के अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त आपने प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रंथ 'धवला' का सम्पादन भी किया है।

आपने जनवरी सन १९४४ के समय हिन्दू विश्व विद्यालय बनारस में होने वाले अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलन में अपना लिखा हुआ निबन्ध पढ़ा था। उसकी असल कापी तो हमने देखी नहीं किन्तु बम्बईकी पंचायतने विख्यात फर्म जुहारमल मूलचंद द्वारा उसको पुनः विद्वानों के विचारणार्थ छपाकर भेजने की कृपा की है। (आशा है पंचायत के कार्यकर्ताओं ने अपना उत्तरदायित्व समझते हुए प्रोफेसर साहिब के व्याख्यान को अक्षरशः ठीक छपाया होगा) उसे अवश्य देखा है।

इसको पढ़ने से ज्ञात होता है कि दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायों की सैद्धान्तिक एकता प्रगट करने की उत्कट भावना को लेकर आपने अपना भाषण लिखा है। भावना आपकी शुभ है किन्तु इसके लिये जो आपने शीघ्रता में जैन सिद्धांत का बलिदान कर दिया है वह अवश्य खेदजनक है। आप सरीखे उत्तरदायित्वपूर्ण, धवला ग्रन्थ का सम्पादन करने वाले विद्वान का ऐसा प्रयत्न उचित नहीं माना जा सकता।

आपने भावावेश में दिगम्बर सम्प्रदायके सर्वोच आचार्य कुन्दकुन्द का (जिनके विषय में कहा जाता है कि उन्होंने सीमंधर तीर्थंकर का साक्षात् दर्शन किया था, जिनकी वाणी के अतिशय से प्रभावित होकर श्री कान जी ऋषि आदि हजारों आध्यात्मिक प्रेमी विद्वान स्वयं उनके अनुयायी हो चुके हैं) को रचना से अप्रमाणित ठहराने का अतिसाहस किया है। प्रोफेसर साहब को यह विषय पहले समाज के विद्वानों के समक्ष विचारणार्थ रखना था पीछे अपना सिद्धान्त बनाकर प्राच्य सम्मेलन में अपने भाव प्रगट करने थे। आपको यह बात हृदय में रखनी थी कि कुन्दकुन्द आचार्य का वचन अन्यथा नहीं हो सकता दिगम्बर सम्प्रदाय कुन्दकुन्दाचार्य के सन्मानमें सर्वस्व त्याग कर सकता है।

इसके सिवाय आपने श्वेताम्बरीय ग्रंथोंके देखने का भी कष्ट नहीं उठाया ऐसा ज्ञात होता है। आप यदि उन ग्रन्थों का ध्यान से स्वाध्याय करते तो आप अपनी यह धारणा न बना पाते। ऐसा हमारा विश्वास है। आप जिस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये दिगम्बर सिद्धान्तों की बलि दे रहे हैं श्वेताम्बरीय ग्रन्थों का भी अभिप्राय उसके विपरीत है।

संक्षेप से हम आपकी आपत्तिजनक मान्यता पर क्रमशः प्रकाश डालते हैं।

स्त्री-मुक्ति

आपने प्रथम ही दिगम्बरीय ग्रन्थों के आधार से स्त्री मुक्ति सिद्ध करके दिगम्बरीय श्वेताम्बरीय सैद्धान्तिक भेद की खाई को पाटना चाहा है किन्तु आप मूल बातों को दृष्टि से ओझल करके कोरे युक्तिवाद में चले गये हैं अतः सफल नहीं हुए।

आपने जिस कर्मसिद्धान्त के आधार से भी कुंदकुन्दाचार्य की मान्यता को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिये यत्न किया है उस कर्मसिद्धान्त को आपने छुआ भी नहीं।

प्रथम संहनन

कर्मसिद्धांत के अनुसार यह बात निर्णीत है कि वज्रवृषभनाराच संहनन धारक शक्तिशाली जीव ही उस सर्वोच्च तपस्या तथा घोर दुष्कृत (पाप) करने की क्षमता (शक्ति) रखता है। अतएव सप्तम नरक जाने योग्य भयानक पापकृत्य भी वही कर सकता है। जैसी कि कहावत है कि 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' यानी—जो जीव सांसारिक कार्योंमें शूरवीर होते हैं वे ही धार्मिक कार्योंमें भी उस सीमा तक शूरवीर हो सकते हैं।

गोम्मटसार कर्मकांड की ३० वीं गाथा देखिये—

णवगेविज्जाणुद्दिसणुत्तर वासीसु जांति ते णियमा।

तिगुणंगं संघडणे णारायणमादिगे कमसो।

अर्थात्—नाराच, वज्रनाराच और वज्रऋषभनाराच संहनन के उदय से नवग्रैवेयक में, वज्रनाराच तथा वज्रऋषभनाराच संहनन के उदय से नव अनुदिश विमानों में एवं वज्रऋषभनाराच संहनन के उदय वाला जीव विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन अनुत्तर विमानों को प्राप्त कर सकता है।

इसी प्रकार इसकी आगे की गाथा भी देखिये—

सण्णी छस्संहडणो वज्जदि मेघं तदो परं चावि।
सेवट्टादीरहिदो पण पण चदुरेगसंहडणे ॥३१॥

अर्थात्—संज्ञी जीव छह संहननों में से किसी भी संहनन से तीसरे नरक तक, सृपाटिका संहनन रहित (पांच संहननों में से किसी भी संहनन से) जीव पांचवें नरक तक, पांचवें छठे संहनन बिना पहले चार संहननों में से किसी भी संहननका धारक जीव छठे नरक तक और प्रथम (वज्रऋषभनाराच) संहनन धारक जीव सातवें नरक जा सकता है।

इस कर्मसिद्धांत के अनुसार स्त्री यदि अनुत्तर विमानों में अथवा सातवें नरक जाती हो तो उसके मुक्ति प्राप्त करने की क्षमता (सामर्थ्य) निर्विवाद मानी जा सकती है। परन्तु ऐसा है नहीं।

देखिये सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य के गोम्मटसार कर्मकांड की ३२ वीं गाथा—

अंतिमतियसंहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं
आदिमतिगसंहडणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥३२

यानी—कर्मभूमिज स्त्रियों के अर्द्धनाराच, कीलित, असंप्राप्तासृपाटिका इन तीन संहननों का उदय होता है। पहले तीन संहनन (वज्रर्षभनाराच वज्रनाराच, नाराच) उनके नहीं होते।

गोम्मटसार की इस एक गाथा से स्त्री-मुक्ति विषय की समस्त उलझन सुलझ जाती है। आप यदि इस एक ही गाथा को हृदयंगम कर लेते तो कदापि भ्रम में न पड़ते। क्योंकि कर्म-भूमिज स्त्रियों के जब कि वज्रऋषभनाराच संहनन ही नहीं होता तब वे शुक्लध्यान प्राप्त नहीं कर सकतीं। क्योंकि शुक्लध्यान पहले संहनन वाले व्यक्ति के होता है। शुक्लध्यान हुए बिना स्त्रियों को मुक्ति मिलना असम्भव है।

इस प्रकार कर्मग्रन्थ की यह गाथा आपको अपने विचारपथ में एक पद भी आगे नहीं बढ़ने देती।

स्त्रियों को संहनन नहीं होना यह बात श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रन्थों में भी समर्थित होती है।

श्वेताम्बरीय ग्रन्थ 'प्रकरणरत्नाकर' (चौथा भाग) के संग्रहणीसूत्र नामक प्रकरण की २३६ वीं गाथा देखिये—

दो पढमपुढविगमणं छेवट्ठे कीलियाइ संघयणे।
इक्किक पुढवि वुड्ढी आइतिलेस्साउ नरएसु॥

अर्थात्—छठे (असंप्राप्तासृपाटिका) संहनन वाला जीव पहले दूसरे नरक तक जा सकता है। दूसरा संहनन वाला तीसरे नरक तक, तीसरे संहनन वाला चौथे नरक तक, चौथे संहनन वाला पांचवें नरक तक, पांचवे संहनन वाला छठे नरक और वज्रऋषभनाराच संहनन वाला जीव सातवें नरक तक जा सकता है।

इसी ग्रन्थकी २३४वीं गाथा पृ० १०० पर यह है—

असन्नि सरिसिव पक्खीसीह उरगित्थि जा छट्ठि
कमसो उक्कोसेणं सत्तम पुढवी मणुय मच्छा॥

यानी—असैनी जीव पहले नरक तक, पेट के सहारे रगने वाले गोह, न्योला आदि दूसरे नरक तक, पक्षी तीसरे नरक तक, सिंह आदि पशु चौथे नरक तक, स्त्री छठे नरक तक और मनुष्य तथा मत्स्य सातवें नरक तक जाता है।

इस सैद्धान्तिक विधानसे श्वेताम्बरीय शास्त्र प्रमाणित करते हैं कि कर्मभूमिज पुरुषों के वज्रऋषभसंहनन होता है जिससे वे सातवें नरक जाने योग्य उत्कृष्ट पाप का संचय कर सकते हैं, स्त्री के वह संहनन नहीं होता अतः उसमें सातवें नरक तक जाने योग्य पाप उपार्जनकी शक्ति भी नहीं है (भोगभूमिज पुरुष स्त्री, पशु मन्दकषायों के कारण देवगति को जाते हैं परन्तु व्रतसंयम न होने से दूसरे स्वर्ग से ऊपर नहीं जाते)।

पुण्य-उपार्जन की चरम सीमा पर भी जरा दृष्टि डालिये—

उसी प्रवचनसारोद्धार के संग्रहणी सूत्र की १६० वीं गाथा यह है।

छेवट्टेण उ गम्मइ चउरोजा कप्पकीलियाईसु।

चउसु दु दु कप्प वुड्ढी पढमेणं जाव सिद्धी वि।

अर्थात—छठे संहनन वाला सातवें आठवें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है, पांचवें संहनन वाला पांचवें छठे स्वर्ग तक, चौथे संहनन वाला सातवें आठवें स्वर्ग तक, तीसरे संहनन वाला नौवें दशवें स्वर्ग तक और दूसरे संहनन वाला ग्यारहवें बारहवें स्वर्ग तक जन्म ले सकता है तथा प्रथम संहनन वाला उससे ऊपर अहमिन्द्रों में उत्पन्न हो सकता है और मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है।

(श्वेताम्बर सम्प्रदाय में स्वर्ग १२ माने गये हैं)

अब देखिये कि स्त्री किस स्वर्ग तक जाने योग्य पुण्य कर्म का संचय कर सकती है।

प्रवचनसारोद्धार चौथा भाग के ७८ वें पृष्ठ की गाथा यह है—

उववाओ देवीणं कप्पदुगं जा परो सहस्सारा।

गमणागमणं नत्थी अच्चुय परओ सुराणंपि ॥१६

अर्थात—देवियां पहले दूसरे स्वर्ग तक उत्पन्न होती हैं और बारहवें स्वर्ग तक जा सकती हैं। उस से ऊपर वे नहीं जा सकती।

तथा देवों की अपेक्षा देवियों की आयु भी हीन होती है।

उक्त ग्रन्थ के ७७–७८ वें पृष्ठ पर १६५ वी गाथा देखिये—

आणयपमुहा चविउं मणुएसु चेव गच्छंति।

अर्थात—आनत आदि स्वर्गों के देव मरकर पुरुष ही होते हैं। स्त्री पर्याय नहीं पाते।

श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रंथ इस बात को प्रमाणित करते हैं कि स्त्रियों को वज्रऋषभनाराच संहनन नहीं होता इसी कारण वे सांसारिक चरम सुख एवं दुख प्राप्त करने योग्य उत्कृष्ट तपस्या एवं दुष्कर्म नहीं कर सकती।

इसी सिद्धान्त के अनुसार अनुत्तर विमान से आकर मल्लिनाथ तीर्थंकर का स्त्रीरूप उत्पन्न होना स्वयं श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से खंडित हो जाता है।

इसके सिवाय श्वेताम्बरीय ग्रंथ प्रवचनसारोद्धार के तीसरे भाग के ५४४–५४५ वें पृष्ठ पर एक गाथा लिखी है—

अरहंत चक्किकेसव बलसंभिन्नेय चारणे पुव्वा।

गणहरपुलाय आहारगं च नहु भवियमहिलाणं ॥

अर्थात—भव्य स्त्रियां तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, संभिन्न—श्रोता, चारणऋद्धि, चौदह

पूर्व धारण, गणधर, पुलाक तथा आहारक ऋद्धि ये १० पद प्राप्त नहीं कर सकती।

इस विधान के अनुसार स्त्रियों को चौदह पूर्वोंका भी ज्ञान नहीं होता है। ऐसा क्यों? इसके उत्तरमें प्रकरणरत्नाकर चौथे भाग के कर्मग्रंथ के 'जोगो-वओगलेस्सा' इत्यादि ४५ वी की गाथा की टीका में ५६१ वें पृष्ठ पर निम्नलिखित गाथा उल्लिखित है—

तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला धीइए।
इय अइवसेस झयणा भूय वाओय न च्छीणं॥

अर्थात—स्त्रियों को दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग नहीं पढ़ाना चाहिये क्योंकि स्त्रियां स्वभाव से तुच्छ (हलकी) होती हैं इस लिये अभिमान बहुत करती हैं, अतिशय ज्ञान पचा नहीं सकती, उनकी इन्द्रियां चंचल होती हैं, उनकी बुद्धि निर्बल होती है।

अब आप स्वयं विचार कीजिये कि श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रन्थों के अनुसार जब कि वे चौदह पूर्व का भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती तब वे केवलज्ञान तो कहां प्राप्त कर सकेंगी। और फिर उनका मुक्ति होना तो और भी दूर की बात है। इस प्रकार देखा जावे तो स्वयं श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रन्थ ही स्त्रियों के लिये मुक्ति पथ में कांटे बिछाकर पार करना स्त्रियों के लिये असम्भव बना रहे हैं।

इस कारण स्त्रीमुक्ति सिद्ध करके जो आप दि० श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासन में साम्य दिखलाना चाहते हैं यह आपकी प्रगति विपरीत है। आप को उक्त श्वेताम्बरीय उद्धरणों को समक्ष रख कर यह सिद्ध करना चाहिये था "कि स्त्रीमुक्ति का निषेध श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में भी उतना ही है जितना कि दिगम्बरीय ग्रन्थों में है।"

स्त्रियों के तीर्थंकर न होने आदि श्वेताम्बरीय विधानों की चर्चा विस्तार भय से छोड़ते हैं।

अब हम आपकी युक्तियों को परखते हैं।

आपने प्रथम ही षट्खण्डागम की धवलाटीका के भिन्न भिन्न भागों के सूत्रों का हवाला देकर लिखा है कि—

"दिगम्बर आम्नाय के प्राचीनतम ग्रंथ षट्खण्डागम के सूत्रों में मनुष्य और मनुष्यनी अर्थात पुरुष और स्त्री दोनों के अलग अलग चौदहों गुणस्थान बतलाये गये हैं।"

आपका यदि यह लिखना सत्य होता तो समस्त दि० जैन समाज शिर झुकाकर आपकी बात को स्वीकार कर लेता और 'स्त्रीमुक्ति' के विषय में अपनी धारणा सुधारता। किन्तु खेद है प्रोफेसर साहब! बात ऐसी नहीं है। यह सिद्धान्तग्रन्थ ऐसा निरूपण नहीं करता जैसा कि आप कहते हैं। धवला के प्रथम भागके 'तेण परमवगदवेदा चेदि' ।१०४ सूत्र की टीका में पृष्ठ ३४५ पर इस बात को स्पष्ट कर दिया है। देखिये—

"अधिकृतोऽत्र भाववेदस्तदभावादपगत-वेदो नान्यथेति।"

यानी—यहां भाववेद का अधिकार है। भाववेद न रहने से नवम गुणस्थान से ऊपर वेद-रहित माना गया है अन्यथा नहीं।

आपको गोम्मटसार आदि प्रामाणिक सिद्धान्त-

ग्रन्थों की सङ्गति मिलाने के लिये षटखण्डागम के इस विधान को ध्यान में रखना चाहिये। भाववेद की अपेक्षा से न होने वाले मूल कथन को आप द्रव्य-वेद की अपेक्षा लिख गये हैं। इस साधारण गलती ने सारा अनर्थ कर दिया है आप धवला के समस्त उल्लेखों को इस बीजभूत वाक्य से मिलाते चले आइये आपको कहीं भी दिगम्बर जैन आचार्यों के स्त्रीमुक्ति निषेध विषय में परस्पर विरुद्ध मतभेद न मिलेगा।

द्रव्य पुरुषवेदी क्षपक श्रेणी चढ़ते समय जिस भाववेद वाला होता है। (वह चाहे स्त्री भाववेद हो अथवा पुरुष भाववेद हो) उसको उस भाववेद की अपेक्षा से उसी वेद वाला उल्लेख किया है। अतः द्रव्यलिंग पुरुष होते हुए भी भावस्त्रीवेदी को स्त्रीवेदी लिखकर उसके चौदहों गुणस्थान बतलाये हैं। अतः भाववेद के कथन को द्रव्यवेद मान कर द्रव्य-स्त्री के समस्त गुणस्थान समझ लेना गलती है।

"क्षपक श्रेणी चढ़ते समय पुरुष के जो भाववेद होता है उसी भाववेद की अपेक्षा मुक्त पुरुष को भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा से उस वेद से मुक्त हुआ कहा जाता है।" इस बात का समर्थन प्रख्यात, उद्भट तार्किक विद्वान श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रमेय-कमल मार्तण्ड के ६५ वें पृष्ठ पर एक पुरातन गाथा उल्लिखित की है—

पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य तेदु सिज्झंति।

यानी—जो पुरुष भावपुरुष का अनुभव करते हुए क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं वे, तथा शेष दोनों (स्त्री, नपुंसक) भाववेदों को अनुभव करते वाले भी शुक्लध्यान सहित होते हैं वे भी सिद्ध हो जाते हैं।

तथा—आपने षटखण्डागम (धवला) के सत्-प्ररूपणा के जिस ९३ वें सूत्र (पृ० ३३२) प्रमाण दिया है वह भी आपके अभिप्रायको असत्य ठहराता है। देखिये—

"सम्मामिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठिसंजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

हुंडावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न उत्पद्यन्ते। कुतोवसीयते? अस्मादेवार्षात्। अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः सिद्ध्येदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेन्न, न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेन्न, भावस्त्री-विशिष्ट-मनुष्य-गतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दश गुणस्थानानां सम्भव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्। गतिस्तु प्रधाना न साराद्विनश्यति। वेदविशेषणायां गतौ न तानि सम्भवन्तीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। मनुष्यापर्याप्तेष्वपर्याप्तिप्रतिपक्षाभावतः सुगमत्वान्न तत्र वक्तव्यमस्ति।"

अर्थात—मनुष्य स्त्रियां सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होती हैं।"

यानी—पर्याप्तक स्त्रियों के पहले पांच गुणस्थान ही हो सकते हैं। इसके आगे के नहीं।

यहां भाषा अर्थ में प्रोफेसर साहबने अपने पास से संयत शब्द और जोड़ कर अर्थ का महा अनर्थ कर दिया है।

शंका—हुंडावसर्पिणी काल सम्बन्धी स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं। (ये दोनों शंका और समाधान गलत लिखे हैं। देखो प्राक्कथन)

शंका—यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—इसी आगम प्रमाण से जाना जाता है

शंका—तो इसी आगम से द्रव्यस्त्रियों का मुक्ति जाना सिद्ध हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वस्त्रसहित होनेसे उन के संयतासंयत गुणस्थान होता है। अतएव उनके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका—वस्त्रसहित होते हुए भी उन द्रव्यस्त्रियों के भावसंयम के होने में कोई विरोध नहीं आना चाहिये ?

समाधान—उनके भावसंयम नहीं है, क्योंकि, अन्यथा, अर्थात् भावसंयम के मानने पर उनके भावअसंयम का अविनाभावि वस्त्रादिकका ग्रहण नहीं बन सकता है।

शंका—तो फिर स्त्रियों में चौदह गुणस्थान होते हैं यह कथन कैसे बन सकेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि भावस्त्री में अर्थात् स्त्री वेदयुक्त मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों के सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—बादर कषाय गुणस्थान के ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता है, इस लिये भाववेद में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव नहीं हो सकता है ?

समाधान——नहीं, क्योंकि, यहां पर वेद की प्रधानता नहीं है, किन्तु गति प्रधान है। और वह पहले नष्ट नहीं होती है।

शंका—यद्यपि मनुष्य गति में चौदह गुणस्थान सम्भव हैं फिर भी उसे वेद विशेषण से युक्त कर देने पर उसमें चौदह गुणस्थान सम्भव नहीं हो सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से उस विशेषण युक्त संज्ञा को धारण करने वाली मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता।

षट्खण्डागम के उक्त ९३ वें सूत्र का धवलाकार ने कितना स्पष्ट खुलासा किया है। मुझे आश्चर्य है कि इतना विशद विवरण होने पर भी आपने विपरीत अभिप्राय निकाला। “षट्खण्डागम का जो आशय धवलाकार ने समझा है उतना अभिप्राय प्रोफेसर साहब स्वयं नहीं समझ सकेंगे।” इस बात को स्वयं प्रोफेसर साहब तथा अन्य कोई विचारशील व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता।

आपने अपने अभिमत को पुष्ट करने के लिये चार युक्तियां दी हैं उनमें से पहली युक्ति यह है कि—

“सूत्रों में जो योनिनी शब्द का प्रयोग हुआ है वह द्रव्यस्त्री को छोड़ अन्यत्र घटित ही नहीं हो सकता।”

आपकी यह युक्ति निःसार है आपको ग्रन्थकार का अभिप्राय देखना चाहिये जैन ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर देवों का उल्लेख प्रचलित नाम ‘अमर’

से भी मिलता है इसका कोई यह अभिप्राय निकाल लेवे कि जैनाचार्य देवों को सिद्धों के समान अमर (कभी न मरने वाला) मानते हैं, तो गलत है। आप ही बताइये कि 'भावस्त्रीवेद' बतलाने के लिये किस शब्द का प्रयोग होना चाहिये। जिससे स्त्री शब्द का बोध भी हो जाय और स्त्री सूचक शब्द भी प्रयुक्त न हो। जो भी शब्द रक्खेंगे वह द्रव्यस्त्री वाचक ही होगा। अतः योनिनी शब्द भी भाव स्त्रीवेद के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है इसमें आपत्ति कौन सी है। 'कुशल' शब्द से आप वक्ता के अभिप्राय के विपरीत घास खोदने वाला (कुशां लुनातीति कुशलः) मान लेवें तो यह आपकी त्रुटि है, न कि उक्त शब्द का प्रयोग करने वाले की।

अतः आपकी यह युक्ति व्यर्थ है।

तथा—'योनिनी' शब्द पशुओं की स्त्री जाति के लिये ग्रन्थों में प्रयुक्त हुआ है। तथा पांचवें गुणस्थान से ऊपर द्रव्यस्त्री के लिये योनिनी तथा तत्सम अन्य शब्द किसी भी आगम में नहीं मिलता।

दूसरी युक्ति आप देते हैं—

"जहां वेदमात्र की विवक्षा से कथन किया गया है वहां ८ वें गुणस्थान तक का ही कथन किया गया है, क्योंकि उससे ऊपर वेद रहता ही नहीं है।"

आपने एक तो यह गलत लिखा है क्योंकि एक तो भाववेद आठवें तक नहीं बल्कि नौवें गुणस्थान तक रहता है तथा द्रव्यवेद चौदह तक रहता है तथा अपगत वेदों (वेदरहित) का कथन करते हुए नौवें गुणस्थान से ऊपर भी वेदों का उल्लेख मिलता है। दूसरे इस बात से आपने अपने पक्ष में कोई समर्थक विशेषता भी नहीं दिखलाई। अतः यह भी व्यर्थ है।

तीसरी युक्ति में आप लिखते हैं कि—

"कर्मसिद्धान्त के अनुसार वेद वैषम्य सिद्ध नहीं होता। भिन्न इन्द्रिय सम्बन्धी उपांगों की उत्पत्ति का यह नियम बतलाया गया है कि जीव के जिस प्रकार के इन्द्रिय ज्ञान का क्षयोपशम होगा उसी के अनुकूल वह पुद्गल रचना करके उसको उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति करेगा। चक्षु इन्द्रिय आवरण के क्षयोपशम से कर्ण इन्द्रिय की उत्पत्ति कदापि नहीं होगी और न कभी उसके द्वारा रूप का ज्ञान होगा। इसी प्रकार जीव में जिस वेद का बन्ध होगा उसी के अनुसार वह पुद्गल रचना करेगा और तदनुकूल ही उपांग उत्पन्न होगा। यदि ऐसा न हुआ तो वह वेद ही उदय में न आ सकेगा। इसी कारण जीवन भर वेद बदल नहीं सकता। यदि किसी भी उपांग सहित कोई भी वेद उदय में आ सकता तो कषायों व अन्य नोकषायों के समान वेद के भी जीवन में बदलने में कौन सी आपत्ति आ सकती है।"

आपकी यह युक्ति भी खोखली है। क्योंकि कर्मसिद्धान्त के अनुसार ही तो वेदवैषम्य सिद्ध होता है देखिये—

कर्म सिद्धान्त पर थोड़ा सा भी दृष्टिपात आप यदि करते तो वेदवैषम्य आप को तुरन्त ज्ञात हो जाता। सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार जीवकाण्ड वेदमार्गणा के प्रकरण में स्पष्ट कर दिया है।

पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिंविसमा ॥२७०॥

अर्थात्—पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेद (नोकषाय मोहनीय) के उदय से जीव के पुरुष, स्त्री

और नपुंसकों जैसे भाव होते हैं। तथा नामकर्मके उदय से लिंग, मूंछ दाढ़ी, योनि, कुच आदि द्रव्य-चिन्ह प्रगट होते हैं। ये भावलिंग और द्रव्यलिंग प्रायः समान होते हैं यानी जैसा द्रव्यलिंग होता है वैसा ही भावलिंग होता है किन्तु कभी कभी ये विषम भी हो जाते हैं। यानी द्रव्यलिंग कुछ हो और भाव लिंग उस द्रव्य लिंग से भिन्न हो।

नामकर्म के उदय से द्रव्यवेद योनि, लिंग कुच, मूंछ, दाढ़ी आदि चिन्हों के रूप में होता है और भाववेद मोहनीय कर्म के उदय से जनाने (स्त्री सम्बन्धी), मर्दाने (पुरुष सम्बन्धी) तथा हीजड़े के भाव उत्पन्न होने से होता है।

भावस्त्रीवेद के उदय से तीनों में से कोई भी द्रव्यवेद रहते हुए पुरुष के साथ विषय सेवन के तथा अन्य प्रकार के भी स्त्री सम्बन्धी भाव होते हैं। भावपुरुष वेद के उदय होने पर द्रव्यवेद तीनों में से कोई एक भी रहता हुआ स्त्री के साथ विषयसेवन तथा वीरता आदि पुरुष सम्बन्धी अन्य भाव उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार जब भावनपुंसक वेद का उदय होता है तब किसी भी द्रव्यवेद वाले जीव के परिणाम, विचार हीजड़ों जैसे स्त्री-पुरुष दोनों के साथ विषय सेवन आदि के उत्पन्न होते हैं।

दोनों प्रकार के (द्रव्यवेद, भाववेद) वेदों के उत्पादक दो भिन्न भिन्न कर्म हैं और इसी कारण उन के दो विभिन्न कार्य हैं। इस दशा में वेद—वैषम्य सिद्ध होने में क्या अड़चन आती है? दृष्टान्त से समझ लीजिये—

प्रसिद्ध लड़ाकी झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई द्रव्यस्त्रीवेदी थी अपने पति के साथ शयन करते हुए उसके द्रव्य तथा भाव से स्त्रीवेद था जिस समय वह धीरता और वीरता के साथ अंग्रेजों से लड़ी उस समय वह द्रव्यस्त्रीवेदी होती हुई भी भाव से पुरुष-वेदी थी तभी उसको जनानी न कहते हुए मर्दानी (खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी) कहा है।

बहुत से मनुष्य स्त्री का वेश धारण कर नाटक आदि में अपने हाव-भाव स्त्रियों जैसे दिखला कर पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं वे उस समय द्रव्यपुरुषवेदी होतेहुएभी भावसे स्त्रीवेदी होते हैं

कामशास्त्र के कथनानुसार विपरीत आसन से रतिक्रीड़ा करते हुए यदि गर्भ स्थापित होता है तो उस सन्तान में विपरीत भाव आते हैं। लड़की हो तो जीवनभर उसकी चेष्टायें पुरुष जैसी होती हैं, यदि लड़का हो तो उसमें जनाने हाव-भाव होते हैं।

शूरवीरता, कठिन कार्य करने की क्षमता, उदारता, सादगी आदि भाव पुरुषवेद—सम्बन्धी हैं। भीरुता, कोमलता, निर्बलता, मायाचार, विलासिता आदि भाव स्त्रीवेद के हैं। यह भाव स्त्री पुरुषों में परिस्थिति के अनुसार प्रति समय पलटते रहते हैं। इस कारण द्रव्यवेद जन्मभर एक रहता हुआ भी भाववेद प्रतिक्षण पलटते रहते हैं।

लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिद अली की जीवनचर्या पढ़कर वेद-वैषम्य न होने का आपका भ्रम दूर हो जायगा।

हमारे एक मित्र ने जो कि राष्ट्रीय सेवा के उप-लक्ष्यमें लग भग ढाई वर्ष जेल में रहकर बाहर आये हैं, जेलमें के एक मनुष्य का हाल सुनाया कि वह इस समय ४५-४७ वर्ष का है उसके स्त्री पुत्र पुत्री आदि

भी है किन्तु अभी तक पूर्व-अभ्यस्त दुर्व्यसनके कारण अन्य नवयुवकोंसे अपनी विषय वासना तृप्त करानेको सदा लालायित रहता है।

बतलाइये प्रोफेसर साहब! उस द्रव्यपुरुषवेदी के भावको वेद का उदय है या नहीं?

इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय की बात जुदी है। क्योंकि जितनी द्रव्येन्द्रियां होती हैं उतनी ही भावेन्द्रियां होती हैं अतः उनमें विषमता नहीं आ सकती किन्तु प्रत्येक जीव के द्रव्यवेद एक ही होता है जब कि भाववेद उसके तीनों हो सकते हैं। अतः बाह्य निमित्त कारण विभिन्न न होने के कारण वेद-वैषम्य सिद्ध होता है इन्द्रिय वैषम्य सिद्ध नहीं होता।

आप यदि वैषम्य को समझने के लिये शास्त्रीय उदाहरण चाहते हैं तो द्रव्यलेश्या, भावलेश्या को ले लीजिये।

नामकर्म के उदय से शरीर का रंग द्रव्यलेश्या होती है और मोहनीय कर्म के उदय से विभिन्न प्रकार के परिणाम भावलेश्या होती है।

यूरोप, काश्मीर आदि के स्त्रीपुरुष द्रव्य शुक्ल-लेश्या वाले हैं किन्तु वे भी भाव से भी शुक्ललेश्या वाले हों यह नियम नहीं। द्रव्यकृष्णलेश्या वाले मद्रासी अथवा हब्शी लोगों के भावशुक्ललेश्या हो सकती है और श्वेत रंग वाले अंग्रेज के भावकृष्ण-हो सकती है। यह लेश्या-वैषम्य वेदवैषम्य के ही समान है। इसी प्रकार भावद्रव्यहिंसा, द्रव्यप्राण, भावप्राण आदि में भी विषमता तथा समता पाई जाती है। भावहिंसा होने पर भी द्रव्यहिंसा न हो जैसे छोटी मछलियों के खाने के विचार में बैठा हुआ तंदुल मत्स्य।

यत्नाचार से चलते हुए मुनि के पैर तले आकर मरे हुए सूक्ष्म जीव की द्रव्यहिंसा होते हुए भी भावहिंसा नहीं होती। शोक, हर्ष के भाव उत्पन्न होने के समय भावप्राणों में परिवर्तन होता है किन्तु द्रव्य प्राण वैसे ही रहते हैं। कभी द्रव्यप्राण में परिवर्तन आते हुए भी भावप्राणों में रंचमात्र भी अंतर नहीं आता। कभी दोनों में अन्तर आता है।

इस प्रकार आपकी तीसरी युक्ति भी अन्तः शून्य है।

आपने चौथी युक्ति यह दी है कि—

"नौ प्रकार के जीवों की तो कोई संगति ही नहीं बैठती, क्योंकि द्रव्यमें पुरुष और स्त्रीलिंगके सिवाय तीसरा तो कोई प्रकार ही नहीं पाया जाता, जिससे द्रव्यनपुंसक के तीन अलग भेद बन सकें। पुरुष और स्त्रीवेद में भी द्रव्य और भाव के वैषम्य मानने में ऊपर बतलाई हुई कठिनाई के अतिरिक्त और अनेक प्रश्न खड़े हो सकते हैं। यदि वैषम्य हो सकता है तो वेद के द्रव्य और भावभेद का तात्पर्य ही क्या रहा? किसी भी उपांग विशेष को पुरुष या स्त्री कहा ही क्यों जाय? अपने विशेष उपांग के बिना अमुक वेद उदय में आयगा ही किस प्रकार यदि आ सकता है तो इसी प्रकार पांचों इन्द्रियज्ञान भी पांचों इन्द्रियों के परस्पर संयोग से पच्चीस प्रकार क्यों नहीं हो जाते?

आपकी यह युक्ति भी निर्मूल है। क्योंकि द्रव्य में पुरुष और स्त्री के सिवाय नपुंसक भी होते हैं जो न तो स्त्री ही होते हैं और न पुरुष ही। ऐसे हीजड़े प्रायः समस्त नगरों में पाये जाते हैं जिनके न तो पूर्ण पुरुष के चिन्ह लिंग मूंछ दाढ़ी आदि होते हैं और न पूर्ण योनि, स्तन आदि स्त्रीचिन्ह होते हैं।

इस लिये आपका यह लिखना अयुक्त है कि 'द्रव्य में पुरुष और स्त्री लिंग के तीसरा तो कोई प्रकार ही नहीं पाया जाता।' आप यदि देखना चाहें तो हम आपको बीसों नपुंसक दिखला सकते हैं। नपुंसकों के अपने भाव जुदे ही होते हैं। अतः तीन द्रव्यवेद और तीन भाववेदों के साम्य वैषम्य रूप में जो भेद निर्बाध रूप से होते हैं।

तथा षट्खण्डागम प्रथम खण्ड का १०८ वां सूत्र देखिये जिसका सम्पादन आप स्वयं कर चुके हैं—

"मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टित्ति"

यानी—मनुष्य गति के जीव पुरुष, स्त्री, नपुंसक तीन वेद वाले मिथ्यात्व से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं।

इसी प्रकार १०३ वें सूत्र में, तीसरे खण्ड के १२६-१३० वें सूत्र में भी तीनों वेदों का उल्लेख है।

द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय सम्बन्धी आपकी आशंका का समाधान 'वेदवैषम्य की तीसरी युक्तिका उत्तर देते समय उदाहरणपूर्वक बतला दिया है अतः पुनः यहां लिखना पिष्टपेषण होगा। यहां आपने जो यह लिखा है कि 'यदि वेद-वैषम्य हो सकता है तो वेद के द्रव्य और भाववेद का तात्पर्य ही क्या रहा ?

इसका उत्तर आप महारानी लक्ष्मीबाई के उदाहरण से समझ लीजिये। महारानी लक्ष्मीबाई द्रव्य भाववेद के साम्य होने पर गर्भधारण कर सकी और वेद-वैषम्य होने पर उसने अंगरेजों से डट कर युद्ध किया।

आप शास्त्रीय उदाहरण द्रव्यलेश्या भावलेश्याके सम-विषम रूप में छत्तीस भेदों से समझ लीजिये। 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' ग्रन्थ में वर्णित द्रव्य-हिंसा भावहिंसा के भेदों से भी समझ लीजिये।

इस प्रकार आपकी यह युक्ति भी अकिंचित्कर है।

मुक्ति प्राप्त करने के लिये चारित्र की पूर्णता होनी चाहिये किन्तु स्त्री परिग्रहत्याग महाव्रत नहीं पाल सकती उसे अपने शरीर को छिपाने के लिये साड़ी अवश्य रखनी पड़ती है। रजस्वला होते समय वह साड़ी बदल कर अन्य लेनी पड़ती है। ध्यान करते समय यदि हवा से उसकी साड़ी उड़ने लगे तो उसे ध्यान छोड़ साड़ी सम्भालनी पड़ती है। इस प्रकार उसके महाव्रत पूर्ण नहीं हो पाते। अतः वह चारित्र की अपूर्णता के कारण भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाती जिस तरह वह सोलहवें स्वर्ग से ऊपर जाने योग्य तप नहीं कर सकती।

"द्रव्यस्त्रीवेद वाला जीव क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता।" इस बात को भी पूज्यपाद आचार्यने सर्वार्थसिद्धिमें "निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः" (अध्याय १ सूत्र ७) सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकानामेव, नापर्याप्तिकानाम्। क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव।

अर्थात्—स्त्रियों के पर्याप्तक अवस्था में तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन हो सकते हैं। अपर्याप्तक अवस्था में नहीं। किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व भावस्त्री, वेद वाले पुरुष के ही होता है।

अब बतलाइये क्षायिक सम्यग्दर्शन के बिना स्त्रियों को मुक्ति किस प्रकार मिल सकेगी।

प्रोफेसर जी स्त्रियोंके १४ गुणस्थान सिद्ध करनेकी धुन में यह सब कुछ भूल गये हैं कि वे स्वयं अपनी लेखनी से इस विषय में क्या कुछ लिख चुके हैं।

देखिये धवला (द्रव्य प्रमाणानुगम) की तीसरी जिल्दकी प्रस्तावना पृष्ठ ३०, पर ब्र० लक्ष्मीचन्द्रजी की शंका के समाधान में प्रोफेसर हीरालाल जी ने लिखा है कि—

"अब रही योनिमती के १४ गुणस्थान की बात, सो कर्मभूमिज स्त्रियों के अन्त के तीन संहननों का ही उदय होता है ऐसा गोम्मटसार कर्मकांड की गाथा ३२ में प्रकट है। परन्तु शुक्लध्यान क्षपक श्रेण्यारोहणादि प्रथम संहनन वाले के ही होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि द्रव्यस्त्रियों के १४ गुणस्थान नहीं होते हैं। पर गोम्मटसार में स्त्रीवेदी के १४ गुणस्थान बतलाये अवश्य हैं इस लिये वहां द्रव्य से पुरुष और भावसे स्त्रीवेदी का ही योनिमती पद से ग्रहण करना चाहिये। इस विषय में गोम्मटसार और धवलासिद्धान्त में कोई मतभेद नहीं है। द्रव्यस्त्री के पांच ही गुणस्थान होते हैं।"

प्रोफेसर साहब! क्या आपका यह लिखना गलत है? यदि है तो क्यों?

श्वेताम्बरीय ग्रंथकारों ने स्त्रीमुक्ति के जो उदाहरण अपने ग्रन्थों में उल्लिखित किये हैं वे भी कर्मसिद्धान्त से विरुद्ध ठहरते हैं। (कर्मसिद्धान्त दिगम्बर श्वेताम्बरों का प्रायः समान है उसमें भेद नहीं है) प्रथम ही मल्लिनाथ तीर्थंकर को देखिये—

मल्लिनाथ तीर्थंकर जिनको श्वेताम्बरीय ग्रंथानुसार मल्लिकुमारी कहना चाहिये; तीर्थंकर होने के पहले तीसरे भव में महाबल नामक राजा था। उसके ६ मित्र और थे। महाबल राजा संसार से विरक्त साधु हो गया, साथ ही उसके ६ मित्र भी साधु हो गये। उन सातों ने आपस में यह निर्णय किया कि हम सब समान (एक सरीखा) तपश्चरण करें जिससे परभव में भी हम समान रहें। तदनुसार छहों मित्र तो एक समान तप करते थे। परन्तु महाबल गुप्त रूप से उनसे अधिक तपश्चरण करता था। वे यदि बेला (दो उपवास) करें तो महाबल तेला (तीन उपवास) कर लेता था, वे तेला करें तो यह चौला (चार उपवास कर लेता था। इस मायाचार के कारण उसने स्त्री वेद का बन्ध किया परन्तु षोडश कारण भावनाओं को भाते हुए उसने तीर्थकर नाम कर्म का भी बन्ध किया।

आयु समाप्त होने पर सातों साधु जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए। वहां पर महाबल के जीव की आयु ३२ सागर की थी शेष छहोंकी ३२ सागर से कुछ कम आयु थी।

वहां से चय कर वे छहों अहमिन्द्र तो अंग-कोशल आदि देशों के राजपुत्र हुए और महाबल का जीव मिथिला नरेश कुम्भ राजा के घर पुत्री मल्लि-कुमारी तीर्थंकर हुई (क्योंकि महाबल के भव में छल पूर्वक अधिक तप करने से उसने स्त्रीलिंग बांधा था)।

मल्लिकुमारी जब युवती हुई तो उसकी सुन्दरता पर आसक्त होकर पूर्वभव के मित्र उन छहों राजकुमारों ने उसे अपनी पत्नी बनानेको कुम्भ राजापर चढ़ाई कर दी। युद्ध में कुम्भ राजा हार गया।

किन्तु मल्लिकुमारी ने एक अपनी जैसी सुवर्ण मूर्ति को दिखलाकर उसके अन्दर संचित दुर्गन्ध द्वारा उन राजकुमारों को संसार से विरक्त कर दिया।"

श्वेताम्बर सम्प्रदाय इस कथा को अमिट सत्य मानता है किन्तु यही कथा श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय आगम से विरुद्ध ठहरती है। देखिये—

१—महाबल राजा ने साधु अवस्था में छलपूर्वक तपस्या करते हुए जो स्त्रीलिंग का बन्ध किया वह तीर्थंकर प्रकृति के अनुसार अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त सहित ८ वर्ष कम २ कोटि पूर्व वर्ष और ३२ सागर की स्थिति वाला होगा जो कि अपना आबाधा काल (जो कि १ वर्ष भी नहीं बनता) बीत जाने पर अवश्य उदय में आना चाहिये था। दिगम्बरीय सिद्धान्तानुसार तथा श्वेताम्बरीय ग्रन्थ प्र० सारोद्धार चतुर्थ भाग (शतक नामा पंचम कर्म ग्रन्थ) के पृष्ठ ४४६-४४७ के अनुसार एक कोटाकोटि सागर स्थिति वाले कर्म का आबाधा काल १०० एक सौ वर्ष है। अर्थात् एक कोटाकोटि सागर स्थिति वाला कर्म एक सौ वर्ष पीछे उदय में आता है। महाबल के जीव ने तो एक सौ सागर की स्थिति वाला भी स्त्रीलिंग नहीं बांधा था। तदनुसार महाबल देवपर्याय में स्त्रीलिंग के उदय से देव न होकर अच्युत स्वर्ग तक की कोई देवी होना चाहिये था। जयन्त विमान का देव कैसे हुआ? अतः महाबल के भव का बांधा हुआ स्त्रीलिंग ३२ सागर बाद मल्लिनाथ तीर्थंकर के भव में कर्मसिद्धान्तानुसार उदय में नहीं आ सकता।

२—जयन्त नामक अनुत्तर विमान से चय कर आया हुआ जीव स्त्री-शरीर पाता नहीं। पुरुष ही होता है। श्वेताम्बर सिद्धांत ग्रंथ प्रकरण रत्नाकर चौथा भाग के ७७-७८ वें पृष्ठ पर लिखा है—

"आणयपमुहा चविउं मणुएसु चेव गच्छंति"

यानी—आनत आदि स्वर्गों से मरकर देव पुरुष ही होते हैं।

अतः महाबल का जीव जयन्त नामक अनुत्तर विमान से आकर मल्लिनाथ (पुरुष) तीर्थंकर तो हो सकता है। मल्लिकुमारी स्त्री नहीं हो सकती।

३—श्वेताम्बरीय आगम प्रवचनसार सारोद्धार (तीसरा भाग) पृष्ठ ५५४-५५५ की गाथा—

अरहंतचक्किकेसव बलसंभिन्नेय चारणे पुव्वा।
गणहर पुलाय आहारगं च न हु भविय महिलाणं॥

के अनुसार स्त्री शरीरधारी जीवको तीर्थंकर पद नहीं मिल सकता।

४—आवश्यक नियुक्ति नामक श्वेताम्बरीय ग्रथ में ५ बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकरों के विषय में लिखा है कि—

वीरं अरिट्ठनेमि पासं मल्लिं च वासपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो॥२२१॥
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तियकुलेसु।
ण य इत्थिआभिसेआ कुमारवासम्मि पव्वइया

इसके 'ण य इत्थि आभिसेया' इस पद की टिप्पणी में लिखा है कि—

"स्त्रीपाणिग्रहणराज्याभिषेकोभयरहिता इत्यर्थः"

अर्थात्—महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य ये पांच तीर्थंकर ऐसे हुए हैं कि न इनका स्त्री पाणिग्रहण हुआ और न राज्याभिषेक। ये क्षत्रिय राजकुलोत्पन्न थे

और कुमारावस्था में ही प्रव्रजित हो गये थे।

जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ ५७२

आवश्यक निर्युक्ति के इस उल्लेख से यह बात सिद्ध होती है कि भगवान मल्लिनाथ पुरुष थे तब ही उनका नाम पुरुषलिंग रूप 'मल्लि' लिखा है तथा उन्हें अन्य चार तीर्थंकरों के समान 'स्त्री-पाणि-ग्रहणरहित' यानी—स्त्री के साथ विवाह न करने वाला बतलाया है। यदि मल्लिनाथ स्त्री होते तो उन्हें 'पुरुषपाणिग्रहणरहित' लिखा होता।

तथा—दूसरी बात इससे यह भी सिद्ध हुई कि भगवान महावीर भी ब्रह्मचारी थे जैसा कि दि० जैन ग्रन्थों में बतलाया गया है।

चन्दना, मृगावती का केवलज्ञान।

कल्पसूत्र के ६ वें व्याख्यान, पृष्ठ १६२ पर लिखे अनुसार चन्दना, मृगावती को केवलज्ञान उत्पन्न होने की कथा यों है—

एक समय जब कि भगवान महावीर कौशाम्बी नगरी में पधारे हुए थे उनकी वन्दना करने के लिये सूर्य और चन्द्रमा अपने विमान सहित आये उनके विमान सहित कौशाम्बी में आ जाने पर सर्वत्र अन्धकार हो गया। चन्दना (साध्वी) रात्रि समझ कर अपने उपाश्रय में पहले आ गई परन्तु मृगावती साध्वी कुछ देर बाद आई। यह देखकर चन्दना ने उससे कहा कि कुलीन स्त्रियों को रात्रि में अपने स्थान से (घर से) बाहर न रहना चाहिये।

मृगावती अपना अपराध स्वीकार करते हुए चन्दना के चरणों में गिर पड़ी और अपनी भूल की निन्दा करने लगी। चन्दना को नींद आ गई। पैरों में पड़े हुए तथा प्रतिक्रमण करते करते मृगावती को केवलज्ञान हो गया।

तदनन्तर एक काला सांप उस उपाश्रयमें आया। मृगावतीने चन्दना का हाथ हटा दिया जिससे चन्दना जाग पड़ी। चन्दना ने पूछा कि तुमने मेरा हाथ क्यों हटाया? मृगावती ने कहा काला सांप इधर होकर आ रहा था इस लिये उससे बचाने के लिये हटाया था।

चन्दना ने पूछा अन्धेरे में तुम्हें सांप कैसे दीख पड़ा? मृगावती ने कहा मैंने केवलज्ञान से जाना।'

तब चन्दना मृगावती केवलज्ञानिनी से क्षमा मांगने लगी और इस प्रकार उसे भी केवलज्ञान हो गया।"

कल्पसूत्र के शब्द इस प्रकार हैं—

"तथा च तयैव क्षमयंत्या केवलं प्राप्तं, सर्पसमीपात् करापसारणव्यतिकरेण प्रबोधिता प्रवर्तिन्यपि कथं सर्पोऽज्ञायीति पृच्छन्ती तस्या केवलं ज्ञात्वा मृगावतीं क्षमयन्ती केवलमाससाद।"

स्त्रीमुक्ति (या केवली हो जाने) की उक्त कथा में जैनसिद्धान्त से अनेक बाधाएं आती हैं—

१–सूर्य, चन्द्र का विमान सहित पृथ्वीतल पर आना असम्भव बात है।

२–केवलज्ञान की उत्पत्ति या घाति कर्मों का क्षय बाह्य क्रियाओं को त्यागकर, आत्मध्यान (शुक्ल ध्यान) में लीन हो जाने पर होता है। किन्तु चंदना तथा मृगावती को प्रतिक्रमण करते हुए केवलज्ञान होना बतला दिया है।

३-मृगावती को केवलज्ञान हो जाने पर मोह-भाव न रहना चाहिये था किन्तु उसने चन्दना को सर्प से बचाने के लिये केवलज्ञान अवस्था में उसका हाथ हटाया। इससे सिद्ध होता है कि उसको चंदना से रागभाव था।

प्रोफेसर सा० इस श्वेताम्बर आगमोक्त स्त्रीमुक्ति को किस जैनसिद्धान्त से सिद्ध करेंगे।

मरुदेवी माता का मुक्ति गमन

भगवान ऋषभदेव की माता का मुक्तिगमन कल्पसूत्र के सातवें व्याख्यान में इस प्रकार है—

"मरुदेवी माता भरत को कहती रहती थी कि मैं ऋषभ देव को देखना चाहती हूं कि मेरा पुत्र घर छोड़कर जो साधु हो गया है वह अब कैसी दशा में है। भगवान ऋषभदेव को जब केवलज्ञान हो गया तब भरत चक्री मरुदेवी माता को हाथी पर बैठा कर भगवान ऋषभदेव की वन्दना करने चला। जब वह समवशरण के पास पहुंचा तब उसने मरुदेवी से कहा कि देख अपने पुत्र को। कैसे आनन्द से सिंहासन पर चामर छत्र आदि विभूति सहित बैठा है।

मरुदेवी देवों द्वारा पूजित अपने पुत्र को देखकर हर्ष से गद्‌गद हो उठी और विचारने लगी कि मैं तो सोचती थी कि मेरा पुत्र जंगलों में फिरता है दुखी होगा परन्तु यह तो बड़े ऐश्वर्य का आनन्द ले रहा है। मेरे मोह को धिक्कार है।

ऐसी भावना करते करते मरुदेवी को हाथी पर बैठे ही केवलज्ञान हो गया और उसी समय मुक्त भी हो गई।"

प्रोफेसर साहब स्त्रीमुक्ति के इस प्रसिद्ध श्वेताम्बरीय उदाहरण पर भी विचार करें। बिना पंच पापों का त्याग किये, बिना साध्वी दीक्षा लिये और बिना शुक्लध्यान के ही, प्रतिक्रमण रूप भावना करते करते ही मरुदेवी को केवलज्ञान और मुक्ति हो गई।

इसी प्रकार एक वृद्ध स्त्री की कथा भी श्वेताम्बर समाज में प्रसिद्ध है जिसको कि उपाश्रय में बुहारी देते हुए, भावना भाते हुये केवलज्ञान और मुक्ति हो गई।

बतलाइये जिस घातिकर्म नाश करने तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिये तीर्थंकरों को तो गृहत्याग कर साधु दीक्षा लेनी पड़ती है। तब शुक्लध्यान द्वारा वे अर्हन्त तथा सिद्ध होते हैं किन्तु स्त्रियां बिना किसी प्रत्याख्यान के बाह्य क्रियाओं में लगी हुई ही केवल ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं। यह कहां तक जैनसिद्धांत के अनुकूल है?

पुरुषों को भी इसी प्रकार बाह्य क्रियायें करते केवलज्ञान प्राप्त होने की कथाएं श्वेताम्बर जैन आगमों में पाई जाती हैं।

१-ढंढण ऋषि गोचरी में मिले हुए लाडुओं को अपने गुरु की आज्ञा से चूर करते हुए (फोड़ते हुए) केवलज्ञानी हो गये।

२-एक नव-विवाहित तदनन्तर नव-दीक्षित शिष्य अपने गुरु को कन्धे पर बिठाकर जा रहा था, ऊंची-नीची भूमि पर पैर पड़ने से गुरु को हिचकोले लगते थे अतः वे क्रोधवश उसको ओघा मारते थे। शिष्य ने चलते चलते आत्म-निन्दा की। उसे चलते चलते गुरु को कन्धे पर ले जाते हुए ही केवल ज्ञान हो गया।

३-बांस पर चढ़े हुए नटने एक साधु को देखा जातिस्मरण करके भावना भाते हुए उस बांसपर चढ़े चढ़े उसे केवलज्ञान हो गया।

इत्यादि अनेक कथायें श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों में हैं जो कि जैनसिद्धान्त से विरुद्ध मुक्ति प्राप्ति का प्रतिपादन करती हैं।

प्रोफेसर साहब को उनकी आगम-प्रनुकूलता पर विचार करना चाहिये।

इस प्रकार 'स्त्री-मुक्ति' न तो दिगम्बरीय ग्रथों से सिद्ध होती है। और न श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से। अत एव श्री कुन्दकुन्दाचार्य, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती एवं षट्खण्डागम के रचयिता के कथन में रंचमात्र भी परस्पर विरोध नहीं। विस्तारभय से हम इसे यहीं समाप्त करते हैं।

संयम और वस्त्र त्याग

आपने दिगम्बरीय श्वेताम्बरीय मौलिक शासन-भेद को मिटाने के लिये महाव्रती साधु का वस्त्र-धारण दिगम्बरीय ग्रन्थानुसार सिद्ध करने की की चेष्टा की है। अब इस पर प्रकाश डाला जाता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में जो पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक की ११ प्रतिमाओं का वर्णन किया है वहां स्पष्ट बतलाया है कि केवल एक लंगोटी पहनने वाला व्यक्ति भी महाव्रती साधु न होकर अणुव्रती 'एलक श्रावक' माना गया है फिर प्रोफेसर साहब स्वयं सोचें कि वस्त्रधारक व्यक्ति दिगम्बरीय शासन अनुसार महाव्रती साधु कैसे माना जा सकता है।

आपने जो यह लिखा है कि—

"दिगम्बर सम्प्रदाय के अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ भगवती आराधना में मुनि के उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का विधान है। जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है। देखो गाथा ७६-८३"

सो प्रोफेसर साहबका यह लिखना बिल्कुल गलत है। आश्चर्य होता है कि प्रोफेसर हीरालाल जी सरीखे विद्वान एक साधारण स्पष्ट बात को भी अन्यथा रूप में समझ लेते हैं।

समाधिमरण के प्रकरण में भगवती आराधना ग्रन्थ की वे दोनों गाथाएं हैं। जिनमें बतलाया गया है कि गृहस्थ समाधिमरण के समय लज्जा आदि कारणों से वस्त्र का पूर्ण त्याग न कर सके तो वह अपवादलिंग अर्थात् अन्य समस्त परिग्रह को त्याग करते हुए वस्त्र से अपने गुप्त अंगों को ढके हुए सन्यास धारण करे। मुनि समाधिमरण उत्सर्ग-लिंग यानी अपने नग्न रूप में ही करे।

मुनि के लिये वस्त्र पहन सन्यासमरण करने का वहां रंचमात्र भी विधान नहीं। देखिये—

उस्सग्गियलिंगगदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव।
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥७६॥

अर्थात्—सर्वोच्च उत्सर्गलिंग (नग्नलिंग) धारक मुनि के समाधिमरण समय उत्सर्गलिंग (नग्न वेश) ही होता है। किन्तु अपवादिक लिंग वाले (गृहस्थ) के भी उस समय उत्सर्गलिंग का होना ही प्रशंसनीय है।

"अपवादिक लिंग (अपने गुप्तांग ढकने के

लिये वस्त्र धारण करना) किसके होता है" इस बात को ८१ वीं गाथा में स्पष्ट कर दिया है। देखिये—

आवसथे वा अप्पाउग्गे जो वा महड्ढिओ हिरिमं।
मिच्छजणे सजणे वा तस्सहु होज्ज अववादियंलिंगं

यानी—जिसके सन्यास मरण करने योग्य स्थान न हो जो महार्द्धिधारक राजा, आदि हो, लज्जा सहित हो, जिसके कुटुम्बी मिथ्यादृष्टि हों उसके समाधि मरण के समय 'अपवादलिंग' होता है।

पाठक महानुभाव स्वय समझ सकते हैं कि ऐसा मनुष्य गृहस्थ ही हो सकता है क्योंकि मुनि न लज्जा-युक्त होते हैं, न राजा आदि महर्द्धिक होते हैं और न वे कुटुम्बी ही होते हैं। अतः अपवादलिंग गृहस्थ के होता है, मुनि के नहीं।

८३ वीं गाथा में आर्यिका का वर्णन है—

इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं ओसग्गियं च इदरं वा।
तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करंतीए ॥८३॥

यानी—साड़ी मात्र वस्त्र को पहनने वाली स्त्री (आर्यिका) के उत्सर्ग और अपवाद दोनों लिंग होते हैं।

(आर्यिका के परिग्रह-त्याग महाव्रत उपचार से होता है वह पंचम गुणस्थान वाली ही सिद्धान्त में बतलाई गई है क्योंकि वस्त्र रूप परिग्रह का वह पूर्ण त्याग नहीं कर सकती। उसी प्रकार उसका उत्सर्ग लिंग होता है।)

इस गाथा में तो मुनि का नाम भी नहीं है।

इस प्रकार 'भगवती आराधना' का प्रमाण देकर मुनि को वस्त्रधारण का विधान बतलाने की प्रोफेसर साहब ने व्यर्थ चेष्टा की है।

दूसरी युक्ति में आपने तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थराज-वार्तिक तथा सर्वार्थसिद्धि के ६ वें अध्याय के ४६-४७ वें सूत्र के आधार से वस्त्रधारक महामुनिका विधान सिद्ध करना चाहा है। किन्तु वहां भी कहीं पर रंचमात्र भी महाव्रती साधु को वस्त्र पहनने का विधान नहीं। तत्त्वार्थराजवार्तिक में तो ४६ वें सूत्र का भाष्य करते हुए अकलंकदेव ने स्पष्ट लिखा है—

'दृष्टिरूपसामान्यात् (वार्तिक) ॥९॥

भाष्य—सम्यग्दर्शनं निर्ग्रंथरूपं च भूषावेशायुध-विरहितं तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्ग्रंथ-शब्दो युक्तः।

अर्थात—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक इन पांचों प्रकार के साधुओं में सम्यग्दर्शन तथा वस्त्र, आभूषण, शस्त्रादि से रहित रूप सामान्य रूप से पाया जाता है। अतः सब मुनियों को निर्ग्रंथ कहना युक्त है।

प्रोफेसर साहब इसे ध्यान से पढ़िये। और भी देखिये—

"पुलाक मुनि मूल गुणों में क्वचित् कदाचित् दोष लगाते हुए भी नग्न ही रहते हैं" इस बात को राजवार्तिक के अगले वार्तिक में स्पष्ट कर दिया है।

भग्नव्रते वृत्तावतिप्रसंगः इति चेन्न रूपाभावात्
(वार्तिक) ॥१०॥

भाष्य—यदि भग्नव्रतेऽपि निर्ग्रंथ—शब्दो वर्तते श्रावकेऽपि स्यादिति—अतिप्रसंगो, नैष दोषः कुतो रूपाभावात्. निर्ग्रंथरूपमत्र नः प्रमाणं, न च श्रावके दस्तीति नातिप्रसंगः।

अर्थात—शंकाकार ने शंका की कि 'यदि व्रत-भंग करने वाले को भी (पुलाक मुनि को) निर्ग्रंथ

माना जाय तो श्रावक भी निर्ग्रंथ क्यों न कह दिया जाय ? इसका समाधान ग्रन्थकार अकलंकदेव करते हैं कि "नहीं, श्रावक में वह निर्ग्रंथरूप (नग्नता) नहीं पाया जाता अतः श्रावक 'निर्ग्रन्थ' नहीं कहला सकता। हमको यहां निर्ग्रन्थ रूप प्रमाण है।"

अब पाठक महानुभाव स्वयं समझ सकते हैं कि तत्वार्थसूत्र के सूत्रों का क्या अभिप्राय है और पुलाक, बकुश मुनि भी वस्त्ररहित निग्रंथ (नग्न) होते हैं, वस्त्रधारक नहीं। आशा है प्रोफेसर साहब अपनी गलत धारणा को सुधार लेंगे।

'बकुश मुनि शरीर संस्कार-अनुवर्ती होते हैं' इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे वस्त्र धारण करते हैं। किन्तु "वे अपने नग्न शरीर को साफ-सुथरा सुन्दर रखते हैं।" यह अभिप्राय है। पांचों ही मुनि नग्न होते हैं यह बात राजवार्तिक के पूर्वोक्त वार्तिकों से सिद्ध हो चुकी है।

तत्वार्थसूत्र के ९ वें अध्याय के ४७ वें सूत्र की टीका के 'भावलिंगं प्रतीत्य पंच निर्ग्रंथ-लिंगिनो भवन्ति द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः।' इस वाक्य का उल्लेख करके आप लिखते हैं कि 'कभी कभी मुनि वस्त्र भी धारण कर सकते हैं।'

आप यदि यहां उन टीकाकारोंका नाम भी लिख देते तो आपके लिखने की सत्यता जांच ली जाती। तत्वार्थ सूत्र की दो टीकाएं सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक प्रसिद्ध हैं उनमें तो मुनियों के वस्त्र-धारण का रंचमात्र भी विधान नहीं। तत्वार्थराज-वार्तिक ने तो समस्त मुनियों की नग्नता का स्पष्ट विधान कर दिया है यह पहले दिखा चुके हैं फिर पता नहीं किन टीकाकारों ने वस्त्रधारण का विधान किया है।

'द्रव्यलिंग प्रतीत्य भाज्याः' का तो यह अभिप्राय है कि कोई मुनि (बकुश) अपना शरीर सुन्दर साफ बनाये रखने में दत्तचित्त रहते हैं दूसरों का शरीर मैला सा रहता है। अतः किन ही का द्रव्यलिंग आकर्षक और किन ही का अनाकर्षक होता है। बल-भद्र, जीवन्धर आदि सरीखे मुनियों का द्रव्यलिंग इतना आकर्षक होता है कि स्त्री पुरुष उन्हें देखकर मोहित हो जाते हैं। इसी प्रकार असुन्दर द्रव्यलिंग वाले भी मुनि होते हैं।

इसके सिवाय भूतपूर्व प्रज्ञापन नय की अपेक्षा से भी दीक्षित होने से पहले का द्रव्यलिंग भिन्न भिन्न साधुओं का भिन्न भिन्न होता है। वर्तमान में अन्तर नहीं होता। जैसा राजवार्तिक का विधान है।

इसके आगे आपने तत्वार्थ सूत्र के १० वें अध्याय के ९ वें सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका के वाक्य "निर्ग्रन्थलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूत-पूर्वनयापेक्षया।" का हवाला देकर लिखा है कि "मुक्ति भी सग्रन्थ और निर्ग्रन्थ दोनों लिंगोंसे कही गई है।" इसके साथ ही अपनी बात की कच्चाई को छिपाने के लिये लिखते हैं कि "यहां भूतपूर्व नय का अभिप्राय सिद्ध होनेसे अनंतर पूर्व का है।"

यहां पर भी प्रोफेसर साहब ने जान बूझकर भूल की है। 'भूतपूर्वनयापेक्षया' शब्द का अर्थ जैसा आप कह रहे हैं वैसा बिल्कुल नहीं है क्योंकि इस बात को प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि तेरहवें गुण-स्थान में बाह्य आभ्यन्तर रूप से पूर्ण निर्ग्रंथ रूप रहता है। जिस श्वेताम्बरीय शासन के साथ मौ-लिक भेद मिटाने के लिये आप इतनी दौड़-धूप कर रहे हैं। वह श्वेताम्बरीय सिद्धान्त भी सिद्ध होने से अनन्तरपूर्व जरा भी सग्रन्थ रूप नहीं मानता। अर्हन्त अवस्था में श्वेताम्बरीय ग्रन्थ भी पूर्ण नग्न रूप स्वीकार करते हैं किन्तु 'अतिशय के कारण उनकी नग्नता दिखाई नहीं देती' इतना और कह देते हैं। किन्तु यह केवल अर्वाचीन श्वेताम्बर आचार्य आत्मानन्द जी ने ही अपने तत्त्वार्थ-निर्णय प्रासाद ग्रन्थ के ५८६ वें पृष्ठ पर लिखा है। देखिये—

"जिनेन्द्र के तो अतिशय के प्रभाव से लिंगादि (मूत्रेन्द्रिय) नहीं दीखते और प्रतिमा के तो अतिशय नहीं है इस वास्ते तिसके लिंगादि दीख सकते हैं।"

इस उल्लेख से प्रोफेसर साहब समझ गये होंगे कि श्वेताम्बरीय ग्रंथ भी सिद्ध होने से अनन्तर पूर्व यानी १४ वें गुणस्थान में सग्रंथ (वस्त्र पहने) रूप नहीं मानते।

दिगम्बरीय ग्रंथ तो छठे गुणस्थानमें भी लगोटी तक पहनने का विधान नहीं करते फिर भी पूज्यपाद स्वामी १३-१४ वें गुणस्थान में सग्रन्थ रूप का वि-धान कैसे कर सकते हैं ? इस बात को एक साधा-रण व्यक्ति भी समझ सकता है। लंगोटी मात्र पहनने वाला दिगम्बरीय सिद्धान्तानुसार पंचम गुण-स्थानवर्ती अणुव्रती बतलाया गया है।

अतः 'भूतपूर्वनयापेक्षया' का अर्थ "सिद्ध होने से अनन्तरपूर्व" बिलकुल गलत है। इसका अर्थ तो यह है कि साधु दीक्षा लेने से पूर्व कोई मुनि तो सग्रन्थ मार्ग (अजैनधर्म) का अनुयायी होता है जैसे इन्द्रभूति गौतम थे (गणधर बनने या वीर प्रभु के समवशरण में आने से पहले) ऐसे मुक्त हुए साधु भूतपूर्वनय की अपेक्षा से 'सग्रंथ लिंग वाले' कहे जाते हैं और कोई साधु मुनिदीक्षा ग्रहण करने से पहले निर्ग्रन्थमार्ग (जैनधर्म) के अनुयायी होते हैं जैसे 'जम्बू स्वामी'। ऐसे साधुओं को सिद्ध हो जाने पर भूतपूर्वनय की अपेक्षा 'निर्ग्रन्थ लिंग वाला' कहा जाता है।

इस सुगम, संभाव्य, समुचित अर्थ को छोड़कर दिगम्बरीय श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल असम्भव अर्थ करना कम से कम प्रोफेसर हीरालाल सरीखे उत्तरदायित्व रखने वाले व्यक्ति को उचित नहीं।

तीसरी युक्ति में आप लिखते हैं कि—

"धवलाकार ने प्रमत्त संयतों का स्वरूप बतलाते हुए जो संयम की परिभाषा दी है उसमें केवल पांच व्रतों के पालन का ही उल्लेख है— "संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः।"

इससे आपने अपना कौन सा अभिप्राय सिद्ध किया—यह हमारी समझ में नहीं आता। संयम

या व्रत का ठीक यही लक्षण तत्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय के प्रथम सूत्र में (हिंसा- नृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहे-भ्यो विरतिर्व्रतम्) किया है। किन्तु धवलाकारने इस संयम के लक्षण में यह यहां लिखा है कि 'महाव्रती साधु को वस्त्र पहनने चाहिये।' वस्त्र एक मूल्यवान पदार्थ है। शरीर को सुख पहुंचाने का साधन है। अत एव १० प्रकार के परिग्रहों में उसको रक्खा गया है। फिर प्रोफेसर साहब निष्पक्षरूप से विचार कीजिये कि धवलाकार परिग्रह का त्याग कराकर क्या वस्त्र रखने का आदेश दे सकते हैं। वस्त्रधारण की छूट देनेपर परिग्रह का त्याग महाव्रत रूपमें न रहकर अणुव्रत रूप में रह जाता है। जैसे ६ वीं प्रतिमा का आचरण पालन करने वाला श्रावक।

आश्चर्य है कि आप इस दौड़ धूप में सिद्धान्त के उन स्पष्ट विधानों का भी उपेक्षा कर गये हैं जहां केवल वस्त्र धारण करने के कारण स्त्रियों के छठे गुणस्थान का निषेध किया है। आप षट्खण्डा-गम के ९३ वें सूत्र की धवला टीका फिर देख लीजिए क्योंकि शायद स्वयं सम्पादन किये हुए उस सूत्र को आप भूल गये हैं। अतः धवला के प्रथम खण्डका ३३३ वां पृष्ठ निकाल कर पुनः अवलोकन कीजिये— वहां स्पष्ट लिखा है कि—

"सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानु-पपत्तेः। ……… ………न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः।"

यानी —वस्त्र सहित होने से स्त्रियां पंचम गुण-स्थान तक प्राप्त कर सकती हैं उनके पूर्ण संयम (महाव्रत) नहीं होता।……………उनके भावसंयम भी नहीं होता क्योंकि भाव-असंयम का अविनाभावी वस्त्रग्रहण उनके पाया जाता है।

आशा है प्रोफेसर साहब इस आगम प्रमाण को देखकर अपनी गलत धारणा बदल देंगे।

इस प्रकार आपकी यह युक्ति भी खोखली है।

महाव्रती साधुओं को मुक्ति प्राप्त करने तथा अति-शय निर्जरा प्राप्त करने के लिये दिगम्बरीय तथा श्वेताम्बरीय ग्रंथों में जो २२ परिसह बतलाई हैं उन में नग्न परीसह भी है। साधु यदि वस्त्र पहने तो वह नग्न परीसह क्या सहेगा ?

प्रोफेसर साहब की भ्रामक धारणा हटाने के लिये हम यहां संक्षेप से इतना लिख देना और उचित समझते हैं कि श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रंथों का अभि-मत साधु द्वारा वस्त्र-ग्रहण करने के विषय में क्या कुछ है।

श्वेताम्बरीय आगम उत्तराध्ययन के २३ वें अध्याय की २९ वीं गाथा की टीका में लिखा है कि—

'अचेलगो य जे धम्मो'

सं० टीका—अचेलकश्चाविद्यमानचेलकः।

अर्थात्—वस्त्ररहित (नग्न) निर्ग्रंथ दशा साधु का धर्म है।

श्वेताम्बरीय सिद्धान्त का कथन है कि उत्कृष्ट पाणिपात्र (हाथों में भोजन करने वाला), अचेलक नग्न ही होता है। यदि कोई साधु लज्जा न जीत सके (नग्न न रह सके) तो वह वस्त्र पहन कर

रहे किन्तु वह जिनकल्पी साधु से हीन स्थविरकल्पी होगा।

श्वेताम्बरीय आगम आचारांग सूत्र के ८ वें अध्याय के ७ वें उद्देश में लिखा है कि—

"अथवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तण-फासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, दसगफासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूव—फासे अहिया-सेति अचेले लाघवियं आगममाणे। तवे से अभि-समन्नागए भवति। जहेतं भगवया पवेदियं तमेव अभिसमेच्चा सव्वओ सव्वत्ताए समत्तमेव समभि-जाणिया।"

अर्थात—साधु यदि लज्जा जीत सकता हो तो वह नग्न हो रहे। नग्न रहकर तृणस्पर्श, शर्दी, गर्मी, दंशमशक तथा और भी जो परी-षहें आवें उनको सहन करे ऐसा करने से साधु को थोड़ी चिन्ता (आकुलता) रहती है और तप प्राप्त होता है। इस कारण जैसा भगवान ने कहा है वैसा जानकर जैसे बने तैसे समझता रहे।

उक्त सूत्र में नग्न रहने के लिये स्पष्ट प्रेरणा की है।

उसी आचारांग सूत्र के छठे अध्याय के तीसरे अध्याय में लिखा है—

"जे अचेले परिवुसिये तस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ परिजिण्णे मे वत्थे, वत्थे जाइस्सामि, सूइं जाइ-स्सामि, रूंधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वोक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि, पाउणिस्सामि।"

यानी—जो साधु नग्न होते हैं उनको यह चिन्ता नहीं रहती कि मेरा कपड़ा फट गया है मुझे नया वस्त्र चाहिये, कपड़ा सीने के लिये सुई धागा चाहिये। तथा उसे यह चिन्ता भी नहीं रहती कि मुझे कपड़ा रखना है, अपना फटा हुआ कपड़ा मुझे सीना है, जोड़ना है, फाड़ना है, पहनना है, या मैला कपड़ा धोना है।

इस सूत्र में श्वेताम्बर आचार्य ने साधु के नग्न रहने में अनेक लाभ बतलाये हैं।

यही आचारांग सूत्र ग्रंथ वस्त्रधारक साधु को उपदेश देता है। देखिये अध्याय ८ उद्देश ५।

"अह पुण एवं जाणेज्जा, उवक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहा परिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठवेज्जा अदुवा संतरुत्तरे अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागए भवति। जहेयं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमे-च्चा सव्वतो सव्वाए सवत्तमेव अभिजाणिया।"

यानी—जो मुनि ऐसा समझे कि शीतकाल (जाड़ा) चला गया, गर्मी आ गई, तो उसके जो कपड़े पुराने हो गये हों उन्हें रख देवे, या समय अनुसार पहने या फाड़ कर छोटा कर लेवे यहां तक कि एक ही कपड़ा रख ले और विचार रक्खे कि मैं अन्त में उस एक कपड़े को भी छोड़ यानी नग्न होकर निश्चिन्त बनूं ऐसा करने से तप प्राप्त होता है। इस कारण जैसा भगवान ने कहा है वैसा जैसे बने तैसे पूर्ण तौर से समझना चाहिये।

आचारांग सूत्र के ये स्पष्ट उल्लेख साधु को वस्त्रत्याग करने की ओर प्रेरित करते हैं।

दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मूल अन्तर यही था कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु आचार्य के समय बारहवर्षी अकाल पड़ने के समय जो साधु अकाल-पीड़ित मालवा प्रान्त में रह आये उन्हें अकाल की कराल परिस्थिति-वश वस्त्र पहनने पड़े और जो साधु दक्षिण देश को चले गये वे इस आपद्धर्म से बचे रहकर अपने पूर्व नग्न वेश में ही रहे। दुष्काल बीत जाने पर जब दोनों साधु संघ पुनः मिले तब बहुत से वस्त्र-धारक साधुओं ने दक्षिण की ओर गये हुए साधुओं के सम्पर्क से वस्त्र पहनना छोड़ दिया किन्तु कुछ साधुओं ने असमर्थता प्रगट की और नग्न रहना स्वीकार न किया।

इस पर से जैन साधुओं के दो संघ बन गये जो प्राचीन परम्परा पर दृढ़ता से स्थिर रहकर नग्न रूप में रहे वे दिगम्बर कहलाये और जिन्होंने वस्त्र पहनते हुए अपने आपको महाव्रती साधु माना वे श्वेताम्बर कहलाये।

इस ऐतिहासिक घटना पर प्रकाश न डालते हुए बलात् दिगम्बरीय ग्रन्थों में साधु का वस्त्र—धारण विधान बतलाना अयुक्त है। किसी भी दिगम्बरीय ग्रन्थ में कहीं भी रंचमात्र भी महाव्रती साधु को वस्त्र ग्रहण का विधान नहीं है। अतः कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा कथित साधु के नग्न रूप कथन का किसी भी दिगम्बरीय ग्रन्थकार ने विरोध प्रगट नहीं किया है।



केवली के भूख-प्यासादि की वेदना ?

दिगम्बरीय श्वेताम्बरीय मौलिक मतभेद का अभाव दिखलाने के लिये प्रोफेसर साहब ने तीसरा विषय "केवली के भूख-प्यासादि की वेदना" लिया है। इस विषय को सिद्ध करने के लिये भी आपने भी कुन्दकुन्द आचार्य के वचन की अवहेलना करके तत्वार्थसूत्र का आश्रय लिया है और यह आश्रय लेते हुए आपने तत्वार्थ सूत्र की प्राचीन प्रामाणिक टीकाओं को भी अमान्य कर दिया है क्योंकि ऐसा करने में आपका क्षणिक अभिप्राय सिद्ध होता था। परिस्थिति यदि इसके प्रतिकूल होती तो आप भी इससे प्रतिकूल सहारा लेते। संयमी और वस्त्र-त्याग प्रकरण में आपको अपना अभिप्राय सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक से सिद्ध होता दीखा तो वहां उन्हें प्रामाणिक मानकर उनसे अपना अभीष्ट सिद्ध किया यहां इन दोनों ग्रन्थों से अपनी मान्यता का खण्डन दीखा तो यहां उन दोनों ग्रन्थों को अप्रमाण कह दिया। अस्तु।

"केवली भगवान को भूख-प्यासादि की वेदना है या नहीं" मामला केवल इतना ही नहीं है किन्तु बात इतनी और भी है कि उस भूख प्यास आदि होने न होने के कारण केवली भोजन करते हैं या नहीं ? प्रोफेसर साहब इतनी बात लिखकर भूल गये हैं सो पाठकों को प्रोफेसर साहब का पूर्ण अभिप्राय यह समझना चाहिये कि "केवली को भूख-प्यासादि का कष्ट होता है और उस कष्टको दूर करने के लिये वे साधारण साधुओंके समान भोजन भी करते हैं।"

यहां पर दो बातें हैं—१-वेदनीय कर्म के उदय

से भूख प्यासादि का दुख होना, २-भोजन करना।

इस विषय को हम प्रथम ही मोटी युक्ति से जांचते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म के समूल नष्ट हो जाने पर जब अनन्तज्ञान (केवलज्ञान) अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्तबल आत्मा में प्रगट होता है उस समय उस शुद्ध जीवन्मुक्त आत्मा को 'केवली' कहते हैं। यदि उस दशा में भी भूख-प्यास आदि की वेदना (कष्ट) होती रहे तो प्रोफेसर साहब! जरा सोचकर बतलाइये कि अनन्तसुख किस व्याधि की औषध है? जैसे दीन दरिद्री दुखी पुरुष का नाम 'सुख-सागर' हो। ठीक ऐसे ही केवली का अनन्तसुख भी हुआ। यदि वह अनन्तसुख सचमुच सुख है केवल कहने मात्र ही नहीं है तो तत्सुखं यत्र ना-सुखम् यानी—'सुख वास्तवमें वह है जहां कोई दुख नहीं है' इस सिद्धान्त के अनुसार केवली के भूख प्यास का ही क्या, किसी भी प्रकार का रंचमात्र भी दुख नहीं होना चाहिए।

इसी को द्यानतराय जी ने कविता में कहा है—

'भूख लगे दुख अनन्तसुखी कहिये किमि केवलज्ञानी।'

अतः यह प्रश्न अब आपके ऊपर है कि क्या केवलज्ञानी अनन्त (निरवच्छिन्न, पूर्ण) सुखी हैं या हमारी आपकी तरह कभी कुछ सुखी और कभी भूख प्यास आदिके कारण दुखी भी होते हैं? आपका जो भी उत्तर होगा आपकी मान्यता पर प्रहार करेगा।

दूसरे—'भूख' शब्द 'बुभुक्षा' का अपभ्रंश है अतः 'भूख' का अर्थ 'भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा यानी 'भोजन करने की इच्छा' है।

तदनुसार केवलज्ञानी को सचमुच भूख लगती है तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि 'केवलज्ञानी को भोजन करने की इच्छा होती है।' ऐसा आपको मानना भी होगा। क्योंकि भोजन अनिच्छा से होता भी नहीं है। क्योंकि मुख में भोजन का ग्रास रखना, उसे चबाना और उसे निगलना यह सारे कार्य अनिच्छा से नहीं हो सकते। जैसे विहा-योगति के उदय से तथा भव्य जीवों के पुण्य कर्म उदय से अथवा वचनयोग से अनिच्छापूर्वक केवली का विहार और तीर्थंकर प्रकृति के उदय से अथवा वचन योग से अनिच्छा रहते हुए भी दिव्य ध्वनि होती है, भोजन पेट में इस प्रकार से नहीं पहुंचाया जा सकता। यह कार्य तो इच्छापूर्वक ही हुआ करता है। अतः भोजन करने पर केवली के इच्छा सिद्ध होगी किन्तु मोहनीय कर्म न रहने से उनके किसी भी प्रकार की इच्छा होती नहीं है। अतः या तो उनके भोजन करने की इच्छा का अभाव मानना होगा उस दशा में केवली के भोजन करना न बनेगा यदि उनके भोजन की इच्छा का सद्भाव मानेंगे तो उनके मोहनीयकर्म का सद्भाव मानना होगा।

बतलाइये प्रोफेसर साहब! कौन सी बात स्वी-कार है दोनों ही आपके लिये टेढ़ी खीर हैं।

आपने यह विषय भी कर्मसिद्धान्त के नाम पर तत्वार्थसूत्र के ६ वें अध्याय के ११ वें सूत्र के आ-धार से सिद्ध करना चाहा है साथ ही तत्वार्थ सूत्रकी

प्रामाणिक टीकाओं (सर्वार्थसिद्धि और तत्वार्थ-राजवार्तिक) को इस सूत्र के अर्थ के विषय में अमान्य कर दिया है। सो प्रथम तो तत्वार्थ सूत्र एक सूत्र ग्रन्थ है उसमें संक्षेप से प्रथमानुयोग के सिवाय शेष समस्त अनुयोगों का विषय विवेचन किया गया है। तदनुसार तत्वार्थसूत्र में कर्म-सिद्धान्त का भी संक्षेप से वर्णन कर दिया है किन्तु इतने पर से वह कर्म-सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। आप यदि यह विषय कर्म-सिद्धान्त के अनुसार निर्णय करना चाहते थे आपको गोम्मटसार कर्म-कांड देखना चाहिये था यदि आप गोम्मटसार देख लेते तो आपको ज्ञात होता कि भूख क्यों लगती है और वह केवली को होती है या नहीं? एकादश-जिने का खुलासा भी आपको वहां पर मिलता।

तथा—यदि तत्वार्थसूत्र से ही इस विषय का निर्णय करना था तो उसकी प्रामाणिक प्राचीन टीकाओं पर आस्था रखनी चाहिये थी। आपने दोनों बातों में से एक भी न की। अतः भ्रम ने आपको धोखा दिया। अस्तु।

आपको सब से प्रथम इस विषय में यह बात ज्ञात होनी चाहिये कि 'भूख जिसके कारण मनुष्य भोजन करने के लिये प्रवृत्त होता है वह असाता वेदनीय के उदय से नहीं होता' जैसा कि आपने समझ रक्खा है। 'भोजन की ओर चित्त को ले जाने वाली भूख (बुभुक्षा) असाता वेदनीय कर्म की उदीरणासे होती है।'

देखिये गोम्मटसार जीवकांड में लिखा है—

आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओम्मकोठाए।
सादिदुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णाओ ॥१३४॥

यानी—भोज्य पदार्थ देखने से, भोजन की ओर उपयोग लगाने से, पेट खाली होने से तथा असाता वेदनीय की उदीरणा होनेपर आहार संज्ञा यानी भूख होती है।

अतः कर्मसिद्धान्तानुसार भूख असाता वेदनीय कर्म के उदय से नहीं बल्कि उसकी उदीरणा से लगती है।

वेदनीय कर्म की उदीरणा छठे गुणस्थान तक होती है उससे ऊपर के गुणस्थानों में वेदनीय कर्मकी उदीरणा नहीं होती। इस नियम को न केवल दिगम्बरीय सिद्धान्त ग्रन्थ किन्तु श्वेताम्बरीय ग्रंथ भी बतलाते हैं। अतः भोजन करना पहले से छठे गुणस्थान तक ही होता है।

श्वेताम्बर ग्रंथ प्रकरण रत्नाकर चतुर्थ भाग (षडशीति) की ६४ वीं गाथा है—

उइरंति पमत्तंता सगट्ठ मीसट्ठ वेअ आउ विणा।
छग अपमत्ताइ तऊ छ पंच सुहुमो पणु वसंतो॥

अर्थात्—मिश्र गुणस्थान के सिवाय पहले गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक आठों कर्मों की उदीरणा होती है। सातवें, आठवें, नौवें गुणस्थान में वेदनीय और आयु कर्म के बिना ६ कर्मों की, दशवें, ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय, वेदनीय और आयु-कर्म के सिवाय शेष ५ कर्मों की उदीरणा होती है।

अब प्रोफेसर साहब बतलाइये कि वेदनीयकर्म की उदीरणा जब तेरहवें गुणस्थान में होती ही नहीं तब केवलज्ञानी को भूख लगेगी कहां से?

यह विषय कोरे युक्तिवाद का नहीं, यह विषय आपके मनपसन्द अटल कर्मसिद्धान्त का है। अतः आप इसको मानने में ननु, न च नहीं कर सकते। अतः जिस कर्मसिद्धान्त के आप हामी हैं वह ही कर्म

सिद्धान्त आपकी मान्यता का खण्डन और श्री कुन्द-कुन्दाचार्य, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक की केवली को भूख न लगने वाली बात का जोर से समर्थन करता है।

भूख यदि वेदनीय कर्म के उदय में ही मानी जावे तो वेदनीय कर्म का उदय तो प्रति समय रहता है तब प्रति समय भूख लगी रहनी चाहिये और केवली को प्रति समय मुंह चलाते रहना चाहिये किन्तु ऐसा सर्वसाधारण जीवों के भी नहीं होता। अतः सिद्ध होता है कि भूख वेदनीय कर्म की उदीरणा से होती है।

आपने जिस धवला ग्रंथ (षट्खण्डागम) का सम्पादन किया है उसके प्रथम भाग के ४७ वें पृष्ठका अवलोकन कीजिए वहां स्पष्ट लिखा है—

"न वेदनीयो दुःखजनकः केवलिनि केवलित्वान्यथानुपपत्ते रिति चेदस्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात्' । ४-६पंक्ति

यानी—(शंका) वेदनीय कर्म केवलीको दुःख नहीं दे सकता क्योंकि यदि केवली को भी वेदनीय से दुख प्राप्त हो तो फिर केवलीपना नहीं बनसकता। (उत्तर) ठीक है ऐसा ही होना चाहिये, ऐसा होना न्याययुक्त है।

जयधवला सिद्धान्त ग्रंथ के ६९–७०–७१ वें पृष्ठ पर केवली के भूख-प्यास लगने तथा उसके कारण भोजन करने का खण्डन किया गया है। संकेत रूप में उसका यहां उल्लेख कर देते हैं—

'ण भुंजइ केवली भुत्ति-
कारणाभावादोत्ति सिद्धं।
(पृष्ठ ७०, पंक्ति ३)

अर्थात्—केवल ज्ञानी भोजन नहीं करते हैं क्योंकि भोजन करने का कोई कारण नहीं है। (ग्रन्थकार इससे पहले कवलाहार करने के समस्त कारणों को केवली के लिये निराकरण कर आये हैं)।

वेदनीय कर्म केवली को दुख दे सकता है या नहीं इस विषय में ग्रन्थकार लिखते हैं—

'तदो ण वेदणीयं घाइकम्मणिरवेक्खं फलं देदित्ति सिद्धं।'
(पृष्ठ ७१ पंक्ति ४)

यानी—इस कारण वेदनीय कर्म घातिकर्मों की सहायता बिना केवली को अपना फल नहीं दे सकता यह सिद्ध हुआ।

पाठक महानुभाव इस प्रकरण को जयधवला में पूर्ण रूप से पढ़ लें हमने यहां पर केवल ग्रंथकार का अभिमत प्रगट किया है।

हम इस बात की आशा तो स्वप्न में भी नहीं कर सकते कि श्री महावीर प्रभु की वाणी से शृंखला के समान अटूट सम्बन्ध रखने वाले उक्त दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों के उल्लेखों को प्रोफेसर हीरालाल जी शिर झुका कर स्वीकार न करेंगे।

कर्मसिद्धांत का प्रसिद्ध ग्रंथ गोम्मटसार कर्मकांड इस विषय में अपना क्या अभिप्राय प्रगट करता है यह भी देख लीजिये—

णट्ठा य रायदोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो।
तेण दु सादासादज सुहदुक्खं णत्थि इंदियजं ॥२७३

अर्थात्—केवलज्ञानी के राग द्वेष तथा ऐन्द्रियिक ज्ञान नष्ट हो चुके हैं इस कारण साता असाता वेदनीय कर्म के उदय से होने वाले इन्द्रिय-

जन्य सुख-दुःख केवली को नहीं होते।

समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि ॥२७४

अर्थात्—क्योंकि केवलज्ञानी के साता वेदनीय का बन्ध एक समय स्थिति वाला होना (उदयस्वरूप) है इस कारण पूर्वबद्ध असाता का उदय भी साता रूप में परिणत होकर उदय आता है।

प्रोफेसर साहब! नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की इस गाथा को ध्यान से अवलोकन तथा मनन कीजिये। आगे ग्रंथकार इस विषय का निचोड़ कहते हैं कि—

एदेण कारणेण दु सादस्सेव दु णिरंतरो उदओ।
तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि ॥२७५॥

यानी—इस कारण केवलज्ञानी के निरन्तर साता वेदनीय कर्म का ही उदय है। अतः केवली भगवान को असाता वेदनीय के उदय से होने वाली परीषह नहीं होती हैं।

कितना स्पष्ट सयुक्तिक कर्मसिद्धान्त का विवेचन है प्रोफेसर साहब को 'एकादश जिने' सूत्र का स्पष्ट अभिप्राय इन तीनों गाथाओं के आधार से विचार लेना चाहिये।

इस प्रकार आपने जो लिखा है कि—

"सर्वार्थसिद्धिकार एवं राजवार्तिककार ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मोहनीय कर्मोदय के अभाव में वेदनीय का प्रभाव जर्जरित हो जाता है इससे वेदनायें केवली के नहीं होतीं। पर कर्म-सिद्धान्त से यह बात सिद्ध नहीं होती। मोहनीयके अभाव में राग द्वेष परिणति का अभाव अवश्य होगा पर वेदनीय जन्य वेदना का अभाव नहीं हो सकेगा। यदि वैसा होता तो फिर मोहनीय कर्मके अभाव के पश्चात् वेदनीय का उदय माना ही क्यों जाता। वेदनीय का उदय सयोगी और अयोगी गुणस्थान में भी आयु के अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है। इसको मानते हुए तत्सम्बन्धी वेदनाओं का अभाव मानना शास्त्र-सम्मत नहीं ठहरता।"

आपके इस लेख का शास्त्रसम्मत उत्तर गोम्मटसार की उक्त गाथाओं में आ गया है। आशा है आप उस पर गंभीरता से विचार करेंगे।

कर्मों की १० दशाओं का यदि आप अच्छी तरह स्वाध्याय करेंगे तो केवली को असाता वेदनीय द्वारा वेदनायें न मिलने की बात बहुत शीघ्र आपकी समझ में आ जायगी।

कर्मों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार होता है—इसलिये अहमिन्द्रों तथा इन्द्रों को भी असाता वेदनीय का उदय कभी कभी होता है किन्तु उस पर्याय में दुःख जनक कुछ भी सामग्री न होनेके कारण वह कर्म सुख जनक रूप ही परिणत होकर समाप्त हो जाता है। तथा नारकियों को भी कभी कभी पूर्वबद्ध साता वेदनीय कर्म का उदय होता है किन्तु नरक में सुख सामग्री के अभाव से वह साता वेदनीय कर्म भी दुखजनक रूप में समाप्त होता है। ऐसी ही दशा मनुष्य तिर्यंच के लिये भी है। किसी किसी अच्छे उपयोगी कार्य में संलग्न मनुष्य को वेदनीय कर्म भूख उत्पन्न नहीं कर पाता, ध्यान में लग्न मुनि के वेदों का उदय रहता हुआ भी मैथुन संज्ञा उत्पन्न नहीं करा सकता। ऐसी ही बात केवल ज्ञानी के लिये है।

केवलज्ञानी के विशुद्ध परिणामों के कारण प्रति

समय पाप प्रकृतियों का अनन्तगुणा अनुभाग क्षीण होता जाता है जो प्रकृति उदय में आती हैं वे मारे हुए विष के समान निःशक्त होकर उदय आती हैं। जो पुण्य प्रकृति योगों के कारण बन्धती हैं उनमें अनन्तगुणी अधिक अनुभाग शक्ति होती है और वे उसी समय उदय आ जाती हैं क्योंकि कषाय के अभाव में उनमें स्थिति नहीं पड़ती। अतः तीव्र शक्तिशालिनी साता प्रकृति के उदय के साथ पूर्वबद्ध असाता वेदनीय बहुत निर्बल रूप में जो उदय आती है वह भी क्षीर समुद्र में गिरी हुई एक विष की बूंद के समान साता वेदनीय रूप ही हो जाती है। यह कर्म परिवर्तन आप लब्धिसार, क्षपणासार में देखें। अतः केवली को असाता वेदनीय—कृत दुख नहीं हो सकता।

समस्त केवलज्ञानियों को असाता का उदय नहीं आता किन्तु जिनके पहले बंधा हुआ साता वेदनीय कर्म विद्यमान है उनके साता वेदनीय ही उदय आता है। अतः उनके परीषहों की सम्भावना है ही नहीं। प्रोफेसर साहब! क्या उन्हें भी भूख-प्यास लगेगी? क्या वे भी भोजन करेंगे?

अन्त में आपने जो स्वामी समन्तभद्राचार्य की आप्तमीमांसा का ९३ वां श्लोक देकर अपना अभिप्राय सिद्ध करना चाहा है वह भी आपने गलती की है क्यों आपने जैसा अर्थ समझा है वैसा उसका अभिप्राय नहीं है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य तो रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्पष्ट लिखते हैं कि—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः सः प्रकीर्त्यते॥

अर्थात्—जिसके भूख, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, आश्चर्य, राग, द्वेष, मोह आदि दोष नहीं वह ही आप्त (अर्हन्त) कहलाता है।

ऐसा स्पष्ट लिखने वाले समन्तभद्राचार्य आप्तमीमांसा में इसके विरुद्ध केवली को भूख प्यास आदि दुखों का सद्भाव कैसे बतलाते?

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः॥९३॥

इस श्लोक का अर्थ यह है कि—

यदि अपने आपको दुख देने में पुण्य और सुख देने में पाप कर्म का बन्ध होता है तो कायक्लेशादि तप करने वाले वीतराग (शत्रु मित्र में राग द्वेषभाव न रखने वाले) मुनि के पुण्यकर्म का बन्ध होता रहेगा (यानी—कर्मक्षय कभी न होगा, संसार परम्परा यों ही चलती रहेगी) और तत्त्वविचार, संतोष आदि सुख का अनुभव करने वाले विद्वान को पाप कर्म का बन्ध होगा।

उक्त श्लोक के 'वीतराग' शब्द का अर्थ तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली नहीं है क्योंकि वे न तो कायक्लेश आदि तप करते हैं और न अन्य किसी प्रकार दुख सहने लिये उद्यम करते हैं। इस 'वीतराग' शब्द का अर्थ—

अरि मित्र महल मसान कंचन
काच, निन्दन थुतिकरन।
अर्घावतारन, असिप्रहारन में सदा समताधरन।

ऐसी समता चर्या का आचरण करने वाले 'मुनि' है। आप इसका अर्थ अष्टसहस्री में देखिये।

इसके सिवाय यह भी विचारिये की वेदनीय के उदय में शीत, उष्ण, दंशमशक, वध आदि अन्य

परीषहें भी होती हैं तो क्या वे भोजन के समान गर्म, ठण्डे कपड़े भी पहनते हैं या अन्य प्रतीकार भी करते हैं ?

भोजन न करने पर भी अनंतबल के कारण उन में निर्बलता नहीं आ सकती, अकाल मृत्यु नहीं हो सकती, आदि युक्तियों को विस्तार भय से छोड़ देते हैं।

तथा केवली अपने लिये भोजन गोचरी में लेते हैं अथवा भिक्षावृत्ति की उपेक्षा करके किसी अन्य से मंगाते हैं, आये हुए आहार को स्वयं ग्रहण करते हैं, या किसी अन्य साधु के द्वारा दिये हुए भोजन को लेते जाते हैं, केवलज्ञान के द्वारा उन्हें समस्त जगत की मार-काट, अत्याचार, चीत्कार, खून, मांस आदि स्पष्ट जान पड़ते हैं फिर उनका आहार अंतराय तथा दोष टलकर कैसे होता है, क्या वे कभी उपवास आदि भी करते हैं, प्रकृति विरुद्ध भोजन मिलने से क्या उन्हें वात, पित्त, कफ की विषमता से रोग भी हो जाते हैं, तदर्थ क्या औषध भी लेते हैं, (तीर्थंकर के सिवाय अन्य केवलियों के) क्या उन्हें भोजन के कुछ समय बाद टट्टी, पेशाब भी आता है, शौच के लिये क्या कमण्डलु आदि भी रखते हैं ? इत्यादि अनेक टेढ़े मेढ़े प्रश्न इस विषय पर उठते हैं किन्तु विस्तार भय से हम उनको भी छोड़ देते हैं।

अन्त में स्वर्गीय पं० द्यानतराय जी का एक सवैया लिखकर इसको समाप्त करते हैं—

भूख लगे दुख होय अनन्त सुखी कहिये किमि केवलज्ञानी ;
खात विलोकत लोकालोक, देखि कुद्रव्य भखें किम ज्ञानी ॥
खाय के नींद करें सब लोग, न स्वामी के नींद का नाम निशानी ।
केवलि कवलाहार करें नहिं सांची दिगम्बर ग्रन्थ की बानी ॥



[१२]

श्री १०५ पूज्य, विद्वद्वर क्षुल्लक सूरिसिंह जी महाराज



सिद्धं स्वात्मसुखैकसारममलं चैतन्यज्योतिः परं ।
ज्ञाना नन्दनमयं विभावहननं शान्त्यात्मकं सौख्यदं ।
सर्वज्ञं सुखकारकं भवहरं स्वायंभवं शंकरं ।
बुद्धं चिन्मयसौख्यशान्तिकरणं वंदे सुभक्त्या जिनम् ॥

भव्यात्माओ ! आज हम भारत भूमि पर जितने भी लोग हैं, उनमें कोई अवधि ज्ञानी या मन पर्यय ज्ञानी या केवलज्ञानी जैसे प्रत्यक्ष ज्ञानी नहीं है। इस लिये आज हमारे जैनसमाज में हर एक विद्वान अपने ज्ञानमद से समझो या उनके होनहार से समझो अपना अपना स्वतन्त्र मत चलाता है और अपने मत में बाधक-रूप जिस आचार्यवर्य के वचन देखता है उसी आचार्यवर्य के सैद्धान्तिक युक्ति-युक्त विधान को अप्रमाण कहने की चेष्टा करता है। ऐसी ही दशा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य के प्रति अश्रद्धा होने के सबब से श्री प्रोफेसर हीरालाल जी ने यह अभिप्राय लिखा है कि "हमारे प्राचीनतम आचार्यों ने (श्री षट्खण्डागम के कर्ताओं ने) स्त्री मुक्ति का तथा केवली कवलाहार का और सग्रन्थ-मुक्ति का समर्थन किया है। किन्तु श्री कुन्दकुन्दा-चार्य ने इन विषयों का निषेध करके श्वेताम्बर, दिगम्बर ऐसे दो पन्थ कर दिये हैं। और श्री कुन्दकुन्दाचार्य के वचन सिद्धान्तानुसार ठीक नहीं हैं।"

इस लिखने से श्री कुन्दकुन्दाचार्य के प्रति आप का कितना अनादर भाव है इसे पाठक अनुभव करें। श्री कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम की प्रथम शताब्दी में हुए हैं और श्वेताम्बर ग्रन्थ महावीर निर्वाण से ९८० वर्ष बीतने पर वल्लभीपुर में लिखे गये हैं। देखिये श्वेताम्बर ग्रन्थ ज्ञाताधर्म कथा में लिखा है।

"श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्य-धिकनवशतवर्षे (९८०) जाते द्वादशवर्षीयदुर्भि-क्षवशाद् बहुतर-साधुव्यापत्तौ बहुश्रुतविच्छित्तौ च जातायां × × × भव्यवद् भव्यलोकोपकाराय श्रुतभक्तये च श्री संघाग्रहाद् मृतावशिष्टतदाकालीन सर्वसाधून वल्लभ्यामाहूय तन्मुखाद् विच्छिन्नाव-शिष्टान् न्यूनाधिकान त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालाप-कान अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य पुस्तकारूढाः कृताः ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्संकलनानन्तरं सर्वेषामपि आगमानां कर्ता देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण एव जातः।"

इस उपरोक्त आधार से यह अच्छी तरह से सिद्ध होता है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य के लेखनकाल के बाद में श्वेताम्बर ग्रंथ तैयार हुए हैं। और वे भी न्यूनाधिक रूप से लिखे गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनके आगम प्रमाणभूत नहीं हैं "न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान आगमालापकान् स्वमत्या संकलय्य पुस्तकारूढाः कृताः।" ऐसा लिखा है इससे भी 'उनका लेखन विकृत रूप से हो गया है' यह सिद्ध

होता है, तथा बेचरदास जी ने भी 'अपना साहित्य विकृत हो गया है' ऐसा लिखा है। देखिये उनका लिखित "जैनसाहित्य में विकार" वहांपर लिखा है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य के बाद लिखित श्वेताम्बरों के सब सूत्र विकारयुक्त हैं। श्री श्वेताम्बराचार्य श्री अभयदेव सूरि जी ने भी लिखा है कि—

"अज्ञाय यं शास्त्रमिदं गम्भीरं,
प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि।"

अर्थात्—जिन सूत्रों को पुस्तकारूढ़ किया कि वे प्रायः कूट हो गये हैं। अब प्रोफेसर साहब जी! जरा विचार कीजिये कि श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रामाणिक हैं या नहीं?

उस श्वेताम्बरीय संघ में भी एक मत नहीं रहा था, स्त्रीमुक्ति आदि विषयों में भी उनके दो मत थे। इस लिये वे सन्देही थे। उस सन्देह के कारण दिगम्बराम्नाय के आचार्यों ने उनको संशय मिथ्या-दृष्टि कहा है। संशय मिथ्यात्वी लिखने का कारण कब हुआ यह विचारणीय बात है। तथापि श्री कुंदकुंदाचार्य के समय में वह श्वेताम्बर शास्त्र लिखित मौजूद नहीं थे। उनके बाद हुये हैं—इस लिए श्री कुंदकुंदाचार्य जी ने श्वेताम्बरों को संशय मिथ्या-दृष्टि ऐसा स्पष्ट रूप से नाम नहीं दिया है किंतु उनका खण्डन करने के लिये अवश्य उस विषय पर प्रकाश डाला है। और जगह जगह में स्त्रीमुक्ति का निषेध तथा गुरुओं को दिगम्बर ही रहना चाहिये, गुरु लोग परिग्रहधारी नहीं होते परिग्रहधारी मुनि लोग अधो-गति में ही जाते हैं ऐसा लिखा है। श्री कुंदकुंदा-चार्य के बाद में श्वेताम्बरीय ग्रन्थों के निर्माण होने पर और उनके श्वेताम्बर संघ में लिखित सूत्रों में विरोध होने के कारण ही उनका निश्चित मत न होने से उनको संशय मिथ्यादृष्टि कहा है।

जब श्री भूतबलि पुष्पदन्ताचार्यों ने श्री षट्-खण्डागम को लिखा है, उस समय उतना जोरदार मतभेद नहीं हुआ था, मतभेद का उग्र बढ़ जाना उन श्वेताम्बरीय ग्रंथों के निर्माणानन्तर ही मालूम होता है। यदि श्रीधर सेनाचार्य के समय में अति प्रबल मतभेद होता तो वे उस विषय पर बहुत कुछ खुलासा लिख सकते थे लेकिन उस समय स्त्रीमुक्ति का भेद नहीं हुआ था ऐसा ज्ञान होता है।

तथा उस समय श्वेताम्बरीय ग्रन्थ न होने के कारण मतभेदों को भी स्पष्ट रूप से न कर सके, जब लिखित प्रमाण हो गया तब स्पष्ट रूप से मत संचालकपन सिद्ध हो गया। श्रीधर सेनाचार्य के समय में यद्यपि मतभेद था तथापि उतना प्रबल नहीं था, यह सिद्ध होता है। श्री कुंदकुंदाचार्य के समय में वही मतभेद जोर से हो गया था, तथापि उनके ग्रंथ न होने से भी स्पष्ट रूप से "मिथ्यादृष्टि" है ऐसा नहीं कहा। इस लिये श्री कुंदकुंदाचार्य के बाद के मुनि लोगों ने स्पष्ट रूप से खण्डन किया है।

प्रोफेसर साहब जी! आपकी श्रद्धा दिगम्बरीय आर्ष ग्रंथों की अपेक्षा श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में अधिक ज्ञात होती है। इस लिये दिगम्बराचार्यों के ऊपर आपने अश्रद्धा रूप से लिखा है। किन्तु यह बात स्पष्ट रूप से लिखनी चाहिये। इससे स्वपर कल्याण होता है।

हे वाचको! प्रोफेसर साहब के लिखित मंतव्य का खण्डन उनके मान्य प्राचीनतम आचार्यों के वचन से ही करते हैं। फिर श्वेताम्बर ग्रन्थों से भी स्त्रीमुक्ति का निषेध लिखेंगे तदनन्तर हिन्दू ग्रंथों के आधार से 'दिगम्बरत्व प्राचीन काल से आ रहा है' यह लिखेंगे।

"श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि जिस प्रकार पुरुष मोक्ष का अधिकारी है उसी प्रकार स्त्री भी है। पर दिगम्बर सम्प्रदाय की कुंदकुंदाचार्य द्वारा स्थापित आम्नाय में स्त्रियों को मोक्ष की अधिकारिणी नहीं माना गया। इस बात का स्वयं दि० सम्प्रदाय द्वारा मान्य शास्त्रों के द्वारा कहां तक समर्थन होता है यह बात विचारणीय है। कुंदकुन्दाचार्य ने अपने ग्रंथों में स्त्रीमुक्ति का स्पष्टतः निषेध किया है, किन्तु उन्होंने व्यवस्था से न तो गुणस्थान की चर्चा की है और न हो कर्मसिद्धान्त का विवेचन किया है। जिससे उक्त मान्यता का शास्त्रीय चिंतन शेष रह जाता है। शास्त्रीय व्यवस्था में इस विषय की परीक्षा गुणस्थान और कर्मसिद्धान्त के आधार पर की जा सकती है। तदनुसार जब यह विचार करते हैं तो निम्न परिस्थिति हमारे सन्मुख उपस्थित होती है।

१—दिगम्बर आम्नाय के प्राचीनतम ग्रंथ षट्खण्डागम के सूत्रों में मनुष्य और मानुषी, अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनों के अलग अलग चौदह गुणस्थान बतलाये हैं। देखो सत्प्र० सू० नं० ९३, द्रव्य प्र० सू० नं० ४९, १८४-१८६, क्षेत्र प्र० ४३, स्प० सू० ३४, ३७, १०२-११०, काल प्र० ६७-७२, २२७-२३५, अन्तर प्र० ५७-७७, १७७-१९२, भाव प्र० २२-४१, ४३-८०, १४४-१६१।"

हे वाचको! उपरोक्त कथन प्रोफेसर साहिब का है। अब इसपर विचार किया जाता है। सत्प्ररूपणा का सूत्र नं० ९३ यह है—

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजद सम्माइट्ठि संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

अर्थ—सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामक मिश्र गुणस्थान असंजद नामक (अविरत) चौथे गुणस्थान में, संयतासंयत नामक पांचवें गुणस्थान में नियमपूर्वक पर्याप्तिका स्त्रियां होती हैं। इस सूत्र में खास कर के द्रव्य स्त्रियों को पांचवें गुणस्थान तक चढ़ने की शक्ति है, यह प्रगट किया है। यदि इस सूत्र में संयम लिखा होता तो "स्त्रियां पुरुष के समान संयम धारिणी होती हैं।" ऐसा अर्थ हो सकता था। लेकिन सूत्र श्री भूतबली पुष्पदंताचार्यों ने इस सूत्र द्वारा द्रव्यस्त्रियों को संयम नहीं हो सकता यह स्पष्ट तौर विधान किया है। इस सूत्र की वृत्ति में तो खास करके स्पष्ट रूप से न्याय हेतुपूर्वक द्रव्य स्त्रियों को संयमभाव नहीं होता क्योंकि वस्त्र सहित होने से। और उसका अर्थ प० हीरालाल जी आदि अनुवादकों ने किया है। तथापि प्रोफेसर साहब को वृत्तिकार प्रमाण भूत नहीं हैं, इस लिये यह प्रश्न आपने उठाया है। इतना ही नहीं प्रोफेसर साहब ने खुद इसके ऊपर—

"अत्र संजद इति पाठ शेषः प्रतिभाति"

इस प्रकार टिप्पणी में लिखा है। इतना ही नहीं बल्कि उस टिप्पणी से प्रोफेसर साहब को सन्तोष नहीं हुआ अतः भोले और अज्ञ लोगों पर अपने मन का असर (प्रचार) होने के लिये उस ९३ नम्बर सूत्र का हिन्दी अर्थ करते समय 'संयत गुणस्थानों में नियम से स्त्रियां पर्याप्तक होती हैं' ऐसा अर्थ किया है।

उस अर्थ पर वाचक वृन्द को विचार करना चाहिये। इस प्रकार कई जगह सूत्र के अर्थ का अनर्थ किया है। अपना मतलब सिद्ध करने के लिये मानुसिणी का अर्थ "योनिमती" इस प्रकार हिन्दी में किया है। ऐसा दोष कई जगह पर किया हुआ है। इस प्रकार वाचकवर्ग को ध्यान देना चाहिये

अर्थात्—हिन्दी अर्थ पढ़ने समय उसपर श्रद्धा नहीं करनी चाहिये।

२ प्रश्न मानुसिणी शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर—हर एक शब्द का अर्थ, प्रकरण के अनुसार करना चाहिये। एक शब्द का अर्थ एक ही नहीं होता, हर शब्द अनेकार्थक होता है। जैसे "समय" शब्द है, उसका अर्थ करने समय कभी द्रव्यरूप में लेना चाहिये, कभी भावरूप में अर्थात् पर्याय रूप में और कभी गुणरूप में लेना पड़ता है। एक ही पर्यायरूप अर्थ लेना ठीक नहीं। कालद्रव्य के कथन करते समय द्रव्यवाचक अर्थ करना पड़ता है और व्यवहारकाल के प्रकरण में समय नाम सूक्ष्म टाइम का अर्थ करना पड़ता है। ऐसे प्रकरणवश अर्थकरनेसे अच्छा होता है। नहीं तो एकही अर्थकरने से बड़े अनर्थ होने की सम्भावना भी उपस्थित होती है। जैसे पूर्वकाल में एक "अज" शब्द का अर्थ करने में पूजा के प्रकरण में 'अज' शब्द का अर्थ न उत्पन्न होने वाले शाक का भात करना चाहिये उसको छोड़कर 'अज' शब्द या अर्थ 'बकरा' करने में कितना अनर्थ हुआ है। और यज्ञ में जीवहिंसा की प्रथा चली। उसी तरह आजकल भी कोई प्रकरण को न देखते हुये अपनी मत पुष्टि करने बैठेगा तो उसको कौन रोक सकता है। किन्तु इस से जनता को अत्यधिक हानि पहुंचेगी।

इस लिये एक ही मानुषी शब्द के प्रकरणानुसार कभी द्रव्यस्त्री का अर्थ ठीक है वहां पर सूत्र नं० ९३ में द्रव्यस्त्री का अर्थ करना ठीक है। और आचार्य ने भी द्रव्यस्त्री का ही अभिप्राय लेकर "असंयत संयतासंयत" ऐसा पद दिया और संयतपन का निषेध किया है। यदि सूत्रकार के मनमें द्रव्य-स्त्रियों को संयमभाव प्राप्त होने की योग्यता हो सकती थी तो वे इस सूत्र में संयतपद भी रख सकते थे। लेकिन षट्खण्डागम सूत्र वालों को इष्ट न होने से संयतपन का अभाव दिखाया है।

मानुषणी का अर्थ

अब यहां पर क्रम प्राप्त मानुषी शब्द का अर्थ किस तरह करना चाहिये इस बात का विचार करते हैं। मानुषी शब्द की व्युत्पत्ति से इस शब्द के मुख्य दो तरह के अर्थ किये जाते हैं—एक द्रव्यचिन्ह की अपेक्षा से जब अर्थ किया जाता है तब द्रव्यस्त्री ऐसा अर्थ होता है। दूसरा अर्थ जब वेद की प्रधानता से किया जाता है तब मोहनीय कर्म अंशगत स्त्रीवेद भाव को धारण करने वाला जीव लिया जायगा।

जहां पर मनुषिणी का अर्थ एक ही नहीं होता मनुसिनी शब्द खास करके एक द्रव्य के ही ऊपर नहीं रहता किन्तु द्रव्य भाव इन दोनों के आधार पर रहता है। वहां पर एक ही अर्थ करना गलत है और मनुसिनी शब्द का प्रयोग न करते हुये "योनिमती" शब्द का प्रयोग जहां पर होता है वहां पर उस शब्द का अर्थ द्रव्यस्त्री ही होता है क्योंकि योनिमती शब्द खास करके एक ही जगह पर आरूढ़ है। हां जहां पर योनिमती का प्रयोग आचार्य करते हैं वहां पर वेद का अर्थ लेते ही नहीं। इस लिये मानुषी शब्द का अर्थ सर्वथा द्रव्यस्त्री करने में ही हठ पकड़ना गलत है। दूसरी बात जहां पर टीका स्पष्ट रूप से मौजूद है वहां पर कभी भी हठ करना ठीक नहीं।

प्रोफेसर साहब कहते हैं कि द्रव्य से स्त्री और पुरुष इन लिंगों के सिवाय तीसरा कोई लिंग नहीं जिसमे नपुंसक की व्यवस्था की जाय।

अब हम उनके इस मन्तव्य पर विचार करेंगे

और वह भी षट्खण्डागम के सूत्रों की अपेक्षा से ही करेंगे। श्री षट्खण्डागम प्रथम भाग सूत्र नं० १०८ को देखिये—

मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टित्ति ॥१०८॥

अर्थ—मनुष्य मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर अनिवृत्ति गुणस्थान तक तीनों वेद वाले होते हैं। भावार्थ-मनुष्य तीनों वेद वाले होते हैं, द्रव्य से और भाव से।

हम प्रोफेसर साहब से यह पूछना चाहते हैं कि आप द्रव्य से नपुंसक लिंग वाले मनुष्य नहीं मानते, और उसी के साथ एक द्रव्यलिंग में भाव से भी तीनों वेद मानते नहीं फिर मनुष्य में तीनों वेद हैं इसका अर्थ मुझे लगाकर दिखाइये। वह भी आधार भूत प्रमाण का सूत्र श्रीभूतबली पुष्पदन्ता-चार्य का ही देना चाहिये और नपुंसक अनिवृत्ति नामक ६ वें गुणस्थान तक रहने वाला होना चाहिये आपको एक द्रव्य पुल्लिंगमें भाव से तीनों वेद मानने पड़ेंगे।

दूसरी बात यह है कि द्रव्य कहने से वह उस भव तक स्थिर रहता है और भाव उसके आधार से होने वाले पर्याय को ही भाव कहेंगे न ? क्योंकि भाव शब्द का अर्थ पर्याय भी होता है। भाव जन्म तक एक नहीं होना वह बदलेगा ही। वेद भावात्मक होता है। भाव को उत्पन्न करने वाला मोहनीय कर्म-रूप में आता है उस शरीर के साथ रहेगा ही इस इस लिये भाववेद का आधार—भूत द्रव्य चिन्ह के एक ही लिंग में तीनों भाववेद होने में बाधा आसकती है। जिसमें हमारे प्रोफेसर साहब घबड़ा रहे हैं। किन्तु श्री गोम्मटसार में स्पष्ट बतान है कि एक द्रव्य लिंग में तीनों भाववेद होते हैं। श्री षट्खण्डागम के प्रथम पुस्तक में भी सूत्र नम्बर १०७—

"तिरिक्खा तिवेदा असंण्णिपंचिंदियप्पहुडि जाव संजदासंजदात्ति ॥१०७॥

अर्थ—तिर्यंच असंज्ञी पंचेन्द्रियसे लेकर संयता-संयत नामक पांचवें गुणस्थान तक तीनों वेदों से युक्त होते हैं।

भावार्थ—औदारिक शरीर के धारण करने वाले गतियों में ही खास करके एक द्रव्यलिंग तीनों भाव लिंगी हो सकते हैं, होते हैं, और हुये हैं। इस लिये तिर्यचमें और मनुष्योंमें तीनों वेद माने हैं और देव गति तथा नरक गति के जीवों में तीनों वेद नहीं माने हैं। वहां द्रव्यवेद के अनुसार भाववेद होता है।

हे वाचको ! एक विचारणीय बात यह है कि प्रोफेसर साहब की श्रद्धा दिगम्बर ग्रन्थों में है या नहीं। प्रथम तो प्रोफेसर साहब षट्खण्डागम के सूत्रों को प्रमाण मानते हैं, उनकी टीका को भी वि-श्वसनीय नहीं मानते, यदि विश्वसनीय मानते तो यह प्रश्न उत्पन्न नहीं हो सकता था। क्योंकि श्री धवलाकार ने उसी ९३ वें सूत्र के नीचे बड़ी लम्बी चौड़ी वृत्ति लिख कर द्रव्यस्त्री को संयम नहीं होता क्योंकि वह वस्त्रयुक्त होती है। वस्त्र का और असंयम का अविनाभावी संबंध है ऐसा हेतुपूर्वक सिद्ध किया है। उसका हिंदी अर्थ भी किया है। तथापि उस धवला जी के ऊपर आपको श्रद्धा नहीं। यह सिद्ध होता है।

दूसरी बात श्री कुन्दकुन्दाचार्य के बाद के ग्रन्थों के दिगम्बरीय आचार्यकृत ग्रन्थों के ऊपर भी आप की आपकी श्रद्धा नहीं है यह आपके लेख में स्पष्ट झलकता है जो कि सूर्यप्रकाशवत स्पष्ट है।

अब यदि षट्खण्डागम के सूत्र उन सूत्रों पर भी यदि आपको विश्वास होता तो "मणुस्सा तिवेदा" इस सूत्र को पढ़कर और अर्थ करके भी 'मनुष्यों में द्रव्य से और भाव से नपुंसक कोई नहीं होता' ऐसा नहीं लिखते यदि एक द्रव्य लिंग में भाव के तीनों वेदों को आप नहीं मानते फिर मनुष्यों में तीनों वेद हैं इस सूत्र का अर्थ क्या करेंगे ? प्रतीत होता है कि इस सूत्र ग्रंथ पर भी अश्रद्धा हो गई है अब इसके पहले रचे हुए ग्रन्थों को ढूंढो और उनके ऊपर श्रद्धा रखो। किन्तु इससे पहले दिगम्बर आचार्यों का कोई ग्रन्थ है नहीं। क्या श्वेताम्बर ग्रन्थ इससे पूर्व के हैं ? श्वेताम्बरीय ग्रन्थ श्री महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के लगभग एक हजार वर्ष तक अर्थात ९८० वर्ष तक लिपि रूप में नहीं थे। यह बात स्पष्टतया उन श्वे० ताम्बरीय ग्रंथोंसे सिद्ध होती है और इसका खुलासा भी मैंने इस लेख में पहले दिया है। हमारे श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी का काल इससे बहुत पहले का है। इतना अन्तर होने पर भी श्वेताम्बरीय ग्रन्थों को श्री प्रोफेसर साहब प्रमाण रूप से मानते हैं और उन से पूर्व होने वाले आचार्यों को प्रामाणिक नहीं मानते यह आश्चर्य है।

शंकाकार—प्रोफेसर साहब प्राचीन ग्रन्थों को मानते नहीं लेकिन परस्पर विरुद्ध वचन जिसमें हों उनको भी नहीं मानते।

उत्तर—श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें परस्पर विरोधी वचन हैं जैसे एक ग्रंथ में स्त्री का मोक्ष मानते हैं तो दूसरे ग्रन्थ में अरहंत आदि दशपद स्त्रियों के नहीं होते ऐसा लिखा है। देखिये प्रकरण सारोद्धार ग्रन्थ में गाथा नं० ५२० भाग ३—

अरहंत चक्कि केसवबल संभिन्नेय चारणे पुव्वा।
गणहर पुलाय आहारगं च न हु भविअम हिलाणं॥

अर्थ—१-अरहंत, २-चक्रवर्ती, ३-नारायण, ४-बलभद्र, ५-संभिन्न श्रोता, ६-चारण ऋद्धि, ७-पूर्वधारी, ८-गणधर, ९-पुलाक, १०-आहारक ऋद्धि ये दश पद या लब्धियां भव्य स्त्रियों के नहीं होते।

हे वाचक वृन्द ! प्रोफेसर साहब के विश्वास पात्र श्वेताम्बर ग्रन्थों में कितना परस्पर विरोध है प्रत्यक्ष देखिये। प्रोफेसर साहब ! कौन सा ग्रन्थ प्रामाणिक और प्राचीन है ? अच्छी तरह देखिये।

प्रोफेसर साहब ने जो 'एक द्रव्यलिंग में तीनों भाववेद नहीं हो सकते' कहा है उसपर विचार—

आप लिखते हैं कि—

"कर्मसिद्धान्त के अनुसार वेदवैषम्य सिद्ध नहीं होता। जिस इन्द्रिय सम्बन्धी उपांगों की उत्पत्ति का यह नियम बताया है कि जीव के जिस प्रकार के इन्द्रिय ज्ञान का क्षयोपशम होगा उसके अनुकूल वह पुद्गल रचना करके उसके उदय में लाने योग्य उपांग की प्राप्ति करेगा। चक्षुरिन्द्रिय आवरण के क्षयोपशम से कर्ण इन्द्रिय की उत्पत्ति कदापि नहीं होगी। और न कभी उसके द्वारा रूप का ज्ञान हो सकेगा। इसी प्रकार जीवन में जिस वेद का बन्ध होगा उसी के अनुसार वह पुद्गल रचना करेगा। और तदनुसार ही उपांग उत्पादक होगा। यदि ऐसा न हुआ तो वह वेद ही उदय में नहीं आ सकेगा। इसी कारण वेद जन्म भर नहीं बदल सकता। यदि किसी भी उपांग सहित कोई भी वेद उदय में आ सकता तो कषाय और नोकषायों के समान वेद के भी जीवन में बदलने में कौन सी आपत्ति आ सकती है।"

वाचको ! वेद वैषम्य कर्म सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध नहीं होता ऐसा कहना आगम बाधित वचन है। देखिये षट्खण्डागम के सूत्र नम्बर १०७/१०८ में स्पष्ट रूप से कहा है कि—

"तिरक्खा तिवेदा"

यानी—तिर्यञ्च में भी तीनों वेद वाले हैं।

तथा "मणुस्सा तिवेदा"

यानी—मनुष्यों में तीनों वेद वाले हैं वह भी अनिवृत्ति नामक नवमें गुणस्थान तक होते हैं इस सूत्र में ही वेद वैषम्य सिद्ध होता है। यह आगम से बाधा दिखायी है।

तथा प्रायः हर एक शहर गांव में हीजरों की टोली देखने में आती है जो हीजरे होते हैं वे नपुंसकवेद युक्त हैं। यदि उनको पुरुष ही कहोगे तो स्त्रियों के से हाव भाव क्यों कर होता है ? उसी तरह उनके अनङ्गक्रीड़ापन आदि कार्यों में नपुंसकपन भी सिद्ध होता है। इस लिये आपके वचन में प्रत्यक्षबाधित नामक दोष भी आता है।

सब से प्रथम "वेद" क्या चीज है यह देखना आवश्यक है। वेद (भाव) मोहनीयकर्म का अकषाय रूप भेद है इसको आगम में नोकषाय भी कहते हैं। "वेदनं वेदः" वेदन करने को वेद कहते हैं इसमें वेद, वेदक और वेद्य कौन है यह देखना भी जरूरी है।

वेदक संसारी जीव, वेद्य शारीरिक स्थान, और वेद हावभावादि कार्य हैं। इस प्रकार इनका परस्पर सम्बन्ध है। यह वेद मोहनीय कर्म का उदयरूप होने से वह बाह्य पदार्थों में ही वेद्य, वेदक और वेद तीनों अवस्थायें होती हैं। वेद का उदय कषायों के उदय के साथ रहता है। वेद के कार्य भी कषायों के साथ होते हैं। कषाय जितना तीव्रादि होगा, उतना तीव्रादि वेद भी होगा। यह वेद का उदय कभी मानसिक रहता है, कभी वाचिक रहता है और कभी कायिक रहता है। वेद की उदीरणा होने पर मिथुनरूप स्त्रीपुरुषादिकों का संयोगात्मक होता है। वेद की उदीरणा कामवासना में आती है वेद का उदय कामवासना ही नहीं माना है। यदि वेद में कामवासनात्मक भाव मानोगे तो मिथुनरूप कार्य सतत होना चाहिये। बहिरंग निमित्त कारण बहुत हैं इसलिये उन निमित्तों को ले कर वेद का उदय रहता है कामवासना का संबन्ध होते हुये भी वेद का उदय कार्य होता है।

जैसे स्त्री जो हावभाव, मृदुभाषण, स्निग्धावलोकन, अनुकूलवर्तन, आदि कुशल व्यापार करती है वह वेद का उदय समझना चाहिये। और इस वेद को स्त्रीवेद कहना चाहिये। तथा वीरवृत्ति का भाषण, वीरवृत्ति का भाव, गंभीर अवलोकन, वीरोचितवर्तन आदि वीरवृत्ति के कुशल व्यापार करती है वह पुरुष वेद का कार्य समझना चाहिये। तथा स्त्री जब कायर पन का भाषण, कायरवृत्ति का भाव तथा भयभीतावलोकन, तथा भयभीत वर्तन आदि व्यापार करती है उस भाव को नपुंसकवेद का कार्य समझना चाहिये।

इसी तरह जिस पुरुष के वीरोचित भाषण, वीरोचित भाव, वीरोचित उत्तम कार्य, वीरोचित भोग, वीरोचितावलोकन, वीरोचित वर्तन होता है उस पुरुष के पुरुषवेद का उदय समझना चाहिये।

तथा जो पुरुष स्त्रियों की तरह हावभाव, स्त्रियों के समान मृदुवचन, स्त्रियों के समान कार्यों में मायाचारवृत्ति तथा स्त्रियों जैसे भ्रूचालनादि कार्य, स्निग्धावलोकन, अनुकूल वर्तनादि कार्य करेगा तो द्रव्य पुरुष को स्त्रीवेद का उदय समझना।

उसी तरह जो पुरुष कायर वचन, कायर भाव,

कायर वर्तन करेगा उस द्रव्य पुरुष को नपुंसकवेद का उदय समझना चाहिये।

इसी तरह द्रव्य नपुंसक को भी तीनों तरह के भाव होते हैं। द्रव्य नपुंसक होने पर भी बहिरंग निमित्त कारण मिलने से भावत्रय रूप का भी उदय होता है। यह मेरा कथन स्थूल रूप वेद का उदय शारीरिक चिह्न में आने वाले का कथन है सूक्ष्म मानसिक वृत्ति में स्वयं समझना स्वयं अपने वचन में भी समझना चाहिये।

इस तरह के भाव अंतरंग कषायोदय में तथा बहिरंग निमित्त कारण मिलने पर होते हैं। इन भावों में दृढ़ता तथा शिथिलता आदि शारीरिक संहनन पर भी अवलम्बित है। इस लिये दृढ़ और शिथिल भावों के होने में संहनन निमित्त कारण माना गया है। यदि संहनन निमित्त कारण नहीं होता तो संहननयुक्त जीवों का पापपुण्य का कार्य जो तारतम्ययुक्त होता है जैसे स्वर्गगमन तथा नरकगमन आदि वह नहीं हो सकता था। और प्रत्यक्ष अनुभव में भी दीखता है कि अमुक कार्य करने की भावना होती है लेकिन शारीरिक शक्ति न होने से वह कार्य नहीं हो सकता। इस लिये शक्तितः त्याग और तप करने का उपदेश है। तात्पर्य यह है कि धैर्यवृत्ति या वीरवृत्ति पुंवेद का कार्य है। आल्हादन वृत्ति स्त्रीवेद का है। कायरवृत्ति नपुंसक का है। सूक्ष्ममंद तीव्रादि तथा मानसिक वाचिक और कायिक इत्यादि रूप से अनेक भेदयुक्त है। यह अच्छी तरह से सिद्ध होता है।

शंकाकार—स्त्रीवेद का अर्थ योनि स्तन मृदुशरीर आदि चिन्ह को कहते हैं और आप कुछ और कह रहे हैं?

उत्तर—नोकषाय रूप मोहनीय कर्मोदय के कार्य को ही 'वेद' कहते हैं। वेद के दो भेद हैं एक द्रव्यवेद और दूसरा भाववेद। जो कर्म आगे उदय में आने वाला है सत्ता कर्मपिंड रूप में है उसको द्रव्यवेद कहते हैं। और स्त्रीलिंग रूप शारीरिक चिन्ह इससे अलग है। जिस समय जीव को गतिनाम कर्म से मनुष्यादि गति प्राप्त होती है उस गति में गये हुये जीव को नामकर्मोदय रूप अंगोपांग का कर्म तथा निर्माण नामकर्म का उदय होगा। उसी प्रकार जो शरीर का चिन्ह या अंगोपांग की निवृत्ति शरीर पर्याप्ति के साथ ही आकार बन जाता है। उसी आकार रूप शरीर के निमित्त से या अंगोपांग के निमित्त से उस उस प्राप्त किये हुए वेद का कार्य होता है। वेदोदय में जो जो भाव होगा वह नो कषाय के उदय से होगा। उससे वेदन भोग या अनुभवन रूप कार्य होते हैं। तथा शारीरिक क्रीड़ा रूप कार्य होता है। या परस्पर संयोगात्मक कार्य होता है उस शारीरिक भेद से ही शारीरिक निमित्तों पर ही उसमें भेद होता है। इस लिये मैंने पहले ही कहा है कि अन्तरंग वेद की उदीरणा तथा बहिरंग निमित्त कारण पर कामवासना जिसको मिथुन रूप कार्य होता है वह भी स्त्री पुरुष आदि निमित्तों पर कार्य होता है। तात्पर्य जो शारीरिक चिन्हरूप लिंग को वेद समझना है यह रूढ़िमात्र है। रूढ़ि में ऐसे बहुत ही कार्यों में कारण का आरोप से कथन करते हैं कहीं पर कारणों में कार्य का आरोप रूप कथन करते हैं। कहीं कहीं बहिरंग निमित्त कारणों पर भी कार्यों का आरोप करते हैं। यहां पर बहिरंग निमित्त कारणों पर कार्य का आरोपरूप कथन है। इस लिये रूढ़ि में वेद का अर्थ शारीरिक चिन्हों में भी लिया है। यह अच्छी तरह से जानो। वेद की उदीरणा द्रव्य चिन्ह के आधार पर द्रव्य रूप से

होती है और उदय रूप जो भाव है उसका उस द्रव्य-चिन्हों से सम्बन्ध नहीं है। वेदोदीरणा का और द्रव्य चिन्ह का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

शंकाकार—वेद का उदय शारीरिक चिन्हों पर है या शरीर में होता है?

उत्तर—मोहनीय कर्म भेदगत अकषाय रूप या नो कषाय रूप वेद का उदय जीव के भावों में आता है उसके निमित्त से कभी कभी मानसिक भावों से ही कार्य होगा कभी कभी वह तीव्रोदयरूप में या अन्य निमित्त कारण से वाचिक या कायिक रूप से आवेगा तथा उस वेद का उदीर्ण रूप होने से जो व्यवहार में द्रव्य चिन्ह रूप क्रियात्मक कामवासनादिक कार्य करते हैं तब मैथुनरूप कार्य होगा इसलिये वेदोदय का तथा वेद के उदीरण रूप कार्य इनमें कितना अन्तर है यह जानना चाहिये। इन दोनों कार्यों का स्पष्टीकरण मैंने अपनी बुद्धि से किया है तथा यह भी दिग्दर्शन मात्र किया है। विशेष रूपसे आप अनुभव से या गोम्मटसार शास्त्र से, किसी अनुभवी विद्वान के मुख से समझ सकते हैं। जैसा मौका मिले उस तरह से जानो। जानने का विषय छोड़ो मत। जानते जानते, मनन करते २, विचार करते २ अच्छी से समझ में आ जावेगा। अब वेद-वैषम्य क्या चीज है यह कथन करूंगा।

वेदोदय तथा वेदवैषम्य

प्रोफेसर साहब का कहना है कि "जो जो वेद उदय में आता है उसही के अनुसार द्रव्यवेद (द्रव्य लिंग) मिलता है उस द्रव्य के निमित्त से उदय होने वाले भाववेद को सदृश ही रहना चाहिये।" यह उनका कहना गलत है। वास्तविक वेद मोहनीय कर्म का एक भेद है। वह अकषायरूप है उसका उदय किसी भी नियत स्थान पर न आते हुए सर्वांग में आता है। प्रो० साहब ने द्रव्यचिन्ह में ही उस का उदय माना है। यह उनकी मान्यता दोषी है उन्हें इस विषय में अच्छी तरह से विचार करना जरूरी है. मोहनीय कर्म का उदय किसी भी अंग विशेष में नहीं होता है। जिस तरह क्रोध कषाय सारे शरीर में आता है सब आत्म प्रदेश में उदय होता है। वास्तविक क्रोधादि कषाय भावात्मक हैं उसी तरह हास्यादि नो कषाय भी किसी एक स्थान पर न होकर आत्मीय भावों में कषाय नोकषाय का उदय होता है, हां तीव्र कषायों के होते समय भाव मुंह आदि किसी स्थान पर व्यक्त होता है। जैसे क्रोध का तीव्र उदय होने पर मुंह पर कुछ विकार होता है, आंखें लाल होती हैं, भौंहें टेढ़ी होती हैं। तथापि आंखें व भौंहें उसका उदय स्थान नहीं है। वह उदय सारे शरीर में है। इस लिये तीव्रकषाय, क्रोध वाले का सारा शरीर कांपने लगता है। भय सात प्रकार का है, उस भय के लिये सात चिन्ह अलग अलग शरीर पर कहीं हैं क्या? नहीं। ये सारे भावात्मक उदय हैं। उसी तरह वेदोदय भी सारे भाव में ही होता है तीव्रोदय आने से हाव-भाव क्रिया होते समय में शरीर के कुछ अंगों पर दिखाई देता है। इस लिये उस अंग पर हाव-भाव के चिन्ह या वचन वर्गणा का जोर या मृदुपना पुरुषत्व भाव आदिक की अपेक्षा से धैर्यादिक की अपेक्षा से भाव-वेद का भेद माना जाता है। और वेदना उदीरणा होने से परस्पर चुम्बनादि कार्य होते हैं। मिथुन कार्य भी वेद उदीरणा में होता है वेदोदय से नहीं होता। अन्यथा मिथुन कार्य सतत होना चाहिये। लेकिन वेदों की उदीरणा हर समय नहीं होती है।

शंकाकार—स्त्रीवेद का कार्य—मृदु शरीर, योनि

स्तन आदि को स्त्रीलिंग कहते हैं फिर आप यह क्या विधान कर रहे हैं ?

उत्तर—मृदु शरीर, स्तन, योनि, निर्मूछ, दाढ़ी रहितपन आदि स्त्रियों के जो अंगोपांग हैं वे वेद उदय से नहीं हैं। वे नामकर्म के उदय से होते हैं। शरीर नाम कर्म के साथ अंगोपांग संहनन आदि का संबन्ध है। वे वेदोदय से नहीं होते। वेदोदय घाति कर्मों में शामिल है और शरीराकार संहनन अंगोपांग स्तन योन्यादि अघाति कर्मोदय से होने वाले हैं। अघाति कर्मोदय पुद्गलविपाकी होता है। मोहनीय कर्मोदय जीव विपाकी होता है। इस तरह इन दोनों का अतिदूरका संबन्ध है। इस लिये आपका मन्तव्य सिद्ध नहीं हो सकता। वेदोदय और स्तन योन्यादि शरीर के अङ्गोपाङ्ग, इन दोनों में कार्य कारणभाव संबन्ध नहीं है। तथा दोनों का अविनाभावी संबन्ध भी नहीं है अविनाभावी संबन्ध न होनेके कारण 'जो द्रव्यलिंग हो उसी के अनुसार सतत भाववेद होना चाहिये' ऐसा आपका कहना बिलकुल गलत मार्ग पर है।

श्रीपट्खण्डागम के कर्ता श्रीभूतबली पुष्पदन्ताचार्य ने कहीं पर ऐसा द्रव्यलिंग यानी स्तन योन्यादि चिह्न का या भाववेद का अविनाभावी संबन्ध दिखाया हो तो वह प्रमाण रूप में दिखाना चाहिये। नहीं तो अपने पक्के विश्वासार्ह श्वेताम्बरीय ग्रन्थों का आधार दिखा सकते है ? दिखाइये उसके ऊपर विचार करेंगे।

हमारे दिगम्बर जैनाचार्यों ने कई स्थानों पर लिखा है कि द्रव्य स्त्री में भावस्त्री का ही उदय सतत नहीं रहता वहां पर पुरुष वेद, नपुंसकवेद का भी उदय माना है उनका आपने हिन्दी अनुवाद भी किया है। फिर भी उस श्रीधवला जी ग्रंथ को तथा श्वेताम्बर ग्रन्थों के पहिले (पूर्व में) निर्माण हुए श्री कुंदकुन्दाचार्यों के वचन को भी ठुकरा कर उनको भगडाल्लू कहनेका दुःसाहस तक किया है। जो कि अध्यात्म के बड़े भारी उपदेशक थे उनके (कुन्दकुन्दाचार्य) समान निष्कषायी वीतरागी तथा अध्यात्मतत्व का उपदेशक श्वेताम्बर समाज में कोई भी नहीं हुआ ऐसे परमपूज्य प्रातःस्मरणीय कुन्दकुन्द को भगडाल्लू कह कर और हर समय लठी, चादर, कंबल, पात्र आदि अनेक परिग्रह को धारण करने वाले श्वेताम्बर भिक्षुकों को निष्कषायी तथा अध्यात्म उपदेशक समझे यही है मान्यता भाव का परिचय ?

आप कुन्दकुन्दाचार्य के महत्व को समझने का प्रयत्न करते तो आपको उनका वीतरागपन का महत्व समझ में आ सकता था, हजारों श्वेताम्बर और उस साधु श्रीकुन्दकुन्द की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा कर रहे हैं उनके ऊपर थोड़ा ध्यान देना चाहिये, लेकिन आपने ऐसे परम निर्मल और पवित्र आत्मा को भगडाल्लू कह कह कर पुकारा, क्या ऐसे वचन आपके मुख से सुशोभित होते हैं ? जरा एकान्त स्थान में बैठ कर निष्पक्षपात से विचार करो।

श्री कुंदकुंद आचार्य के ग्रन्थ लिखने पर ६०० वर्ष पीछे श्वेताम्बरों के ग्रंथ हुए हैं। उनके समय श्वेताम्बरों के ग्रन्थ तैयार नहीं हुए थे उन्होंने 'मुनि हो तो दिगम्बर हो" ऐसा लिखा है। परिग्रह धारण करने से आत्मा में आत्मिक पवित्रता नहीं आती। इतना उपदेश देना दोष ? है और समन्ध रहो, लट्टू रखो, कितने दफे भी खाओ पियो आत्मसंयमन का कोई विचार न करके कपड़े में लिपट कर रहो उसी उपदेश में रहने वाले गृहस्थों को मुनि मानने

का उपदेश देने वाले को अच्छा समझा? यही है बुद्धि का विकास?

वाचको! विचार करो कि वेदकी वैषम्यता को जो हीरालाल जी ने समझने में भूल की है वह आप लोगों को अच्छी तरह से समझ में आई होगी। वास्तविक द्रव्य चिन्ह रूप लिंग का और भावरूप वेद का कोई भी सम्बन्ध न होने से जो जो द्रव्य लिंग है उसी तरह और आजन्म तक एक ही भाव-वेद होने की मान्यता ठीक नहीं है। इस वेद में हर क्षण में बदल हो सकती है और वेदवैषम्यता सिद्ध होती है। किसी तरह का भी दोष नहीं आता यह सत्य है पूर्ण सत्य है। भाववेद परिणमन स्वरूपी है। उस परिणमन स्वरूप भाववेद को निमित्त भूत बाह्य कारण जैसा मिलेगा वैसा कार्य होगा तथा अंतरंग में भी जिस तरह से बाह्य कार्यरूप परिणमन होने के लिये निमित्त मिलेंगे उसी तरह कार्य होगा क्योंकि जो परिणमन होता है वह पर्याय होता है। इस लिये भाववेद आजन्म तक ही नहीं रहता। जिस तरह कषाय आदिक भी नहीं रहते। बाहरी निमित्त मिलने पर कभी क्रोध आ जायगा कभी मान आ जायगा, कभी माया, कभी लोभ। ये ज्यादा रूप में दीखेंगे। उसी तरह हास्यादि भी हैं उसी तरह वेद भी कभी पुरुष भाव के उदय में आयगा कभी स्त्री भाव का, कभी नपुंसक भाव का उदय में आ सकता है इसमें कोई हानि नहीं है। विरोधादि दोष भी कोई नहीं आ सकता। इस लिये प्रोफेसर साहब का विचार सिद्ध नहीं होता। वेद-विषमता सिद्ध होती है उसमें उसमें कोई बाधा नहीं है।

प्रोफेसर साहब ने 'वेद-विषमता सिद्ध नहीं हो सकती' इस बात को सिद्ध करने के लिये जो इन्द्रियों का दृष्टान्त दिया है वह भी अविचारित-रम्य है। विचार करनेसे निस्सार एवं कल्पित सिद्ध होता है। देखिये इन्द्रिय पांच ही हैं और उनके विषय २७ सत्तावीस हैं। अब पांच इंद्रियां २७ विषयों को कैसे ग्रहण करेंगी। एक एक इन्द्रिय अनेक विषयों को विषय करती है यह सिद्ध है। दृष्टान्त के लिये लीजिये—आंख, नेत्रेन्द्रिय के द्वारा रूप यानी वर्ण विषय हो जाता है और वर्ण में पांच भेद हैं। लाल, पीला, हरित श्वेत, कृष्ण (काला) इन पांच विषयों को एक ही नेत्रेन्द्रिय विषय करती है। पांच वर्णों को विषय करने वाले पांच नेत्र तो नहीं हैं। उसी तरह स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श के आठ भेदों को जानता है एक ही इन्द्रिय है। उसी तरह जिह्वा पांच रसों को जानती है। पांच जिह्वा तो नहीं हैं। नाक सुगंध और दुर्गन्ध ऐसे दो विषयों को जानती है। नाक सुगन्ध को जानने वाला अलग और दुर्गन्ध को जानने वाला अलग ऐसे अलग अलग दो नाक तो नहीं हैं। उसी तरह कान स्वरों का ज्ञान करता है तो सप्त स्वरों को जानने के लिये सात कान तो नहीं हैं। इस प्रकार विचार करने से इन्द्रियों का दृष्टांत भी प्रोफेसर साहब का विषय सिद्ध नहीं करता। वह भी वेद विषमता को सिद्ध करता है। इन्द्रियों का दृष्टांत भी निष्फल है। यों वेद विषमता सिद्ध हुई एक ही शरीर में तीनों (पुंवेद, स्त्रीवेद नपुंसकवेद भाववेदों) का उदय जो आचार्यों ने माना है वह सत्य है। अब प्राचीन श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों के ग्रन्थोंकी प्रमाणतासे स्त्रीमुक्तिका निषेध दिखावेंगे।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री महावीर निर्वाण के बाद वि० प्रथम शताब्दी में हुये इसके कई आधार हैं। श्री कुंदकुन्द के समय में श्वेताम्बरों के मत की स्पष्ट

मान्यता नहीं थी स्पष्ट मान्यता भी महावीर निर्वाणा-नंतर ६८० वर्ष के बाद मालूम हुई। यह सूर्यप्रकाश वत् सत्य है। फिर वे अपने ग्रंथों में श्वेताम्बरों की मान्यता का खण्डन करने का प्रयत्न क्या कैसे करते हां श्वेताम्बर ग्रन्थों की रचना होने पर जो २ विद्वान् हो गये हैं उन्होंने ही श्वेताम्बरों को सांशयिक मिथ्या दृष्टि कहा है। लेकिन श्री कुन्दकुन्दाचार्य, श्री उमा-स्वामी, श्री समन्तभद्राचार्य इन आचार्यों ने श्वेता-म्बर ग्रन्थों का खण्डन नहीं किया, उन्हें सांशयिक मिथ्यादृष्टि नाम से पुकारा है। हां, 'मुनियों को वस्त्रधारी न बन कर उन्हें परम वीतरागी, दिगम्बर मुद्राधारी बनना चाहिये' ऐसा कथन तो किया है। द्रव्यस्त्री मुक्ति को नहीं जा सकती ऐसा स्पष्ट परम्परागत मान्यता को जीवकार ग्रन्थों में कथन किया है। वे अपने मत में स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं करते। उनसे भी पहिले समयमें लिपिबद्ध हुआ ग्रन्थ जो श्री षट्खण्डागम शास्त्र है उसमें ही द्रव्य-स्त्री को संयम नहीं होता ऐसा कहा है। देखिये श्री षट्खण्डागम प्रथम पुस्तक (जीवस्थान सत्प्ररूपणा) सूत्र नम्बर ६३ में—

"सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि संजदासं-जदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥६३॥

अर्थः—द्रव्यस्त्री अर्थात् मनुष्य—स्त्रियां सम्य-ग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत गुण-स्थान में नियम से पर्याप्तक होती हैं। यहां पर सूत्र में नियम शब्द आया है। इसके आगे का गुणस्थान नहीं हो सकता यह दर्शाने के लिये आचार्यवर्य ने स्पष्ट नियम शब्द लगाया है। और उसी सूत्र पर भी धवलाकार ने स्पष्ट रूप से टीका लिखी है कि द्रव्यस्त्री को छट्ठा गुणस्थान नहीं होता। और उनको संयम भी नहीं होता। जब तक वस्त्र-धारण करने की भावना होती है तो संयम कदापि नहीं हो सकता। इसी लिये उन द्रव्यस्त्री को संयमपन का अभाव है। वस्त्रग्रहण भावना का और असंयमपना का अविनाभावी सम्बन्ध है। यह स्पष्ट रूप से दिखाया है। देखिये धवलग्रंथ के प्रथम भाग में—

"अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्ये-दिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यान—गुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्य-विरुद्ध इतिचेन्न न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमा-विनाभावी वस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। कथं पुन-स्तासु चतुर्दश गुणस्थानानि–इति चेन्न, भावस्त्री-विशिष्ट-मनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्ति इति न तत्र चतुर्दश गुणस्था-नानां संभव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभा-वात्। गतिस्तु प्रधाना न साराद्विनश्यति। वेद-विशेषणायां गतौ तानि न सम्भवन्ति इति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधान-मनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्।

पा० नं० ३३३

अर्थ—शंकाकार—तो इसी आगम से द्रव्य-स्त्रियों को मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि वस्त्रसहित होने से उन द्रव्यस्त्रियों को संयतासंयत नामक पांचवें गुणस्थान होता है। अतएव उनके संयम की उत्पत्ति नहीं होती।

शंकाकार—वस्त्रसहित होते हुये भी उन द्रव्य-स्त्रियों को भावसंयम होने में कोई विरोध नहीं आना चाहिये ?

उत्तरः—उनके लिये भावसंयम भी नहीं है। क्योंकि, अन्यथा-अर्थात् भावसंयम के मानने पर उनके भाव असंयम का अविनाभावी वस्त्रादिक का ग्रहण करना नहीं बन सकता है।

शंका—तो स्त्रियों में १४ गुणस्थान होते हैं यह यह कथन कैसे बन सकेगा?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि भावस्त्री में अर्थात द्रव्य-पुलिंग और भावस्त्रीवेद का उदय होने पर मनुष्य गति में १४ गुणस्थान होने के मत में कोई विरोध नहीं है।

शंका—बादर कषाय गुणस्थान के ऊपर भाव वेद नहीं पाया जाता है, इसलिये भाववेद में १४ गुणस्थानों का सद्भाव नहीं हो सकता है?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि यहां पर वेद की प्रधानता नहीं है किन्तु गति की प्रधानता है। और वह पहिले नष्ट नहीं होती है।

शंका—यद्यपि मनुष्यगति में १४ गुणस्थान संभव हैं। फिर भी उसे वेद विशेषण से युक्त कर देने पर उसमें १४ गुणस्थान संभव नहीं हो सकते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि विशेषण के नष्ट होने पर भी उपचार से उस संज्ञा को धारण करने वाली मनुष्य गति में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता।

(हिन्दी टीका पं० व प्रो० हीरालाल जी की है)

श्री धवल के इस उपरोक्त वाक्य से स्पष्ट सिद्ध होता है कि द्रव्य स्त्री को मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती और संयमपना भी नहीं होता।

पुष्पदन्तभूतबली का उक्त भाव स्पष्ट था इस लिये द्रव्यस्त्री को संयम न होने से सूत्र में उनने संजद शब्द नहीं रखा है यह ध्यान में रखने की बात है। इस लिये श्री षट्खण्डागम के कर्ता के द्रव्यस्त्री को संयमभाव प्राप्त नहीं होता यह भाव दिखाने के लिये ही श्री धवलकार ने उक्त सूत्र में नियम पद रखा है यह अच्छी तरह जान सकते हैं। श्री कुंदकुन्दाचार्य ने भी अष्टपाहुड ग्रन्थ में स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है। इतना ही नहीं किंतु संयमपन का स्पष्ट निषेध किया है। देखिये सूत्रपाहुड—

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहमोकाओ तासं कह होइ पव्वज्जा ॥२४

अर्थ—स्त्रियों के योनि, स्तन, नाभि, कुक्ष आदि प्रदेश में सूक्ष्मकायिक जीवों की निरन्तर उत्पत्ति होती है उसको महाव्रत रूप दीक्षा कैसी होगी। नहीं हो सकती।

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता।
घोरं चरियचरित्तं इत्थीसु ण पावया भणिया ॥

अर्थ—स्त्री संयमयुक्त होकर घोर तपश्चर्या करे तो भी उसको प्रव्रज्या अर्थात संयमपणा नहीं होता।

चित्तासोहिण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु णसंकया झाणं ॥२६॥

अर्थ—स्त्रियों के चित्त की शुद्धि नहीं रहती। स्वभाव से स्त्रियों का चित्त चंचल होता है। उनका भाव शिथिल रहता है। मास मास में उनके स्राव रहता है, उसकी शंका रहती है। अतः स्त्रीको स्थिर ध्यान होता नहीं।

हे वाचको! श्री कुन्दकुन्द भगवान ने अपना परम्परागत जो अर्थ व सिद्धान्त है उसी के अनुसार उन्होंने लिखा है। उनको अप्रमाण कहना कहां तक युक्त है? यह बात प्रोफेसर साहब को सोचना चाहिये। इसी तरह श्री उमास्वामी जी ने भी तत्वार्थसूत्र में यह सूत्र दिया है—

"पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातका निर्ग्रंथाः ॥"

अर्थ—पुलाकादि पांचों निर्ग्रन्थ होते हैं। सग्रंथ से मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती। इस लिये इस सूत्र से ही द्रव्यस्त्री मुक्ति का निषेध सिद्ध है क्योंकि द्रव्य स्त्री दिगम्बर दीक्षा नहीं ले सकती इस लिये उसका संयमपन सिद्ध नहीं होता। दूसरी बात यह है कि उसको निश्चल ध्यान भी नहीं हो सकता तत्वार्थ सूत्र में देखिये—

"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमांतर्मुहूर्तात् ॥ २७ ॥ अध्याय ६।

अर्थ—उत्तम संहनन वाले को ही एकाग्रचिन्ता निरोधरूप निश्चल ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक हो सकता है इस सूत्र से ही द्रव्यस्त्री का मुक्ति निषेध स्पष्टरूप से सिद्ध होता है। क्योंकि द्रव्यस्त्री को (कर्म भूमि में उत्पन्न) उत्तम संहनन नहीं मिलता। उत्तमसंहनन न होने से स्त्रियों को निश्चल ध्यान नहीं होता। संहनन शक्ति पर ही मन की निश्चलता या निश्चल ध्यान निर्भर है इस लिये निश्चल ध्यान के बिना कर्मनाश नहीं होता। कर्मनाशके बिना मोक्ष कैसे हो जायगा ? अर्थात् स्त्री मोक्ष को नहीं जा सकती। यह सत्य है। स्त्रियोंको कौनसा संहनन है यह कर्मकाण्ड गोम्मटसार में देखिये—

"अंतिमतियसंहणणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं।
आदिम तियसंहणणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥३४॥

अर्थ—कर्मभूमि में उत्पन्न होने वाली द्रव्यस्त्रियों के अन्त के तीनसंहनन होते हैं। अर्थात् अर्धनाराच कीलक, असंप्राप्तासृपाटिका इन तीनों का ही उदय रहता है। उनको आदिम तीन संहनन नहीं होते। वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराचसंहनन, और नाराचसंहनन ऐसे तीन संहनन नहीं होते। इस लिये द्रव्यस्त्री मोक्ष को नहीं जा सकती यह निश्चय जानो।

अब श्वेताम्बर ग्रन्थों के पहिले जिन्होंने इस भारतभू को अलंकृत करके सारे भूमण्डल पर जैन धर्म का प्रचार किया था ऐसे श्रीभगवान समन्तभद्राचार्य ने ही साधु का स्वरूप परम दिगम्बर मुद्रा को धारण करने वाला लिखा है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में देखिये—

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

अर्थ—जो विषय और आशा से रहित है और आरम्भ रहित है चौबीस प्रकार के परिग्रहों से रहित है और ज्ञान, ध्यान, और तप में सतत लवलीन है। ऐसा तपस्वी प्रशंसा करने योग्य है। इस तरह सब प्राचीन आचार्यों ने दिगम्बरत्व को कितना महत्व दिया है यह प्रत्यक्ष देख रहे हैं। अब प्रोफेसर साहब से हम यह पूछते हैं कि आपने जितने भी प्राचीन आचार्यों को माना है। जो कि, श्री महावीर तीर्थंकर के बाद श्री भूतबली पुष्पदन्ताचार्य मुनि तक हो गये हैं वे सब नग्न-मुद्राधारक थे या वस्त्रधारक ? अच्छी तरह से उत्तर देना जी। तथा उसी तरह श्री कुन्दकुन्द, उमास्वामी, श्री समन्तभद्राचार्य श्री पूज्यपादाचार्य आदि महान आचार्य हो गये वे सब दिगम्बर मुद्रा के धारी थे या कपड़ों को धारण करने वाले थे। आप यह मान रहे हैं कि सग्रंथ लिंग से मुक्ति होती है। लेकिन श्वेताम्बर लोक भी ऐसा नहीं मानते फिर आप यह कथन कहां से चलाओगे। वास्तविक श्री राजवार्तिक वाक्यों की पंक्ति का अर्थ क्या है सो आप देखिये—

"प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया तिसृभ्यलिंगेन सिद्धयति। भूतनयापेक्षेण तु भजनीयं।"

अर्थात्—वर्तमान कालके आश्रित नयकी अपेक्षा

से निर्ग्रन्थलिंग से मोक्ष जाते हैं। और भूतकालकी अपेक्षा से आप वही विषय लेना जो कि निर्ग्रन्थ या सग्रन्थ हो। सग्रन्थ अवस्था में केवल ज्ञान भी नहीं होता है यह आपको मान्य होगा ही। यदि मान्य नहीं है तो भी तत्त्वार्थसूत्रकार श्री उमास्वामी आचार्य ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि स्नातक मुनि पूर्ण बाह्य और अभ्यन्तर रूप से निर्ग्रन्थ ही रहते हैं। इतना स्पष्ट रूप से सूत्र होने पर आप जानबूझ कर यह (सग्रन्थ रूप से मोक्ष जाते हैं) लिख रहे हैं या आपको वास्तविक सन्देह है ? वास्तविक संदेह होता तो प्रथम इस बात की चर्चा समाज में कर सकते थे लेकिन जब निर्णय रूप से आप कथन कर रहे हैं इस लिये जान बूझ कर आप दिगम्बर आम्नाय की जड़ पर कुठाराघात करने को तयार हो गये हैं। ऐसी अकार्यता करके दिगम्बर को श्वेताम्बर बनने का इशारा करने से सारी दुनियां आपके हाथ में है क्या ? कदापि नहीं। इस प्रकार अवर्णवाद करने को तयार कदापि नहीं हो सकते थे। इस अवर्णवाद से कितने भव तक अपने को दुःख उठाना पड़ेगा। इसका थोड़ा सा विचार करके देखो। अभी भी आप विचार करके अपना मनुष्यभव का सुधार करो। नरभव रूपी रत्न से उलटा दुःख मत उठाओ।

अब अपवादलिंग का विचार—

हे वाचको ! प्रोफेसर साहब का कहना है कि उत्सर्गलिंग और अपवादलिंग ऐसे दिगम्बर मुनि के दो भेद हैं। लेकिन उनकी यह बुद्धि गलत मार्ग पर है। क्योंकि दिगम्बर दीक्षा लेते समय में सब कपड़ों का तथा सब परिग्रहों का त्याग किया जाता है और जन्म भर के त्याग होने को व्रत कहते हैं। फिर जो वस्त्रत्याग करता है वह ग्रहण करने में निर्दोष कैसे रहेगा ? जो दिगम्बर दीक्षा लेकर फिर कपड़ा लेगा तो वह भ्रष्ट समझा जायगा। यदि व्रतभंगी को भ्रष्ट नहीं कहोगे तो फिर भ्रष्ट कौन समझा जायगा ? इस लिये दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें दिगम्बर बनने पर पुनः कपड़े लेने का विधान किसी भी शास्त्रमें नहीं मिलेगा। हां, यह विधान अवश्य मिलता है कि जिनको दिगम्बर दीक्षा लेने की योग्यता नहीं है अर्थात् जिनके लिंग में दोष है तथा जो लज्जावान हैं, ठण्डी-गर्मी आदि परिषहों को सहन करने की शक्ति नहीं है ऐसे दिगम्बर दीक्षा न लेते हुए श्रावक की जो ११ प्रतिमायें हैं, उन ११ प्रतिमाओं को धारण करते हुये क्षुल्लक या ऐलक दीक्षा लेते हैं उनको अपवाद लिंगी कहते हैं। देखो धर्मसंग्रह श्रावकाचार में—

"उत्कृष्टः श्रावको यः प्राक् क्षुल्लकोऽत्रैव सूचितः।
स चापवादलिंगी च वानप्रस्थोपि नामतः ॥८०॥

अध्याय ६

अर्थात्—पहिले जो उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक का इसी ग्रंथ में वर्णन किया जा चुका है। उसे अपवादलिंगी तथा वानप्रस्थी कहते हैं। और भी कहा है :—

ज्ञानानन्दमयात्मानं साधयत्येष साधकः।
श्रितापवादलिंगेन रागादिक्षयतः स्वयुक् ॥८५॥

अर्थात्—जो साधक श्रावक है वह अपवादलिंग को धारण करके और अन्तरंग में रागादि क्षय होने से ज्ञानानन्द स्वरूप अपने आत्मा को साधता है उसे साधक श्रावक कहते हैं। अर्थात् उत्कृष्ट श्रावक को क्षुल्लक-ऐलक, आर्यिका और क्षुल्लिका आदि नाम से तथा अपवादलिंगी या वानप्रस्थ या भिक्षु या आर्या

आदि नाम से कहते हैं। देखो—

एकादशोपासकेषु षडाद्या गृहिणोऽधमाः।
वर्णिनस्त्रयो मध्या उत्कृष्टौ भिक्षुकौ परौ ॥१३॥

अर्थ — जो श्रावकों की ११ प्रतिमायें हैं उनमें से १ से लेकर ६ प्रतिमातक धारण करने वालेको अधम श्रावक, ६ से ९ तक प्रतिमाको धारण करने वाले को मध्यम श्रावक कहते हैं। तथा १० वीं और ११ वीं प्रतिमा को धारण करने वाले को भिक्षुक कहते हैं। इसी तरह सागार धर्मामृत में भी कहा है। देखो-

"अनुमतिविरतोद्दिष्टविरता-
वुभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च।"

अर्थात्—अनुमति त्याग प्रतिमा और उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा के धारक को भिक्षुक कहते हैं। उसी तरह—

त्रिस्थानदोषयुक्तायाप्यापवादिकलिंगिने।
महाव्रतार्थिने दद्याल्लिंगमौत्सर्गिकं तदा ॥३५॥

अर्थात्—तीन स्थानों में लिंग सम्बन्धी दोष जिनके हैं ऐसे अपवादलिंग वाले अर्थात क्षुल्लक ऐलकोंको मरण समयमें दिगम्बर मुद्रा यानी उत्सर्ग लिंग की दीक्षा देनी चाहिये। इस प्रकार अनेक जगह में ऐसा कथन स्पष्ट रूप से आया है। दिगम्बर शास्त्र में उत्सर्गलिंग यानी दिगम्बर और अपवादलिंग यानी क्षुल्लक ऐलक या आर्यिका और क्षुल्लिका को कहा है!

इस प्रकार अपवादलिंग का अर्थ है। अस्तु,

अब श्री धवला जी के द्वितीय भाग में भी क्या कहा है सो देखिये—

"मणुसिणीणं भण्णमाणे अत्थि चोद्दस गुणट्ठाणाणि .... एगारह जोग अजोगोवि अत्थि एत्थ आहार आहार-मिस्स-कायजोगा णत्थि। किं कारणं? जेसिं भावो इत्थि वेदो दव्वं पुण पुरिसवेदो, तेवि जीवा संजमं पडिवज्जंति दव्वित्थिवेदा संजमं ण पडिवज्जंति सचेलत्तादो। भावित्थिवेदाणं दव्वेण पुंवेदाणं वि णाहाररिद्धि समुप्पज्जदि दव्वभावेण पुरिसवेदाणमेव समुप्पज्जदि तेणित्थिवेदे वि णिरुद्धे आहारदुगं णत्थि तेण एगारह जोगा भणिया॥ —द्वितीय भाग, पानानंबर ५१३ आलापाधिकार नं० ११४।

अर्थ—मनुसिणी स्त्रियों के आलाप करने पर चौदह गुणस्थान होते हैं ....११ योग कहे हैं। चार मनोयोग, चार वचनयोग, औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रयोग और कार्मणकाययोग तथा अयोग भी स्थान है। इन मनुसिणीयों को आहार काययोग और आहारक मिश्र काययोग नहीं होते।

शंका—मनुष्य स्त्रियों के आहारक काययोग और आहारक मिश्र काययोग नहीं होनेका क्या कारण है?

उत्तर—जिनके भाव की अपेक्षा से स्त्रीवेद और द्रव्य की अपेक्षा पुरुषवेद होता है। वे ही भाव स्त्रीवेद वाले जीव संयम को प्राप्त होते हैं। परन्तु द्रव्य की अपेक्षा स्त्रीवेद वाले (योनि मनी स्त्रीलिंग वाले) जीव संयम को प्राप्त नहीं होते हैं। क्योंकि वे सचेल अर्थात् वस्त्रसहित होने से संयमवाले होते नहीं। फिर भी भाववेद की अपेक्षा स्त्रीवेदी और द्रव्यलिंग की अपेक्षा पुर्लिंग (पुरुष लिंग को) धारण करने वाले को संयम की प्राप्ति होती है। तो भी उनको आहार ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती। किन्तु द्रव्य और भाव इन दोनों की अपेक्षा से जो पुरुष हैं ऐसे संयमधारी पुरुषों को आहारक ऋद्धि उत्पन्न

होती है। इस लिये भावस्त्री वेद वाले पुरुषों को आहारक के बिना ११ ग्यारह योग होते हैं। तथा—

"इत्थि-वेदे अपगद-वेदो वि अत्थि । एत्थ भाववेदेण पयदं ण दव्व-वेदेण। किं कारणं? अवगद-वेदोवि अत्थि त्ति वयणादो ॥

अर्थ—योग आलाप के आगे स्त्रीवेद तथा अपगत वेद स्थान भी होते हैं। यहां भाववेद से प्रयोजन है, द्रव्यवेद से नहीं। इसका कारण यह है कि यदि यहां द्रव्यवेद से प्रयोजन होता तो अपगत वेद रूप स्थान नहीं बन सकता था। क्योंकि द्रव्य चौदह गुणस्थान तक होता है परन्तु अपगतवेद भी होता है। इस प्रकार वचन निर्देश नवमे गुणस्थान तक के अवेदभाग से किया है। इससे प्रतीत होता है कि यहां पर जो मणुसिणी को १४ गुणस्थान होते हैं, ऐसा कथन जो किया है वह भाववेद से ही प्रयोजन है। यह वाक्य धवला जी के ७ भाग के हैं।

हे वाचको! यहां पर एक महत्व का विषय आप लोगों के सामने रखना चाहता हूं। कि हिन्दी टीकाकार ने भी धवलग्रन्थ का अर्थ करते समय में जो जो अनर्थ किया है वह कितना खतरनाक है यह आप लोग स्वयं जान सकते हैं। देखिये अनेक स्थानों पर अर्थ का अनर्थ किया है। जहां पर "मणुसिणी" शब्द प्राकृत भाषा में सूत्र में या वृत्ति में आया है उसका अर्थ विचार न करते हुए हिन्दी में "योनिमती स्त्री" इस प्रकार ही किया है। वास्तविक रूपसे देखा जाय तो मनुसिणी यह शब्द भाववेद का द्योतक है द्रव्य स्त्री का नहीं ऐसे हमारे परम पूज्य आचार्य श्री वीरसेनादि आचार्यों ने स्पष्ट किया है उनके ऊपर हिन्दी टीकाकार ने विश्वास न करते हुए उस शब्द का द्रव्य वाचक 'योनिमती' ऐसा अर्थ किया है यह टीकाकारों की मोटी भूल है। क्योंकि योनिमती शब्द गुरु आचार्यश्री ने प्रयोग न किया तो भी हिंदी वालों ने किया है क्योंकि योनिमती शब्द नित्य द्रव्य स्त्रीवेद वाले में आता है अर्थात् जिसको योनि है उसको योनिमती कहते हैं यह द्रव्य वाचक शब्द है ऐसा जान बूझ कर अर्थ किया है उसको पढ़ते समय सावधानी से पढ़ना चाहिये। श्रीभूतबली पुष्पदन्ताचार्य ने सूत्र में कहीं पर भी (मनुष्य प्रकरण में) योनिमती शब्द का प्रयोग नहीं किया है हां! तिर्यंच का प्रकरण जहां पर आया है वहां पर तिर्यंचों में 'योनिमती" शब्द का प्रयोग सूत्र में किया है लेकिन मनुष्य के प्रकरण में "योनिमती" शब्द न रखते हुए मणुसिणी शब्द का प्रयोग किया है इसमें कितनी गम्भीरता की है यह आप ही जानना।

हे वाचको! उपरोक्त वचनों से आप लोग स्पष्ट जान सकते हैं कि द्रव्यस्त्री को १४ गुणस्थान नहीं होते हैं। द्रव्यलिंग से पुल्लिंगी हो तथा भाव की अपेक्षा से स्त्री यदि हो ऐसे पुरुष को १४ गुणस्थान हो सकते हैं। यह स्पष्ट जानना चाहिये।

प्रोफेसर साहब ने जो श्री षट्खण्डागमके तीसरे भाग के सूत्र नंबर ४६ का प्रमाण दिया है उसका विचार किया जाता है।

"मणुसिणीसु सासण सम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगकेवलित्ति दव्वपमाणेण केवडिया? संखेज्जा

अर्थ—मनुष्यनियों में सासादन गुणस्थान से लेकर अयोगि केवली गुणस्थान तक गुणस्थान में द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा कितने हैं? संख्यात हैं।

यह सूत्र प्रमाण देकर स्त्रियों के १४ गुणस्थान होते हैं ऐसा जो आग्रह हो गया है सो ठीक नहीं

है क्योंकि प्रथम भाग में जब द्रव्य स्त्रियों को संयम-पणा का अभाव बतलाते हुये "पांचवें गुणस्थान तक ही नियम से होते हैं।" ऐसा कथन किया है और उस सूत्रमें जब नियम पद भी रखते हुये बड़े जोर से कथन किया है तो फिर आगे द्रव्य स्त्री को १४ गुणस्थान कैसे मानोगे ? क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष विरोध आवेगा। और पूर्वापर विरोध वाक्य लिख रहे हैं ऐसा सिद्ध होवेगा। इस लिये यह सिद्ध होता है द्रव्यस्त्रियों को १४ गुणस्थान नहीं होते यह कथन सत्य है विचार सत्य है। इस पूर्वापर विरोध वाक्य को या दोष को हटाने के लिये मणु-सिणी शब्द का अर्थ यहां पर इस सूत्र में द्रव्यपुरुष होते हुए भावस्त्री वेद का उदय जिसको हो गया है ऐसे जीवों को मणुसिणी कहते हैं' ऐसा ही अर्थ करना युक्तियुक्त है। इस लिये प्रोफेसर सा.ब का अपना हठाग्रह छोड़ कर अच्छी तरह निष्पक्षपात से विचार करना चाहिये और अपने सन्मार्ग पर आना चाहिये। इससे ही बुद्धिमानपना सिद्ध होगा और इसी में अपना कल्याण है। अन्यथा 'अजैर्यष्टव्यं' इस पंक्ति पर जो विवाद होके अन्तमें अज शब्द का अर्थ बकरा करने वाले को कितना दुःख उठाना पड़ा वह कथा अच्छी तरह से पढ़ना और अच्छी तरह से विचार करना। मैं भी हठाग्रहता में आ रहा हूं या नहीं वह देखना जरूरी है। इस तरह एक प्रकरण के अनुसार अर्थ करने का विषय मालूम हो गया तो झगड़ा मिट जाता है। एकांत पक्ष या एकान्त अर्थ लेना छोड़ कर स्याद्वादी हो जावें और अपने आत्मा का कल्याण करें और अपने मित्र-बांधव या अपने पक्ष में पड़े हुये सब जीवों का कल्याण करें यही सूचना है।

द्रव्यस्त्री मुक्ति पर श्वेताम्बर ग्रन्थों से

—विचार—

हे वाचको ! प्रोफेसर ने लिखा है कि स्त्रीमुक्ति होना ठीक है और दिगम्बराचार्य के भी प्राचीनतम आचार्यों को छोड़ कर श्री कुन्दकुन्दाचार्याम्नाय ने ही स्त्रीमुक्ति का अत्यन्त जोर से निषेध किया है। अब इस पर हमें विचार करना जरूरी है कि स्त्री के शरीर में मुक्ति प्राप्त करने की शक्ति है या नहीं ? इस विषय पर श्वेताम्बर ग्रन्थ में क्या प्रमाण है यह देखना प्रथम जरूरी है। तदनन्तर फिर दिगम्बर ग्रन्थों का प्रमाण देखेंगे।

प्रथम मनुष्य में जो दो भेद हुए हैं वह शक्ति की अपेक्षा से ही हुए हैं एक पुरुष और दूसरी स्त्री। स्त्रियों में पुरुषों से शक्ति कम है। जिस कार्य को पुरुष कर सकता है वह कार्य स्त्री कर सकती है या नहीं यह प्रथम विचार करना चाहिये। पुरुष जिस महान कार्य को कर सकता है उसी महान कार्य को स्त्री नहीं कर सकती।

सबसे पहले पुरुष एकदम विरागी होकर हजारों स्त्री-पुरुषों में दिगम्बर (नग्न) व्रत को धारण कर सकता है। ऐसा दिगम्बर व्रत हजारों स्त्री पुरुषों में द्रव्यस्त्रीलिंग स्त्री ले सकती है क्या ? नहीं। क्योंकि इसका कारण यह है कि स्त्रियों में लज्जा (शर्म) ज्यादा है। इस कारण वह नग्नता को धारण करने का साहस नहीं कर सकती है। इस लिये स्त्री की शक्ति कम है। दूसरी बात यह है कि स्त्रियों में मोह भी बहुत ज्यादा रहता है। वह निर्मोही नहीं हो सकती। इसका सारा संसार अनुभव कर सकता है। जिस किसी चीज पर स्त्रियों का

मोह ज्यादा रहता है। स्त्रियों का हृदय कठोर नहीं है। स्त्री का हृदय बहुत मृदु होता है। वह हृदय मृदु होने से ज्यादा मोही होती है। जिसका हृदय कठोर होता है वही निर्मोही होता है।

स्त्रियों का वर्णन करते समय चाहे श्वेताम्बर ग्रन्थ हो चाहे दिगम्बर हो चाहे अन्य-मती हो सब कोई स्त्री को कोमलांगी कहते हैं। ऐसे पुरुषों को कोमलांग कभी नहीं कहते। स्त्रियों का शरीर कोमल रहता है। स्त्रियों का मन-वचन और शरीर तीनों कोमल होते हैं। स्त्रियों के शरीर में कोमलता है इतना ही नहीं बल्कि मन वचन दोनों में भी कोमलता है। इस बात की श्वेताम्बर ग्रन्थों का भी मान्यता है। स्त्रियों के शरीर में ज्यादा पाप करने करने की शक्ति नहीं है। स्त्री मन में भी ज्यादा पाप नहीं करती, तभी सातवें नरक को जाने का पाप भी स्त्री के मन से नहीं होता, क्यों? उतना उनका मन कठोर नहीं हो सकता। जब मन में भी सातवें नरक में जाने की पाप करने की शक्ति नहीं तो मोक्ष जाने की शक्ति कहां से आवेगी?

श्वेताम्बर शास्त्र प्रकरण-रत्नाकर नामक बड़ा प्रसिद्ध और पुराना ग्रंथ है। उस प्रकरण रत्नाकर नामक ग्रन्थ के चौथे भाग के संग्रहणी सूत्र में १०० पृष्ठ पर लिखा है कि—

असण्णिसरिसवपक्खी सबीह उरगित्थि जंति जाछट्ठि

कमसो उक्कोसेणं सत्तम पुढवी मणु यमच्छा।

अर्थ—असेंनी (असंज्ञी) जीव पहले नरक तक सांप, गोह, न्योला आदि दूसरे नरक तक। गिद्ध, बाज आदि मांसाहारी पक्षी तीसरे नरक तक। सिंह चीता, भेड़िया दुष्ट, चौपाये पशु चौथे नरक तक और काला सांप दुष्ट अजगर आदि पांचवें नरक तक। स्त्री छठे नरक तक, पुरुष और मच्छ आदि सातवें नरक तक जा सकते हैं।

हे पाठको! ऊपर लिखित गाथा से यह स्पष्ट होता है कि स्त्री के शरीर में पुरुष के बराबर ताकत नहीं है। पुरुष की शक्ति ज्यादा है। स्त्री का मन कठोर न होनेसे उतना कठोर पाप भी उसके शरीर से तथा मन से नहीं होता। शरीर शक्ति पर ही मानसिक शक्ति होती है। मन से तीन योग हैं—एक पाप योग या अशुभ योग, दूसरा पुण्ययोग या शुभयोग और तीसरा पाप-पुण्य रहित या शुभा-रहित शुद्धयोग। जितनी मानसिक शक्ति दृढ़ रहेगी उतना ही योगदृढ़ रहेगा, जितनी पापयोग करने को दृढ़ शक्ति चाहिये उतनी ही पुण्ययोग करने को भी दृढ़ शक्ति चाहिये। जितनी शक्ति सातवें नरक जाने की होती है, उतनी ही शक्ति सर्वार्थसिद्धि नामक स्वर्ग में जाने को लगती है। जो सर्वार्थ-सिद्धि में जाने की शक्ति रखता है वही जीव मोक्ष को तक जानेकी शक्ति रखता है। अब विचार करने पर यह तात्पर्य निकलता है कि श्वेताम्बर मान्य ग्रन्थों के आधार से स्त्री के शरीरमें पुरुष जितना सामर्थ्य नहीं मनमें भी ताकत नहीं है और वचन में भी ताकत नहीं है।

शंकाकार कहता है पाप करने की शक्ति ज्यादा नहीं तथापि पुण्य करने की और कर्म क्षय करके मोक्ष जाने की शक्ति स्त्रियों में है।

उत्तर—जिसको पाप करने की ताकत नहीं उस को पुण्य करने की ताकत कहां से आवेगी? नहीं। मानसिक शक्ति में दो अवस्थायें होती हैं। अच्छी क्रिया हो तो पुण्ययोग कहेंगे और बुरी क्रिया हो तो पापयोग कहेंगे। लेकिन मानसिक दृढ़ शक्ति

दोनों को बराबर होती है। श्वेताम्बर मान्य ग्रन्थ में स्त्री मरकर स्वर्ग में कौन से स्वर्ग तक जा सकती है उसका खुलासा किया है। प्रवचनसारोद्धार भाग चौथा संग्रहणी सूत्र में ८५ वें पृष्ठ पर १६० गाथा में ऐसा लिखा है।

छेवट्ठेण उ गम्मइ चउरोजा कप्प कीलियाईसु।
चउसु दु दु कप्प वुड्ढी पढमेणं जावसिद्धी वि ॥१६०

अर्थ—असंप्राप्त सृपाटिका संहनन वाला जीव भ[illegible], व्यंतरदेव, ज्योतिष्कदेव तथा १-सौधर्म, २-ऐशान, ३-सा[illegible], ४-माहेंद्र इन चार स्वर्गों तक के देवों में उत्पन्न होता है। कीलक संहननधारी पांचवें ब्रह्मलोक और छठा लांतव स्वर्ग तक जन्म ले सकता है। अर्द्धनाराच संहनन वाला जीव सातवें महाशुक्र नामक स्वर्ग और आठवां सहस्रार नाम स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है। नाराच संहनन वाला जीव नवमे आनत नामक स्वर्ग और दशवें प्राणत नामक स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है। वृषभनाराच संहननधारी जीव ग्यारहवें आरण नामक स्वर्ग और बारहवां अच्युत नामक स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकता है। वज्रवृषभनाराच संहनन वाला जीव नवग्रैवेयक है, पांच अनुत्तर विमान में और मोक्ष में जा सकता है।

हे वाचको! विचारणीय बात यह है कि स्त्री को वज्र-वृषभनाराच संहनन नहीं है फिर वे मोक्ष को कैसे जा सकती हैं। बारहवें स्वर्ग के ऊपर नवग्रैवेयकों में अहमिन्द्र देवों में भी मरकर उत्पन्न होने की ताकत नहीं है फिर मोक्ष कैसे जा सकेंगी। इस गाथा से यह सिद्ध होता है कि स्त्री के मन-वचन-और काय में पुरुष इतना पुरुष करने की भी ताकत नहीं है। जब सातवें नरक में जाने की ताकत नहीं तो उससे ही स्त्रियों को वज्र-वृषभनाराच संहनन नहीं यह सिद्ध होता है। देखो प्रवचन सारोद्धार चौथा भाग संग्रहणी सूत्र प्रकरण की २३६ वीं गाथा में लिखा है कि—

दोपढमपुढविगमणं छेवट्ठे कीलियाइ संघयणे।
इ[illegible]कपुढवि[illegible] आइतिलेस्साउ नरएसु ॥२३६॥

अर्थ—असंप्राप्त सृपाटिका संहनन वाला जीव पहले दूसरे नरक तक जाता है। आगे नहीं। कीलक संहनन वाला तीसरे नरक तक। अर्द्धनाराच संहनन वाला जीव चौथे नरक तक। नाराच संहनन वाला पांचवें नरक तक। वृषभनाराच संहनन वाला जीव छठे नरक तक और वज्रवृषभनाराच संहनन वाला जीव सातवें नरक तक जा सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वज्रवृषभनाराच संहनन वाले के सिवाय औरमें सातवें नरकमें जाने की ताकत नहीं है और श्वेताम्बर ग्रन्थ में ही कहा है कि स्त्री मर कर छठे नरक तक ही जा सकती है। इससे वृषभनाराच संहननधारी ही स्त्री होती है, स्त्री को वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं है। इस लिये मोक्ष जाने की शक्ति नहीं है यह सिद्ध है। और वज्रवृषभ नाराच संहनन नहीं है यह सिद्ध भी है।

अब श्वेताम्बर ग्रंथों की अपेक्षा से मनुष्य में भी उत्पन्न होने की शक्ति स्त्री को कितनी है सो दिखाते हैं देखो प्रवचन सारोद्धार भाग ३ गाथा ५२० में लिखा है —

अरहंत चक्कि केसव बल संभिन्नेय चारणे पुव्वा।
गणहर पुलाय आहारगं च नहु भवियमहिलाणं ॥

अर्थ—भव्य स्त्रियों को दशपद या लब्धि नहीं होती है। वह दशपद यह हैं—१-[illegible] २-चक्रवर्तीपद ३-नारायणपद ४-बलभद्रपद ५-संभिन्न

श्रोतापद, ६-चारण ऋद्धिपद, ७-पूर्वधारीपद, ८-गणधरपद, ९-पुलाकपद, १०-आहारक ऋद्धिपद, ये दशपद स्त्रियों के नहीं होते।

इस उपरोक्त गाथा से यह सिद्ध होता है कि स्त्री के शरीर में निर्बलता है। इस लिये इन दश पदों को प्राप्त नहीं कर सकती। यदि पुरुषों के समान बल होता तो उपरोक्त दश पदों की प्राप्ति कर सकती थी। ये उपरोक्त सारे पद शरीर की दृढ़ता पर ही अवलम्बित हैं। जिनके शरीर में बल नहीं उनके मनमें भी बल या दृढ़ता नहीं हो सकता। उन स्त्रियों में अरहंत होने की शक्ति नहीं ऐसा खुद उन श्वेताम्बर ग्रंथोंकी मान्यता है फिर श्वेताम्बरों को स्त्रीमुक्ति पर इतना हठ क्यों है यह समझ में नहीं आता।

प्रोफेसर साहब की श्रद्धा श्वेताम्बर ग्रन्थों में है तो यह उपरोक्त गाथा अच्छी तरह से देखनी चाहिए और अपने मन में विचार करना चाहिये। स्त्रियों में शुक्लध्यान करने की शक्ति नहीं है। घोरातिघोर तपश्चर्या करने की शक्ति नहीं है। तथा उनमें घोरउपसर्गों को भी सहन करने की ताकत नहीं है फिर उनको मुक्ति कैसे मिल सकती है ? यह विचारणीय बात है।

शंकाकार कहता है—श्वेताम्बर ग्रन्थों में स्त्रियों को वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं होता यह आप किस आधार से कह रहे हैं आप अनुमान से ही कह रहे हैं लेकिन जब तक पुष्ट प्रमाण पेश नहीं करोगे तब तक हम इन अनुभवों के ऊपर कथन किया हुआ नहीं मानते।

उत्तर—मैं अनुभव से स्त्रीमुक्ति का विरोध नहीं कर रहा हूं। लेकिन तुम्हारे ग्रंथ में ही कहा है। देखो उववाई सूत्र नं० १२ पृष्ठ २०५।

स्त्री को वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं है। जो वज्रवृषभनाराच संहननधारी है ऐसा मनुष्य पुरुष ही मोक्ष जा सकता है।

इस श्वेताम्बरीय ग्रंथ कथित सूत्र से ही सिद्ध होता है कि स्त्री को वज्रवृषभनाराच सहनन नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में वज्रवृषभनाराच संहनन के अभाव में मन दृढरूप न होने के कारण महान कार्य नहीं हो सकता।

मनुष्य सिंह के समान निर्भय होकर दीक्षा लेकर निर्भय वृत्ति से रहता है। स्त्री दीक्षा लेने के बाद निर्भय वृत्ति से इधर उधर विहार नहीं कर सकती। स्त्री के शरीर में बल नहीं इस लिये वह अबला है। यदि स्त्री दीक्षा लेकर अकेली विहार करे और रास्ते में कोई गुण्डा पुरुष स्त्री को देखकर कामातुर होकर उस दीक्षित आर्यिका का शील भंग करना चाहे तो उस गुण्डे से अपने शील की रक्षा करने में समर्थ वह नहीं हो सकती। क्योंकि स्त्रियों के शरीर की रचना ही ऐसी है कि पुरुष के द्वारा शील-भंग हो सकता है। स्त्री भोग्य होने से पुरुष किसी भी अवस्था में भोग सकता है। स्त्रियों में इतनी ताकत नहीं इस लिये वह अबला कही जाती है। हां, यदि उस स्त्री के शील की रक्षा करने वाले देव या और कोई सहायक हो जाय तो स्त्री अपने शील की रक्षा कर सकती है। अकेलीमें शील रक्षा करने की शक्ति नहीं।

यदि वज्रवृषभनाराच संहनन होता तो शरीर में दृढ़ता आ सकती। लेकिन दृढ़ता नहीं होने के कारण स्त्री में पुरुष के समान शरीर में ताकत नहीं है। यदि हठात् स्त्रियों को वज्रवृषभनाराच संहनन

श्वेताम्बरों द्वारा मान लिया जाय तो भी स्त्रियों के उपस्था मानना पड़ेगा और उपस्था में शरीर रक्षा करने की शक्ति नहीं है। स्त्री की योनि ऐसी है कि पुरुषों के द्वारा आक्रमण होने से शील भ्रष्ट हो सकता है। पुरुषों को वज्रवृषभनाराच संहनन भी नहीं मान लिया जावे और पुरुष दिगम्बर दीक्षा लेकर वनमें एकान्त प्रदेश में तपश्चर्या कर रहा हो ऐसा मौका पाकर यदि स्त्रियां समूहरूप से भी होकर उस दिगम्बर मुनि का शील बिगाड़ने की कोशिश करें तो उस मुनि के निर्विकार मन में शील बिगड़ नहीं सकता। क्योंकि पुरुष के चित्त में कामवासना नहीं रही तो पुरुष के लिंग में उत्थान—शक्ति नहीं आ सकती। और उत्थान शक्ति के बिना मैथुन रूप कार्य भी नहीं हो सकता। हजारों स्त्रियां प्रयत्न करें तो भी उस दिगम्बर मुनि का शील बिगाड़ने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकती। खुद मुनि ही विचलित हो जाय तो खुद ही बिगड़ेगा। लेकिन दूसरा कोई भी नहीं बिगाड़ सकता।

स्त्रियों के बारे में ऐसा नहीं हो सकता। यदि स्त्री के मन में कामवासना नहीं है और एकान्त में स्त्री तपश्चर्या करती हो और एक ही पुरुष कामातुर हो गया तो उस स्त्री के साथ मैथुन कर सकता है। उस मनुष्य से बचने की शक्ति स्त्रियों के शरीर में नहीं है इस लिये स्त्रियों की शक्ति किसी भी अवस्था में निर्बल ही रहेगी। स्त्रियों की आकृति योनि रूप होने से अकेली शील रक्षा नहीं कर सकती। उपस्था में वह अचल नहीं है। बिगर इच्छा से पुरुषों के लिंग को रोकने की शक्ति नहीं है। इस लिये इच्छा हो या न हो तो अपनी शील रक्षा करने में समर्थ नहीं यह प्रोफेसर साहब को मानना ही पड़ेगा। इस लिये निर्बल होकर तपश्चर्या करने की शक्ति स्त्रियों में नहीं है। वह भयभीत रहने से निश्चल रूप ध्यान नहीं कर सकती। स्त्रियों के मनमें भी निर्भयता होने की शक्ति नहीं। स्त्रियों के मनमें दृढ़ता भी संहनन के अभाव से नहीं आ सकती। मन दृढ़ होने को भी संहनन की जरूरी है। जैसे कि नपुंसक पुरुष को यदि पद्मिनी स्त्री मिल गई तो उस स्त्री के साथ भोग करने का कार्य हो सकता है क्या? यद्यपि नपुंसक पुरुष के मन में भी भोग करने की इच्छा है, कामवासना भी मौजूद है तो भी नपुंसक के लिंग में सामर्थ्य नहीं होने से पद्मिनी स्त्री के साथ रति क्रीड़ा (मैथुन कार्य) करने में समर्थ नहीं यह सुप्रसिद्ध है।

इससे सिद्ध होता है कि शरीर बल बिना मन की दृढ़ता भी नहीं होगी। स्त्रियों के मन में पुरुष के मन की तरह शक्ति (दृढ़ता) नहीं आ सकती है। मन से भी स्त्री कमजोर है यह मानना जरूरी है। जिनके मन दृढ़ नहीं है वह मन बहिरंग सम्पूर्ण मूर्तिक पदार्थ के अवलम्बन छोड़कर अपने अनुपम परम अद्वैत अवस्था रूप निर्विकल्प रूप ध्यान करने में समर्थ नहीं हो सकता। इस लिये मन की दृढ़ता के लिये शरीर ही कारण है।

श्वेताम्बरों ने अपने शास्त्र में मान भी लिया है कि स्त्रियों को वज्रवृषभ संहनन न होने से स्त्री उतना कठोर रूप तपश्चर्या नहीं कर सकती और सातवें नरक तक भी नहीं जा सकती। उसी तरह स्त्री का मन दृढ़ न होने से शुभ योग में भी स्थिर होने की शक्ति नहीं रखती इस लिये शुभयोग से बढ़कर स्वर्ग में १२ वें स्वर्ग से ऊपर के अहमिन्द्र देवों में उत्पन्न नहीं हो सकती। उसी तरह स्त्री के मन में

दृढ़ता नहीं होने के कारण निज ध्यान रूप परम वीतराग निर्विकल्प ध्यान में भी स्थिर होकर संपूर्ण कर्म समूह का नाश करने की शक्ति नहीं होने से मोक्ष को भी नहीं जा सकती। ऐसी दृढ़ता नहीं होने पर प्रोफेसर साहब स्त्री को मोक्ष मानने में अपनी बुद्धि का दुरुपयोग क्यों कर रहे हैं यह समझ में नहीं आता।

वास्तविक रूप से देखा जाय तो श्वेताम्बरों ने भी स्त्री की शक्ति कम ही मानी है श्वेताम्बरीय ग्रन्थ 'स्त्री को अरहन्तपद की प्राप्ति नहीं होती' ऐसा मान रहे हैं फिर भी हम दिगम्बर आम्नाय के लोक किस तरह स्त्रीमुक्ति मानेंगे और परम्परागत आये हुये ग्रन्थों के ऊपर अविश्वास करके अपने सम्यक्त्व भाव से किस तरह गिरेंगे? नहीं कदापि नहीं गिरेंगे। इस लिये प्रोफेसर साहब का यह दिगम्बराचार्य के कथित दिगम्बर तत्व का नाश करके श्वेताम्बर तत्वों में सम्मिलित करने का अवांछनीय अकांड तांडव कभी भी सिद्ध नहीं होगा। यह विचार सत्य है।

प्रोफेसर साहब का कहना है कि 'गुणस्थान की अपेक्षा से कोई महत्व का निर्णय स्त्रीमुक्ति के विषय में नहीं किया।' इस पर विचार करने से सिद्ध होता है कि स्त्रियों के निश्चल ध्यान नहीं हो सकता, निश्चय निर्विकल्प शुक्लध्यान उसी को हो सकता है कि जिनका संहनन वज्रवृषभनाराच संहनन है उसी का मन शुद्धोपयोग रूप अद्वैत परम निरंजन निज चिदात्म स्वरूपमें ठहरकर सम्पूर्ण रागद्वेषादि विकार भावों को नाश कर सकता है। यह निर्विकल्प निजात्मध्यान या शुक्लध्यान-श्रेणी आरोहण कालमें ही होता है। श्रेणी आरोहण ८ वें गुणस्थान से होता है। इस लिये द्रव्यस्त्री को आठवां गुणस्थान होता नहीं। आठवां गुणस्थान तो दूर रहा किन्तु छठा गुणस्थान भी द्रव्यस्त्रियों को नहीं हो सकता। ऐसा कथन श्वेताम्बर ग्रंथों में भी मिलता है।

देखिये तत्वार्थाधिगम में निर्ग्रन्थों के पांच भेद किये हैं। उसमें पुलाक, बकुश, कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक ये निर्ग्रन्थों के पांच भेद हैं। इसमें स्त्रियों के विषय में निर्ग्रन्थ भेद नहीं किया। यदि स्त्री निर्ग्रन्थ हो सकती तो उसके भी भेद लिख सकते थे। श्वेताम्बरों के प्राचीनतम ग्रन्थों में स्त्रियों को मुक्ति और स्त्री को निर्ग्रन्थ संयमपणा का वर्णन कहीं पर भी नहीं आता है। श्वेताम्बरों में स्त्रीमुक्ति के विषय में अर्वाचीन लोग ही ज्यादा कथन करते आये हैं। यदि प्राचीन आचार्य स्त्रियों के विषय में मुक्ति का या संयमपणा या निर्ग्रन्थपणा का विषय मान लेते तो फिर तत्वार्थाधिगम सूत्र में कहीं पर विषय आना चाहिये था लेकिन कहीं पर भी नहीं आया है। जैसे निर्ग्रन्थों के पांच भेद किये हैं वहां पर निर्ग्रन्थनियों का भी भेद आना चाहिये था लेकिन ग्रन्थकार को स्त्री-निर्ग्रन्थपणा इष्ट न होने के कारण उन स्त्रियों के विषय में एक भी सूत्र नहीं दिया। वहां पर स्त्रियों के संयमपणाका कोई उल्लेख करने का सूत्र नहीं है। इससे भी सिद्ध होता है कि द्रव्यस्त्रियों को संयमपणा नहीं है।

इस विषय पर प्रोफेसरसाहब को अच्छी तरह से विचार करना चाहिये। उन प्राचीनतम श्वेताम्बर आचार्यों ने ही स्त्रीमुक्ति मान्य नहीं की थी इस लिये प्राचीनतम आचार्यों ने कहीं पर भी सूत्र नहीं

लिखा। तथा जिनकल्पी के अधिकार पुरुष को ही दिये हैं स्त्रियों को नहीं दिये हैं। देखो पढ़ो आचार सूत्र पृ० ११३–५५६ वीं कलममें तथा पृ० १६० में कलम ७२४ वीं पृ० ७२५ कलम ८४१ तक पढ़कर विचार करो।

इसके टीकाकार ने अपने सम्प्रदाय की रक्षा करने के लिये "जिणकप्पिया इत्थी न होई"। अर्थात स्त्री जिनकल्पी नहीं होती है। अर्थात जिनकल्पी का मतलब यह है कि "नग्नदीक्षा" इस नग्न (दिगम्बर) दीक्षा का भार पुरुष ही निभा सकता है स्त्री दिगम्बर दीक्षा का भार नहीं निभा सकती। इस प्रकार श्वेताम्बर ग्रन्थों में ही स्त्री को संयमपणा का निषेध किया है। संयमपणा बिगर-दिगम्बरपणाके आ ही नहीं सकता। फिर श्वेताम्बर समाज में प्राचीनतम आचार्यों ने स्त्रीमुक्ति का निषेध रूप ही विधान किया है। तब प्रोफेसर साहब झगड़ा किस बात पर करेंगे। देखिये प्रकरण रत्नाकर अपर नाम प्रवचन सारोद्धार में तीसरा भाग पृ० ५५४–५५ में लिखा है—

अरहंत चक्कि केशव बलसंभिन्नेय चारणे पुव्वा।
गणहरपुलाय आहारगंच नहु भवियमहिलाणं ॥५२०

अर्थ—अरहन्त (तीर्थंकर) चक्रवर्ती, नारायण, पुलाक, आहारक ऋद्धि आदि दशपद या लब्धि भव्य स्त्रियों को नहीं होते। अब प्रोफेसर साहब विचार करें कि अरहन्त अवस्था जिनको प्राप्त नहीं होती उन स्त्रियों के मुक्ति किस तरह मानोगे? अरहन्तपणा के बिना मुक्ति मिलती हो तो दूसरी बात है। बगैर अ[illegible]पद से या दिगम्बर जैनों के मान्यतानुसार केवलज्ञान के बिना यदि स्त्री को मुक्ति मिलने का विधान श्वेताम्बरों ने किया हो तो बेशक मानो। लेकिन उस मुक्ति को श्वेताम्बरों ने नहीं माना वह सिद्ध होता है। जिनकल्पी के बगैर निर्ग्रन्थता नहीं आती यह भी श्वेताम्बरों ने माना है। देखो जरा आचारांग सूत्र; जिनकल्पी सर्वथा वस्त्र रहित बने और स्थविरकल्पी अल्प वस्त्र धारण करता है। अल्प वस्त्र भी संयमपणा का विरोधी है। इस लिये स्त्री को संयम नहीं होता तो छठा गुणस्थान भी नहीं होता है और ६ गुणस्थान तथा संयम के बिना इसकी निचली अवस्था में अर्थात ६ ठे गुणस्थान के निचली अवस्था में कोई मुक्ति मानी गई हो और उस मुक्ति का अधिकारी श्वेताम्बरों ने कहा हो तो बिलाशक कहो। ऐसी मुक्ति को दिगम्बर मत में मुक्ति के नाम से कहने की प्रथा या रूढ़ि नहीं है।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में और एक अजब, बहुत विचित्र बात देखने में आती है। उस अजब-बात की तरफ प्रोफेसर साहब का दृष्टिकोण लाने के लिये मैं आग्रह करता हूं। देखो 'कुर्मापुत्र चारित्र'नामक ग्रन्थ को—

"कुर्मापुत्र नामक मुनि केवलज्ञान प्राप्त होने पर विचार करता है यदि मैं चारित्र ग्रहण करूं तो पुत्र-शोक में तेरे माता-पिता की मृत्यु हो जायगी ॥१२६
तथाच—

किसी तीर्थंकर को इन्द्र ने पूछा कि यह कुर्मापुत्र केवली महाव्रती कब होगा ॥१७५॥

अर्थात—केवलज्ञान के बाद चारित्र धारण करने का विचार करना तथा चारित्रधारण करने के पहले केवलज्ञान होना तथा केवली होने पर फिर महाव्रत धारण करने की जरूरत क्यों? इन बातों का अच्छी तरह से प्रोफेसर साहब विचार करके उत्तर देंगे तो बड़ा अच्छा हो जायगा।

हे वाचको ! मेरे ख्याल से चौथे गुणस्थानके स्वानुभवरूप सम्यक्त्व की जो अवस्था होती है उसीको लक्ष्य देकर यदि श्वेताम्बर भाईने उस सम्यग्ज्ञानी को (अविरत सम्यग्ज्ञानी को) ही यदि केवली मानते हों तो फिर किसी भी तरहका वाद नहीं रहता ।

हे वाचको ! और एक अजब बात देखिये कि "केवलज्ञान प्राप्त हुए पुरुष को या स्त्री को जैनदीक्षा के लिये शासनदेव कपड़े पहनाते हैं ??? और वस्त्र के बिना केवलज्ञानी अमहाव्रती को तथा अचारित्री कहते नहीं हिचकिचाये । कोई मुनि वस्त्र रहित रहे यह बात उन्हें नहीं रुचती । उनके मतमें वस्त्र-पात्र बिना किसी की गति ही नहीं होती ।"

यह उपरोक्त वाक्य श्वेताम्बर पं० बेचरदासजी के अपनी लिखित "जैनसाहित्य में विकार" नामक पुस्तक के पेज नम्बर ५६ पर है ।

इसमें एक अजब खोज "केवली को जैनी दीक्षा देने की है और वह भी कपड़े सहित । जैनी दीक्षा, तथा केवली होने पर महाव्रत की स्थापना ।" यह विचित्रपना श्वेताम्बर—मान्यता में देखने में आता है ।

हे वाचको ! विचारणीय बात यह है कि केवल ज्ञान तेरहवें गुणस्थान में होता है वह भी सम्पूर्ण रागद्वेष आदि विकार भाव या विभाव भावों का या मोहनीय कर्म ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अंतराय कर्मों का सम्पूर्णपणे से नाश होने पर केवलज्ञान होता है जोकि निरावरण नित्य निर्मल सम्पूर्ण लोक आलोकको, जानने वाला । ऐसा ज्ञान उत्पन्न होने पर जैनी दीक्षा लेनी ? सो कौन सी ? तथा केवल ज्ञान होने पर महाव्रती होना यह भी असम्भव बात है । क्योंकि प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षय—उपशम होजाने पर तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों के उदय होनेपर महाव्रती होता है, यह भाव छठे गुणस्थान में होता है और संज्वलन कषाय का मन्द उदय होजाने के अनंतर अप्रमत्त रूप अवस्था सातवें गुणस्थान में होती है, उसके बाद क्षपक श्रेणी चढ़ने पर तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्राप्त होता है फिर 'केवली महाव्रती कब होगा' इस तरह से प्रश्न तीर्थंकर को पूछना कितनी असम्भव बातें हैं यह आप अच्छी तरह से विचार करके फिर श्वेताम्बर ग्रन्थ में स्त्री को मुक्ति माना है या नहीं तथा श्वेताम्बरों के प्राचीनतम ग्रंथों में स्त्रीमुक्ति के सूत्र कौन से हैं ? सो प्रगट करना ।

प्रोफेसर साहब आप अच्छी तरह से श्वेताम्बरीय प्राचीन ग्रन्थ तथा अर्वाचीन ग्रंथों को देखकर विचार करके तदनन्तर दिगम्बर मतानुयायी को उपदेश करने का प्रयास करना ।

अन्यथा "पंक निमग्नगौरिव" अवस्था हो जाती है ।

स्त्रियों की स्वाभाविक शक्ति पर
— विचार —

हे वाचको ! अब प्रोफेसर साहब इस स्त्रीमुक्ति के ऊपर विश्वास जिन ग्रन्थों पर से रखते हैं ऐसे श्वेताम्बरीय ग्रन्थ स्त्रीमुक्ति के लिये सम्मत हैं क्या ? यह देखना जरूरी है ।

मुक्ति प्राप्त होने के पहिले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्म प्रकृति का अत्यन्त नाश करना चाहिये इस विषय को दिगम्बरीय ग्रन्थ और श्वेताम्बरीय ग्रंथ दोनों ही मानते हैं । हमारे प्रोफेसर साहब को दिगम्बरीय ग्रंथों का हवाला देना व्यर्थ है । क्योंकि उनकी

श्रद्धा उन दिगम्बरीय ग्रन्थों पर नहीं है। यदि ग्रंथों पर श्रद्धा रहती तो उनके हाथ से कदापि स्त्री मुक्ति के विषय में लिखने की जरूरत नहीं पड़ती। श्री धवला जी में अनेक जगह में उसका निषेध मिलता है उसका अनुवाद तो किया है फिर भी लिखना अश्रद्धा का ही निशान है। अब उनकी श्रद्धा यदि श्वेताम्बर ग्रन्थों पर हो तो उनको श्वेताम्बरीय ग्रन्थ दिखाते हैं। यदि उनपर भी श्रद्धा न हो तो फिर नाई सहज है। इसलिये सभाष्य तत्वार्थाधिगम अध्याय १० वां सूत्र नम्बर १—

"मोह—क्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलं ॥१॥"

अर्थ—मोहनीय कर्म का क्षय होने पर और ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म का क्षय होने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन हो जाता है। यह भाष्य भी उपरोक्त अर्थ की ही पुष्टि करता है। और भी विशेष बात यह है कि मोहनीय कर्म का पूरा क्षय होने पर एक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त छद्मस्थ वीतराग अवस्था होती है। तदनन्तर ज्ञानावरण आदि तीन कर्मों का नाश होता है। इस आधार से केवलज्ञान के सिवाय मोक्ष नहीं होती। और केवल ज्ञान होने के पहिले चार कर्मों का नाश अत्यन्त जरूरी है उसके बिना केवलज्ञान नहीं होता। स्त्रियों में मोहनीय कर्म का नाश करने की शक्ति नहीं है। जब तक इन्द्रियों को जीतकर निर्विकल्प रूप शुक्ल-ध्यान नहीं होता तब तक मोहनीय कर्म नाश नहीं होता। स्त्री के इन्द्रियवश नहीं होते अतः स्त्री जितेन्द्रिय नहीं हो सकती। फिर किस तरह से शुक्ल-ध्यान करेगी? कदापि नहीं। यह विचार सत्य है। इस विषय में श्वेताम्बरीय कर्म सिद्धान्त का कथन करने वाला प्रकरण रत्नाकर नामक ग्रन्थ है। उसके ४८१ पृष्ठ पर कहा है कि—

"तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला धीईए इ य अइसेसज्झयणा भूय वाओ अनोच्छीणं।"

अर्थ—दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग स्त्री को नहीं पढ़ाना चाहिये! क्योंकि स्त्री जाति स्वभाव से तुच्छ (हल्की नीच) होती है। इस लिये गर्व (अभिमान घमण्ड) बहुत करती है। विद्या को पचा नहीं सकती। उसकी इन्द्रियां चञ्चल होती हैं वह स्त्री जितेन्द्रिय नहीं हो सकती। स्त्री दुबली होती है। बुद्धि हल्की होती है। इस लिये अतिशययुक्त पाठ स्त्रियों को पढ़ाना निषिद्ध है। दृष्टिवाद अङ्ग के पांच अधिकारों में से चौथा अधिकार चौदहपूर्व है। इस उपरोक्त सूत्र गाथा से यह सिद्ध होता है कि १४ पूर्वों को पढ़ने का अधिकार श्वेताम्बरीयाचार्यों ने स्त्रियों को नहीं दिया फिर वह स्त्री केवलज्ञान किस तरह से उत्पन्न कर सकती है? अर्थात नहीं।

शंकाकार—चौदह पूर्वके पढ़े बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता ऐसा कुछ नियम है क्या?

उत्तर—केवल होने के लिये चौदह पूर्वोंको पढ़ने की जरूरत नहीं। यहां पर मैंने यह कथन किया है कि स्त्रियों की बुद्धि चञ्चल होती है। जितेन्द्रिय नहीं हो सकती। इस लिये उनका मन स्थिर नहीं होता, शुक्लध्यान नहीं होता। जब उसे चौदह पूर्वों के पढ़ने का अधिकार नहीं तो फिर दिगम्बर दीक्षा व शुक्लध्यान करने का अधिकार कदापि नहीं आ सकता। इस लिये स्त्रियों को केवलज्ञान नहीं होता। और मोक्ष भी स्त्रियों को नहीं होती यह अच्छी तरह से श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से सिद्ध होता है। स्त्री का स्वभाव तुच्छ है। गर्वयुक्त है, चञ्चलेन्द्रिय है। ऐसे

जो ये विशेषण दिये इन विशेषण युक्त व्यक्तियों को संयमाधिकार नहीं है। फिर प्रमत्तसंयत नामक छठा गुणस्थान कहां से होगा? नहीं होता। यदि पढ़ने का अधिकार भी दिया तो स्त्रियोंको पूर्वज्ञान होता नहीं अर्थात् पूर्वज्ञान प्राप्त कर लेने की शक्ति ही नहीं यह स्वाभाविक स्वयं सिद्ध है फिर केवलज्ञान कैसे होगा। और मोक्ष भी कैसा होगी? कदापि नहीं होगी।

अब जब के इन्द्रियां उनके काबू में नहीं आती तो उनको संयम का अधिकार भी कैसे आवेगा? जो इंद्रियों को जीतेगा वही संयम धारण कर सकता है। संयम पालना सुलभ नहीं है कि जिनकी इंद्रियां भी अपने काबू में नहीं आतीं उनको भी यदि संयम मानोगे तो फिर पशु और असज्ञी जीवादिकों को भी संयम मानने तथा मोक्ष मानने में क्या हर्ज है? यदि यही संमत होगा तो फिर गृहस्थ और मुनि या भिक्षु आदि भेद करने की जरूरी भी क्या है? इस लिये यह सिद्ध होता है कि स्त्रियां संयमाधिकारिणी नहीं है। व्यवहार शास्त्र में भी कहा है कि—

औदुम्बरस्य पुष्पाणि श्वेतवर्णं च वायसम्।
मत्स्यपादं जले पश्येन् नारीहृदयं न पश्यति॥

अर्थात्—औदुम्बर के फूल इस जगत में दिखते नहीं वह भी देखने में आवें तथा श्वेत (सफेद) रंग का कौवा भी इस भूमि में नहीं है वह भी कदाचित देख सकेंगे तथा मच्छों के पाद या जल में मच्छ घूमते समय उनके पैर के निशान भी कभी इस संसार में देखने में नहीं आते कदाचित वह भी देखने में आवें। लेकिन स्त्रियोंके हृदय को कभी भी नहीं देख सकते। ऐसे स्वाभाविक चंचल हृदय वाली स्त्री होती है। वह क्या महाशक्ति-शाली का भार रूप संयमभाव सह सकती है? कदापि नहीं। उसी तरह मान भी जिसके पास भरपूर है वह स्त्री संयमधारी कदापि नहीं हो सकती। तथा जो स्त्री गम्भीर स्वभाव की नहीं होती वह फिर संयम किस तरह से पाल सकती है? कदापि नहीं। जिसका मन स्थिर नहीं ऐसे चंचल-चित्त वालों को (स्त्रियों को) जब चौदह पूर्व श्रुत का ज्ञान भी नहीं होता है ऐसा माना है फिर उसी चल-चित्त वाली स्त्री को मोक्ष या मुक्ति मानना बड़ा भारी भूलरूप भ्रम है ऐसे भ्रम वाले को तत्वज्ञान होना भी दुर्लभ है।

अब प्रोफेसर साहब को विचार करना चाहिये कि श्वेताम्बर ग्रन्थों से भी जब स्त्रीमुक्ति सिद्ध नहीं होती तो फिर किस ग्रन्थ से स्त्रीमुक्ति मान्य होती है? यदि कहोगे षट्खण्डागम से सिद्ध होती है तो वह भी नहीं होती क्योंकि श्री षट्खण्डागमकी प्रथम जि० सूत्र नम्बर ९३ में स्पष्ट निषेध किया है कि उस स्त्रीको छठा गुणस्थान होता नहीं, संयमभाव होता नहीं क्योंकि यदि कपड़े वालों को भी संयम होगा तो बाल-बच्चों तथा स्त्री भी रहने पर संयमपणा होना चाहिये ऐसा होने पर स्थविर कल्प साधुपने की भी क्या आवश्यकता है? यह प्रोफेसर साहब स्पष्ट कहेंगे क्या?

हमारे प्राचीन दिगम्बर आचार्यों ने स्त्री को संयम नहीं होता ऐसा सूत्र बनाया है देखो श्री षट्-खण्डागम सूत्र नम्बर ९३—

"सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजद सम्माइट्ठि-संजदा-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥"

इस सूत्र में ही द्रव्यस्त्री को संयमभाव होने का निषेध स्पष्ट रूप से किया है। नियम शब्द लगा कर दृढ़रूप से द्रव्यस्त्री को संयमपणा नहीं होता छठा गुणस्थान नहीं होता ऐसा लिखा है। फिर

यदि आगे द्रव्यस्त्री को १४ गुणस्थान मानने का सूत्र कहेंगे तो पूर्वापर विरोध वाक्य होने से दोष आता है। अभी तक जितने भी दिगम्बराचार्य प्राचीन काल के या अर्वाचीन काल के हो गये हैं उनके वचन में तात्विक रूप में कहीं पर भी पूर्वापर विरोध वाक्य नहीं है। हमारे परम पूज्य भूतबली पुष्पदंत आचार्य पूर्वापर विरोध वाक्य कभी भी नहीं लिख सकते यह निश्चय मानना चाहिये। हां अर्थ करते समय में इन सब बातों का भी ख्याल रखते हुये अर्थ करना चाहिये। अन्यथा वस्तुतः अर्थ सिद्ध नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि अब श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी 'मूर्च्छा परिग्रहः' यह सूत्र आया है और स्त्री को मूर्च्छा कपड़ों पर रहती है और मूर्च्छा परिग्रह वाले जीव छठे गुणस्थान में हैं या पांचवें के ऊपर नहीं जा सकते। वे जीव पांचवें गुणस्थान में ही रहते हैं। ऐसा स्पष्ट दिगम्बर और श्वेताम्बर सूत्र विद्यमान होते हुए भी जबरदस्ती से स्त्रीमुक्ति मान्यता मानना नितान्त भूल है। श्वेताम्बर शास्त्रों में कई जगह ये पूर्वापर विरोध वाक्य है। फिर भी उनको प्रमाण मानना कहां तक ठीक है। तत्वार्थसूत्र में या षट्खण्डागम आदि सूत्र में या भी कुन्दकुन्दादि के वचन में श्वेताम्बरों को संशय—मिथ्यात्वी ऐसा क्यों नहीं कहा? उनके ग्रन्थ ही उस समय में विद्यमान नहीं थे। उस समय इस तरह के चर्चा खण्डन मण्डन आदि का नहीं थी। इस लिये अपने ग्रन्थों में सामान्य रूप से कथन करते गये और अब श्वेताम्बरों ने अपने सूत्रों को पुस्तक रूप से स्पष्टतः प्रगट किया। उनके बाद के आचार्यों ने श्वेताम्बरों को संशय मिथ्यादृष्टि कहा। यह बात अनुमान से सिद्ध है।

अब श्वेताम्बरीय ग्रंथ तत्वार्थाधिगम सूत्र में 'मूर्च्छा परिग्रहः" यह सूत्र बनाया फिर परिग्रह का और असंयमपना का अविनाभावी सम्बन्ध है या नहीं? यह प्रथम देखना चाहिये। यदि मूर्च्छा रूप परिग्रहभाव का और असंयम भाव का अविनाभावी सम्बन्ध नहीं मान लिया जाय तो सन्यासी बनना जिनकल्पी और स्थविरकल्पी मुनि को मानना ठीक नहीं है। क्योंकि मूर्च्छा भाव रहते हुये भी केवलज्ञान होता है। ऐसी मान्यता आ जावेगी और मूर्च्छा भाव के बिना भी यदि वस्त्रादिक को ग्रहण करने की भावना रहती है ऐसा मानोगे तो फिर स्त्री पुत्रादि या धनादि होते हुये भी गृहस्थों को भी संयमपणा मानना चाहिये इस तरह दोनों तरह से आपत्ति आती है।

दिगम्बरत्व की प्राचीनता के विषय में हिन्दू मुस्लिम ग्रन्थों का प्रमाण

हे वाचको! आपको विचारपूर्वक दिगम्बर और और श्वेताम्बर की प्राचीनता तथा पवित्रता के विषय में खोज करना जरूरी है। और खोज करते समय में इन दोनों के ग्रन्थों को छोड़कर (दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों को छोड़कर) अन्य मतावलम्बी ग्रन्थों में इस विषय में क्या प्रमाण मिलता है यह प्रमाण देखना भी जरूरी है। अन्य ग्रन्थों में भी ऋषभदेव को नग्न मानते हैं या वस्त्रधारी मानते हैं यह देखना जरूरी है। श्री भागवतपुराण में भी ऋषभ अवतार के सम्बन्ध में कहा है—

"बर्हिषी तस्मिन्नेव विष्णुभगवान् परम ऋषिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रम-

ज्ञानां ऊर्ध्वरेतसां ... अवततार।

अर्थ—हे राजन् परीक्षित! उस यज्ञमें परम ऋषियों करके प्रसन्न हो नाभि के प्रिय करने की इच्छा से वाके अन्तःपुर में मरुदेवी में धर्म दिखाने की कामना करके रहिवेवारे तपस्वी ज्ञानी नैष्ठिक ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता ऋषियों को उपदेश देने को शुक्ल वर्ण की देह धार श्री ऋषभदेव नाम का (विष्णुने) अवतार लिया।

वेद में भी श्री महावीर स्वामी के विषय में क्या लिखा है यह देखिये यजुर्वेद अ० १९ मन्त्र १४ में कहा है—

"आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः।
रूपमुपसदामेतत्तिस्रो रात्री सुरासुता॥

अर्थ—अतिथि के भाव महिने तक रहने वाले महावीर व्यक्ति के नग्न रूप की उपासना करो। जिससे ये तीनों मिथ्या ज्ञान दर्शन चारित्र रूपी मद नष्ट हो जाती हैं। इस प्रमाण से यह मालुम होता है कि मिथ्या ज्ञानादिकों को नाश करके परब्रह्म परमात्मा बनने के लिये पराक्रमशील महावीर के नग्नता की उपासना करने को उपदेश दिया है। उसी तरह अथर्वेद के १५ वें अध्याय में जिन व्रात्य और महाव्रात्य का उल्लेख है उनमें जिनव्रात्य का यानी जिनेश्वर तीर्थंकर का ही अर्थ है। महाव्रात्य का अर्थ है महाव्रतधारी नग्न दिगम्बर उसीका उल्लेख है।

और भी लिंग पुराण में अध्याय ४७ में उल्लेख है। देखिये—

सर्वात्मनात्मनि स्थाप्य परमात्मानमीश्वरं।
नग्नो जटो निराहारो चीरीध्वांतगतो हि सः॥

अर्थ—अपने आत्मा में अपने आत्मा के द्वारा अपने परमात्मा स्वरूप ईश्वर को स्थापन करके नग्न रूप निराहार वस्त्र रहित अवस्था में पहुंचा है। ऐसे अनेक स्थलों में वर्णन आता है। और अनेक स्थल में 'मैं दिगम्बर अवस्था में कब पहुंचूंगा ऐसी भावना की है*।' कारण यह है कि सर्वोच्च कोटि की परम पवित्र अवस्था तो दिगम्बरत्व ही है। इस पर भी अनेक मनचले लोग दिगम्बरत्व के ऊपर आघात करने के लिये कमर बांध कर प्रयत्न करने वाले हमारे समाज में उत्पन्न हो गये हैं। आश्चर्य है। इनकी बुद्धि को और भावना को। मराठी में एक उक्ति है कि "कुल्हाडीचा दांडा गोत्राला काळ" अर्थात् कुल्हाड़ी का डण्डा जो है वही अपने गोत्र वाले पड़ौसी का सत्यानाश करने को निमित्त होता है।

ईसवी तीसरी शताब्दी में जब सिकन्दर बादशाह ने भारत पर आक्रमण किया था तब उस समय में भी जैन दिगम्बर (नग्न) साधु रहते थे। अरस्तु का भतीजा स्यिडो कलिसथेनस सिकन्दर महान के साथ आया था और वह बताता है कि ब्राह्मणों का श्रमणों की तरह कोई संघ नहीं। उनके साधु प्रकृति की अवस्था में नग्न नदी किनारे रहते हैं, नंगे घूमते हैं। न उनके पास चारपाई है। इत्यादि लिखा है। देखिये पुस्तक ह्युयेनसांग का भारत-भ्रमण (श्री ठाकुरप्रसाद शर्मा, इंडियन प्रेस प्रयाग

---

* भर्तृहरि ने कहा है कि—

एकाकी निस्पृहः शांतः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शंभो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥

अर्थ मैं एकाकी निष्परिग्रही निस्पृही इच्छारहित शांत स्वरूप पाणिपात्री दिगम्बर अवस्था को जो कि कर्म का निर्मूल नाश करने वाली अवस्था है कब पहुंचूंगा।

१९२६ ई०) पृ० ३७०

इस्लामधर्म में भी दिगम्बरत्व को महत्व देते हैं—

इस्लामधर्म के संस्थापक पैगम्बर हजरत मुहम्मद ने खुद फर्माया है कि "संसार का प्रेम ही सारे पाप की जड़ है। संसार [संसार] के लिये एक कैद-खाना और कहत के समान है। और जब वे इसको छोड़ देते हैं तब तुम कह सकते हो कि उन्होंने कहत और कैदखानेको छोड़ दिया। संसार में त्याग और वैराग्य को छोड़कर और सुन्दर वस्तु जगतमें नहीं है।

हजरत मुहम्मद पैगम्बर ने स्वयं उसके अनुसार अपना जीवन बनाने का यथा-सम्भव प्रयत्न किया था। उसपर भी उनके कमसे कम वस्त्रों का परि-धान और हाथ की अंगूठी उनकी नमाज में बाधक हुई थी। त्याग का महत्व मुस्लिम लोगों में भी कितना है यह देखिये।

इस्लाम सूफी तत्ववेत्ताओं के भाग में आया था उनने त्याग धर्म का उपदेश स्पष्ट शब्दों में कहा था। "दुनिया का सम्बन्ध त्याग देना, तर्क देना, उसकी आसाइशों और पोशाक सब ही चीजों को अबको और आगे की, पैगम्बर साहब की हदीस के मुताबिक। सूफी तत्ववेत्ता "मनवी" नामक ग्रन्थ के रचयिता जलालुद्दीन रूमीने दिगम्बरत्व का खुला विधान निम्न प्रकार किया है।

(१) गुफ्तमस्त ऐ महतब बगुजार रव-
अज बिरहना केतवां बुरदन गरव।

(जिल्द २ सफा नम्बर २६२)

(२) "जामा पोशां रा नजर परगाजरास्त—
जाने अरियां रा तजल्ली जेवर अस्त।"

(जिल्द २ सफा २६२)

(३) 'याज अरियानान बयकसूवाज रव—
या चूं इशां फरिग व बेजामाशव।"

(४) "वरनमी ताती कि कुल अरियां शवी।
जामा कम कुन तारह औसत रवी॥"

(जिल्द २ सफा ३८३)

इन चारों का उर्दू में अनुवाद "इल्हामे मंजुम" नामक पुस्तक में इस प्रकार दिया है।

१-मस्त बोला, महतब कर काम जा।
होगा क्या नंगे से क्या तूं अहदे बर आ।

२-है नजर धोबी पै जामे पोश की—
है तजल्ली जेवर अरिया तनी !!

३-या बिरहनों से बयक्सू बाकई-
या हो उनकी तरह बेजामे अरवी !

४-मुतलकन अरिया जो हो सकता नहीं-
कपड़े कम यह है कि औसत कम करो !!

इसकार उपरोक्त आधार से यह सिद्ध होता है कि हर एक धर्म वाले दिगम्बर अवस्था को महान अवस्था मानते हैं और उसी दिगम्बरपने से स्वभा-वाआनंदी हो सकता है, ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है। प्रो-फेसर साहब ! श्वेताम्बर तथा हिन्दू मत में और मुस्लिम मत भी दिगम्बर अवस्था को महत्व दिया है और दिगम्बरत्वसे मुक्ति मानी है। फिर आप बिना कारण इस झगड़े में क्यों पड़े हैं ? क्या श्वेताम्बर ग्रंथों से भी तथा सवस्त्रमुक्ति सिद्धि होती है ? कदापि नहीं। अब आगे दिगम्बरत्व अति प्राचीन काल से चला आया है और आगे पंचमकालके अन्त तक रहे-गा ही।

ग्रन्थों में 'जिनकल्पी साधु के बिना मोक्ष नहीं जा सकता।' ऐसा कई जगह लिखा है।

राजा सिकन्दर महान के काल में दिगम्बरधर्म

और दिगम्बर मुनि थे—

जिस समय अन्तिम नन्दराजा भारत में राज्य कर रहा था उस समय पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त पर यूनान का वीर प्रतापी योद्धा सिकन्दर अपना सिक्का जमा रहा था। जब वह तक्षशिला पहुंचा तो उस ने दिगम्बर मुनियों की बहुत प्रशंसा सुनी और अपना दूत जो "अन्हा कृतस" नामक था उसको दिगम्बर मुनियों के पास भेजा। उसने देखा तो तक्षशिला के पास उद्यान में बहुत नग्न दिगम्बर मुनि तपस्या कर रहे थे। उनमें से एक कल्याण नामक मुनि के साथ बातचीत हुई। दिगम्बर मुनि कल्याण ने अन्हा कृतस को कहा कि तुम हमारी तपस्या का रहस्य समझना चाहते हो तो हमारे सरीखे हो जावो। अन्हा कृतस दिगम्बर दीक्षा लेने के समर्थ (योग्य) नहीं था। आखिर उसने भी सिकन्दर महान के पास जाकर दिगम्बरों के ज्ञान की बहुत प्रशंसा की। सिकन्दर उससे बड़ा प्रभावित होकर ऐसे तपोधनों का हमारे यहां आगमन होना चाहिये ऐसा कहकर अपने देश में उन साधु दिगम्बर मुनि कल्याण को ले जाना चाहा। लेकिन अन्त में ईरान में ही सिकन्दर महान का देहावसान हुआ। उसी समय में दिगम्बर मुनि कल्याण के पास उसने जैन सल्लेखना व्रत को धारण किया था। ऐसा इतिहास है।

ईसवी सन पूर्व प्रथम शताब्दी में भारत में अपोलो और दमस नामक दो तत्ववेत्ता आये थे उन का तत्कालीन दिगम्बर मुनियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ था और वे दोनों दिगम्बर तत्वों से प्रभावित हुये थे।

इस तरह अनेक प्रकार से दिगम्बरत्वका श्रेष्ठपणा और दिगम्बरत्व की परम्परा बराबर चली आ रही है यह सिद्ध होता है। दिगम्बर मुद्रा के बगैर मोक्ष नहीं होता यह भी भली भांति सिद्ध होता है।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी सवस्त्र मुक्ति नहीं मानी है क्योंकि यदि कपड़ेधारियों को केवलज्ञान हो गया तो देव आकर उनको दिगम्बर दीक्षा देते हैं। जिन-कल्पी में ही मोक्ष होता है ऐसा लिखा है।

सवस्त्रमुक्ति मानना कितना भूलभरा भ्रम है। ये वाचकवृन्द ही देखें और उस पर विचार करें। यदि कपड़ों से सहित होकर भी केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं तो जिनकल्पी साधु मानने की जरूरत ही क्या थी दूसरी बात भी विचारिये कि दिगम्बर दीक्षा बड़े बड़े राजपुरुषों ने क्यों ली ? जो इतिहास में प्रसिद्ध हैं ? श्वेताम्बर—मतोत्पत्ति के पहिले भी दिगम्बर मुनि थे और बड़ेबड़े ज्ञानी थे, विदेश में भी जैनधर्म का प्रचार किया। इस इतिहास से भी दिगम्बरत्व की महत्ता सिद्ध होती है।

इस तरह परम्परा से दिगम्बरत्व श्री आदिनाथ तीर्थंकर से लेकर इस समय तक चला आया है यह अच्छी तरह से अन्य मतावलम्बियोंके प्रमाण वाक्यों से लिखा है। इस विषय में बहुत इतिहास प्रसिद्ध हैं। अनेकों शिलालेख मौजूद हैं। अन्य मताव-लम्बियों के शास्त्र मौजूद हैं। खुद श्वेताम्बर मत में भी जिनकल्प से ही मुक्ति होना माना है फिर वाद का प्रश्न ही नहीं रहता। इतना स्पष्ट प्रमाण प्रोफेसर जीके सामने रखा है। उन्हें इन प्रमाणों को शांतचित्त से देखकर अपना मत बनाना चाहिये। बिना कारण अपनी पूजा प्रख्याति के लिये दिगम्बर आचार्यों के ऊपर धूलि फेंकने की निन्द्य चेष्टा कदापि न करें। अब अन्य बौद्ध आदि ग्रन्थों के प्रमाण से भी दिगम्बरपणा सिद्ध करते हैं।

बौद्ध ग्रन्थों के प्रमाण से दिगम्बरता का —प्रमाण—

हे वाचको ! आज कल मत मतान्तर बहुत हैं, अपने अपने ग्रंथों की प्रमाणता से यदि कोई सिद्ध करता है तो उसको पक्षपात कहा जासकता है। लेकिन अन्य मतों की प्रमाणता से सिद्ध करने पर कोई भी नहीं बोल सकता। इस लिये हम अब श्री भगवान महावीर के समकालीन हुये बौद्धों के मत में या उनके रचित ग्रंथों में क्या प्रमाण है सो दिखाते है।

बौद्धों में मज्झिमनिकाय नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और वह उनके मत में बहुत प्रमाण माना जाता है। उस ग्रन्थमें भी श्री महावीर प्रभु का विषय आया है सो देखिये—

"निग्गंठो आवुसो नाथपुत्तो सब्बञ्ञू, सब्बदस्सावि अपरिसेसं णाण दस्सनं परिजानाति ॥

—मज्झिमनिकाय

अर्थ—निर्ग्रन्थ रूपधारी नाथपुत्र (श्री महावीर भगवान) सर्वज्ञ सर्वदर्शी और सम्पूर्ण पदार्थों को देखने वाले और जानने वाले थे। तथा च—

निग्गंठो नातपुत्तो संघी चेव गणी च गणाचार्यो च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधुसंमतो बहुजनस्स रत्तञ्ञू चिरपब्बजितो अद्धगतो वयो अनुपत्त ॥

—दीर्घनिकाय

अर्थ—निर्ग्रंथलिंगधारी ज्ञातपुत्र (बौद्ध ग्रंथों में श्री महावीर तीर्थंकर को ज्ञातपुत्र कहते हैं। कारण भगवान नाथवंश में उत्पन्न हुए थे। इस लिये उनको ज्ञातपुत्र कहा है) संघ के नेता हैं, गणाचार्य हैं, दर्शन विषय के प्रणेता हैं। विशेष विख्यात हैं। तीर्थंकर हैं। बहुत मनुष्यों द्वारा पूजित हैं। अनुभव शील हैं। बहुत काल से साधु अवस्था को करते आ रहे हैं और अधिक वयप्राप्त हैं।

इन उपरोक्त आधारों पर प्रोफेसर साहब अच्छी तरह से विचार करके देखें कि अजैन ग्रन्थों में भी दिगम्बरत्व की महिमा गायी गयी है।

सम्राट चन्द्रगुप्त भी दिगम्बर हो गया था

वाचकवृन्द ! आप विचार कर देखिये कि इतिहास में क्या प्रमाण है ? सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी दिगम्बर दीक्षा धारण की थी। वह सम्राट क्षत्रियों में श्रेष्ठ गिना जाता था।

"मउडधरेसु चरिमो जिणदिक्खं धरदि चंदगुत्तो य तत्तो मउडधरा दुप्पव्वज्जं णेव गिण्हंति ॥१४८१॥

—त्रिलोकप्रज्ञप्ति

अर्थात—चन्द्रगुप्त राजाने भी जिनदीक्षा (दिगम्बर दीक्षा) धारण की थी। वही सम्राट अन्तिम था अर्थात उसके बाद सम्राट रूप जैन राजा ने दिगम्बर दीक्षा धारण नहीं की। ऐसा आचार्य निकलता है। चन्द्रगुप्त दिगम्बर था इस लिये यूनानी राजदूत मेगास्थनीज ने भी कथन किया है। देखो—

सम्राट चन्द्रगुप्त ने अपने बृहत्साम्राज्य में दि० मुनियों के विहार और दिगम्बर धर्म का प्रचार खूब कराया था। उसी समय में १२ वर्ष का महादुष्काल पड़ा था। तदनन्तर श्वेताम्बरों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार इतिहास भी दिगम्बरत्व की ही निर्मलता तथा प्राचीनता को भली भांति सिद्ध करता है।

इन सब बातों का प्रोफेसर साहब को निर्मल बुद्धि से विचार करके अपने हठवाद को छोड़ना चाहिये।

हे वाचको ! अब प्रोफेसर हीरालाल कथित सवस्त्रलिंग से मुक्ति के विषय में विचार करना

जरूरी है। वास्तविक रूप से विचार किया जाय तो भी भगवती आराधना में दिगम्बर मुनि को कपड़ा लेने का विधान कहीं पर भी नहीं मिलता है। क्योंकि दिगम्बर मुनि के या निर्ग्रंथ के अपवाद मुनि और औत्सर्गिक मुनि मानना भूल है। पूज्य श्री शिव-कोटि आचार्य ने दो तरह के लिंग का कथन किया है। एक उत्सर्गलिंग और दूसरा अपवादलिंग।

उत्सर्गलिंग के विषय में आपने स्पष्ट किया है कि वह दिगम्बर अवस्था धारण करते हैं। इसमें किसी तरह का भी विवाद नहीं है। जब विवाद है सो अपवादलिंग के विषय में है। वास्तविक रूपसे देखा जाय तो अपवादलिंग का चिन्ह सग्रन्थ रूप का है। अपवाद शब्द का अर्थ 'सग्रन्थ' है। अपवाद का धारक कपड़े—वाला होता है। और कपड़ा त्याग करने की शक्ति जिनको नहीं रहती या लज्जावान हैं नग्नरूप को धारण करने की शक्ति जिनमें नहीं है। लज्जाशील हैं। उनको कभी भी दिगम्बर दीक्षा देने की आज्ञा नहीं है। तथा शीत बाधादिकों को सहन करने की भी शक्ति जिनको नहीं है ऐसे पुरुषों को भी दिगम्बर दीक्षा देने की आज्ञा कहीं नहीं है।

इसी तरह जिनके लिंगदोष है अर्थात् लिंग के कई दोष माने गये हैं जिसका पुल्लिङ्ग चिन्ह-लिंग अति दीर्घ हो, अति लघु हो, उत्थानशील हो या जिसके अग्रभाग में चर्म न हो तथा वृषण (अंड) वृद्धि होकर मोटे हुये हों ये दोष जिसके पुरुषांगमें हैं उस पुरुषको दिगम्बर दीक्षा देनेकी आज्ञा नहीं है। ऐसे पुरुषों को वैराग्य होने पर उनको दीक्षा दे सकते हैं लेकिन दिगम्बर दीक्षा नहीं दे सकते। उनको क्षुल्लक दीक्षा या ऐलक दीक्षा दे सकते हैं। और क्षुल्लक-ऐलकों को ही अपवाद मुनि कहते हैं ऐसा उनका दूसरा नाम है।

जो दिगम्बर दीक्षा लेकर पुनः कपड़ा लेता है वह भ्रष्टपना है। ऐसे भ्रष्टपने से कभी भी निर्ग्रंथ मुनिधर्म नहीं रह सकता है। इस लिये जो कोई दिगम्बर दीक्षा लेकर फिर भी कपड़ा लेगा सो भ्रष्ट है। जो ऐसे कपड़े लेकर 'मैं मुनि हूं' ऐसा समझेगा तो उस मुनि को मिथ्यात्वी कहना चाहिये। ऐसा विधान श्री श्रुतसागराचार्य ने षट्प्राभृत की टीका में लिखा है।

"अपवाद—वेषधरन्नपि मिथ्यादृष्टिः ज्ञातव्यः। कोऽयं अपवाद—वेषः? मंडपदुर्गे श्री वसंत कीर्ति-स्वामिना भाषितः काले कि[illegible]यो नग्नरूपं दृष्ट्वा उपसर्गं कुर्वन्ति तेन चर्यावेलादिकसमये तट्टीसा-दादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यावेलादिकं कृत्वा पुनस्त-न्मुञ्चति सोऽपवाद वेषः इति।

शायद प्रोफेसर साहेब इसको प्रमाण न मानते हों क्योंकि यह षट्प्राभृत ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत है। श्री [illegible]कुन्दाचार्य ने निर्ग्रन्थता के ऊपर बहुत जोर दिया है। और प्रोफेसर साहब का कहना है कि निर्ग्रंथ (दिगम्बरत्व) के विषय में ज्यादा मतभेद और झगड़ा श्री [illegible]कुन्दाचार्य ने किया है। उनके पहिले नहीं था। ऐसा स्पष्ट लिखा है। इससे एक ध्वनि प्रतीत होती है।

प्रो० हीरालाल जी कुन्दकुन्दाचार्य के पहिले हुये आचार्यों का प्रमाण [illegible] मानते हैं। और कुन्द-कुन्दाचार्य के बाद के होने वाले आचार्यों को प्रमाण कोटि में नहीं मानते हैं। लेकिन प्रोफेसर साहब को श्री [illegible]कुन्दाचार्य के पहिले आचार्य के वचन का प्रमाण इस अपवाद लिंग में देना चाहिये था लेकिन

नहीं दिया। क्योंकि जैन दिगम्बरों में अपवादलिंग धारी दिगम्बर मुनि मानने की प्रथा अभी तक नहीं है तो फिर कुन्दकुन्दाचार्य के पहिले कहां से मिलेंगे। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तो स्पष्ट तरह से कहा है कि जो दिगम्बर दीक्षा लेकर तिलतुषमात्र भी यदि परिग्रह पास रखेगा तो वह निगोद में जायगा इतना स्पष्ट उल्लेख होने पर तो फिर उनके आम्नाय के मुनि लोग या आचार्य कपड़े धारण करने की आज्ञा देकर उनको अपवादलिंगी कहने की विरुद्ध प्रथा कभी भी नहीं निकाल सकेंगे। यदि कारणवश कहां किसी ने कहा भी है कि मयरूप दुर्ग नगर में मुनियों के ऊपर उपसर्ग हुआ और संघनायकने कपड़े धारण करके फिर उसको छोड़ा। ऐसे आपत्तिकाल में करने से अपवाद वेष मानो ऐसा कहा है। लेकिन मुनिमें अपवाद वेष मानना मिथ्यात्व है ऐसा प्रमाण षट्प्राभृत में है।

अपवाद वेषी क्षुल्लक ऐलकों को और कपड़ाधारी आर्यिका को कहते हैं। ऐसा स्पष्ट उल्लेख है देखो मेधावी कृत श्रावकाचार या सागारधर्मामृत आदि ग्रंथों को। इन ग्रन्थों से पता लगता है कि अपवाद वेष वाले ऐलक क्षुल्लकादि हैं यदि अपवादशब्द का अर्थ दिगम्बर मुनि ऐसा क्षणभर ग्रहण कर के विचार करने पर अच्छी तरह से खुलासा हो सकता है। दिगम्बर दीक्षा लेने पर कपड़ा ग्रहण करना दोष है या नहीं? यदि दोष नहीं है ऐसा मानोगे तो भी आदिकों को ग्रहण करने पर भी दोष नहीं मानना चाहिये। यदि कहोगे दोष नहीं है सिर्फ लज्जा के कारण या शीत बाधादिक सहन करने की शक्ति न होने के कारण या जिसका दोष के कारण कपड़ा लेने से दोष नहीं ऐसा मानोगे तो भी

में उसी तरह बन जाता है। कामवासना दबानेकी शक्ति न होने पर स्त्री रख ले तो भी दोष नहीं होना चाहिये क्योंकि दोनों जगह में कमजोरी का हेतु समान है।

उसी तरह क्षुधापरीषह सहन करने की शक्ति नहीं है तो रात को भूख लगने से रात को खा लिया जाय तो भी दोष नहीं आवेगा क्योंकि कमजोरी का हेतु वहां पर उपस्थित है। उसी तरह कमजोरी या शक्ति का अभाव या रोगादिक हेतु मानने में अनर्थ के ये हेतु विद्यमान हैं फिर श्रावक और मुनि ये दो भेद भी कदापि सिद्ध नहीं होंगे। प्रोफेसर साहब आप पढ़े हैं अनपढ़ नहीं हैं थोड़ा मनीषा का उपयोग करके विचार करो फिर जैनशास्त्र में उत्सर्गलिंग और अपवादलिंग का कथन करो।

प्रोफेसर साहब ! आप तो श्री कुन्दकुन्दाचार्य के बाद के आचार्य को प्रमाण न मानते हुये भी भगवती आराधना की टीका जो कि श्वेताम्बराचार्य कृत है, का प्रमाण देकर मुनिको कपड़ा रखनेका विधान करते हैं ऐसे ग्रन्थ को जो कि अर्वाचीन ऐसे विजयाचार्य श्वेताम्बर कृत है कैसे प्रमाण माना है? यह समझ में नहीं आता।

कपड़ा धारण करने से मानसिक अधःपतन होता है यह अच्छी तरह से श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ग्रन्थों को मान्य है। श्वेताम्बर ग्रन्थ भी इस बात को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं कि कपड़ा रखनेसे कपड़े के ऊपर मोह रहता है। इस लिये चिन्ता रहती है। उस चिन्ता से अच्छी तरह से तप भी नहीं होता है। मनकी निश्चल वृत्ति नहीं होती है। निश्चल वृत्ति के अभाव से सफलता भी नहीं होता यह अच्छी तरह से जानो। देखो श्री हरिभद्रसूरि

जी ने अपने प्रकरण सम्बोध में उल्लेख किया है।

कीवो न कुणइ लोयं लज्जइ पडिमाइ जल्लमवणेइ
सो वाहणोय हिंडइ बंधइ कडिपट्टयमकज्जे ॥

—सम्बोध पृ० १४

अर्थ—अपने समय के कुसाधुओं के स्वरूप दर्शाते हुवे श्री हरिभद्र सूरि ने उपरोक्त गाथा में बतलाया है कि क्लीव दुर्बल श्रमण लोच नहीं करते प्रतिमा . न करते शर्माते हैं, शरीर पर का मल उतारते हैं, पैरों में जूता पहनकर चलते हैं और बिना प्रयोजन कटि वस्त्र बांधते हैं।

उक्तं च आचारांगसूत्रे—

(१) जे अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवइ। परिजुण्णे मे वत्थे, वत्थं जाइस्सामि सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि सिविस्सामि उक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि पाउणिस्सामि ॥३६१॥

अर्थ—जो साधु वस्त्र नहीं रखता है उसे यह चिन्ता नहीं होती कि मेरा वस्त्र फट गया है, दूसरा वस्त्र मांगना पड़ेगा, सूत मांगना पड़ेगा, सूई मांगनी पड़ेगी, वस्त्र सीना पड़ेगा, पहनना पड़ेगा इत्यादि।

तथा च—

अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसमसक फासा फुसंति एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति। अचेले लाघवं आगममाणे तवेसे अभिसमन्नागए भवति ॥३६१॥

अर्थ—वस्त्ररहित रहने वाले मुनियों को कदाचित् तृणस्पर्श, ठंडी, ताप लगने, डांस मच्छर वगैरह का कष्ट सहना पड़े ऐसा करने से निर्बाधिकता तपश्चर्या प्राप्त होती है॥ तथा च—

जहेयं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया ॥३६२॥

अर्थ—अतः जो भगवान ने कथन किया है उसी को समझकर ज्यों का त्यों सब जगह समझकर जानते रहना चाहिये। भावार्थ-इस गाथा सूत्र से भगवान ने नग्न (वस्त्ररहित) होकर तपश्चर्या करने का उपदेश दिया है इससे साफ मालूम होता है।

फिर किस महात्मा ने वस्त्र सहित मोक्ष मिलने का विधान किया है यह प्रोफेसर साहब को विचार करके उत्तर देना चाहिये। वह महात्मा सर्वज्ञ था या असर्वज्ञ था। किसी वस्त्रधारी मुनि ने अपना पतित भाव पुष्ट करने के लिये लिख दिया होगा। लेकिन वस्त्र से मोक्ष होने का कोई भी सम्प्रदाय कथन नहीं करता तो भी हीरालाल सरीखे पठित विद्वान वस्त्र सहित मोक्ष मिलता है।' ऐसा क्यों लिखते हैं समझ में नहीं आता ?

अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति। अचेले लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवति। जहेतं भगवया पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया। ४३४

अर्थ—यदि लज्जा को जीत सकता हो तो अचेल (नग्न दिगम्बर) ही रहना वैसे रहते हुवे तृण स्पर्श शीत, ताप, डांस, मच्छर तथा अन्य भी जो अनेक परीषह आवें उन्हें सहन करना। ऐसे करने से अनुपाधिकता—उपाधि रहित तप होता है। अतः जैसा भगवान ने कहा है उसी को समझकर उसके ऊपर श्रद्धा न करके ज्यों का त्यों सब जगह समता समझाते

हुए बतला ॥४१२॥

ऐसे अनेक स्थल में दिगम्बर बनने के लिये उपदेश दिया है। तथा दिगम्बर होकर पुलाकादि लब्धि पाकर फिर केवलज्ञान प्राप्त करने की लब्धि ऐसे श्वेताम्बरीय प्राचीनतम ग्रन्थों में भी उल्लेख है फिर इस दिगम्बरीय निर्ग्रन्थ नग्नता से मोक्ष मानने में प्रोफेसर साहब को अगस क्यों ? क्या श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में भी आपकी श्रद्धा नहीं है। यदि श्रद्धा हो तो विचार करके देखो।

द्रव्यलिंग से मोक्ष न होते हुए भाव लिंग से ही मोक्ष माना है सो भी प्रमाण देखिये। श्वेताम्बरीय प्राचीनतम और हमारे प्रोफेसर साहब को प्रमाणभूत श्री तत्वार्थाधिगम भाष्य में देखिये—

"लिंग-स्त्रीपुंनपुंसकानि प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्यावेदः सिद्ध्यति । पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्यानन्तर-परचात्कृतिकस्य परंपर—परचात्कृतिकस्य च त्रिभ्यो लिंगेभ्यः सिद्ध्यति ।

लिंगे-अन्यत्वांविकल्प उच्यते। द्रव्यलिंगं भावलिंगं अलिंगमिति। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयस्यालिंगः सिद्ध्यति। पूर्वभाव-प्रज्ञापनीयस्य-भावलिंगं प्रति स्वलिंगे सिद्ध्यति। द्रव्यलिंगं त्रिविधं। स्वलिंगमन्यलिंगं गृहिलिंगमिति तत्प्रति भाज्यं। सर्वस्तु भावलिंगं प्राप्तः सिध्यति। पा० ४४८

अर्थ—लिंग के तीन भेद हैं स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग। प्रत्युत्पन्न भावप्रज्ञापनीय नयकी अपेक्षा से वेद रहित अलिङ्ग की सिद्धि हुआ करती है। किसी भी लिङ्ग से सिद्धि नहीं होती। पूर्व भावप्रज्ञापनीय में भी दो भेद हैं एक अनन्तर पश्चात् कृतिक और परम्परा पश्चात्कृतिक। दोनों ही अपेक्षा से तीनों लिङ्गों से सिद्ध हुआ करती है।

लिङ्ग के विषय में दूसरे से भी भेद हैं। वे भी तीन भेद हैं द्रव्यलिङ्ग, भावलिङ्ग और अलिङ्ग। इनमें से प्रत्युत्पन्न नयापेक्षा से अलिङ्ग ही सिद्धि को प्राप्त हुआ करता है। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय के अपेक्षा भावलिङ्ग की अपेक्षा से स्वलिङ्ग से ही सिद्धि होती है। द्रव्यलिङ्ग के तीन भेद हैं स्वलिङ्ग, अन्यलिङ्ग और गृहलिङ्ग। इनकी अपेक्षा से यथायोग्य समझना चाहिये। किन्तु सभी भावलिङ्ग को प्राप्त करके सिद्धि को प्राप्त हुआ करते हैं। तथा च—

भाष्ये—लिंगं-प्रत्युत्पन्नभाव-प्रज्ञापनीयस्य व्यपगतवेदः सिध्यति नास्ति अल्पबहुत्वं। पूर्वभावप्रज्ञापनीयस्य सर्वस्तोका नपुंसकलिङ्गा सिद्धाः स्त्रीलिङ्ग संख्या संख्येयगुणाः पुल्लिङ्ग सिद्धासंख्येयगुणाः।

अर्थ—लिङ्ग की अपेक्षा से जीवों का अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना चाहिये। प्रत्युत्पन्न भाव प्रज्ञापन नय की अपेक्षा तो सिद्ध होते हैं वे अवेद (वेद रहित) ही होते हैं। अतएव लिङ्ग की अपेक्षा उन का अल्पबहुत्व नहीं कहा जा सकता है। पूर्व भाव प्रज्ञापन नय की अपेक्षा से न्यूनाधिकता का वर्णन किया जाता है। सबसे कम नपुंसकलिङ्ग वाले हैं उनसे संख्यात गुणे स्त्रीलिङ्ग सिद्ध हैं। उनसे भी पुल्लिङ्ग वाले संख्यात गुणे हैं।

हे वाचको ! इन उपरोक्त श्वेताम्बर प्रमाणभूत वाक्य से भली भांति सिद्ध होता है कि लिङ्ग के दो भेद हैं द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग। भावलिङ्ग से मुक्ति मानते हैं। द्रव्यलिङ्ग से मुक्ति मानते हैं पर पूर्वभूत नैगम नय की अपेक्षा से। जब भूतनैगम या भूतपर्याय नयों की अपेक्षा लगाते हैं तो द्रव्यकी और भावकी आदि भेद भी मानना पड़ता है उसी से एक ही द्रव्यलिंग में तीनों वेदों की स्थिति मानने में कोई

विरोध नहीं आता साथ में अवेदी भी माना है इससे और कोई खुलासा करने की जरूरत नहीं है। क्योंकि भेद नय की जहां प्रवृत्ति होती है। वहां पर कोई भी तरह से एक द्रव्यलिङ्ग में भावत्रयलिङ्ग मानने में विरोध नहीं आता यह अच्छी तरह से जानना चाहिये।

जहां पर भेद-प्रभेद की नीति होती है वहां पर ही भावलिङ्ग और द्रव्यलिङ्ग की व्यवस्था होती है। द्रव्य जन्मभर एक होता है और भाव हर क्षण में बदलने वाला है। वे दोनों सापेक्ष हैं। द्रव्य आश्रयी है और भाव आश्रय है। द्रव्य शाश्वत है और भाव (पर्याय) नाशवंत है। द्रव्य एक बार होता है, पर्याय अनेक बार होते हैं। इन विषयों को छोड़कर विचार करने से वितंडावाद होगा।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी द्रव्यलिङ्ग में मुक्ति नहीं मानी, भावलिङ्गमें मानी है। वह भी भूत नैगमनयापेक्षासे, साक्षात् अवेद से ही है। ऐसा ही दिगम्बरीय ग्रन्थों में भी मौजूद है। यह सिद्ध है इस लिये इस में कोई विरोध नहीं है।

साक्षात् सग्रन्थ लिङ्ग से मुक्ति नहीं यह स्पष्ट कथन है फिर भी हठ से यदि सग्रन्थ में मुक्ति मानी जाय तो श्वेताम्बरों के स्वकीय आगम में पूर्वापर विरोध आता है। इस लिये श्वेताम्बरी भी हठ छोड़कर निष्पक्षता से अपने ग्रन्थों को देख लेंगे तो किसी तरह का विवाद न होगा। अपेक्षा बुद्धि को छोड़कर एकांतवादी बनना भी ठीक नहीं। जहां स्त्री को अरहंतादि होने की योग्यता नहीं है, पुलाकादि ऋद्धि भी नहीं हो सकती है तो फिर योग्यता की अपेक्षा को ठुकराकर एकान्तपक्ष लेना ठीक नहीं है। एकांतपक्ष से वस्तु स्वरूप का निर्णय नहीं होता श्वेताम्बरों ने नपुंसक को भी संयमाधिकारी नहीं माना है फिर नपुंसक सिद्ध कहां से आये ? इस प्रश्न पर विचार करने से द्रव्यसंयम का निषेध किया है। द्रव्यलिङ्ग और भावनपुंसक को ही मोक्ष जाना सिद्ध होता है। यदि इस विषय को नहीं मानेंगे तो फिर नपुंसकको दीक्षा संयमभार की शक्ति नहीं। अतः वह छठे गुणस्थान नहीं चढ़ सकता यह वचन मिथ्या ठहरेगा इसीतरह द्रव्यस्त्री को यदि मुक्ति मानेंगे तो प्रवचनसारोद्धार में कहा हुआ है 'अरहन्त चक्कि केसव' इत्यादि गाथा से स्त्री योग्यता के विषय में लिखा हुआ असत्य हो जायगा।

अब भगवती आराधना का श्लोक देखें—

"जस्सवि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाणगो विहारम्मि।
सोविहु संथारगदो गेण्हेज्जोस्सग्गियं लिंगम ॥

अर्थ—जिसके तीन दोष औषधादिक से नष्ट होने लायक नहीं हैं वह आश्रम में जब संस्तरारूढ़ होता है तब वह उत्सर्गलिङ्ग अर्थात् नग्न (दिगम्बर) दीक्षा ले सकता है अन्य समय में उसको मना है।

यह उत्सर्ग और अपवादलिङ्ग का प्रकरण इस प्रकार है जो उत्कृष्ट श्रावक है या क्षुल्लक ऐलक है उन्ही को वानप्रस्थ, भिक्षु या आर्या अथवा अपवाद लिंग कहते हैं ऐसा श्री मेधावी श्रावकाचार, सागारधर्मामृत तथा भगवती आराधना में आया है देखो मरण समय अपवाद लिंगी निर्ग्रंथ दीक्षा ले सकता है अन्यथा नहीं, ऐसा विधान किया है।

उस्सग्गिय लिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव।
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥

अर्थ—जो सकल परिग्रह को त्याग कर दिगम्बर चिन्ह रूप लिंग को धारण करता है उसी को उत्सर्गलिंग कहते हैं और दिगम्बर मुनि बनने की

जिनकी शक्ति नहीं थी और क्षुल्लक ऐलक अवस्था को धारण किया था उसे अपवादलिंग कहते हैं। ऐसे अपवादलिंगी उत्कृष्ट श्रावक को भक्तप्रत्याख्यान के समय में दिगम्बर मुद्रा धारण करना उचित है।

अब टीका भी देखिये—

यतीनां अपवादहेतुत्वात् अपवादः परिग्रहः सो ऽस्यास्ति इति अपवादिकं लिंगं यस्य सोऽपवादिक-लिंगः सग्रंथचिन्हः आर्यादिः तस्यापि भक्तत्यक्तु-मिच्छोरौत्सर्गिकमेवलिंगं वर्णितं।

अर्थात्—जिनके पास परिग्रह है सग्रन्थ चिन्ह है ऐसे आर्यादि क्षुल्लक ऐलक भक्तप्रत्याख्यान के समय में निर्ग्रंथता को धारण करें।

सागारधर्मामृत में भी लिखा है—

त्रिस्थानदोषयुक्तायाप्यपवादिकलिंगिने।
महाव्रतार्थिने दद्याल्लिंगमौत्सर्गिकं तदा॥

अर्थ—जिनको तीन स्थानों में दोष है अपवादिक लिंग है और महाव्रत की इच्छा कर रहा है ऐसे को दिगम्बर व्रत देना ठीक है।

इससे भी सिद्ध है जो अणुव्रती है तथा महाव्रत की इच्छा कर रहा है इस पद में अभी दिगम्बरदीक्षा नहीं ली है ऐसे श्रावक को अपवादलिंगी कहते हैं। तथा च धर्मसंग्रह श्रावकाचारे—

संस्थानत्रिकदोषायाप्यापवादिकलिंगिने।
महाव्रतेच्छिने लिंगं दद्यादौत्सर्गिकं तदा॥४७॥

अर्थ—ऊपर के जैसा भाव है। अर्थात् अपवादिक लिंग मानो उत्कृष्ट श्रावक है। तथा च

उत्कृष्टः श्रावको यः प्राक् क्षुल्लकोऽत्रैव सूचितः।
स चापवादलिंगो च वानप्रस्थोऽपि नामतः॥६॥

अर्थ—जो मैंने इसी ग्रंथ में उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक का कथन किया है उसीको अपवादलिंगी, वानप्रस्थ इत्यादि नाम से कहते हैं। इस प्रकार अपवाद लिंग का स्पष्ट प्रमाण दिया है।

अष्टाविंशतिकान् मूलगुणान्ये पांति निर्मलान्॥
उत्सर्गलिंगिनो धीरा यतयस्ते भवंत्यहो॥८८॥

अर्थ—जो अट्ठाईस २८ मूल गुणों को पालता है उसको उत्सर्गलिंगी कहते हैं उसी को दिगम्बर यति कहते हैं। इस प्रकार खुलासा रूप से प्रमाण दिया है।

यदि दिगम्बर दीक्षा ले कर फिर कपड़ा धारण करने वाला हो। तथापि उसको अपवादलिंगी कहें तो वह भ्रष्ट है, मिथ्यादृष्टि है। ऐसा षट्प्राभृत में कहा है। यदि कपड़ा आदि परिग्रह रखता हुआ भी दिगम्बर संयमी कहलावेगा तो फिर स्त्री आदि को धारण करने वाले श्रावक भी क्यों संयमी नहीं ठहरेंगे? इत्यादि अनेक प्रश्न खड़े होते हैं।

प्रोफेसर साहब ने सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिकादि ग्रंथों को देखने को कहा है और सूत्र नम्बर भी दिया है कि अ० ६ सूत्र ४६-४७ इन दोनों सूत्रों में भी वस्त्रत्याग अनिवार्य नहीं है। इस पर विचार करते हैं।

पुलाक मुनि को वस्त्र का सम्बन्ध दिखाते हैं लेकिन सर्वार्थसिद्धि में राजवार्तिक में कहीं पर भी वस्त्र लेने का विधान नहीं है। बल्कि पांचों ही द्रव्य लिंग से निर्ग्रंथ हैं। शरीर संस्कार का अर्थ कपड़ा लेना नहीं है। शरीर संस्कार का अर्थ शरीर को तैलमर्दन करना है। उसी प्रकार राजवार्तिक में कहा है। देखो—

"एते पुलाकादयः पंच निर्ग्रंथविशेषाः"

ये पांचों ही पुलाकादि निर्ग्रंथ रूप के धारी हैं। इसी सूत्र की टीका रूप श्लोकवार्तिक में क्या कहा

है सो देखिये—

वस्त्रादिग्रंथसंपन्नास्ततोऽन्ये नेति गम्यते ।
बाह्यग्रंथस्य सद्भावे ह्यंतर्ग्रन्थो न नश्यति ॥८॥
ये वस्त्रादिग्रहेऽप्याहुर्निर्ग्रन्थत्वं यथोदितं ।
मूर्च्छानुद्भूतितस्तेषां स्त्र्याद्यादानेऽपि किं न तत् ॥
विषयग्रहणं कार्यं मूर्च्छा स्यात्तस्य कारणं ।
न च कारणविध्वंसे जातु कार्यस्य संभवः ॥४॥
विषयः कारणं मूर्च्छा तत्कार्यमिति यो वदेत् ।
तस्य मूर्च्छादयोऽसत्वे विषयस्य न सिद्ध्यति ॥५॥
तस्मान्मोहोदयान् मूर्च्छा स्वार्थे यस्य प्रहृष्टतः ।
स यस्यास्ति स्वयं तस्य न नैर्ग्रन्थ्यं कदाचन ॥६॥

इन उपरोक्त ६ श्लोकों में यह सिद्ध किया है कि निर्ग्रंथ मुनि कपड़ा नहीं ले जा सकता । जो व्यक्ति कपड़ा रखकर 'मैं निर्ग्रंथ हूं' ऐसा कहेगा तो आचार्य ने कहा है कि स्त्री आदि रखकर भी क्यों निर्ग्रंथ नहीं कहा जाय ? कपड़े लेने में मूर्च्छा या परिग्रह भाव नहीं होगा तो फिर स्त्री आदिक ग्रहण करने में मूर्च्छा भाव नहीं होना चाहिये । इस प्रकार से फिर गृहस्थ और अनगारों में भेद हो ही नहीं सकते । तथा अन्तरंग में मूर्च्छाभाव आये बिना वस्त्र-ग्रहण बुद्धि नहीं होती । इस लिये जहां पर कपड़ों का ग्रहण है वहां पर मूर्च्छा भाव है इस लिये वे अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार से निग्रन्थ नहीं हो सकते । यदि मूर्च्छा—भाव न हो तो वस्त्रादिकों का ग्रहण कदापि नहीं होता । मूर्च्छा मोहनीय कर्मोदय से होती है । इस लिये कपड़े ग्रहण करने वाले को निर्ग्रंथ नहीं कहते यह सत्य है । श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र में भी "मूर्च्छा परिग्रहः" इस सूत्र में कहा है कि 'बाह्याभ्यंतरेषु द्रव्येषु मूर्च्छा परिग्रहः' अर्थात् बहिरंग और अन्तरंग द्रव्यपदार्थ हैं । इन के विषय में जो मूर्च्छाभाव है वही परिग्रह है । 'इच्छा प्रार्थनाकामाभिलाषः कांक्षा गार्द्ध्यं मूर्च्छा इति अनर्थान्तरम्' अर्थात् इच्छा प्रार्थना काम अभिलाषा कांक्षा गृद्धि और मूर्च्छा ये सब एक ही अर्थ के वाचक हैं । भगवती सूत्र पेज नम्बर १२६ में देखो—

"निर्ग्रंथः स बाह्याभ्यन्तरग्रन्थात् निर्गताः निर्ग्रंथाः साधव इत्यर्थः ।"

अब प्रोफेसर साहब ! देखिये श्वेताम्बर ग्रन्थों से भी कपड़े लेने वाले परिग्रही ठहरते हैं । उनको निर्ग्रंथ नहीं कहते हैं । फिर दिगम्बर आम्नाय के लोक भला कैसे वस्त्र सहित को निर्ग्रंथ कहेंगे ? कदापि कदापि नहीं कहेंगे ।

प्रोफेसर साहब का दिया हुआ पंक्ति का अर्थ भी देखिये—

'निर्ग्रन्थलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया' ।

अर्थ - निर्ग्रन्थ लिंग से मुक्ति होती है अथवा भूतपूर्वनय की अपेक्षा से सग्रन्थलिंग से मुक्ति होती है । यहां पर भूतपूर्वनय स्पष्ट रूप से साक्षात् सग्रन्थ लिंग से मुक्ति नहीं होती ऐसा ध्वनित कर रहा है इसे छोटे से छोटे बुद्धि वाले भी जान सकते हैं । फिर पंडित विद्वान प्रोफेसर साहब को शंका कैसी ? यह समझ में नहीं आती ।

आगे जाकर प्रोफेसर साहब ने एक बड़ी विचित्र पंक्ति लिखी है देखिये—

"इस प्रकार दि० शास्त्रानुसार भी मुनि के लिये एकान्ततः वस्त्रत्याग का विधान नहीं पाया जाता । हां कुन्दकुन्दाचार्य ने ऐसा विधान किया है, पर उसका उक्त प्रमाणग्रंथों से मेल नहीं बैठता ।"

उपरोक्त वाक्य लिखते समय यह बात ध्यान में

नहीं रखी। जहां पर लेश मात्र भी मुनियों को कपड़ा धारण करने की कहीं भी शास्त्राज्ञा नहीं है। निर्ग्रन्थ रहने वालों के पास कपड़ा नहीं रहता यह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ग्रन्थों से भली भांति सिद्ध किया है। सवस्त्र मुक्ति श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी नहीं मिलती फिर भी हठाग्रह से, मिथ्याधारणा से, दिगम्बर ग्रन्थों में सवस्त्र मुक्ति मानने की मान्यता प्रोफेसर साहब के मस्तक में कैसे आई ?

श्री कुन्दकुन्द को सारा संसार जानता है कि वह परम निर्मल चित्त के धारी थे, निष्कषायी अध्यात्म-वेत्ता थे। ऐसों को भी अप्रमाण मानना युक्तियुक्त नहीं।

हे वाचकों! श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने वस्तु स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। "मूर्च्छाभावसे निर्मल मन नहीं होता जो दिगम्बर दीक्षा को ग्रहण करके फिर भी यदि कपड़ा आदि लेगा तो भ्रष्ट होता है। इस लिये तिलतुषमात्र भी परिग्रह भाव को ग्रहण न करना चाहिये।" ऐसे आदर्श विधान करने वाले प्रातः स्मरणीय श्री कुन्दकुन्दाचार्य को अप्रमाण तथा कपड़ों को धारण करने वाले को तथा इतना परिग्रह रखते हुए भी स्वतः को निर्ग्रन्थ मानने वालों को प्रमाणभूत माना है। धन्य है!

हे वाचकवर्ग! श्री कुन्दकुन्दाचार्य साक्षात् परम निर्मल चारित्र को धारण करने वाले थे, परम उदार चित्त वाले, पवित्र मन वाले थे। उनके ग्रंथ को पढ़कर अजैन जनता भी शांतिरस में मग्न हो जाती है। असंख्य जीवों का कल्याण उनके ग्रंथों से हो रहा है ऐसे परम पवित्र मुनि का अवतार आगे कदापि नहीं आवेगा। यह सत्य है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य के प्रति अन्य आचार्यों की क्या भावना थी इस बात के लिये इन पंक्तियों को देखो—

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलं॥

अर्थात् मंगलमय कुन्दकुंद को जगत में कितना ऊंचापद है सो वाचकवर्ग ही देखें—

इस प्रकार अच्छी तरह से श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों से अपवादलिंग का स्वरूप तथा सग्रंथ मुक्ति के निषेध रूप वाक्यों को दिखाया है। और सिद्ध भी किया है कि निर्ग्रंथ लिंग से ही मोक्ष होती है। अन्य लिंग से साक्षात् मोक्ष नहीं होता है। साक्षात् निर्ग्रन्थ लिंग से ही मोक्ष होती है। ऐसा श्वेताम्बर ग्रन्थों की मान्यता भी दिखाई है। इस प्रमाण से वाचक भली भांति जान सकते हैं कि प्रोफेसर साहब की भूल—भरी बुद्धि किस तरह से उत्पन्न हो गई है। प्रोफेसर जी द्वारा सम्पादित जो धवला ६ खण्डों में छपी है उसकी शुद्धता भी करनी चाहिये। और लोगों को उनकी भूल दिखानी चाहिये क्योंकि बहुत जगह में उनने उल्टा अर्थ किया है। जैसे—"मणुमिणी" शब्द का अर्थ योनिमती ही किया है। ऐसी भूलों से बचना चाहिये योनिमती शब्द का अर्थ व्यवहार में द्रव्यस्त्री वाचक से आता है। क्योंकि योनि जिसको हो उसको ही योनिमती कहते हैं। लेकिन मणुमिणी शब्द का अर्थ द्रव्यपुलिंग में भावस्त्री जैसा होने को मणुसिणी कहते हैं। इस प्रकार शब्द में बहुत अन्तर है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने भी द्रव्य पुलिंग वाले और भाव से स्त्रीवेद वाले को ही मणुसिणी नाम से कहा है प्रमाणभूत कर्मकांडमें देखो।

केवली कवलाहार

हे वाचको ! अब क्रम प्राप्त 'केवली कवलाहार करते हैं या नहीं' इस विषय पर विचार करना जरूरी है। प्रोफे० साहब ने लिखा है केवली को ११ परीषह होते हैं उन परीषह में से क्षुधा परीषह, पिपासा परीषह, शीत-परीषह, उष्ण-परीषह, दंशमशक-परीषह, चर्या-परीषह, शय्या-परीषह, वध-परीषह, रोग-परीषह, तृणस्पर्श-परीषह और मल-परीषह ये ११ परीषह केवली भगवान को वेदनीय कर्मोदय के कारण होते हैं। यह श्रीमद् उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थसूत्र में बताया है।

प्रोफेसर साहब की तत्त्वार्थसूत्र पर जिस प्रकार श्रद्धा है उसी प्रकार इस सूत्र पर भी श्रद्धा है। और इस श्रद्धान के साथ जनता के सामने इन परीषहों का होना और केवली भगवान का कवलाहार करने का विधान कर रहे हैं। लेकिन उसी ग्रन्थ में केवली भगवान के चार घाति कर्मों का नाश होने पर केवल ज्ञान होता है। ऐसा श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी मान्य है। देखो श्री सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम अध्याय १०वां सूत्र नम्बर १ ले में बताया है कि चार घाति कर्मका नाश होने पर केवलज्ञान होता है। वह चार घातिकर्म यह हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारों का पूर्ण नाश होने पर ही केवल ज्ञान होता है। अन्तराय कर्म के पांच भेद हैं—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (सामर्थ्य) इन पांचों का अभाव केवली भगवान को है। यह श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय वालों को मान्य है।

जिस भगवान को अन्तराय कर्म का नाश होने पर अनन्तवीर्यत्व गुण प्रगट होता है। वह कुछ कार्य करता है या अकिंचित्कर होता है ? यह प्रथम विचारनेकी जरूरत है। श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों ग्रंथोंके आधारसे विचार करते हैं। अनन्तवीर्य में अनन्त वीर्यशक्ति होती है। और कोई किसी भी तरह से वह वीर्यत्वपणा का अभाव या कम नहीं हो सकता। श्री केवली भगवान को किसी पर-पुद्गल आदिक वस्तु के आधीन होना सम्भव है क्या ? नहीं। इतना सामर्थ्यशाली आत्मा शारीरिक क्षुधा या पिपासा के आधीन कैसे होगा ? जिसकी अनंत शक्ति नहीं, जिसको पर वस्तु पर प्रभुत्व रखने की शक्ति नहीं वही पुरुष शारीरिक शक्ति के आधीन हो कर क्षुधा से व्याकुल होता है, पिपासा से व्याकुल होता है। उसी तरह उपरोक्त वेदनीयजन्य परीषहके आधीन होगा। लेकिन अनन्त शक्ति जिसकी प्रगट हो गयी है ऐसे बलवान आत्मा को किसी शारीरिक विकार के आधीन होने की मान्यता हास्यास्पद एवं स्ववचन बाधित है। क्योंकि अनन्त शक्तिशाली आत्मा का व्याकुल होना स्ववचन बाधित नहीं मानते क्या ?

अनन्त शक्तिशाली व्याकुलित कभी नहीं होता। यदि व्याकुलितपणा मानोगे तो अनन्तशक्तित्व के साथ विरोध आता है क्योंकि शक्ति कुछ काम की नहीं ठहरेगी। इस लिये हमारे प्रोफेसर साहब को इतना मालूम होना चाहिये कि अनन्त शक्तिधारी केवली भगवान क्या क्षुधाके, पिपासाके या शीत-उष्ण आदि ऐन्द्रियिक विषय-आधीन त्रिकाल में सम्भव है क्या ? यदि सूक्ष्म विचार करेंगे तो सब आप ही समझ सकोगे कि अनन्तवीर्य का धारी कभी भी शारीरिक वेदनाके आधीन नहीं हो सकता वह केवली शारीरिक, वाचिक और मानसिक वेदना के आधीन

नहीं होता। आजकल जिनकी धैर्यशक्ति ज्यादा है ऐसे व्यक्ति भी क्षुधा परीषह को जीतने वाले होते हैं फिर क्या अनन्तवीर्यधारी केवली भगवान क्षुधा के आधीन होगा? यह कैसे सम्भव है कोई विज्ञ मनुष्य ऐसा नहीं मानेगा।

हे वाचको! अनन्त सुखी केवली भगवान को भूख से व्याकुलित होने की मान्यता दोषयुक्त है। जिस केवली भगवान को अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ऐसे अनन्तचतुष्टय माना है। और यह अनन्तचतुष्टय की मान्यता श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय को मान्य है। तथापि श्वेताम्बर लोग अपने दुराग्रह के कारण केवली भगवान को भूख प्यास, शीतादिकों से व्याकुलित मानते हैं यह कितनी भूल है और ऐसे शास्त्र स्ववचन बाधा से बाधित होने से प्रामाणिक नहीं हैं। ऐसे दूषित शास्त्र से क्या लाभ होगा? कुछ भी नहीं। एक तरफ अनन्तसुख की तथा अनन्त शक्ति की मान्यता दूसरी और क्षुधादिकों से दुःखी मानना कितना विरोधी वाक्य है यह स्वयं वाचकवर्ग जान सकते हैं। तथा स्ववचन बाधित, स्वसिद्धान्त बाधित पूर्वापर विरोध सहित अनेक दुष्ट दोषों से युक्त है। जिनके आत्मिक गुण घाति का नाश होने पर आत्मिक गुणों में अपूर्णपना मानना कहां तक युक्तियुक्त है?

शंकाकार—ज्ञानावरणादि चार घाति कर्मों का नाश होने पर केवलज्ञान होता है ऐसा श्वेताम्बरों ने माना है या आप ही कपोलकल्पित लिख रहे हैं।

उत्तर—ज्ञानावरणादि चार घातिकर्मों का नाश होने पर ही केवलज्ञान होता है ऐसा श्वेताम्बर-मान्य भी तत्वार्थाधिगम सूत्र में ही लिख रहा हूं। आप को प्रमाण चाहिये तो ये लो प्रमाण—

मोह क्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणांतराय क्षयाच्च केवलं। अध्याय १० सूत्र ॥१॥

अर्थ—मोहनीयकर्म का नाश होने पर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय तीनों का नाश होता है। अर्थात्—घातिककर्म का नाश होने पर केवली होता है। इस केवली को अनन्तज्ञान, अनंत दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य ये सब प्रकट होते हैं। इस प्रकार श्वेताम्बरों की मान्यता है फिर उनके ग्रन्थाधार से हमारा कथन है या नहीं यह आप को देख लेना चाहिये।

शंकाकार—केवलज्ञान होने पर भयरहितता है या नहीं? तथा विचार रहित है एवं नहीं? या केवलज्ञान होने पर फिर चारित्र धारण की आवश्यकता क्या है?

उत्तर—केवलज्ञान होने पर पूर्ण रूप से निर्भयी होते हैं क्योंकि भयकर्म मोहनीय कर्मोदय से आता था और केवलज्ञान होने पर मोहनीय कर्म का पूरा अभाव होने से पूर्ण निर्भयता आती है और ज्ञान पूर्णरूप से स्थिर रहता है। केवली विचार नहीं करते, विचार छद्मस्थावस्था में होता है। केवलज्ञान होने पर चारित्र धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती। जो केवली होने पर भी चारित्र धारण करने की आवश्यकता मानते हैं तथा पुत्र वियोग से माता पिता दुःखी होंगे समझकर विचार करके चारित्रधारण नहीं करते ऐसा मानना मूर्खता है। तथा केवली कवलाहार मानना, केवली होकर के घर में निवास मानना निरा तत्वज्ञान से शून्य है। केवली होकर कबूतरों का मांस खाना भूल है। केवली होने पर अतिसार रोग होना मानना भी भ्रांतियुक्त

है। केवल ज्ञानी को नाटक खेलने की मान्यता भी मूर्खपने से भरी है। ऐसी अनेक विपरीत बातें उनके शास्त्रों में बहुत जगह आती हैं। ऐसी भूल-पूर्ण बातें लिखने वाले किस अवस्था में थे यह वे ही या सिद्ध भगवान ही जानें।

केवलज्ञान होने पर भूख लगती है या नहीं ?

केवलज्ञान होनेपर केवलियोंका शरीर परम औदारिक होता है इस लिए केवली को भूख लगने की कथा दूर रही। परन्तु उनके समवशरण में रहने वालों को भी भूख-प्यास आदि नहीं लगती यह देखिये तिलोक प्रज्ञप्ति में—

आतंकरोग मरणुप्पत्तीओ वेरकामबाधाओ।

तण्हाछुहपीडाओ जिनमाहप्पेणण हवंति॥६३॥

अर्थ—समवशरण में श्री जिनेश्वर के माहात्म्य से आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, बैर, कामबाधा तृष्णा (पिपासा) क्षुधा पीड़ा ये नहीं होती हैं।

जब परमौदारिक देहधारी केवली भगवान के समवशरण में जाने वाले भव्य लोगों को भी पीड़ा नहीं होती फिर स्वयं परमौदारिक देहधारी केवली भगवान को क्षुधा कैसे लगेगी तथा प्यास कैसे लगेगी। यह वाचकवर्ग ही देख लें।

यह तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ बहुत प्राचीन है। श्री यतिवृषभाचार्य ने इसको बनाया है। उनके वाक्य हमारे प्रोफेसर साहब मानेंगे या नहीं सो परमात्मा जाने। श्वेताम्बरीय ग्रंथों पर उनको ज्यादा श्रद्धा है! दिगम्बर ग्रन्थों को आप प्रमाण मानते हैं या नहीं यह मैं पहले ही बता चुका हूं।

श्री यति वृषभाचार्य बहुत प्राचीन काल के आचार्य हैं। उनके ग्रन्थपर विश्वास नहीं रहा तो फिर कौन भला समझ सकता है? कोई भी नहीं। अब श्वेताम्बरीय ग्रन्थाधार से वेदादि होते हैं या नहीं? यह भी देखिये—

श्वेताम्बरों में प्रकरण रत्नाकर या प्रवचन सारोद्धार नामक चार भाग का बड़ा भारी मोटा और सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाला ग्रंथ है उस ग्रन्थ के तीसरे भाग में ११७ पृष्ठ पर केवलज्ञान हो जाने पर प्रगट होने वाला अतिशयों में से तीसरे अतिशय से क्या क्या नहीं होते और क्या होता है सो अच्छी तरह से वर्णन किया है। यह वाचकवर्ग के सामने जैसे का तैसा रखता हूं। देखिये—

पुव्वभवरोगाइ उवसमंति नयहोई वेराई ॥४४॥

अर्थात्—केवलज्ञान उत्पन्न होने के पहले के जितने रोग हैं वे सब रोग केवलज्ञान होने पर उपशांत होते हैं। और नये रोग नहीं होते हैं। और न वैर रहता है। तथा केवली भगवानके पास आने वालों में परस्पर वैरभाव नहीं रहता। अब इसमें जो आदि शब्द पड़ा है वह क्या कथन करता है सो देखिए। क्योंकि जब सब रोग उपशम होते हैं और उनके नये रोग नहीं होते तो फिर यहां पर एक प्रश्न होता है कि—

शंका—श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में यह बताया है कि—"एकादश जिने।" इस सूत्र की टीका में ११ परीषहों का नाम है उनमें रोग परीषह भी है। देखिये—"तथा-क्षुत्पिपासा, शीतोष्ण, दंशमशक, चर्याशय्या, वधरोग, तृणस्पर्श, मल, परीषहाः।" अर्थात्—११ परीषह वेदनीय कर्मोदय जन्य मानते हैं। फिर दूसरे ग्रन्थ में केवली भगवान के अतिशयों के कथन करने समय में रोगादिकोंका न होना या वैरादिकों का न होना मानते हैं। ऐसे उनके परस्पर विरोधी वाक्य हैं। देखिये इनका सिद्धांत

ही होता है। जिस तरह केवली भगवान को रोग आदि होने का असंभव मानते हैं उसी तरह से क्षुधा आदि वेदना का न होना भी मान्य होना चाहिये। इन दोनों में भी वेदनीयकर्म का अस्तित्व समान है।

मुनि आत्माराम जी कृत जैन तत्त्वादर्श नामक ग्रन्थ है उस ग्रन्थ में भी ३४ अतिशयों के वर्णन समय में चौथे पृष्ठपर चौथा पांचवां अतिशय यों लिखा है। "सादे पच्चीस योजन प्रमाणचारों पासे उपद्रव रूप ज्वरादि रोग नहीं होते तथा परस्पर वैर-भाव भी नहीं होता।"

श्री केवली भगवान को असाता और साता वेद-नीय कर्म का उदय होने पर भी रोगादि नहीं होनेकी मान्यता श्वेताम्बर ग्रंथों में भी पाई जाती है। अब प्रोफेसर साहब जी! विचार कीजिएगा कि श्वेता-म्बरीय मान्य ग्रंथोंमें भी जब केवलज्ञान उत्पन्न होनेसे पहले के सारे रोग नाश होते हैं, और नये होते नहीं फिर ऐसी मान्यता क्यों हो गई है सो उत्तर देवें।

जिस आधारपर आपने श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में भेद नहीं दिखाते हुए श्वेताम्बरीय मा-न्यता पर आरूढ़ होकर दिगम्बर मान्यता का खण्डन करने की भावना की है लेकिन दिगम्बरीय मान्यता बड़ी गम्भीर स्वरूप की है। कोई भी व्यक्ति यदि अनेक प्रकार भी दिगम्बर सिद्धान्तको असत्य बतलाने की चेष्टा करे तो भी सफल नहीं हो सकता।

हमारे दिगम्बर जैन मान्यता के अनुसार मोह-नीय कर्म की प्रबलता से ही वेदनीय कर्म दुःख देने की सामर्थ्य रखता है। मोहनीय का नाश होने पर यद्यपि वेदनीय कर्मोदय रहता है तो भी असाता वेदनीयकर्मका उदय दुःख नहीं देता। यद्यपि सातामें असाता कर्म रहे तो भी उदय के समय में सातारूप परिणत होकर उदयमें आता है यह नियम है। इस लिये यद्यपि असाता वेदनीय कर्म सत्ता में रहते हुए भी कार्यकारी नहीं होता इस लिये कारण की अपेक्षा (असाता वेदनीय की सत्ता रहने से) से ११ परीषहों का अस्तित्व बताया है उसका हम निषेध नहीं करते लेकिन वे ११ परीषह कुछ कार्यरूप में परिणत नहीं होते क्योंकि मोहनीय कर्म का नाश होने से असाता का उदय नहीं होता यदि आप कर्म संक्रमण को नहीं मानते तो दूसरी बात है लेकिन कर्म का संक्रमण जगह २ होता है यह आप जरूर जरूर कर्म—सिद्धांत के ग्रन्थमें देख लें। तत्त्वार्थसूत्रमें वेदनीयजन्य परी-षहों का विधान कारण की अपेक्षा से है और श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने जो केवली भगवान को भूखप्यास आदिकों का निषेध किया है वह कार्य की अपेक्षा मुख्यतासे किया है। दोनों सिद्धान्त ठीक हैं। दोनोंमें किसी तरह से भी दोष नहीं है, यह आप अच्छी तरह से जान लो।

जब तक अपेक्षावाद को ग्रहण नहीं करोगे तब तक आपको जैन सिद्धान्त समझ में नहीं आवेगा। इस लिये आपको जो शंकायें हुई हैं वह अपेक्षावाद को छोड़ने से ही शंकायें उपस्थित हुई हैं। हां, श्वेताम्बरों ने एक तरफ तो केवली भगवान को 'केवलज्ञान होने पर २५॥ योजन उपसर्ग वगैरह नहीं होते' ऐसा माना है। फिर महावीर भगवान पर गोशाल के द्वारा तेजो लेश्या छोड़ना, दो साधुओं का मृत्यु होना तथा महावीर भगवान का पेचिश रोग होना।' ऐसी दोनों कथनों की बातें लिखी वे सही मालूम पड़ती हैं। ये प्राण घातक उपसर्ग कैसे हुआ? यदि उपसर्ग मानोगे तो अतिशयों की मान्यता में क्या फायदा है? ऐसे अनेक दुष्ट दोष आते हैं वे

थोड़ा निष्पक्षरूपसे विचार करके देखनेसे सब मालूम हो जायेंगे।

दिगम्बर ग्रंथों में कार्य कारण की अपेक्षा से अनेक जगह वर्णन मिलता है देखो वेद का उदय ६वें गुणस्थान तक रहता है फिर मिथुन रूप मैथुन कार्य ६वें तक माना है क्या ? नहीं। इसी तरह वेदनीय का उदय माना है तो भी केवली भगवान को साता वेदोदय होता है। असाता वेदोदय नहीं। तथा असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा से भूख लगने की मान्यता है उसे भी देख लेना जरूरी है। अप्रमत्ता में कभी भी विचार सिद्ध नहीं होते हैं यह अच्छी तरह से जानो। तदनुसार श्री कुन्दकुन्दादि सब आचार्यवर्यों ने केवली के असाता वेदनीय की उदीरणा नहीं मानी है इसलिये उन्हें भूख भी नहीं लगती ऐसा माना है।

दूसरी बात, जब परमौदारिक रूप शरीर केवली को माना है फिर भूख कहां से आवेगी ? तथा रोगादिकों की उत्पत्ति भी नहीं होगी ऐसी श्वेताम्बरों के समान थोथी बात नहीं मानते यह ध्यान में रहने की जरूरी है। जैसे महावीर को केवली भगवान भी मानते हैं और पेचिश का रोग होने का विधान भी करते हैं ऐसी विचित्र लीला दिगम्बरीय शास्त्रों में नहीं है। हां श्वेताम्बरीय शास्त्रों में जरूर है।

श्री समन्तभद्र स्वामी ने वीतरागी मुनि को सुख दुःख का सद्भाव स्वीकार किया है जरूर, परन्तु वे मुनि मोहनीय का नाश करके केवली भगवान तो नहीं हैं। छठे गुणस्थान में रहने वालोंको (मुनियों को) सुख दुःखादिक अनुभव होता है कदाचित उनका निमित्त पा भी स्वीकार करें तो भी पूर्ण वीतरागी भगवान तो नहीं बने। इस लिये आपका लिखना अयुक्तिक से लिखा हुआ मालूम पड़ता है। उसका प्रकरण अच्छी तरह से देख लें अपने आप स्पष्ट मालूम पड़ेगा।

प्रोफेसर साहब जी को श्री षट्खण्डागम के सूत्र दिखाते हैं कि केवली को कवलाहार नहीं। देखिये सूत्र नम्बर १७६—

आहारा एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगकेवलित्ति

अर्थ—आहार वाले जीव एकेन्द्रिय से लेकर केवली भगवान तक के सब जीव हैं। इस सूत्र में बतलाया है कि एकेन्द्रिय जीव आहार करते हैं तो वह कौन सा आहार करते हैं ?

उत्तर— आहार के छह भेद हैं। १-कवलाहार, २-लेपाहार, ३-ऊष्माहार, ४-मनसाहार, ५-कर्माहार और ६-नोकर्माहार ये छह आहार के भेद हैं। यहां पर किस आहार की अपेक्षासे आहार वाले जीवों का कथन किया है सो देखो। यहां पर नोकर्माहार की अपेक्षा से वर्णन किया है क्योंकि एकेन्द्रिय जीव तो कवलाहारी नहीं हैं। इस प्रकार उक्त सूत्र में जो आहार करने वाले जीवों का उल्लेख है उन सब में कवलाहार घटित नहीं होता। क्योंकि एकेन्द्रिय जीवोंके कवलाहार नहीं। अतः यहांपर नोकर्माहार की अपेक्षा से यह सूत्र है। ऐसा स्पष्ट श्री धवला जी के टीकाकार कहते हैं। देखो—

अत्र कवल—लेपोष्ममनः-कर्माहारान परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्यः। अन्यथा आहार—कालविरहाभ्यां सह विरोधात ॥

हिन्दी टीका अर्थ—यहां पर आहार शब्द से कवलाहार, लेपाहार, ऊष्माहार, मानसिक आहार और कर्माहार को छोड़कर नोकर्माहार का ही ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा आहार काल और विरह

के साथ विरोध आता है।

(हिन्दी टीका प्रोफेसर हीरालाल द्वारा सम्पादित है।)

हे वाचको! विचार करो १७७ सूत्र में श्री धवलाकार ने केवली को कवलाहार का निषेध करके सिर्फ नोकर्माहार की अपेक्षा से आहारक कहा है। फिर भी हठाग्रह में प्रोफेसर साहब का केवली को कवलाहार मानना नितांत भूल है। यदि हठाग्रह में न मानें तो आगे के सूत्र का अर्थ किस तरह से घटित करेंगे? देखो—

अणाहारा चदुसुट्ठाणेसु विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घादगदाणं अजोगि-केवली सिद्धा चेदि।

अर्थ—विग्रह गति को प्राप्त जीवों के मिथ्यात्व, सासादन और अविरत सम्यग्दृष्टि तथा समुद्घात-गत केवली सयोग केवली इन चार गुणस्थानों में रहने वाले जीव अयोगि केवली तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं।

इस सूत्र का अर्थ किस तरह से घटित करेंगे? क्योंकि विग्रह गतिमें कर्माहार है फिर वे अनाहारक कैसे होंगे? यह प्रोफेसर साहब को खुलासा करना चाहिये। आहारक और अनाहारक इन दोनों सूत्रों का अविरोध रूप से किस तरह नया अर्थ (आप कवलाहार या कर्माहारादिक की अपेक्षा से) करेंगे। यह स्पष्ट करना चाहिये। दिगम्बर मान्यता में केवली को भूख नहीं लगती अतः उनके कवलाहार नहीं है ऐसी मान्यता है।

अब श्वेताम्बरीय ग्रंथों से विचार करेंगे

जो केवली भगवान के चौतीस अतिशय हैं उनमें घातिकर्मों का नाश होने से ११ अतिशय स्वाभाविक होते माने है। जैन तत्वादर्शपुस्तक में '२५॥ योजन अरादि रोग न होवे' ऐसा कथन आया है। फिर क्षुधादि किस तरह होंगे? यह प्रश्न है—

तथा जैन तत्वादर्श पृष्ठ २६६ में अप्रमत्त नामक ७ वें गुणस्थान के विषय में लिखा है।

कुर्वाणो मरुदासनेन्द्रियमनःक्षुत्तर्डनिद्राजयं।
योऽन्तर्जल्पनि रूपणामिरसकृतत्त्वं समभ्यस्यति॥

अर्थात्—वह अप्रमत्त साधु श्वासोच्छ्वास, आसन, इन्द्रियमन, क्षुधा, तृषा, निद्रा इनके ऊपर जय प्राप्त करके अन्तस्तत्व में रमता है।

इस तरह जब अप्रमत्त गुणस्थान में ही क्षुधा तृषा के ऊपर जय प्राप्त होती है तब १३ वें गुणस्थान में फिर क्षुधा और तृषा कैसे आवेगी? यह प्रोफे-साहब ही खुलासा करें।

तथा पृष्ठ २७० पर प्रश्नोत्तर है सो देखें—

प्रश्न—किस वास्ते अप्रमत्त गुणस्थानमें व्यवहार क्रिया रूप षट् आवश्यक नहीं?

उत्तर—अप्रमत्त गुणस्थान में निरन्तर ध्यान के के सन योग में निरन्तर ध्यान ही में प्रवृत्त होता है। इस वास्ते स्वाभाविक सहज नित्य, संकल्प विकल्प-माला के अभाव में एक स्वभाव रूप निर्मल आत्मा होती है। सो भावतीर्थ स्नान करके परमशुद्धि को प्राप्त होता है।

यदाह—

दाहोवसमं तण्हाइ छेयणं मलप्पवाहणं चेव।
तिहि अत्थेहि णिउत्तं तम्हा तं दव्वओ तित्थं॥१
कोहंमि उ निग्गहिए दाहस्सोवसमणं हवइ तित्थं।
लोहंमि उ निग्गहिए तण्हाइ छेयणं जाण॥२॥

भावार्थ—इन दो गाथाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि दाह का उपशम होने से तृषा का छेद (नाश) होता है। तथा क्रोध का उपशम करने से

दाह का उपशम होता है और लोभ का निग्रह करने में तृषा का छेद होता है।

इस प्रकार वह क्रोधादि कषायों का मन्द करने वाला दाहादिक तृषा आदि का नाश करता है। यहां पर दाह शब्दसे क्षुधाका अर्थ ग्रहण करना योग्य है।

फिर जहां पर क्रोधादिक कषायों का पूरा नाश होकर जो केवलज्ञानी हो गया है ऐसे आत्माको क्षुधा तृषादिक दुःख कहां से आवेंगे ? जो सम्पूर्ण राग द्वेषादिकों का नाश करके निरन्तर परमानन्द सुखका सेवन कर रहा है ऐसे निजात्म सुखसमग्र अनन्तसुखी केवली आत्मा को भूख (क्षुधा) और प्यासादि बहिरंग परपरिणति कैसे होती है यह एक परमात्मा ही जाने। जहां पर सहजानन्द, चिदानन्द, परमानन्द, अनन्तसुख और अनन्त शांति है और वह भी निरन्तर धारावाही अखण्ड रूपसे, ऐसे केवलज्ञानी को भूख प्यासादि मानना बुद्धिमानोंको शोभा नहीं देता।

पृष्ठ ३७६ भी देखिये—

अभ्यासेन जिताहारोऽभ्यासेनैव जितासनः।
अभ्यासेन जितश्वासोऽभ्यासेनैवानिलत्रुटिः ॥१॥
अभ्यासेन स्थिरं चित्तं अभ्यासेन जितेन्द्रियः।
अभ्यासेन परानन्दोऽभ्यासेनैवात्मदर्शनं ॥२॥
अभ्यासवर्जितैर्ध्यानैः शास्त्रस्थैः फलमस्ति न।
भवेन्न हि फलैस्तृप्तिः पानीयप्रतिबिम्बितैः ॥३॥

अर्थ—अभ्यास से ही जिताहारी होता है। अभ्यास से ही जितासनी होता है। अभ्यास से ही श्वास रोक लेता है, अभ्यास से ही स्थिरचित्त वाला होता है। अभ्यास से ही जितेन्द्रिय होता है। अभ्यास से ही परमानन्दकी प्राप्ति होती है। अभ्यास से ही आत्मदर्शन होता है। अभ्यासहीन ध्यान से कुछ भी फल नहीं मिलता।

इसके आगे अष्टम गुणस्थान का प्रकरण आता है और इसी गुणस्थान से शुक्लध्यान का प्रारम्भ होता है।

इसी जैनतत्वादर्श में २७५ वें पृष्ठ पर शुक्लध्यान के प्रारम्भ में बतलाया है।

यथाह—

आहारासननिद्राजयं काऊण जिणमयेण।
झाइज्जइणियं अप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥१॥

अर्थ—आहार, आसन और निद्रा इनपर जय पाकर अपने आत्मा का ध्यान करते हैं।

उपरोक्त आधाररूप प्रमाणों से यह तात्पर्य निकलता है कि जब श्रेणि के चढ़ते समय में ही आहार आदिकों पर जय प्राप्त करता है। फिर केवली भगवान को क्षुधा मानना युक्तियुक्त नहीं है।

कहा भी है कि—

"परमानन्दसिन्धौ निमग्नः"

ऐसे परमानन्द समुद्र में मग्न होने वाले अखंड निजात्म सुख को भोगने वाले को फिर भूख प्यास कैसे सम्भव होते हैं ? कदापि सम्भव नहीं होते हैं।

उपसर्ग और अपवाद दोनों का निश्चय व्यवहार रूप से कथन

हे वाचको ! प्रोफेसर हीरालाल जी ने संयम और वस्त्रत्याग इन विषयों में जो शंका की है और अपवाद मार्ग का अर्थ मुनि को कपड़ा ग्रहण करने का विधान किया है। इसके ऊपर अच्छी तरह से निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों की अपेक्षा से या अन्तरंग और बहिरंग इन दोनों अपेक्षाओंसे उक्त विषयों पर विचार करेंगे। यह विषय बहुत गंभीर है विशेष विचार करके इस विषय को पढ़ो।

"श्री भगवती आराधना ग्रंथ में मुनि के उत्सर्ग

और अपवाद मार्ग का विधान है जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है। देखो (७६-८३) गाथा।" इस प्रकार प्रोफेसर जी ने लिखा है इसपर विचार करते हैं।

हे वाचको ! भगवती आराधनाकी सारी गाथाएं उद्धृत करता हूं।

उस्सगियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव।
अववादियलिंगस्सवि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥७७

अर्थ—सकल परिग्रहों का त्याग किया है उसको उत्सर्गलिंग कहते हैं। और अपवाद यानी परिग्रह (बाह्य और अन्तरंग दो प्रकार के परिग्रह हैं) सहित जो है उनको अपवाद लिंग कहते हैं। दोनों में उत्सर्गलिंग प्रशस्त है अर्थात् योग्य है, अपवादलिंग अप्रशस्त यानी अयोग्य है।

जस्सवि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाणगो विहारम्मि।
सोवि संथारगदो गेण्हेज्जोस्सग्गियं लिंगं ॥७८॥

अर्थ—जिसको तीन दोष हैं जोकि औषधादिकसे दूर नहीं हो सकते। (वे दोष ये हैं—जिसका पुरुषलिंग उत्थानशील हो, अतिलम्ब हो, अति छोटा हो, तथा वृषण वृद्धि पाकर बड़े हो गये हों तथा लिंग के अग्रभाग में चर्म न हो।) ऐसे त्रिस्थान दोष वाला भी भक्त प्रत्याख्यान के समयमें उत्सर्गलिंगको ग्रहण करे। ऐसा कहा है।

आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महड्ढिओ हिरिमं।
मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं ॥

अर्थात्—जो श्रीमान है, लज्जावान है, तथा जिसके बन्धुगण मिथ्यात्वी हैं। ऐसे व्यक्ति को मरण समय यदि एकांत स्थान मिले तो उत्सर्गलिंग लेना ठीक है। यदि एकांत स्थान नहीं मिले तो अपवादलिंग रहना अच्छा है।

उत्सर्गलिंग का स्वरूप वर्णन

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसोहु लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥८०॥

अर्थ—अचेलक अर्थात् निर्ग्रंथता नग्नता या वस्त्र रहितता, लोच करना, शरीर ममत्वरहितता अर्थात् शरीर संस्कार रहितता और मयूरपिच्छ हाथमें रहना ये चारों उत्सर्गलिंग में होते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान कालमें स्त्रियों का कौनसा लिंग है उत्तर कहते हैं।

इत्थीविय जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा।
तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करंतीये ॥८१॥

भक्तप्रत्याख्यान के समय में (मरण समय) स्त्रियां पुरुष के समान एकान्त स्थानमें उत्सर्गलिंग धारण कर सकती हैं। यदि योग्यएकान्त स्थान न मिले तो उत्सर्गलिंग नहीं कहा है।

जत्तासाधणचिन्हकरणं जगपच्चयादठिदिकरणं
गिहभावविवेगोवि य लिंगग्गहणे गुणा होंति ॥८२॥

अर्थः—उत्सर्गलिंग वह यात्राका साधन रूप चिन्ह है। सब लोगों को विश्वास पात्र है। संपूर्ण परिग्रहों का त्याग है इस लिये उत्सर्ग लिंगमें उपरोक्त गुण होनेसे उत्सर्ग लिंगी होना ठीक है (इसकी टीका लंबी चौड़ी है वाचक वर ग्रंथ में देखें बहुत खुलासा किया है।)

गंथच्चाओ लाघवपडिलिहणं च गदभयत्तं च
संसज्जणपरिहारो परिकम्मविवज्जना चेव ॥८३॥

अर्थः—ग्रंथत्याग प्रतिलेखन, गतभयपणा, संसर्गपरिहार ऐसे उत्सर्ग लिंगमें समाविष्ट है (विस्तार टीका में है देखो)

विस्सासकरं रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु।
सव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासना चेव ॥

अर्थ—विश्वास-कर रूप है, विषयसुख से अनादरता होती है। सर्वत्र आत्मवशता प्राप्त होती है और परिग्रह-त्यजना आती है यह उत्सर्गलिंग में गुण हैं।

(विस्तार टीका में देखो)—

जिणपडिरूवं विरियायारो रागादिदोसपरिहरणं।
इच्चेवमादि बहुगा अच्चेलक्के गुणा होंति ॥८५॥

अर्थ—जिन प्रतिमारूप (नग्नता) वीर्याचारको प्रगट करने वाला है। रागादि दोषों का परिहार करने वाला है इत्यादि अनेक गुण अचेलक में हैं।

(विस्तार टीका में देखो)—

इय सब्व समिदकरणो ठाणासणसयण गमण-किरियासु। णिगिणं गुत्तिमुवगदो पग्गहिदरं परक्कमदि ॥८६॥

अर्थ—अचेलकता में ममता रूप की वृद्धि होती है। स्थान, आसन, गमन आदि क्रियाओं में भी समता रूप की वृद्धि होती है। गुप्ति पालन करने में सहायक होती है पराक्रम बढ़ता है और कर्मों की निर्जरा होती है।

अपवादलिंग की शुद्धि होती है या नहीं ?

अपवादियलिंगकदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य।
णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदि उवधिं परिहरंतो ॥८७

अर्थ—अपवादलिंग को धारण करने वाला भी चारित्र धारण करने की शक्ति न छिपाता हुआ निंदा-गर्हा युक्त होता हुआ सम्पूर्ण उपाधि को छोड़ देने से कर्मों की निर्जरा कर सकता है।

इस प्रकार उत्सर्ग का तथा अपवादलिंग का वर्णन समाप्त हुआ।

हे वाचकों ! ग्रन्थकार ने अपवादलिंग वालेको वस्त्र सहित मुनि या मुनि होकर पुनः वस्त्रधारण करने को नहीं कहा। अपवाद का अर्थ 'परिग्रह युक्त' ही किया है। तथा एक और महत्व की बात यह है कि कपड़ा धारण करके संयमी रहता है ऐसा तथा मुक्ति को प्राप्त होता है ऐसा कहीं भी विधान नहीं किया है। तथा समाधिकाल में उस अपवादलिंग को छोड़ देने का उपदेश दिया है और उत्सर्गलिंग में कितने गुण की प्राप्ति होती है यह दिखाया है। वे गुण अपवादलिंगी को नहीं होते। यह भाव अच्छी तरह से दिखाया है। अपवाद प्रशस्त नहीं ऐसा कहा है।

यह स्पष्ट रूप से ७७ नम्बर गाथा में स्पष्ट किया है। फिर उसका महत्व (अपवाद का महत्व) क्या रहा। जो अपवाद या उपाधि या परिग्रह को नहीं छोड़ता उसको आत्मशक्ति धैर्यादि नहीं बढ़ते। स्पष्ट करके संयमपने की सिद्धि बहिरंग परिग्रह से नहीं होती, यह दिखाया है। फिर अपवादलिंग का क्या महत्व रह सकता है ? अपवादलिंगी निरन्तर उत्सर्गलिंगकी इच्छा करता है। यदि अपवादलिंगमें ही संतुष्ट होता गिर जाता है। तथा अपवादलिंगका अर्थ क्षुल्लक ऐलक आदि कपड़े धारण करने वाले को कहा है यह सिद्ध होता है। क्योंकि त्रिस्थान दोष जिसको है ऐसे को दिगम्बर दीक्षा देने की शास्त्राज्ञा नहीं है। सिर्फ समाधि (मरणकाल की समाधि) समय में ही उसको दिगम्बर दीक्षा देना कहा है। इसका तात्पर्य यही है कि वह भी अपवाद परिग्रह दोष करने वाला है। इस लिये त्याज्य कहा है। यह सूर्यप्रकाश जैसा बहुत स्पष्ट है। अब अपवादलिंग और अपवाद मार्ग इनमें क्या अन्तर है ? सो दिखाता हूं—

हे वाचको ! प्रोफेसर साहब का मत ऐसा दीखता है कि 'उत्सर्गलिंग और उत्सर्गमार्ग, अपवाद-

लिंग और अपवादमार्ग ये लिंग और मार्ग एक ही अभिप्राय है' यह ठीक नहीं है। लिंग में मुख्य अर्थ निकलता है 'बहिरंग में वेश या चिन्ह' अर्थात् बहिरंग जो वेष धारण करेंगे, उसे लिंग कहते हैं। और मार्ग अन्तरंग में होता है वह बाह्य दिखने वाला चिन्ह नहीं है। जैसे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः इस सूत्र में मार्ग शब्द अन्तरंग परिणाम के रूप में आता है इसी प्रकार मार्ग और लिंग इनमें बहुत अन्तर है। यह प्रथम भेद मालूम करना जरूरी है। अब विचार करके देखिये कि श्री भगवती आराधनाकार ने उत्सर्ग लिंग और अपवाद लिंग ऐसे दो भेद किये हैं। प्रोफेसर साहब ने उन को उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग समझकर अपने लेख में मार्ग शब्द लिखा है यह युक्तियुक्त नहीं है। उत्सर्गमार्ग मोक्षमार्ग है।

इस प्रकार आत्म परिणाम रूप परिणमन करने वाले विशुद्ध परिणाम वाले ही मोक्ष जाते हैं। बहिरंग दिगंबर दीक्षा यह बाह्य निमित्त कारण है। इस बाह्य चिन्ह या वेष या लिंग से अन्तरंग परिणाम कैसे हैं, यह जान सकते हैं। यद्यपि बहिरंग में कपड़ा लेनेका कार्य होता है तोभी अन्तरंग मूर्च्छाभाव जरूर है। बिना मूर्च्छाभाव से बाह्य पदार्थ-आदान रूप क्रिया नहीं होती। यह अच्छी तरह से सब आचार्यों ने कथन किया है। हां, बहिरंग पदार्थों का सम्पूर्ण रूप से त्याग किया है तो भी आभ्यन्तर रूप उपाधि कभी कभी रह सकती है। इस लिये इस में विषम-व्याप्ति को सिद्ध किया है तदनुसार जहां जहां पर बहिरंग कपड़ा आदि परिग्रहों को धारण करने की क्रिया है वहां पर जरूर अन्तरंग उपाधि है। जहां जहां बाह्य परिग्रह है वहां वहां अन्तरंग परिग्रह या उपाधि जरूर है। बहिरंग परिग्रहों के साथ अन्तरंग परिग्रह का कार्यकारण सम्बन्ध जरूर है। बाह्य परिग्रह कार्यरूप है, अन्तरंग परिग्रह कारण रूप है। बाह्य परिग्रहों का त्याग करने पर भी अन्तरंग उपाधि और दूसरे भी हो सकते हैं। वे उपाधि नाश होने पर मुक्ति मिलती है। ऐसा नियम है।

अब निश्चय और व्यवहार नय से उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग दिखायेंगे। इस विषय को अध्यात्म पद्धति से या नीति से ही समझ लेना चाहिये। यह विषय श्री परमपवित्ररूप केवलज्ञान सहित श्री सीमन्धर के समवशरण में प्रत्यक्ष विदेहस्थ तीर्थंकर केवली के दर्शन करके पवित्र बने हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्यवर्य ने वर्णन किया है। देखो प्रवचनसार —

अन्तरंग संयमरूप परिणाम का घात बहिरंग परिग्रह से होता है। यह अच्छी तरह से दिखाते हैं—

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो असंजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥२१

—अ० ३

अर्थ—बहिरंग परिग्रह के होने पर ममत्व रूप परिणाम अथवा उस बाह्यद्रव्यभूत परिग्रह के लिये उद्यम से क्रिया का आरम्भ यह उस ही मुनि के शुद्धात्मचरण रूप संयम का घात कैसे न होवे? अवश्य होवे। उस ही प्रकार जिसके परिग्रह है वह मुनि निज रूप से भिन्न परद्रव्यरूप परिग्रह में रागी होकर किस तरह अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव कर सकता है? नहीं कर सकता।

भावार्थ—कषायादिकों का और असंयम का अविनाभावी सम्बन्ध है इस लिये इनका (कषाय-

आदिक परिग्रह का) त्याग करने या होने पर संयम-भाव आता है।

आगे किसी मुनि को किसी एक काल में किसी एक तरह से कोई एक परिग्रह त्याज्य है। ऐसा अपवाद दिखलाते हैं। देखिये—

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥२२॥
—अध्याय ३

अर्थ—(सेवमानस्य) परिग्रह सेवने वाले मुनि के (ग्रहणविसर्गेषु) ग्रहण करने में अथवा त्यागने में (येन) जिस परिग्रह से (छेदः शुद्धोपयोग-रूप संयम का घात (न विद्यते) नहीं हो (तेन) उस परिग्रह से (श्रमणः) मुनि (कालं क्षेत्रं) काल और क्षेत्र को (विज्ञाय) जान कर (इह) इस लोक में (वर्ततां) प्रवृत्त रहे तो कोई हानि नहीं है।

भावार्थ—उत्सर्गमार्ग वह है जहां सब परिग्रहों का निषेध किया है। क्योंकि आत्मा के एक अपना निज शुद्धात्मभाव के सिवाय परद्रव्यरूप दूसरा पुद्गल द्रव्य नहीं है। इस कारण उत्सर्गमार्ग परिग्रह रहित है। और जो विशेष रूप से अपवाद-मार्ग है वह कालक्षेत्र के वश किसी एक परिग्रह को धारण करता है। इस लिये अपवाद अंग रूप है। यही दिखलाते हैं। जैसे जिस समय कोई एक मुनि सब परिग्रहों का त्याग कर परम वीतराग संयम को प्राप्त होना चाहता है। वह मुनि किसी काल की विशेषता से अथवा क्षेत्र की विशेषता से हीन-शक्ति होता है तब वह वीतराग संयम दशा धारण नहीं कर सकता है। इस लिये सराग संयम अवस्थाको अंगीकार करता है। और उस अवस्था का बाह्य साधन परिग्रह धारण करता है। उस परिग्रह को ग्रहण कर तिष्ठते हुए मुनि के उस परिग्रह से संयम का घात नहीं होता है। संयम का घात वहां होता है जहां पर कि मुनि पद का घातक अशुद्धोपयोग होता है। यह परिग्रह तो संयम के विरोधी भावों के घात के दूर करने के लिये है। मुनि पदवी का सहकारी कारण शरीर है। और उस शरीर की प्रवृत्ति आहार नीहार के ग्रहण त्याग से होती है। इस से संयम के घात के निषेध के लिये अंगीकार करते हैं। इस कारण अशुद्धोपयोगमयी जो संयम का घात है उसको दूर करने वाला परिग्रह है इस लिये घातक नहीं।

आगे जिस परिग्रह का मुनि के लिये निषेध नहीं है। उसका स्वरूप दिखाते हैं।

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदिवि अप्पं॥

अर्थ—अपवाद मार्गी मुनि ऐसे परिग्रहको धारण करे तो कुछ दोष नहीं। जो परिग्रह बन्ध को नहीं करता, संयम रहित जनों को प्रार्थना करने योग्य नहीं, ममता आरम्भ, हिंसादिक भावों की उत्पत्ति से रहित है। और वह यद्यपि थोड़ा है ॥२३॥

उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग में स्वभाववर्म कौन सा है वह दिखाते हैं।

किं किंचणत्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहेवि
संगत्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्त मुद्दिट्ठा ॥२४॥

अर्थ—जिस मार्ग में मुनि पद का सहकारी शरीर भी परद्रव्यरूप परिग्रह जानकर आदर करने योग्य नहीं है। वह भी ममताभाव से रहित होकर त्यागने योग्य है। और भगवानने ममताभाव से आहार विहारसे प्रवृत्ति होने का मना किया है। तो उस मार्ग में शुद्धात्मरस के आस्वादी मुनि के अन्य

परिग्रह विचारा कैसा बन सकता है। ऐसा अरहंत देव का प्रगट (निश्चित) अभिप्राय है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि उत्सर्ग निष्परिग्रहमार्ग है। वस्तु का धर्म है। परिग्रह रहने से अपवादमार्ग वस्तु का धर्म नहीं है। इससे यह अभिप्राय निकलता है, कि उत्सर्ग मार्ग ही वस्तु का धर्म है। अब अपवाद मार्ग कौन से हैं वे दिखाते हैं—

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पियविणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं। २५।

अर्थ—श्री सर्वज्ञ वीतरागदेव कथित निर्ग्रंथ मोक्ष मार्ग में मुनि के उपकारी परिग्रह इस प्रकार हैं कि यथाजातरूप लिंग, (निर्ग्रन्थ लिंग) गुरुओं के तत्व-ज्ञान पूर्ण वचन, शुद्धात्मानुभवमें अनुभवी मुनियों के प्रति विनय और वचनात्मक सिद्धान्तों का पढ़ना ये अपवादमार्ग के परिग्रह हैं।

भावार्थ—जिस परिग्रह का अपवादमार्ग में निषेध नहीं किया गया है वह सभी परिग्रह यति अवस्था के सहायक हैं, इस लिये उपकारी हैं, अन्य परिग्रह नहीं हैं। उस मुक्ति के योग्य परिग्रह के भेद इस प्रकार हैं कि सब वस्त्र आभूषणादिक से रहित सहज स्वाभाविक सुन्दर यथाजात बाह्य द्रव्य लिंग स्वरूप काययोग सम्बन्धी पुद्गल; यह तो एक उपकरण है। २-शुद्धआत्मतत्व के वचनरूप पुद्गलों का ग्रहण परिग्रह है। ३-शुद्धात्मतत्व का अनुभव कर रहे हैं ऐसे साधु के प्रति विनय, ४-द्रव्यवचन रूप सिद्धांत का पढ़ना ये चार परिग्रह हैं। इस प्रकार उत्सर्ग और अपवादमार्ग का कथन द्रव्यरूप में किया है अब भावरूप उत्सर्ग और अपवादमार्ग का कथन करते हैं।

बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि॥३०

अर्थ—बालक मुनि हो, वृद्ध मुनि हो, तपस्या से खिन्न हुआ मुनि हो अथवा रोग से पीड़ित मुनि हो। ऐसा कोई भी मुनि हो, जिस तरह से अपना मूल संयम का घात न हो उसी तरह से अपनी शक्ति के अनुसार आचरण करे।

भावार्थ—उत्सर्ग मार्ग वहां है जहां पर बाल, वृद्ध, खेद, रोगादि अवस्थाओं से युक्त मुनि हो, परन्तु शुद्धाचरण तत्व का साधनरूप संयम का भंग (नाश) न हो उसकी रक्षा जिस तरह से हो उसी अति कठिन रूप अपने आचरण को करे वही उत्सर्ग मार्ग है। और जहां पर बालादि दशा युक्त हुआ शुद्धात्मतत्व का साधन रूप साधन का नाश न हो उसी तरह अपनी शक्ति के अनुसार कोमल आचरण करे ऐसा संयम पाले उसे अपवादमार्ग कहते हैं। इस तरह भाव की अपेक्षा से मुनि के उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग ऐसे दो भेद हैं। विशेष जानना हो तो प्रवचनसार तीसरा अध्याय देख लें। वहां पर विस्तारपूर्वक है मैं ने संक्षेप रूप लिखा है।

भावार्थ—भावरूप उत्सर्ग और अपवादमार्ग में दोनों में शुद्धात्मतत्व का नाश नहीं होता अपनी शक्ति के अनुसार उत्सर्गमार्ग वाला अति कठिन तपश्चर्या करता है, अपवादमार्ग वाला शुद्धात्मतत्व का नाश न करते हुये कोमल रूप आचरण करता है। इतना अन्तर है। दोनों ही बाह्य पर-द्रव्यपरिग्रहके त्यागी हैं। यह अच्छी तरह से जानना जी। इस भाव-रूप अपवादमार्ग में भी कपड़ों का या पात्रोंका विधान नहीं है। यह वाचकवर्ग को अच्छी तरह से समझना चाहिए।

अब द्रव्यरूप उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग में

क्या अन्तर है सो दिखाते हैं। उत्सर्गमार्गी द्रव्य-रूप में बाह्यरूप परिग्रहों को त्यागता है और अपने शुद्धात्मतत्त्व के रसास्वाद में युक्त होकर अच्छी तरह से अपना संयम पालन करता है। और अपवाद-मार्गी मुनि संयम—विघातक सब पर—द्रव्यरूप वस्त्र पात्रादिकों का ग्रहण नहीं करता तथा शुद्धात्म-संयम साधन रूप जो निमित्तकार निर्ग्रंथलिंग, गुरुवचन, सिद्धान्त शास्त्रवचन तथा शुद्धात्मतत्त्व संबंधी महात्माकी विनय इन चारों को धारण करता है। इनको अपवाद यानी परिग्रह क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि ये भाव निजात्मतत्त्वरत अवस्था रूप अद्वैतभाव से निचली अवस्था के होने से उनको परिग्रह कहते हैं और उन परिग्रहों को छोड़कर अद्वैतात्मतत्त्वमें रत होने के लिये प्रयत्न रूप में तन्मय रूपपने को धारण करना यही इसका ध्येय होने से इन उपरोक्त गुरु वचनादिकों को वह परिग्रह मानता है ऐसे परिग्रहों का भी जहां त्याज्य भाव है ऐसी अवस्था में वस्त्र पात्रादिकोंका ग्रहण कैसे कर सकता है तथा करेगा भी कैसे ? जहां पर निर्ग्रंथलिंग का तथा गुरु उपदेश को भी परिग्रह समझ रहा है और उनको भी छोड़-कर अद्वैत आत्मतत्त्व में मग्न होने की इच्छा करता है ऐसा महान संयमी पुरुष ही अपवादमार्गी कहलाता है। अर्थात् अपवादमार्गी उपरोक्त परि-ग्रहों का (गुरुवचनादिकों को) किसी काल, किसी क्षेत्र निमित्त से ग्रहण करता है तो भी उसे त्याज्य समझता है उसमें ही रहकर सन्तुष्ट नहीं होता यह ध्यान में रखने की बात है। और उत्सर्गमार्गी कभी भी शुद्धात्म तत्त्व रूप संयम का नाश करने वाले उपरोक्त को ग्रहण कभी भी नहीं करता यह ध्यानमें रखने की बात है। वस्त्र पात्रादि को ग्रहण करने वाला संयमी नहीं होता यह स्पष्ट रूप से कहा है वह अच्छी तरह से जानना जी।

अब उत्सर्गलिंगी और अपवादलिंगी इन दोनों में भी क्या अन्तर है सो दिखायेंगे।

उत्सर्गलिंगी निर्ग्रंथलिंग में रहता है अचेलक (नग्न) केशलोच, शरीर संस्कार त्याग और पिच्छि ग्रहण ये चारों नियम से रहते हैं। और अपवादलिं-गी को त्रिस्थान दोष होने से दिगम्बर होने को अस-मर्थ होने से "अपवाद" यानी परिग्रह कपड़ा या वस्त्र कौपीन भी ग्रहण करना है उसे क्षुल्लक ऐल्लक आदि कहते हैं। वे मुनि अवस्था में (दिगम्बर अवस्था ले कर फिर कपड़ा लेने) नहीं रहते यह सत्य है। अपवा-दलिंगी भी सतत अपनी निंदा गर्हा आदि करता हुआ कब उत्सर्गलिंग को धारण करूंगा यह भावना रखता है। उस समय वह अपवादलिंगी अपवादलिंग को अच्छा न समझता हुआ उत्सर्गलिंग को उपादेय सम-झता है। और अपवादलिंग को हेय समझता है। फिर मुनि को कपड़ा पात्र आदि धारण करने की आज्ञा शास्त्र में (दिगम्बर शास्त्र में) कहां से मिलेगी ? नहीं मिलेगी। कपड़ा लेना मुनियों को निषिद्ध है ऐसा सिद्ध होता है। और जो अपवादलिंगी (कपड़े धारण करने वाला) मुनि यदि यह समझे कि, इस वस्त्रपा-त्रादिक परिग्रह को धारण करके शुद्धात्म संयम करके मोक्ष को जाता है इस प्रकार उसकी बुद्धि रहेगी तो उसे भ्रष्टलिंगी समझना चाहिये। यह स्पष्ट रूप से भगवती आराधनाग्रंथ से तात्पर्य निकलता है। श्री भगवती आराधनाग्रंथ में लिखा है कि गाथा नंबर ८७ में स्पष्ट रूपमें कहा है कि अपवादलिंग को धारण करता हुआ भी निंदा गर्हा आदि भावना से युक्त हो कर भगवान में रूप शुद्धात्मतत्त्व सेवन करनेमें साधन

रूप उत्सर्गलिंग को धारण करूंगा। ऐसी भावना स्पष्ट रूप से करके अपवादलिंग को हेय समझता है। इसी तरह समाधिकाल में वह अपवादलिंगी अपने "अपवाद" सग्रन्थ चिह्न को त्याग कर उत्सर्गलिंग को धारण करके ही समाधि में मग्न हो जाने की बात कही है इस लिये श्री भगवती आराधना में ही उत्सर्गलिंगी प्रशस्त और अपवादलिंगी अप्रशस्त कहा है फिर सचेल मोक्ष की सिद्धि कहां से मिलेगी ? नहीं मिलेगी इस लिये कुन्दकुन्दाचार्यने साफ लिखा है कि दिगंबर होकर जो कपड़ा लेगा वह भ्रष्ट समझा जावेगा ऐसा लिखने पर वस्त्रपात्रादिक तथा कंबलादिक रख कर निर्मोही कहलाने वाला तथा इस अवस्था से मोक्ष की मान्यता मानता है सो मिथ्या है यह विचार सत्य है। अपवादलिंगी यदि उस लिंग में उससे संतुष्ट होकर रहेगा और उसी से मोक्ष मानेगा तो वह भ्रष्ट समझा जायगा यह सत्य है। तात्पर्य यह है कि अपवादलिंग में रह कर उत्सर्गलिंग की भावना करनी चाहिये। उत्सर्गलिंगी उत्सर्गमार्गी तथा अद्वैत आत्मस्वरूप में तन्मय होकर मोक्ष को जाओ यह भाव है।

यह सब, शुभ भावना से लिखा है इसको अच्छी तरह से पढ़ो और मनन करके मेरे लेख से मिले हुए गुणों को ग्रहण करो और दोषों का त्याग करो।

— :(समाप्त): —

इस लेख पर मेरी सम्मति—

इस लेख को मैंने पढ़ा है ! यह लेख सुयुक्ति पूर्ण है, दिगम्बर सिद्धान्त को पुष्ट करने वाला है। स्त्री-मुक्ति आदि शंकास्पद विषयों को भली प्रकार निराकरण करने वाला है। मेरी सम्मति भी इसी तरह से है।

जिनेश्वरदास जैन,
सरधना।
(जैनधर्म भूषण, तीर्थभक्त, वैद्य शास्त्री)



१३

प्रतिष्ठाचार्य

श्रीमान पं० मक्खनलाल जी

तर्कतीर्थ

कलकत्ता

* श्री वीतरागाय नमः। *

श्रीमान प्रोफेसर हीरालालजी एम० ए० ने जो अपने विचार उपस्थित किये हैं उनका साराश निम्नलिखित है—

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि जिस प्रकार पुरुष मोक्ष का अधिकारी है उसी प्रकार स्त्री है। पर दिगम्बर सम्प्रदाय की कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा स्थापित आम्नाय में स्त्रियों को मोक्ष की अधिकारिणी नहीं माना गया। इस बात का स्वयं दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्यताओं से कहां तक समर्थन होता है? यह बात विचारणीय है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने ग्रन्थों में स्त्रीमुक्ति का स्पष्टतः निषेध किया है किन्तु उन्होंने व्यवस्था में न तो गुणस्थान चर्चा की है और न कर्मसिद्धांत का विवेचन किया है। जिस से इस मान्यता का शास्त्रीय चिन्तन शेष रह जाता है शास्त्रीय व्यवस्था से इस विषय की परीक्षा गुणस्थान और कर्मसिद्धांत के आधार पर ही की जा सकती है। तदनुसार जब हम विचार करते हैं तो निम्न परिस्थिति हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। इस प्रश्न के अन्तर्गत ३ अवान्तर प्रश्न और तृतीय में असन्तोषजनकता और उसमें १-२-३-४ नम्बर के अवान्तर प्रश्न इन सब का उत्तर और फिर दूसरा प्रश्न संयमी और वस्त्रत्याग, तीसरा प्रश्न केवली भगवान के भूख प्यासादि वेदना है।

इन तीनों मुख्य प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे लिखते हैं-

स्त्रीमुक्ति

आपने लिखा है कि 'स्त्री मोक्ष की अधिकारिणी नहीं यह केवल श्री कुन्दकुन्द स्वामी की ही मान्यता है और कर्मसिद्धान्त के ग्रंथ गोम्मटसारादि के कर्ता आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती तथा श्री महाशास्त्र षट्खण्डागम धवलशास्त्र के कर्ता श्री पुष्पदन्त तथा भूतबलि और टीकाकार श्री वीरसेन आचार्य आदि की स्त्रीमुक्ति निषेध की मान्यता नहीं है केवल श्री कुंदकुंदाचार्य ने ही पक्षपात से अपना सिद्धान्त गढ़ डाला है और उन्होंने न व्यवस्था न तो गुणस्थान चर्चा में ही की है, न कर्मसिद्धांत को ही लिया है।'

इससे यह ध्वनि निकलती है कि या तो वे कर्मसिद्धान्त जानते ही नहीं थे या पक्षपात से कर्मसिद्धांत की उपेक्षा करके उनने लिखा है। किन्तु ऐसे वाक्य कुन्दकुंदाचार्य के लिये लिखना उचित नहीं, क्योंकि वे प्रातः स्मरणीय हैं, उन्होंने कलिकाल में धर्म की पताका फहराई है। शास्त्र पढ़ने की आदि में 'ओंकार' में मंगलाचरण में प्रतिदिन जिन्हें स्मरण करते हैं।

अब हम श्रीमान प्रोफेसर साहब की कृति और बुद्धि का परिचय देते हैं। आप लिखते हैं कि "मनुष्य और मनुष्यिणियों के चौदहों गुणस्थान

बतलाये हैं और मनुष्यणियों को 'योनिमती' शब्द से लिखा है।" सब आचार्यों ने पञ्चम गुणस्थान के कथन में तो मनुष्यिणी और तिर्यञ्चिणीके कथन में योनिनी तथा योनिमती शब्द का प्रयोग किया है पर ऊपरले गुणस्थानों में योनिनी शब्द का प्रयोजन नहीं आया है। फिर कोई भी शब्द आया हो वहां भावलिंग समझना चाहिये। जब सब ही दिगम्बराचार्यों का स्पष्टतया निर्णय है तब शब्द पर वहम करना व्यर्थ है। आपने सत्प्ररूपणा में ९३वें सूत्र षट्खण्डागम का हवाला दिया है जिसके मूल के आचार्य श्री पुष्पदन्त भूतबलि क्या लिखते हैं—

मानुषीमु प्ररूपणार्थमाह

सू०—मनुस्सिणीसु मिच्छाइट्ठिसासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥९२

सम्मामिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

टीका—श्रीवीर०—हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इतिचेन्न उत्पद्यन्ते कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्षात् अस्मादेवार्षात् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येदिति चेन्न सवासस्त्वात् अप्रत्याख्यान—गुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः।

अर्थ—यहां कोई शङ्का करता है कि इस हुण्डावसर्पिणी काल में मनुष्यणियों में सम्यग्दृष्टि नहीं होते क्या तब आचार्य उत्तर देते हैं कि सम्यग्दृष्टि होते हैं।

यह शंका कैसे निश्चय होवे। उत्तर—इसी आर्ष ग्रंथ से। फिर शंका- तो फिर मनुष्यणियों को मोक्ष सिद्धि होनी चाहिये। तो फिर उत्तर देते हैं नहीं, मनुष्यणियों को मोक्ष सिद्धि नहीं होती अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से वस्त्र सहित होने से।

शंका—कि कपड़ा सहित होने पर भी भावसंयम होने में क्या विरोध है फिर आचार्य उत्तर देते हैं कि भावसंयम के अभाव का सहकारी वस्त्रादि परिग्रह होते भाव संयम नहीं हो सकता।

कथं पुनस्तासां चतुर्दश गुणस्थानानि इतिचेन्न।

फिर मनुष्यिणी के चौदह १४ गुणस्थान कैसे संभवें। ऐसा प्रश्न होता है। आचार्य कहते हैं

भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्वाऽविरोधात्

भावस्त्री विशिष्ट अर्थात भावस्त्री मनुष्यिणी के १४ गुणस्थान मानने में कोई विरोध नहीं।

शंका— भाववेद नवमें गुणस्थान तक ही रहता है फिर १४ गुणस्थान कैसे?

भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दश गुणस्थानानां सम्भव इति चेन्न वेदस्य प्राधान्याभावात्।

आचार्य कहते हैं कि ऊपर के गुणस्थानों में वेद की प्रधानता नहीं।

गतिस्तु न सा चाग्निनश्यति

समाधान—क्योंकि यहां पर वेद की प्रधानता नहीं है किन्तु गति प्रधान है और वह पहले नष्ट नहीं होती।

वेदविशेषणायां गतौ न तानि सम्भवन्तीति चेन्न

समाधान—यद्यपि मनुष्यगति में चौदह गुणस्थान सम्भव हैं फिर भी उसे विशेषण से युक्त कर देने से उसमें १४ गुणस्थान सम्भव नहीं हो सकते हैं। (इति न) ऐसा नहीं है।

? समाधान—क्योंकि विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से उस विशेषण युक्त संज्ञा को धारण करने वाली मनुष्यगति में १४ गुणस्थानों का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं आता।

विग्रहेऽपि विशेषणो उपचारेण तद्व्यपदेशमादधान-मनुष्यगतौ तत्सत्वाऽविरोधात्।

इत्यादि ३३३ वें पृष्ठमें धवलशास्त्रकी सत्प्ररूपणा देखो—

आपने ९३ वें सूत्र के अर्थ में संयत गुणस्थान और बढ़ा दिया है और १ को मनमानी लिख पृष्ठ के नीचे लिख दिया है (१ अत्र संजद इति पाठ शेषः प्रतिभाति) यह मूल में नहीं है हिन्दी अर्थ में संयत और बढ़ाया है, यह इसमें विष मिलाया गया है। तथा श्री प्रवचनसार की अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका की हिन्दी लिखते हुये "ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ही जिन दीक्षा मुनि दीक्षा के अधिकारी हैं" इसमें 'सच्छूद्रा-दिकः' यह और मिलाया है। यहां षट्खण्डागम सूत्र ९३ वें में स्पष्ट 'संजदासंजदट्ठाणे' ऐसा पञ्चम गुणस्थान तक ही लिखा है। जिसका आपने 'संयत गुणस्थान में भी स्त्रियां पर्याप्तिका होती हैं' ऐसा और लिखा है।

अब समाज समझ लेवे कि प्रोफेसर हीरालाल जी समाज को कैसा धोखा देते हैं जिस ९३वें सूत्र के अर्थ में द्रव्यस्त्री को मोक्ष का निषेध लिखते हुए भी कुन्दकुन्दाचार्य पर आरोप कर देते हैं कि इन ही ने केवल स्त्रीमुक्ति का निषेध किया ऐसा सारे समाजमें विश्वास कराने का प्रयत्न करते हुये डरते नहीं, इसी से आचार्यों ने लिखा है कि गृहस्थों को सिद्धान्तशास्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं। अपने अभिप्राय को पुष्ट करने के लिये सूत्रों में विष रखने लग गये! इन्हों ने बहुत सी बातें धवला टीका में अनुचित लिखी हैं, मैंने पत्र दिया था मुझे उत्तर भी नहीं दिया।

आपको षट्खण्डागम टीका में अपनी कलम से द्रव्य स्त्री को मोक्ष निषेध लिखकर भी ऐसा लिखना शोभा देता है क्या?

आपने लिखा है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवस्था में न तो गुणस्थान चर्चा की है न कर्मसिद्धांतका ही विवेचन। सो विचारने की बात है कि अध्यात्म ग्रन्थ में शुद्ध द्रव्य के विवेचन में अशुद्ध द्रव्य की गौणता रखते हुये कथन किया है तो भी उन्होंने क्या कुछ भी छोड़ा है? श्रीप्रवचनसार में उन्होंने संकेत रूप से सब कुछ कहा है—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू॥३३॥

प्रवचनसार पृ० ३०१ की टीका में लिखा है—

परात्मपरमात्म—ज्ञानशून्यस्य तु द्रव्यकर्मारब्धैः शरीरादिभिस्तत्प्रत्ययैः मोहरागद्वेषभावैश्च सहैक्य-माकलयतो बध्यघातकविभागाभावात् मोहादि-द्रव्य-भावकर्मणां क्षपणं न सिद्ध्येत्।

आगम हीन अर्थात् कर्मसिद्धांतहीन साधु पर द्रव्य और परमात्म स्वरूप चिद्रूप ज्ञानहीन साधु मोह राग द्वेष भावों के साथ अपनी आत्मा का, अपने भावों को मानता हुआ, बध्यघातक विभाग न समझने से द्रव्यभाव कर्मोंको क्षपणा न कर सकेगा तो उसके द्रव्यभावकर्म और प्रत्यय आस्रवादिक और आस्रव तथा आत्मा के बध्यघातकता तथा द्रव्य कर्म भावकर्म की विवेचना बिना समझे ही स्त्रीमुक्ति का निषेध लिख मारा है? इसकी भी टीका करते हुये आपने उनको अजानकारी समझी या आप अपना अभिप्राय पुष्ट करने के लिये यह अनुचित आगम-बाह्य शब्द लिखे हैं?

आगमपुव्वा दिट्ठी भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो॥३५

इत्यादि स्पष्ट है कि उन्होंने कर्म सिद्धांतानुकूलता

से ही स्त्री को मोक्ष का निषेध बतलाया है। इस अध्यात्म के कथन में कर्मसिद्धान्त कैसे लिख देते। 'शरीरादिभिन्नत्वप्रत्ययैः' यह प्रत्यय शब्द आत्मवाद का ही वाचक है।

तब आस्रवबंध कषायाध्यवस्थान, योगस्थान, बंधस्थान सबको हृदय में रखकर ही तो लिखा है। श्रीधर सेनाचार्य जिनको अग्रायणी पूर्व की पांचवी वस्तु का महा प्रकृतिनामा चौथे प्राभृत का ज्ञान था सो यह प्राभृत श्री पुष्पदन्त भूतबली आचार्य ने उन से पढ़कर यह षट्खण्डागम सूत्र ग्रंथ रचा और इनके समकालीन कुछ पीछे श्री गुणधर आचार्य हुये उनको ज्ञान प्रवाद पूर्व का दशम वस्तु का तीसरा प्राभृत का ज्ञान था। उनसे नागसेन हस्ती आचार्य ने पढ़ा। उनसे यति नामा आचार्य ने पढ़ा। उसकी चूर्णिका रूप ६ हजार सूत्र बनाये। उसकी टीका समुद्धरण मुनि ने १२ हजार श्लोकों में लिख डाली। उसको पढ़कर श्री कुन्दकुन्दाचार्य हुये। तो गुरु परम्परा से आगम—ज्ञान—सम्पन्न आचार्य ने प्रकृत सिद्धांत को छोड़ व्याख्यान किया? अध्यात्मविषय और कर्मसिद्धांत का अविनाभाव सम्बन्ध है, एक दूसरेके जाने बिना हो नहीं सकते। तब ही श्री कुंदकुंदाचार्य लिखित आमुक्ति निषेध के वाक्य षट्खण्डागममें मिल रहे हैं, आपने खुद लिखे हैं फिर भी आप कुन्दकुन्दाचार्य का ही केवल मत लिखें यह आपके हृदय की श्वेताम्बर वासना ही को प्रगट करते हैं। अस्तु। प्रश्न आप कैसा ही करें उसको अपना सिद्धांत लिखें तो कोई बाधा नहीं; पर यह कहना कि 'यह केवल कुंदकुंदाचार्य का ही कथन है और धवलशास्त्र, गोम्मटसारादि का नहीं' यह झूठी बात ठहरती है। देखो श्री गोम्मटसार कर्मकाण्ड की ३२ वीं गाथा—

अन्तिमतियसंहडणस्सुदओ पुण कम्म-भूमिमहिलाणं
आदिमतियसंहडणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठम् ॥

अर्थ—कर्मभूमि की स्त्रियों के अन्त के तीन संहनन अर्द्धनाराच, कीलक, असंप्राप्तासृपाटिक ये तीन संहनन होते हैं। आदि के तीन संहनन वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच ये तीन संहनन नहीं होते हैं। और मोक्ष एक वज्रवृषभनाराच संहनन से ही होता है। देखो सर्वार्थसिद्ध तथा राजवार्तिक— "उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं" इस सूत्र की टीका में—

'मोक्षस्यतु आद्यमेव'

मोक्ष जाने जाने वाले जीवों के एक पहला ही संहनन होता है फिर स्त्रियां कैसे मोक्ष जा सकती हैं? श्वेताम्बर भी अपने तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमें कहते हैं (देखो ६ अध्याय) और सम्यग्दृष्टि को नहीं होता। बिना सम्यक्त्व के तीर्थंकर गोत्र नहीं बन्धता, षोडश भावना में पहिला सम्यग्दर्शन—विशुद्धि है। फिर श्री मल्लिनाथ भगवान को श्वेताम्बरों ने स्त्री क्यों मान लिया? मल्लिबाई कहते हैं क्या स्त्रियोंको मोक्ष बांटने के लिये? तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में लिखा है द्रव्यस्त्रीको क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता। देखो निर्देश सूत्र की टीकामें साफ लिखा है 'क्षायिकं भाववेदेनैव' क्षायिक सम्यक्त्व स्त्री के भाववेद से ही होता है, द्रव्यवेद से नहीं, द्रव्यस्त्री को नहीं और ११४३ पेज में गोम्मटसार में देखो 'योनिमतीनां पञ्चम गुणस्थानादुपरिगमनाऽसंभवात् द्वितीयोपशम-सम्यक्त्वं नास्ति, योनिमती द्रव्यमनुष्यिणियों के पांचवें गुणस्थान से ऊपरला गुणस्थान का असम्भव है। इससे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं होता और

श्री गोम्मटसार पेज ५६१ में गाथा—

पुरिसिच्छसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओभावो
णामोदयेण दव्वे पायेण समा कहिं विसमा।।२७१।।

अर्थ—पुरुष स्त्री नपुंसकवेद चारित्र मोह नोकषाय प्रकृतियों के उदय से भाव में चैतन्य परिणाम में यथाक्रम से जीव पुरुष स्त्री नपुंसक भाववेद वाला होता है और निर्माण नाम कर्मोदय युक्त अंगोपांग नाम कर्म विशेष नामकर्म के उदय से पुद्गल द्रव्य-पर्याय विशेष में दाढ़ी, मूंछ, लिंग तथा इन रहित योनि आदि सहित तथा उभय तद्व्यतिरिक्त नपुंसक द्रव्यवेद होता है और जगह तो जिसका जो द्रव्यवेद होता है वही भाववेद होता है परन्तु मनुष्य तिर्यञ्चों के नियम नहीं है इनके द्रव्य पुरुष भावस्त्री नपुंसक पुरुष भी होते हैं और भावपुरुष भी होते हैं। देखो श्री केशववर्णी तथा श्री अभयचन्द्राचार्य की टीका मन्दप्रबोधिनी को।

फिर आप लिखते हैं 'जिस वेद का उदय होगा उसी वेद के अंगोपांग तथा निर्माण के उदय से वही वेद जन्मभर ही रहेगा' यह बात मनुष्य तिर्यञ्चों में नहीं होती द्रव्यवेद में तो होती है द्रव्यवेद तो जन्मभर एक ही रहेगा पर भाववेद में तीनों वेद हो सकते हैं।

गोम्मटसार जीवकांड टी० केशववर्णी—पुरुषस्त्री-षण्ढाख्य त्रिवेदानां चारित्रमोह भेदनोकषाय—प्रकृतीनां उदयेन भावे चित्परिणामे यथासंख्यं पुरुषस्त्री-षण्ढश्च भवति तथथा पुंवेदोदयेन स्त्रियां अभिलाषा-रूपमैथुनसंज्ञाक्रांतो जीवो भावपुरुषो भवति स्त्रीवेदो-दयेन पुरुषाभिलाषरूपमैथुनसंज्ञाक्रांतो जीवो भाव-स्त्री भवति नपुंसकवेदोदयेनउभयाभिलाषरूप मैथुन-संज्ञाक्रान्तो जीवो भावनपुंसको भवति पुंवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्त .. पाङ्गनामकर्मोदय—वशेन श्मश्रुकूर्चशिश्नादिलिंगाङ्कित-शरीर-विशिष्टो जीवो भवप्रथमसमयादिं कृत्वा तद्भवचरमसमय-पर्यंत द्रव्य पुरुषो भवति। स्त्रीवेदोदयेन निर्माण नाम कर्मोदय युक्ताङ्गोपाङ्ग नामकर्मोदयेन निर्लोमसुखस्तनयोन्यादि लिङ्गलांछित शरीर युक्तो जीवो भव प्रथमसमयादि कृत्वा चरमसमयपर्यंतं द्रव्यस्त्री भवति।

नपुंसकवेदोदयेन निर्माण — नामकर्मोदय युक्तांगोपाङ्ग नामकर्मोदयेन उभयलिंगव्यतिरिक्त-देहाङ्कितो भव प्रथम समयादि कृत्वा तद्भवचरम—समय पर्यन्तं द्रव्यनपुंसकं जीवो भवति एते द्रव्य—भाववेदाः प्रायेण प्रचुरवृत्या देवनारकेषु भोगभूमि-सवमनुष्यतिर्यञ्चेषु च समा द्रव्यभावाभ्यां समवेदो-दयाङ्किता भवन्ति क्वचित् कर्मभूमौ मनुष्यतिर्यग्गति-द्वये विषमाः विसदृशा अपि भवन्ति तथथा द्रव्यतः पुरुषे भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकं एवं द्रव्यस्त्रियां भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकं, द्रव्यनपुंसके भाव-पुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकं इति विषमत्वं द्रव्यभावयो रनियमः कथितः। कुतः द्रव्यपुरुषस्य क्षपकश्रेण्यारू-ढानिवृत्तिकरणसवेदभागपर्यन्तं वेदत्रयस्य परमागमे 'सेसोदयेण विहा झाणुवजुत्ता य तेदु सिज्झंति' इति प्रतिपादितत्वेन सम्भवात्।

ऐसा ही श्री अभयचन्द्राचार्य जी ने मन्द प्रबोधिनी में लिखा है। हिन्दी में ऊपर आशय लिखा ही है।

आचार्यों के प्रमाण उपस्थित करने पर भी आप हठ करें तो हम पूछते हैं कि जो लोग जनखा खोजा होते हैं, राजाओं के यहां स्त्रियों में रहते हैं उनके कौनसे वेद का उदय कहोगे और जो (जनाने) पुरुष दाढ़ी, मूंछ लिंगादि अंग होते हुए भी 'पुरुषं इच्छति

पुरुष्यति पुरुषः' जो भावस्त्री रूप होकर पुरुष की अभिलाषा करे और जो द्रव्यस्त्री होकर भी रण में युद्धादि करे, पुरुषार्थ दिखावे। जैसे झांसी वाल रानी, केकई हुई, इनके प्रत्यक्ष भावों में वेदों की विषमता दिखती है। इनके कौनसे वेदका उदय कहेंगे आप तो जन्म भर एक ही वेद द्रव्य माफिक भाववेद कहते हैं। प्रत्यक्ष का अपलाप कौन कर सकता है और आपने लिखा है कि—

'श्री गोम्मटसार जी में भी तीनों वेदोंमें जो १४ गुणस्थानों की प्राप्ति स्वीकार की गई है किन्तु इन ग्रन्थों में मंडन यह किया गया है कि यह बात केवल भाववेद की अपेक्षा से घटित होती है। भाववेदों का तीनों द्रव्यवेदोंके साथ पृथक् २ संयोग हो सकता है। जिससे ६ प्रकार के प्राणी होते हैं।'

अब यहां विचारने की बात है कि आपके विवेचन पूर्वापर विरुद्ध हैं। पहले तो द्रव्यस्त्री को मोक्ष नहीं, यह केवल कुन्दकुन्द स्वामी का मत है और दिगम्बराचार्यों का नहीं। किन्तु यहां गोम्मटसारमें निषेध दिखाया है। इस पर भी आपका असंतोष है क्योंकि सूत्रों में योनिनी शब्द का उपयोग किया गया है, यह भी बात गलत है। आचार्यों ने योनिनी शब्द का प्रयोग पञ्चम गुणस्थान तक वाली स्त्रियों के लिये ही किया है, उपरले गुणस्थानों में नहीं। आप ही जगह जगह योनिनी शब्द लिखते फिरते हैं। योनिनी शब्द स्त्रियोंको छोड़कर अन्यत्र घटित नहीं होता। सो अन्यत्र उपरले भाववेद के गुणस्थानों में योनिनी शब्द का प्रयोग ही नहीं। आपने जो द्रव्यप्ररूपणा आदि क्षेत्रस्पर्शन काल अन्तर भावादि के ४६।१२४।१२६।४३।३४।३८ इत्यादि सूत्रों के अङ्क लिखे हैं उन सब ही सूत्रों में भाववेद लेकर कथन है और वहां म-ष्यिणी शब्द का उपयोग किया है, योनिनी कहीं भी नहीं लिखा। फिर आपके इस योनिनी शब्द से पूर्ती पड़े तो कहो जब जगह जगह आचार्य सब वस्त्रसहित का पञ्चम से ऊपर कोई गुणस्थान ही नहीं कहते तब योनिनी शब्द भाववेद में ऊपरले गुणस्थानों में लाक्षणिक ही ठहरेगा परन्तु आप एक भी जगह दिखावें। है ही नहीं, क्या दिखावेंगे। फिर आप लिखते हैं 'द्रव्यसे पुरुष और भाव में कौन से ही वेद क्षपक श्रेणी चढ़ सकता है सो वेद की अपेक्षा आठवें गुणस्थान तक का ही कथन है। उससे ऊपर वेद रहता ही नहीं, फिर वेद-वैषम्य सिद्ध होता ही नहीं,' सो क्यों? जब छटे से नवमें तक द्रव्यस्त्री नपुंसक चढ़ते ही नहीं तो यह बात सिद्ध हो गई कि पांचवें गुणस्थान से वेद भाग पर्यंत नवमें तक गुणस्थानोंमें तीनों भाववेद वाले होते हैं। आप न मानें यह दूसरी बात है। आप योनिनी शब्द को बार बार लिखकर लोगोंका माथा फिराते हैं सो आपका लिखना झूठा है। कहीं भी योनिनी शब्द का प्रयोग नहीं। गोम्मटसार में पञ्चम गुणस्थान तक के लिये योनिनी शब्द आया है। सो द्रव्यस्त्रीके पञ्चम गुणस्थान होता ही है।

तथा यह बात आपकी कायम न रही कि स्त्रीमुक्ति का निषेध सब दिगम्बराचार्यों का सिद्धान्त नहीं। यह बात आपकी सरासर झूठी है। यह सिद्ध हुआ कि श्री धवलशास्त्र द्रव्यस्त्रीको मुक्ति निषेध करता ही है। राजवार्तिक सर्वार्थसिद्धि निषेध करता ही है। जब कर्मभूमि की स्त्रीके पिछले तीन संहनन होते हैं और मोक्ष एक पहले संहनन वाले के ही होती है। दूसरे द्रव्यस्त्री के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं और द्रव्यस्त्री के आहारकद्धिक नहीं इत्यादि प्रमाणोंसे

सब दिगम्बर आचार्यों का स्त्रीमुक्ति निषेध में एक मन्तव्य है।

अब योनिनी शब्द का हठात् प्रयोग करें तो योनि शब्द (नाम्ब्रीत्वे विनिः) तत्प्रभावमें हैं तो इससे भी भाववेद आया। तीसरे योनि शब्द यहां लाक्षणिक है। (मञ्चाः क्रोशन्ति) मचवे कोशरहे हैं। ऐसे विषयमें मंचतो जड़ हैं, उनमें कोशनानहीं बनता तो मचवा पर बैठे पुरुषों में लक्षणा की जाती है। वैसे ही जब सब आचार्यों द्वारा द्रव्यस्त्री को मोक्ष का अभाव पाया जाता है तो यहां छठे गुणस्थान से नवम तक स्त्री के गुणस्थान कहने से द्रव्यस्त्री के नवम गुणस्थान तक होते नहीं। तात्पर्य अनुपपन्न हुआ (तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं शक्तिशकंपद) पद शक्ति शक्त होता है। अर्थात् अभिधा शक्ति लक्षणाशक्ति व्यञ्जना शक्ति इन शक्ति के द्वारा पद वाच्य पदार्थ जाना जाता है। अब योनिनी शब्द योनियुक्त द्रव्यस्त्री का (अभिधा शक्ति से) वाचक है। परन्तु ऊपर के गुणस्थानों का द्रव्यस्त्री को निषेध करते आते हैं। क्योंकि वस्त्र सहित के मुनिदीक्षा नहीं तब योनि शब्द में तात्पर्य की अनुपपत्ति हुई।

तब योनि शब्द में लक्षणा की। अतः द्रव्यस्त्री के समान परिणाम में लक्षणा की तब भावस्त्री 'वाचक हुआ पर यह बात आपके हठ से कही है। आचार्यों ने कहीं भी भाववेदों की जगह भावस्त्री के लिये योनिनी शब्द नहीं लिखा है। आचार्यों ने योनिनी शब्द वहां प्रयोग किया है जहां पञ्चम गुणस्थान तक कथन किया है। नवमें गुणस्थान तक के कथन में मनुस्सिणी इत्थी भी इत्यादि शब्द लिखा है। तिर्यञ्चणी के कथन में योनिनी लिखा है फिर भी कदाचित योनिनी शब्द लिखा हो मुझे याद न हो तो भी जब सब आचार्य श्री पुष्पदन्तभूतबलि, श्री नेमिचन्द्र, श्री वीरसेन, श्री केशववर्णी, आदि लिखते हैं कि द्रव्यस्त्री के सकल संयम नहीं होता। (सचेलत्वात्) वस्त्र सहित होने से तो उनके लिखे हुये योनि शब्द का द्रव्यस्त्री ही अर्थ कैसे कर सकते हैं? और भी देखें कि धवलशास्त्र में द्रव्य मनुष्य, भावमनुष्य, द्रव्यभावमनुष्यों का कथन कर द्रव्यमनुष्य भावस्त्रियों का आलाप लिखते हैं। पेज ४१३

मनुस्सिणीणं भण्णमाणे अत्थि चोद्दस गुणट्ठाणाणि दो जीवसमासा छप्पज्जत्तीओ छअपज्जत्तीओ दसपाणा सत्तपाणा चत्तारिसण्णाओ मणुसगदी पंचिंदियजादी तसकाओ एगारह जोगा अजोगोवि अत्थि एत्थ आहार आहारमिस्सकायजोगा णत्थि किं कारणं? जेसिं भावो इत्थिवेदो दव्वपुणपुरिसवेदो ते वि जीवा संजमं पडिवज्जंति दव्वित्थिवेदा संजमं ण पडिवज्जंति सचेलत्तादो। भावित्थिवेदाणं दव्वेण पुंवेदाणं पि संजदाणं णाऽऽहाररिद्धि समुप्पज्जदि दव्वभावेहि पुरिसवेदाणमेव समुप्पज्जदि तेणित्थिवेदेपि णिरुद्धे आहारदुगं णत्थि तेण एगारह जोगा भणिदा इत्थिवेदोवि अवगदवेदोवि अत्थि एत्थभाववेदेण इत्यादि।

अर्थ—हिन्दी में आप श्री प्रोफेसर साहब ने लिखा है।

मनुष्यिणी (योनिमती) स्त्रियों के आलाप कहने पर चौदहों गुणस्थान संज्ञी पर्याप्त असंज्ञी पर्याप्त। इस तरह ये दो जीव समास छहों पर्याप्तियां इत्यादि अयोग गुणस्थान के होते हैं। पर इन मनुष्यिणियों के आहारक काययोग और आहारक मिश्रकाययोग ये दो नहीं होते।'

वहां शंका होतीहै कि ये दो योग क्यों नहीं होते?

समाधान—यद्यपि जिनके भाव की अपेक्षा स्त्री-वेद और द्रव्य की अपेक्षा पुरुषवेद होता है वे भाव-स्त्री जीव भी (संयम को) सकल संयम को प्राप्त होते हैं। किन्तु द्रव्य की अपेक्षा स्त्रीवेद वाले जीव संयम को (सकल संयम) प्राप्त नहीं होते क्योंकि वे सचेल अर्थात वस्त्र सहित होते हैं। फिर भी भाव की अपेक्षा स्त्रीवेदी और द्रव्य की अपेक्षा पुरुषवेदी संयमधारी जीवों के भी आहार ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती। इसमे स्त्रीवेद वाले मनुष्यों के ११ ग्यारह ही योग कहे हैं आहारकद्विक बिना। द्रव्यभाव दोनों से पुरुष होने में आहारकद्विक होते हैं इत्यादि लेख बढ़ जाने से सब नहीं लिखा। पाठक ग्रन्थ में देखलें।

इससे स्पष्ट है कि समस्त दिगम्बर आचार्यों के सिद्धांत में द्रव्यस्त्री को मोक्ष नहीं होती। इससे किसी से द्वेष नहीं, पक्षपात नहीं किन्तु स्त्री पर्याय में इतना सामर्थ्य और विशुद्ध भाव नहीं होते। पुरुषु महद्गुणेषु शेते प्रवर्तते स पुरुषः महान गुणों में प्रवर्तित हो सो पुरुष और दोषाच्छादनशील स्त्री भाव बतलाये हैं। यही सिद्धांत के लिये ? गाथा श्री गोम्मटसार के जीवकांड में कही हैं, धवला में भी आपने लिखी हैं और श्री गोम्मटसार कर्मकांड ५ वें खण्ड में प्रारम्भ में ही नवमें गुणस्थान में द्रव्यपुरुष जीव तीनों वेदों के उदय होने पर किसी एक वेद के उदय में क्षपक श्रेणि चढ़ते हुये लिखे हैं और तीनों वेदों का उदय भी चढ़ते हुये लिखा है। पर श्री धवल-शास्त्र में एक साथ तीनों वेदों का उदय नहीं लिखा। फिर पीछे से यह लिखा है कि एक जीवके पर्यायापेक्षा एक साथ भी होकर श्रेणि चढ़ता है। अर्थात अन्तर्मुहूर्त काल में तीनों वेदों का उदय पलटन परि-णामों की होने से एक साथ भी कहते हैं।

तब हमारे प्रोफेसर साहब यह शंका करते हैं कि जन्मभर एक वेद ही रह सकता है। शास्त्र में लिखे हुये ६ भेद हो ही नहीं सकते और आपके लेख में यह भी प्रकट होता है कि द्रव्यनपुंसक वेद ही नहीं होता।

शंका करने वाला चाहे जैसी शंका कर सकता है और उसका उत्तर भी दिया जा सकता है। पर यह नहीं कह सकते कि जो हम कहते हैं उसे दिगम्बर शास्त्र भी सिद्ध कर सकते हैं। या तो आप दिगम्बर शास्त्रों की छत्रच्छाया में रहकर उनका आधार लेकर प्रश्न करिये या स्वतन्त्र प्रश्न करिये। क्योंकि शास्त्रों का छल करें और अपने मनमाने निर्मूल प्रश्न करें आपको श्वेताम्बरों का मुलाहिजा साधना है साधिये। फिर दिगम्बर आचार्यों की अवहेलना क्यों करते हैं ? जानते हो शास्त्रानुसार जो अव-हेलना करता है उसके मिथ्यात्व का उदय पाया जाता है, शास्त्र कहते हैं।

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुनियोगा ॥२७॥
सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जं तं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदि ॥२८॥

जो सम्यग्दृष्टि जीव शास्त्र का श्रद्धान करता है, कदाचित अज्ञानता से अन्यथा श्रद्धान कर लेवे फिर शास्त्र से निर्णीत हो जाय कि ऐसे है, यह मिथ्या है तो उस श्रद्धान को बदल देवे और शास्त्र से ज्ञात करके भी उसे न बदले तो उसी समयसे उसे मिथ्या दृष्टि समझना चाहिये। यह बात हम इसलिये लिखते हैं कि धवलशास्त्र ऋषियों की टीका लिख गये और उसमें साफ साफ शङ्का उठा २ कर लिखा है कि

द्रव्यस्त्री को मोक्ष नहीं होती और भी सब शास्त्र जिसकी साक्षी में है किन्तु आपने यही लिखा है कि कुन्दकुन्द स्वामी ने ही लिखा है। वह भी कर्मग्रन्थोंमें मिलान नहीं। क्या श्वेताम्बरीय कर्मग्रन्थों से मिलान करना चाहते हैं? मैं आपसे पूछता हूं आपके मता नुसार जन्मभर एक ही वेद रहता है और द्रव्यस्त्री के पुरुष विषयाभिलाष रूप स्त्रीवेद का उदय नवमें गुणस्थान में है अथवा द्रव्यपुरुष के स्त्री विषयाभिलाषरूप पुरुषवेद का उदय है तो नवमें गुणस्थानवर्ती मुनि के यह परिणाम पाया जायगा तो यह परिणाम कुशील परिणाम हुआ क्योंकि जो मुनि द्रव्यपुरुष या द्रव्यस्त्री है उसके ऐसे परिणाम होंगे तो वह महाभ्रष्टी है? वह तो देशव्रती भी नहीं और वहां शुक्लध्यान कैसा, वहां अर्थ से अर्थान्तर, शब्द से शब्दान्तर, योग से योगांतर पलटन करता हुआ स्त्री पुरुषों में विषयाभिलाष रखेगा? इस रूप परिणाम होते हुए शुक्ल ध्यान कहां? वहां धर्मध्यान भी नहीं रहा। क्या मोक्ष सीधा सौर है जो श्वेताम्बर आइयों ने लिख मारा कि उपासरा में बुहारी देते मोक्ष हो गया? अजैनों की तरह भक्ति से ही मोक्ष हो गया। स्त्रियों को भी मोक्ष का आश्वासन देना। यहां तो न्याय में मुझे वह बात कहनी चाहिये चाहे अपनाही पिता क्यों न हो। अब अजैन लोग भारतमें भी लिखते है कि-

न बाह्यद्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति कस्यचित्।

बाह्य परिग्रह छोड़े बिना किसी को भी मोक्षसिद्धि नहीं होती तो द्रव्य स्त्रियों के कैसे मोक्ष हो सकती है?

सम्मोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ती।
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति॥

कभी मोहित हो जाती हैं, कभी मद घमंड करने लगती हैं, कभी विडम्बना बना लेती हैं, कभी अधिक स्नेह दिखाती हैं, कभी विषाद करती हैं। एक दिन में ही इतनी हालत कर बैठती हैं। ये 'स्त्रीणां दोषा स्वभावजा' ये स्त्रियों के दोष स्वाभाविक हैं। कोई विरली स्त्रियें कुछ स्थिर भाव करें और अपने भावों को सुधारें तो भी स्वाभाविक कमजोरी जाती नहीं, उतना परिणाम दृढ़ नहीं होता और मूल में वे सब परिग्रह छोड़ने में असमर्थ हैं। तब कैसे कहा जाय कि उसी भव से उन्हें मोक्ष हो सकता है। यदि वे उग्रतप करें तो स्त्रीलिंग छेद कर स्वर्ग जावें। इत्यादि सम्भावित है।

अब नवमें गुणस्थान में वेदों के उदय का क्या कार्य है यह सूक्ष्म विचार से जानना चाहिये। आप लिखते हैं कि 'द्रव्यमें पुरुष और स्त्रीलिंग के सिवाय तीसरा प्रकार ही नहीं पाया जाता।' द्रव्य नपुंसक संसार में स्त्रियों में और पुरुषों में दोनों में होते हैं। इन्हें यह मालूम ही नहीं। कोई स्त्रियां हीजरी होती हैं जिनके योनि स्थान विकृत होता है। जन्म से ही पुरुष भी ऐसे होते हैं जिनके इन्द्रिय स्थान ठीक नहीं यह बात वैद्यक शास्त्रों में नपुंसकों के प्रकार लिखते हुये लिखी है।

नपुंसकं यदा गर्भं भवेद्गर्भोऽम्बुदाकृतिः।
उन्नते भवतः पार्श्वे पुरस्तादुदरं महत्॥

प्रथम ही गर्भ से ही नपुंसक की पहचान। जिस स्त्री के गर्भ में नपुंसक बालक हो उस स्त्री के दोनों पसवाड़े बगलें ऊंची होवें और अगाड़ी से पेट उठा हुआ बड़ा हो तो उसके नपुंसक बालक पैदा होगा।

और वे नपुंसक ४ प्रकार के होते हैं। तथा १ कर्मज होता है अथवा उसको सहज नपुंसक भी कहते हैं। भावप्रकाश में ४ प्रकार, चरकसुश्रुत में

६ या सात ७ प्रकार भी माने हैं। इनमें कर्मज और सहजों के लक्षण लिखे हैं।

जो मनुष्य जन्म से हाजीव (नामर्द) होते हैं, उन्हें सहज नपुंसक या जन्म उत्पन्न कहते हैं आयुर्वेद के ग्रन्थों में लिखा है कि माता-पिता के रजवीर्य दोष से पूर्व जन्म के पापों से गर्भ में वीर्य बहाने वाली नसों में दोष होने से, वीर्य के सूख जाने से वीर्य का क्षय होता है। इस प्रकार से जो बालक उत्पन्न होते हैं उनके पुरुष चिन्ह अर्थात शिश्न लिंग नहीं होता उनको नपुंसक या हीजड़ा कहते हैं। दूसरे वे होते हैं जिनके पुरुष चिन्ह तो होता है पर निर्जीव या निकम्मा होता है, खाली मूत्र करने के काम का होता है। ऐसे जन्म के नपुंसकों की चिकित्सा नहीं हो सकती। अतः चरक सुश्रुत वाग्भट्टादि ग्रन्थोंने जन्म के नपुंसकों को असाध्य कहा है। देखो धन्वन्तरिः पुरुषरोगांक भाग १६ अङ्क १०.

और भावप्रकाश में इस प्रकार है—

आसेक्यश्च सुगन्धिश्च कुम्भीकश्चेर्षकस्तथा।

अमी सशुक्रा बोद्धव्या अशुक्रो षण्डसंज्ञकः ॥२॥

इसी का गर्भ लक्षण का श्लोक है और ये भी भावप्रकाश के ही हैं।

तेषां लक्षणमाह

पित्रोस्तु स्वल्पवीर्यत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत्।

सशुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रितिमसंशयम् ॥३॥

यः पूतयोनौ जायेत स हि सौगन्धिको भवेत्।

स्वगुदेऽब्रह्मचर्यत्वाद् यः स्त्रीषु पुंवत् प्रवर्तते ॥४

स कुम्भीक इतिज्ञेयो गुदयोनिस्तु स स्मृतः।

दृष्ट्वा व्य[illegible]न्येषां व्यवाये यः प्रवर्तते ॥५॥

ईर्षकः सतु विज्ञेयो दृष्टयोनिश्च स स्मृतः।

यो भार्यायां ऋतौ मोहात् अङ्गनेव प्रवर्तते ॥६॥

तत्र स्त्रीचे[illegible]ो जायते षंडसंज्ञकः ॥

इनके होने का कारण हारीत संहिता में लिखा हुआ है—

अन्य विकृतिर्यथा

समवीर्यरजस्त्वेन नरः स्त्री प्रकृतिर्भवेत्।

नपुंसकमिति ख्यातं न स्त्री न पुरुषो भवेत् ॥८॥

समदोषबलेनापि प्रकृत्या विकृतेरपि।

समोभवेद्[illegible]का नपुंसकसमुद्भवः ॥६॥

नपुंसकस्य,समुद्भवः उत्पत्तिः वर्णिता।

इति हारीते शारीरस्थाने प्रथमेऽध्याये ॥

देखो इन वैद्यक ग्रंथोंको। फिर भी आप लिखतेहैं तीसरा प्रकार तो सम्भव ही नहीं होता। दुनिया तो लिखे और जाने, सब जगह पुराण शास्त्रों में लिखा है कि राजा लोगों के रनिवासों में खोजे रहते थे और रहते हैं। हम जब सं० १९६० में गुजरात में ईडरगढ़ में गये थे तब राजा केशरीसिंह की गद्दी पर प्रतापसिंह बैठे थे। वहां केशरीसिंह के रक्खे रनिवास में अनेक खोजे थे।

और वाग्भट्ट में—

अतएव च शुक्रस्य बा[illegible]ल्याज्जायते पुमान्, रक्तस्य स्त्री, तयोः साम्ये क्लीबं ॥४॥

शारीरिक स्थान पेज २४८

इसी लिये कार्यकारण भाव को प्रधान रखते हुवे यदि गर्भाधान के समय शुक्र की अधिकता हो तो पुरुष ही उत्पन्न होता है यदि रज की अधिकता हो तो कन्या होती है। और यदि स्त्री का रज पुरुष का शुक्र गर्भाधान के समय समान भाग हो तो नपुंसक सन्तान उत्पन्न होती है।

क्लीबं मत्संकरे तत्र मध्यं कुक्षेः समुन्नतम्।

यमौ पार्श्वद्वयोन्नामात् कुक्षौ द्रोण्यामिवस्थिते ॥८२॥

इन श्लोकों का अर्थ संक्षेप में यह है कि नपुंसक मनुष्य ५ या ६ या ७ प्रकार वैद्यक शास्त्र में कहे हैं, भावप्रकाश के कहे—

१-आसेक्य—आसेक्य नपुंसक वह है जो माता पिता के स्वल्प वीर्य होने से उत्पन्न होता है। उस के वीर्य कम होता है, वह दूसरे का वीर्य भक्षण करके विषय में प्रवर्तित होता है।

२-सुगन्धि—जो माता पिता के रजवीर्य दूषित होने से गन्धयुक्त योनि से उत्पन्न हुआ हो और कुत्ते की तरह योनिगन्ध लेकर विषय में प्रवर्तित हो।

३-कुम्भीक—कुम्भीक उसे कहते हैं जो गुदा से कुशील सेवन कर स्त्री के विषय में प्रवर्तित होता है।

४-ईर्षक—ईर्षक वह है जो दूसरे को विषय में प्रवर्तित देखे तब उसे काम जगे। तब विषय में प्रवर्तित हो।

५-षण्ढ—और षण्ढ नपुंसक वह है जो स्त्री प्रसंग समय में अपनी स्त्री की तरह कुचेष्टा करै अर्थात विषय सेवन में एकदम असमर्थ हो या तो इन्द्रिय नहीं और इन्द्रिय होवे भी तो कुछ कर न सके, असमर्थ हो। इसको एकदम षण्ढ कहते हैं।

स्त्री भी षण्ढा होतीहै। उसके २ भेद सहजा और कर्मजा होते हैं। स्त्रियों के या तो योनिस्थान होता नहीं या पेशाब के लिये एक छिद्र होता है और योनि का आकार भी हो, गर्भनली हो ये तो सहज कही। अब तो स्त्रियें डाक्टरों से बच्चादानी निकलवा डालती हैं वे भी नपुंसका हो जाती हैं। देखो वाग्भट्ट अष्टांग हृदय वैद्यक—

योनौ वातोपतप्तायां स्त्रीगर्भे बीजदोषतः।

नृद्वेषिण्यस्तनी च स्यात्षण्ढसंज्ञाऽनुपक्रमात् ॥४१

योनि को वायु से उपतप्त होने से बीजदोष से गर्भ में मनुष्य से द्वेष रखने वाली अर्थात मनुष्य को न चाहने वाली स्तन रहित अनुक्रम से षण्ढ संज्ञा रहने वाली होती है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि उस तप्तवातुलयोनि से षण्ढ कन्या उत्पन्न होती है और स्तनरहित होती है और यह भी अर्थ हो सकता है कि योनिवातुल गर्भ हो जाने से फिर वह गर्भ धारण नहीं कर सकती। स्तन सूख जाते हैं, षण्ढ हो जाती है। यह कृत्रिम षण्ढा हुई, पूर्व अर्थ से कर्मज सहजा षण्ढा ठहरती है।

पर वात्स्यायन ने कामशास्त्र में मनुष्य व मनुष्यिणी दोनों ही षण्ढ-षण्ढा कर्मजन्य भी होते हैं ऐसा लिखा है। और स्त्री पुरुषों के कर्मज और सहज तथा विकृतिज कृत्रिम डाक्टरी ग्रन्थों से भी दिखाया है। धन्वंतरि ग्रन्थ में देख सकते हैं।

अब आप यह नहीं कह सकते कि द्रव्य में स्त्री व पुरुष के सिवाय तीसरा प्रकार ही नहीं पाया जाता। यह आपका नितान्त भ्रम है। आपको शास्त्रों पर तो बिल्कुल विश्वास ही नहीं। नहीं तो क्या आप जैसे विशेषज्ञ पण्डित होकर भी क्या तत्वार्थसूत्र महाशास्त्र श्वेताम्बर दिगम्बर उभय सिद्धांत मान्य होने पर भी तत्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक दिगंबर सिद्धांत के देखने पर व तत्वार्थाधिगम-भाष्य श्वेताम्बर सिद्धांत मान्य में शेषास्त्रिवेदाः इस सूत्र की व्याख्या में 'देवनारकियों से शेष मनुष्य-तिर्यञ्च तीन वेद वाले होते हैं' ऐसा अनेक बार पढ़ने पर ऐसा लिखते कि तीसरा प्रकार तो पाया नहीं जाता जिससे नपुंसनक के द्रव्यभाव से तीन भेद बन सकें? हां, यह बात अवश्य है कि लोग कहते हैं कि यूरुप वाले स्त्रियों में वीर्य का इंजेक्शन लगाकर मनुष्य पैदा करने लगे हैं। यह बात आधु-

लिक पण्डित साधुओं के हृदय में अवश्य विश्वसनीय हो जायगी। गनीमत है कि मनुष्य का वीर्य लेकर इंजेक्सन लगाकर मनुष्य पैदा करते हैं। और स्त्रियों के ही कहीं मनुष्यों के वीर्य का इंजेक्सन लगा कर मांधाता राजा की उत्पत्ति की तरह कहीं मनुष्यों के पेट से मनुष्य पैदा करने न लग जांय। क्योंकि मांधाता के पिता ने पुत्र—कामेष्ठ यज्ञ के घड़े का पानी पी लिया था सो उनके गर्भ रह गया था। तब मांधाता उत्पन्न हुये थे। ऐसी सनातनी वैष्णवों में कथा है।

और श्वेताम्बरों के यहां भी महावीर भगवानको ब्राह्मणी के गर्भ से इन्द्र (किस कर्म्म ग्रंथ के मिलान कर) निकाल कर राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला देवी के गर्भ में लाया और कैसे एक गर्भस्थली से निकालकर दूसरी गर्भस्थली में रक्खा। इसका भी थोड़ा कर्म्मग्रंथों से मिलान कर दिगम्बर और श्वेताम्बर सिद्धांत की तुलना लिखना क्योंकि निष्पक्ष वक्ताओं का यही कार्य होना चाहिये।

अब हम फिर प्रकृत विषय पर लिखते हैं कि वेद के ६ भेद कैसे सम्भवित हैं। जब निर्माण नामकर्म तो ध्रुव है, निरन्तर बंधने वाला है और आंगोपांग ३ प्रकार अध्रुवबंधी है तो भी अप्रत्याख्यान कषाय और नोकषाय वेद के उदय होने से और वेदकर्म नो कषाय के उदय से तथा औदारिक अंगोपांग के उदय से आत्मा के तदनुकूल परिणाम होने से आत्मा द्रव्यवेद के अंगोपांग निर्माण करने के लिये व्यापृत होकर द्रव्यपुरुष या स्त्री या नपुंसक के चिन्ह लिये औदारिक अंगोपांग की रचना करता है और उस वेद के चिन्ह लिये डाढ़ी, मूंछ, लिंग या डाढ़ी-मूंछ रहित योनि चिन्ह सहित या उभयलिंग व्यतिरिक्त उभयचिन्ह आकार रहित या उभय सहित— १ द्रव्यपुरुष, २ द्रव्यस्त्री, ३ द्रव्यनपुंसक पने को प्राप्त होता है तो द्रव्यवेदानुकूल परिणाम होवें इस में तो कोई बाधा आपके मन्तव्यानुसार भी नहीं है।

अब शङ्का इस बात की है कि द्रव्यवेद के बिना जीव के दूसरा वेद भाव में कैसे बने? इसकी बात यह है कि भाववेद को आचार्यों ने पुरुष की नपुंसक वेद नामक नोकषाय वेदनीय के उदय से उत्पन्न परिणाम से मैथुनाभिलाष रूप परिणाम से भावपुरुष और भावस्त्री भावनपुंसक बतलाया है।

पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं।
पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो॥
गोम्मटसार जीवकांड १७१ गाथा

जो महान उत्तम गुणों में प्रवर्तित हो अथवा जो बड़े २ भोग नरेंद्र नागेंद्र देवेंद्रादिक अथवा नरेंद्र नागेंद्र देवेंद्रों के भोग और पुरुगुण सम्यग्ज्ञानादि में तथा पुरुगुण कर्म धर्मार्थ काम मोक्ष लक्षण साधनरूप दिव्यानुष्ठान और पुरुउत्तम परमेष्ठिपद इन में जो प्रवर्तित हो सो पुरुष है।

और गाथा १७०—

छादेदि सयं दोसेण यदो छादइ परं हि दोसेण।
छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी॥

जो अपने को दोषों से ढके और दूसरों को दोषों से ढके ऐसे छादनशील स्वभाववाली को स्त्री, स्तृञ् छादने धातु से स्त्री बना अथवा स्त्यै शब्दसंघातयोः धातु से स्त्यायतेड्ट् इस सूत्रसे ड्रट् प्रत्यय और टिड्ढाणञ् इत्यादि सूत्र से ङीप् प्रत्यय कर शब्दशास्त्रसे स्त्री बना, जिसका अर्थ जो रजवीर्य को गर्भस्थली में इकट्ठा करे सो द्रव्यस्त्री है यहां पर भी भावस्त्री में स्त्री शब्द लाक्षणिक है अथवा जैनसिद्धांत से छादनशील-

स्वभाव भी में घटित होता ही है।

और—

णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उभयलिंगवदिरित्तो।
[illegible]गसमाणग वेयणगरुओ कलुसचित्तो ॥१७२

गोम्मटसार जीवकाण्ड

नैवस्त्री नैवपुमान स नपुंसकः इष्टिकाग्निसमं

जो न पुरुष न स्त्री दोनों से जुदा तीसरा लिंग नपुंसक है, जो भाव में हमेशह कार्य करने में असमर्थ कलुषित चित्त ईंट के भट्टे की अग्नि समान धुंधकता रहे ऐसा भाव जिसका हो वही नपुंसक होता है।

तो सदा समय—प्रबद्धमात्र कर्मवर्गणाओं का पुद्गल पिण्ड सातकर्मरूप समय समय बंधता रहता है। सिद्धराशि का अनन्त वां भाग बड़ा और [illegible] का अनन्तगुणा छोटा पुद्गल पिण्ड बंधता है। एक आयु को छोड़कर। (आयु का बंध त्रिभाग में होता है) सो बंधा हुआ [illegible] वेदों का बंध है वह जब उदय आवे तो उसके उदय आने में कौन रोकने वाला है। अबाधाकाल छोड़ उदय प्रकृतियां आवेंगी ही, कोडाकोड़ी सागर का अबाधाकाल १०० वर्ष है। फिर मध्यम और जघन्य स्थिति वाले उदय कर्म अबाधा काल छोड़ आते ही करेंगे।

द्रव्यवेद की रचनामें कारण उत्तत वेदों का उदय और निर्माणकर्म तथा आंगोपांग नामक नामकर्मको आवश्यकता है। सो [illegible]जनाकाल में भी और द्रव्य-वेद जन्मभर रहेगा, पर भाववेद तो परिणामों को परिणमाता है। इसी से कामदेव को मनोभव कहा है और उसी की सहकारिता से द्रव्यवेदों में क्रिया होती है। फिर चक्षुरादि ज्ञानावरण के क्षयोपशम का कार्य भिन्न २ है जो रूप को जानतो है वह स्पर्श को नहीं। परन्तु तीनों वेदों का कार्य एक मैथुनाभिलाष और द्रव्यवेदों से भी एक विषयसेवन ही है। [illegible]न में वह नहीं है भिन्न २ विषय हैं और जहां सर्व आवरणों का क्षय हो जाता है वहां केवल ज्ञान में ज्ञान एक हो गया तब भी केवली भगवानके एक २ आत्मा के प्रदेश में एक साथ और अतीन्द्रिय अपरिमित पांचों इंद्रियों का ज्ञान और उससे अनंतानंत गुणा ज्ञान होता है और जबतक क्षयोपशम है तब तक भिन्न २ है। इसका दृष्टांत वेदों में घटित नहीं होता।

द्रव्यवेद— नोकषाय वेदनीय से हुए भाव उनका निमित्त पाकर तथा निर्माण कर्म तथा आंगोपांग नाम कर्म का उदय निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु कर्म रूप परिणमनकर द्रव्यव्यञ्जन पर्याय रूप द्रव्यवेद हैं। वह नियम से तीनों में आयुपर्यंत एक ही रहेगा और भाववेद गुण परिणमन एक समयिक अर्थपर्याय और अन्तर्मुहूर्त व्यञ्जनपर्यायरूप है वह द्रव्यवेद तो व्यञ्जन पर्याय है। स्थूल वाग्गोचर व्यञ्जन पर्याय होती है, द्रव्यव्यञ्जनपर्याय अपने निजभव पर्यंत स्थिर रहती है और सूक्ष्म अस्थिर वाक्‌अगोचर अर्थ पर्याय होती है आत्मा का भावपरिणमन गुणपर्याय है। यह भाव परिणमन अनेक क्षण-स्थायी होने से गुण व्यञ्जन पर्यायरूप होता है और एक सामयिक अर्थ पर्यायगोचर होता है। भाव परिणमन केवल नोकषाय के उदय से ही होता है द्रव्यवेद में नोकषाय और निर्माण तथा आङ्गोपाङ्ग [illegible] उदय की भी कारणता है। तब भिन्न कारणसे भिन्न कार्य होना न्याय्य है, तब एक पर्याय में तीनों भाववेद होने में कोई बाधक कारण नहीं है और द्रव्यवेद भाववेदों के होने में बाधक नहीं है। क्योंकि द्रव्यवेदों के उदय में नो-

कषाय की भी कारणता है किन्तु भाववेदों में निर्माण तथा अंगोपांग नाम कर्म की कारणता नहीं है। (निर्माणाङ्गोपांगनामकर्मणोः कारणताविरहात्, न हि द्रव्यवेदानुकूला भाववेदकारणता) इससे जो द्रव्यवेद है वही भाववेद हो यह नियम नहीं ठहरता, कारण में भेद होने से।

यदि इसी का हठ किया जाय तो पञ्च परावर्तन रूप संसार में कषायाध्यवसायस्थान, योगाध्यवसाय स्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं, सो ही बन्धाध्यवसाय स्थान भी असंख्यात लोकप्रमाण हैं एक ही भव में उनका उदय तो प्रति समय होगा और द्रव्यवेद एक ही रहेगा। तब द्रव्यवेदोंके साथ भाव परिणमन का कोई मिलान नहीं। सबसे बड़ा भाव परिवर्तन है वह और परिवर्तनों के समान समय को कैसे रख सकता है ?

अब यहां यह शंका हो सकती है कि देवगति, नरकगति और भोगभूमि के मनुष्यों के शरीर में भवपर्यंत कैसे एक ही भाव रह सकता है ? इसका उत्तर यह है कि वेदों के कषायों की मन्दता में इन्द्रिय विषयों की ऊपर २ मन्दता है स्वर्गों में पहले पटल को छोड़ द्रव्यवेद की कायकुचेष्टा की ही आवश्यकता नहीं रहती, स्पर्श, रूप, मनोहरगीतादि, मनः स्मरणसे कामवासना तृप्त हो जाती है वेदउदय की मन्दता में उतनी कामवेदना ही नहीं होती। अतः कायकुचेष्टा करे बिना ही थोड़े में ही काम वेदना शांत हो जाती है और नारकियों के नपुंसक वेद का उदय द्रव्यभाव दोनों से है क्योंकि स्त्री का नोकर्म पुरुष और पुरुष का नोकर्म स्त्री ये वहां दोनों हैं ही नहीं। सुखसाता रंच नहीं। स्त्री पुरुष वेद में इन्द्रिय सुख होता है, वह शरीर दुःखायतन है। इस भाव की भी संभवता नहीं। भोगभूमि के मनुष्य तिर्यञ्चों के कषाय प्रवृत्ति कम तथा इन्द्रिय विषय सुखों की पंच भजन्य पूर्ति है। द्रव्यवेद से विपरीत वेद होने की कोई विषमता का कारण नहीं। कर्मभूमि के मनुष्य-तिर्यञ्चों में ही यथेष्ट विषयों की अप्राप्ति से वेदों की विषमता है।

अब रही बात यह कि वह शंका यहां फिर उप-स्थित होती है कि नवमें गुणस्थान में जहां हास्यादि ६ नोकषायों का नाश कर सवेदभाग में तथा नौवें गुणस्थान में जो मुनि श्रेणी चढ़े हैं उनके परिणामों में क्या स्त्रीवेद का उदय स्त्रीत्व धर्म को करता है और नपुंसकवेद का उदय क्या नपुंसकत्व धर्म कर-वाता है ?

यह बात यहां समझने की है कि वहां पर बुद्धि पूर्वक यानी बुद्धि चलाकर हमारी तुम्हारी तरह काम तो होता नहीं क्योंकि वहां तो बाह्य पदार्थों से दृष्टिशून्य हैं, अर्थात पदार्थ तीन प्रकार के हैं एक तो ज्ञेयात्मक घटपटादि रूप और दूसरे शब्दात्मक रूप घटपट जीव ये पद वाक्य स्वरूप वाचक शब्दरूप पदार्थ और तीसरे ज्ञानरूप; जो ज्ञेय के अवलम्बन से ज्ञेय रूप ज्ञान हुआ। वे ज्ञान ज्ञेय से तो पृथक्-त्व वितर्क शुक्लध्यान में अनन्त ज्ञेय रूप जो ज्ञान हुआ वे ज्ञान के ज्ञेयरूप अर्थ और उनके वाचकशब्द ब्रह्मरूप शब्द वर्ण पद वाक्य जो आगम शास्त्रों व शुद्ध स्वरूप परमब्रह्म वितर्क इन पदार्थों में जो अन्तर्दृष्टिरूप ज्ञान धारा ध्यानधारा है उसमें वे मुनि विराजमान बाह्य से शून्य ध्यानमय है। यही अबुद्धि पूर्वकता है।

अब उस ध्यानधारा में जो वेदका उदय आकर स्त्रीवेद परिणामों में चञ्चलता उत्पन्न करता है तब

क्लीव चञ्चलता लिये स्त्रीभाव हैं और नपुंसकवेद का उदय असमर्थता (कार्य करनेमें असमर्थता) दिख-लाता है यही नपुंसकता परिणामों में उत्पन्न करता है। परन्तु कर्म-क्षपणा में लगे हुये इन ३ वेदों के उदय परिणामों का भी क्षय (नाश) करते हुए सवेद ६ भाग तक में तीनों वेदों का नाशकर नवम गुणस्थान के दूसरे अवेद भाग में पहुंच जाते हैं वहां संज्वलन क्रोध मान माया और बादर सं० लोभ कषायों का भी नाश कर दशम गुणस्थान यह सूक्ष्मलोभ (सूक्ष्मसाम्पराय) नाम पाते हैं।

अब यहां स्त्रीअभिलाष रूप और पुरुष अभि-लाष रूप या उभयाभिलाषरूप भाव नहीं समझना। यह भाव वहां कहे जांय तब तो बड़ा अनर्थ समझा जाय। मोक्ष कैसी और ध्यान कैसा ? जहां पुरुष और स्त्री की अभिलाषा है वहां महाव्रत ही नहीं बन पाता। फिर श्रेणी माड़ना कैसा। यह द्रव्यपुरुष की ही प्रधानता है कि वैसे परिणामों की चञ्चलता को जड़मूल से नष्ट कर देवें यह द्रव्य स्त्री वेद वाले या नपुंसकवेद वाले नहीं कर सकते।

जो द्रव्यस्त्री है वह वस्त्रत्याग कर नहीं सकती क्योंकि संसार में बड़ी दुष्टता है। जब स्त्रियां वस्त्र रखती हैं तब भी अकेली दुकेली नहीं रह सकतीं क्योंकि जो आर्यिकायें होती हैं वे वन में भी उग्र तप करती हुई पर्वत पर वहां रहती हैं जहां उनसे कुछ फासले पर मुनिसंघ तप करता होवे तथा आ-र्यिकाओं का बहुत संघ हो। वृद्धा आर्यिका साथ हो तब उनका व्रत पलता है और अकेले रहनेमें उन का शील कोई बिगाड़ दे तो फिर नग्न रहने में तो बड़ा अनर्थ हो। स्त्रियों के साथ दुष्ट पुरुष बलात्कार करते हो अपनी विषय वासना की पूर्ति कर लेते हैं। परन्तु स्त्रियें पुरुष के साथ बलात्कार भी नहीं कर सकतीं। जब मुनि अपना मन न चलावे तो जब-रन स्त्रियें उनके साथ विषयपूर्ति नहीं कर सकती क्यों-कि जब उनकी इन्द्रिय काम न करे तो स्त्रियें क्या शील बिगाड़ सकती हैं परन्तु स्त्रियें मन न करें तो भी पुरुष उनके साथ बलात् कर अपने विषय की पूर्ति कर सकता है। यह पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक कमजोरी है।

इस लिये स्त्रियें कदापि वस्त्र परिग्रह नहीं छोड़ सकतीं और तब परिग्रह में वस्त्र धोना आदि आरंभ भी नहीं छोड़ सकती और ध्यान एकांत में होता है। दुष्टों के भय से वे एकांत में रह नहीं सकतीं। कदा-चित कोई कहे कि हम ये सब बातें कर लेवें फिर तो कोई बात नहीं। तो भी स्त्रियों के तीन संहनन पिछले कहे हैं। इसमें भी स्त्रियें परिणामोंमें दृढ़ नहीं हो सकतीं। बिना परिणाम की विशेष विशु-द्धता और दृढ़ता के समस्त कर्म क्षय करने में समर्थ नहीं होतीं। यद्यपि संहनन पौद्गलिक बाह्य सम-र्थता करते हैं तो भी वज्रवृषभनाराच संहनन प्राप्त शरीर में अवस्थित आत्मा ही समस्त कर्मों के नाश करने में समर्थ हो सकता है। जैसे पुख्ता दस्ता डाली हुई विजातीय कुल्हाड़ी सजातीय दस्ता की सहायता से सजातीय पुख्ता वृक्ष को काट सकती है वैसे ही यह आत्मा चेतन पुद्गल से विजातीय होने पर वज्रवृषभनाराच संहनन को पाकर के ही कर्म्म पुद्गलों को नष्ट करने में समर्थ हो सकता है। क्योंकि अनादि पुद्गल संबद्ध इस आत्मा को शक्ति बलवीर्यादि की संवृद्धि शरीराश्रित हो गई है। इसके फसाव से निकलना भी तो कुठारी में बेंठ की तरह इसकी सहायता से ही जीव को प्राप्त हो सकेगा।

यही कारण है कि वज्रऋषभनाराच संहनन की आवश्यकता है। हीन संहनन में कमजोर रहेंगे अर्थात आहारादि त्यागवृत्ति विशेष धारण न करनेसे ये कर्म मार देंगे। अर्थात औदारिक शरीर के वियोग रूप मरण करलेंगे, पर कर्मक्षपणा न करसकनेसे मोक्ष न होगी और जन्ममरणकी व्यथा न मिट सकेगी। हीन संहनन वाले के ध्यानादि में कमी होने से समस्त कर्म शत्रु नहीं हट सकते। इस लिये हीनसंहनन होने से स्त्री मोक्ष प्राप्ति नहीं कर सकती।

कमजोर आत्मा के कषायाध्यवसाय स्थान प्रबल होते हैं। इसकारण वह कार्य करनेमें समर्थ तो होता नहीं किन्तु भीतर ही भीतर जला करता है। लोकमें भी कहते हैं कम कुव्वत गुस्सा ज्यादा, वह वैरियों से विजय पाने के बजाय पिट कर आता है। उसी प्रकार स्त्री के अध्यवसाय प्रबल हैं, सहज में शांत नहीं होते। जिस तरह देवों का भोगायतन शरीर है, इसमें वैक्रिय शरीर है, इसमें परिग्रह त्याग तथा तप नहीं कर सकते। नारकियों का दुःखायतन शरीर है, स्त्री पुरुषभाव उनके नहीं होता? चूंकि वहां रंच भी साता नहीं है। स्त्री पुरुष के इन्द्रिय विषय भोगरूप किञ्चित इन्द्रियविषय भोग रूप सुख परिणाम है। इसकी उनके योग्यता ही नहीं, इसी से मोक्षके प्रयत्न करनेकी योग्यता नहीं नारकी द्रव्यभाव दोनोंसे नपुंसक हैं उच्च काम करने में शरीर अयोग्य है और पशु अज्ञानी गात्र मात्रपरिग्रही हैं, बाह्यपरिग्रह रहित होने पर भी परिणामों की प्रचुर कलुषता और अज्ञानी (किञ्चिज्ज्ञान) होने से अणुव्रत वृत्ति अनुसार धारण कर सकते हैं। वे भी मोक्ष प्राप्त नहीं करते। इसी प्रकार स्त्रियें भी भावों में विशेष प्रबल अध्यवसाय भावों से कर्ममुक्त होने योग्य वे शुद्धता की अभूमि होने से वह मोक्ष नहीं जा सकती। पुरुषों में भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में सब से अधिक क्षत्रिय मोक्ष जाते हैं। उनमें ही आत्मोत्सर्ग तक कर देने का भाव रहता है। ब्राह्मण वैश्यों में जो [illegible] अधिक होता है, शूद्रों में मोक्ष जाने की विशुद्धता नहीं पाई जाती और नीच कुली हीनाचारी कषायाध्यवसायों की प्रबलता से, विशेष धर्म्म संस्कार न होने से, परिणामों की विशुद्धता की अभूमि होने से मोक्ष प्राप्त नहीं होती। इसमें बरा किसका है, क्या मोक्ष लाड्डू पेड़ा है? जो सबको बांट देवें। जो प्रसाद सबको बांट दिया जाय या किसीका मुलाहिजा करके उसे दे देवें। सो आचार्योंके पास, श्वेताम्बर दिगम्बरियों के पास मोक्ष रखी है? जो दे दी जाय। जैसे इतने अनन्तानन्त जीवों को अयोग्यताके कारण मोक्ष नहीं होती वैसे स्त्री पर्याय से द्रव्यस्त्री को मोक्ष नहीं होती।

आजकल के कर्मभूमिके इस क्षेत्र में पञ्चमकाल के जीवों को मोक्ष नहीं होनेरूप अयोग्यता है। अब देख तो रहे हो धर्म के विषय में तमाम खींचातान होती है, तो कोई धर्म की निन्दा, टीका टिप्पणी करता है, कोई मुनि की टीका टिप्पणी करता है, कोई धनाढ्य की, कोई मुनि की अवहेलना करता है फूट ने घर घेर लिये हैं, कोई किसी में मस्त, कोई किसी में मग्न है और सब अमर्त्य भट्टी प्रायः भ्रष्टाचारी हो गये हैं। अब किसी के पास रखी है जो मोक्ष दे देवे? सदाव्रत थोड़े ही है, यह तो अति विशुद्ध भाव से होती है।

जैसे पंचमकाल में मोक्ष का अभाव वैसे ही स्त्रियों के भावोंमें उस जाति की विशुद्धता नहीं। जैसे एक शृगाल का बच्चा सिंहनी के बच्चों में आ गया

सिंहनी ने उसपर दया कर रख लिया। बच्चों में खेला करे, सुख से रहे। एक दिन गजों से लड़ने का काम आ गया तो वह शृगाल का बच्चा सबको उपदेश से गजों से लड़ने में कमजोर करने लगा। तब सिंहनी बोली—

शूरोसि कृतविद्योसि सुभगोसि प्रियः सुत।
यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नः गजस्तत्र न हन्यते॥

हे प्यारे पुत्र! तुम शूर हो, चतुर हो, खूब पढ़े हो, सुन्दर हो, सब कुछ हो पर तुम उस कुल में पैदा नहीं हुवे हो जिसमें हाथी मारे जाते हैं। इसी प्रकार स्त्रियों में सब कुछ आप मान लें पर स्त्रियों में वे विशुद्ध भाव नहीं होते, जो मोक्ष हो जाय।

और सर्वार्थ सिद्धि का जो प्रमाण लिखा है—तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि टीका ६-४६।४७ (इस नवमें अध्याय) में कहीं भी वस्त्र ग्रहण नहीं लिखा है। किन्तु पद दिया है कि—

'अविविक्तपरिवाराः'

यह विशेषणमें बकुश मुनियों के लिये दिया है। उसका अर्थ यह नहीं है कि घरके लड़के की आदिसे मोह नहीं छूटा है। यहां परिवार मुनियों का संघ शिष्यादिक और शरीरादि, कमण्डलु आदि से भी मोह है। कमंडलु को साफ सुथरा करके रखना, शरीर को सम्हालना इत्यादि परिणामों में विचित्रता पाई जावे वे बकुश हैं और मूल गुण अट्ठाईस हैं, उनमें तो विराधना नहीं है किन्तु उत्तर गुणों में कोई भी विराधना हो जाती है। वे प्रतिसेवना कुशील हैं, तथा किसीके संज्वलन कषायोदय से वे कभी जांघपैर धो लेते हैं। परन्तु निर्ग्रंथ सब ही मुनि हैं। कुछ दोष लगते हैं तो शंकाकार शंका करता है। यथा-

गृहस्थश्चारित्रभेदात् निर्ग्रन्थ-व्यपदेश-भाक् न भवति तथा पुलाकादीनामपि प्रकृष्ट-मध्यम चारित्रभेदात्-निर्ग्रन्थत्वं नोपपद्यते।

जैसे गृहस्थ के चारित्र के भेद से निर्ग्रंथपना नहीं होता उसी तरह मुनियों में भी निर्ग्रंथपना नहीं कहना चाहिये। तब आचार्य कहते हैं—

दृष्टिरूपसामान्यात्

सम्यग्दर्शनं निर्ग्रन्थरूपं च भूषावेषाऽऽयुधरहितं तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु निर्ग्रंथशब्दो युक्तः।

यानी—सामान्यपने सम्यक्त्व तथा नग्नत्व (गहना वस्त्र और शस्त्रादि रहित) सर्व मुनियों में है। फिर प्रश्न किया कि—

भग्नव्रते वृत्तावतिप्रसंग इति चेन्न रूपाऽभावात्।

अर्थ—जो भग्नव्रत मुनि में और कोई दोष उत्तर गुणादि में लगे हुए मुनि में आप निर्ग्रन्थपना मानते हैं तो फिर श्रावक को भी निर्ग्रन्थ कहो तो आचार्य कहते हैं—

अतिप्रसंगो नैष दोषः कुतो रूपाऽभावात्।

यह श्रावकों में अति प्रसंगी, अति व्याप्ति रूप दोष नहीं जाता। दिगम्बरत्व (निर्ग्रन्थ) रूपका श्रावकों में अभाव होने से—

निर्ग्रंथरूपमत्र नः प्रमाणं न च श्रावके तदस्तीति नातिप्रसंगः।

हम लोग दिगम्बर सिद्धान्तियों को नग्नत्वरूप प्रमाण है वह श्रावकों में नहीं पाया जाता। यह सब राजवार्तिक में लिखा है और सर्वार्थसिद्धि में भी संक्षेप से है। दिगम्बरपना तो दि० आचार्योंने दिखाया है और दशवें अध्याय में ६ वें सूत्र की टीका में यह लिखा है—

अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न द्रव्यतः पुल्लिंगेनैव।

जो वेद की अपेक्षा मोक्ष कही वह तीनों लिंगों की अपेक्षा भाववेद से, द्रव्यलिंग तीनों से नहीं। द्रव्यलिंग — केवल पुरुष द्रव्यलिंग से ही मोक्ष कही है। अथवा—

'निर्ग्रन्थ लिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया।

इसका अर्थ यह है कि निर्ग्रन्थलिंग दिगम्बर मुनि पद से ही मोक्ष होता है और (सग्रन्थलिंग) उत्तम श्रावक क्षुल्लक ऐल्लक दो भेद रूप ग्यारहवीं प्रतिमा धारक गृहत्यागी को भी मोक्ष होता है भूतप्रज्ञापन नैगम अपेक्षा से। यद्यपि गृहस्थ श्रावकोंको भी अणुव्रत धारियों को भी परम्पराय से मोक्ष कही है। पर यहां शास्त्र में निर्ग्रन्थलिंग सग्रन्थलिंग कहा है। तो लिङ्ग शब्द से गृहस्थपना मोक्ष का लिंग नहीं। गृहस्थ में धर्म अर्थ काम इन तीन वर्ग का ही साधन होता है। मोक्ष का यत्न सन्यास धारणसे ही होता है सो यहां क्षुल्लक, ऐल्लक के लिये भी समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है।

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य
भिक्ष्याशनस्तपस्यन् उत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥

जो उत्कृष्ट श्रावक वनमें मुनिराज के पास जा कर गृह त्याग खण्डवस्त्र धारी होकर तपस्या करता हुआ भिक्षा से अर्थात् अनुदिष्ट यानी पड़गाहे निरन्तराय आहार लेय तप करे, बन में रहे, पीछी कमंडलु रखे, एक लंगोटी मात्र ऐलक रखे, आहार लेय, हाथों से कचलोच करे और क्षुल्लक एक खण्ड वस्त्र लंगोटी से अधिक और रखे, बैठे भी आहार कर लेय। ऐसे उत्कृष्ट श्रावकलिंग भी मुनिपद धारण कर मोक्ष जांय तो पहले का ऐलकपद सग्रन्थलिङ्ग है सो भूतनैगम नय से वह भी मोक्ष का कारण ठहरा तो इस सग्रन्थलिंग से भी मोक्ष गये। परन्तु साक्षात मोक्ष का कारण निर्ग्रन्थलिंग ही है। जब तक सग्रन्थ लिंग का त्याग न करे तब तक मोक्ष नहीं होता यह ही सिद्ध हुआ। क्योंकि आत्मा चेतन द्रव्य है, इसके भूत भविष्यत वर्तमान त्रिकालवर्ती पर्यायें एक ही उसी द्रव्य की होती हैं। तो द्रव्यदृष्टि से सब पर्यायें उसी द्रव्य में हैं क्योंकि द्रव्य तो नित्य है और पर्यायें लम्बाई रूप हैं, गुण चौड़ाईरूप होते हैं। त्रिकालवर्ती जितनी पर्यायें हैं उन सब में द्रव्य व्यापक रूप होता हुआ चला जाता है। तब से वर्तमान और भविष्यत तक द्रव्य एकाकार चला गया तो पर्यायें लम्बाई रूप ठहरी और गुण सब पर्यायों में एक से ही रहे। कभी कम भी न हुये और अपने स्वरूप में बने रहे, इससे चौड़ाईरूप हैं। जैसे एक दरी ५ हाथ की है और उसमें चौड़ाई ढाई हाथ की है तो वह एक गिरह में या एक हाथ से ५ हाथ तक लम्बाई पहला ढाई हाथ ही रहा। लंबाई एक एक गिरह नापते नापते ५ हाथ तक बढ़ी। इसी प्रकार दरी का द्रव्य सबमें वहांसे यहां तक ५हाथ तक चला गया। उसी प्रकार उस मुक्त आत्मा में वह क्षुल्लक ऐलकरूप पर्याय भी जो सन्यासरूप धारण की थी वह भी तो भूतकालकी दृष्टिसे मोक्षका कारण हो गई। इस भूतपूर्व नयापेक्षा से सग्रन्थ लिंग भी कारण कह दिया। परन्तु मोक्ष तो मुनि पद में धारण किये ही हुई। यदि इस क्षुल्लक ऐलक पद को छोड़ परिपक्व विशुद्ध भाव वाला भव्य मुनिपद लेते ही (४८ मिनट में) एक समय घाटि अन्तर्मुहूर्त में छोटे २ अन्तर्मुहूर्तों में सब गुणस्थान को पाकर मोक्ष प्राप्त कर लेवे तो वह अनन्तर पूर्व हुआ या नहीं। जैसे भरत महाराज को मुनि पद

लेते ही शीघ्र केवल ज्ञान भया तो वह भी भूतपूर्व होने पर भी मोक्ष का लिङ्ग साक्षात् तो दिगम्बरत्व ही बाह्य अन्तरङ्ग उपधि के त्याग से ही हुआ। बिना कमजोरी और इच्छा के वस्त्रादि धारण नहीं किये जा सकते।

निःस्पृहो नाधिकारी स्यान् नाऽकामीमण्डनप्रियः।
नाऽविदग्धः प्रियं ब्रूयात स्फुटवक्ता न वञ्चकः॥

जो जिसकी इच्छा नहीं रखता वह उस वस्तु का अधिकारी नहीं होता और अकामी पुरुष को गहने प्रिय नहीं होते तो वह गहने क्यों पहनेगा? क्यों कुल्लियों में तेल डालेगा और मूर्ख हित-मित प्रिय नहीं बोलता और साफ २ कहने वाला ठगने वाला नहीं होता।

अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन।

जिसको धन को इच्छा नहीं है वह राजा की सेवा क्यों करेगा? उसी प्रकार वस्त्रादि परिग्रह कमजोरी तथा बिना इच्छा के रख नहीं सकता। जो इच्छा है वही मूर्च्छा है, परिग्रह है। नग्न होने पर भी इच्छा रहे तो वह भी मोही है। मोक्ष कहां? यदि दो नग्न रहते हुए भी भगवान ने परिग्रही कहे हैं तो वह वस्त्राधिकारी तो परिग्रही थोड़े में है, संसार कहां छूटा? संसार छोड़े बिना मोक्ष कहां? इस प्रकार आप प्रोफेसर साहब को सन्तोष करना चाहिये कि द्रव्यस्त्री पर्याय से साक्षात् उसी भव से मोक्ष नहीं होती।

और दिगम्बर पद द्रव्य भाव से धारे बिना मोक्ष नहीं। अब रहा प्रश्न कवलाहार का कि श्री केवली भगवान कवलाहार करते हैं या नहीं?

सो केवली भगवान कवलाहार नहीं करते। आप व हमारे श्वेताम्बरीय भाई वेदनीय कर्म के सद्भाव से भगवान के कवलाहार कहते हैं, सो नहीं बनता। कारण चार घाति कर्मों को नष्ट कर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्त सुख प्राप्त किया क्योंकि क्षीण कषाय १२ बारहवें गुणस्थान में आदि समय और सूक्ष्म साम्पराय दशम गुणस्थान का अन्तिम समय एक है। उस में समस्त २८ प्रकार मोह में शेष मोह का क्षय कर क्षीणमोह हुये, यद्यपि दुःख का अभाव तो यहीं भया परन्तु अनन्तता को प्राप्त न भया क्षीण मोह के बहु भाग में पृथक्त्व शुक्लध्यान करते हुये भगवान के कुछ परिणामों में अर्थ से अर्थान्तर, शब्द से शब्दान्तर और योग से योगान्तर की चञ्चलता ज्ञानावरणादि तीनों घातियों के उदय से थी वह भी विचार रहित एकत्व वितर्क शुक्लध्यान के बल से ध्यान करते हुए क्षीण कषाय १२ वें गुणस्थान के अन्त के दो समयों में पहले उपान्त्य समय में निद्रा प्रचला का नाश कर और अन्तिम समय में ५ ज्ञानावरण, ५ अन्तराय, ४ दर्शनावरण का नाश कर पहले गुणस्थानों में १६ इसमें सब ६३ प्रकृतियों का नाश कर अरहन्त अवस्था प्राप्त भई। इसको जीवन्मुक्त अवस्था और भावमोक्ष भी कहते हैं। तब भगवान को अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य व पहले मोह का नाश भया था तब दुःख का अभाव तो भया था पर सुख अनन्तता को प्राप्त नहीं भया था सो अब भया। तब दुःख उनके कहां से आवे?

देवागम अष्टसहस्री का १ श्लोक देकर वीतराग के भी दुःख सिद्ध करते हैं।

यह नितान्त भूल है दुःख का कारण था सो रहा नहीं। फिर दुःख कैसा? आपने उसका अर्थ ठीक नहीं किया है। विचार करें।

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात् पापञ्च सुखतो यदि ।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान् निमित्ततः ॥

इसका इस प्रकार अर्थ है—इसके पहले श्लोकों में यह कहा है कि कोई पुरुषार्थ प्रधान मानता है, कोई दैव को। उसको आचार्यने यह कह एकांत हट को हटाया कि स्याद्वाद किसी का भी एकांत नही करता। सब अपेक्षा सिद्ध है क्योंकि अबुद्धिपूर्वकता की अपेक्षा में तो इष्ट अनिष्ट अपने दैव से होता है और बुद्धिपूर्वकता की अपेक्षा में इष्ट अनिष्ट अपने पुरुषार्थ से होता है। फिर कोई कहते हैं कि पर-निमित्त से उत्पन्न हुये दुःख से निश्चित पाप होता है और परनिमित्त से उत्पन्न सुख से पुण्य होता है। तब आचार्य कहते है—उत्तर में ऐसा है तो फिर पर निमित्तमात्र से अचेतन जड़ पदार्थ और अकषाय क्षीण कषाय से अयोगि तक यह भी बंध में आ जायेंगे। फिर कोई ऊपर से उलटा अर्थ मन में धार कहते हैं कि नहीं अपने आप परनिमित्त से भये दुःख से तो निश्चित पुण्य होता है और पर-निमित्त से अपने आप उत्पन्न सुख से पाप होता है। इन दोनों का खुलासा यह अर्थ हुआ कहीं तो पापानुबन्धी दुःख होता है और कहीं पुण्यानुबंधी दुःख होता है। जैसे संक्लेश परिणाम व आर्तनिक कायिक परिश्रम जन्य कष्ट से दुःख से निश्चित पापबन्ध होता है और कहीं रथयात्रा और व्रतोपवास आदि व्यवहारधर्म में परनिमित्त से उत्पन्न दुःख से पुण्य होता है और परनिमित्त से भये इन्द्रियजन्य सुखसे पाप बंध होता है तो कोई यहां एकांत से अपने परिणामों की विवक्षा छोड़ केवल परनिमित्त से ही पापपुण्य माने तो आचार्य कहते हैं कि फिर तो वीतराग भगवान के भी सुख-दुःख ठहर जायेंगे। यहां केवल पर-निमित्त का ही कारण मानकर जो पाप पुण्य बतलावे और अपने परिणामों को कारण न माने तो वीत-राग भगवान के भी सुख-दुःख दोष की आपत्ति बतलाई, पर भगवान के सुख-दुख ठहरे कहां ? इस से विपरीत अर्थ करके भलती बात उलटी बात क्यों समझाई जाती है।

यह विद्वानों को उचित नही है या फिर खुद नहीं समझे। यहां इटावेमें हमें अष्टसहस्री मिली नहीं इससे हमें यह याद नहीं आती। ऐसा परनिमित्तसे ही मानने वाला कौन सा सिद्धांत है। सो खुलासा अष्टसहस्री में है—

स्यात् सांख्य प्रकृति को ही करता-धरता मानता है आत्मा को नही। पर स्यात् कोई और ही वादी का मत हो देखना।

यहां हमारा अभिप्राय यह है कि केवली भगवान के दुःख नहीं रहा। तब भूख-प्यास की वेदना कैसे सम्भव है ?

और भी खुलासा समझो—

वैद्यक शास्त्रानुसार शारीरिक सूत्रस्थान में वाग्भट्टादि भावप्रकाश आदि ग्रंथों में शरीर में पक्वाशय और आमाशय के बीच में अर्थात नाभि के ऊपर हृदय के नीचे तिल स्था। अर्थात् ग्रहणीनाम अग्नि-स्थान कहा है। वहां मयूर की शिखा के समान तथा तिल के समान आकार कहा है वह ग्रहण किये हुये आहारको पचाकर रसादिक बना कर व्यानवायु सर्वत्र शरीर में पहुंचाकर शरीर के बलाधान रसादि पुद्गल परमाणु नोकर्म वर्गणा रूप शरीरादि को पुष्ट करती है। जिसके निकट यह ग्रहणी कहलाती है। एक प्रकार की नस या नसों का समुदायरूप है।

अर्थ भिक्षान भक्षस्य ग्रहणाद्ग्रहणी मता,

आयुरारोग्यवीर्यौजोभूतधात्वग्निपुष्टये।
स्थितापक्वाशयद्वारि भुक्तमार्गार्गलेव सा ॥

इस पित्त पाचकाग्नि का अधिष्ठान होने से तथा अन्न को ग्रहण करने के कारण ग्रहणी कला कही है, जो आयु आरोग्य वीर्य ओज धातु अग्नि पुष्ट रखने के लिये पक्वाशय के द्वार पर भुक्तमार्ग की अर्गला की तरह समझना।

यद्यपि वैद्यक शास्त्र किसी मतमतांतर से सम्बंध नहीं रखते ये तो शरीर सम्बन्ध को दिखाते हैं। हम इनका उदाहरण अपने सिद्धांत वाक्यों की पुष्टि दिखाने के लिये लिख रहे हैं। दूसरों के कथन से भी अपनी बात विशेष पुष्ट होती है। इस लिये वैद्यक शास्त्रों का हवाला दिया है। कोई छल न पकड़े कि यह तो बात दूसरों की है। अपने से क्या सम्बन्ध। दूसरे वाग्भट्ट अष्टांगहृदय दिगम्बर जैन ग्रन्थ है। वाग्भट्टाचार्य दिगम्बर जैन थे। इन्होंने ही ... भट्टालंकार बनाया है। पर यह अष्टांग हृदय अजैनों के हाथ में चले जाने से उन्होंने इसमें विपरूप मांसादि के गुण आदि प्रविष्ट कर अजैन रूप कर दिया है। फिर इसकी टीका आशाधर जी ने की है, वह मिलती नहीं। इसका असली तत्त्व निकल आता। एक मंगलाचरण लोतिम करता है।

रागादिरोगान् सततानुषक्तान्
अशेषकायप्रसृतानशेषान्।
औत्सुक्यमोहाद् रतिदान् जघान
योऽपूर्ववैद्याय नमोस्तु तस्मै ॥

जो समस्त प्राणियों के शरीर में व्याप्त हैं ऐसे रागादि रोगों को नष्ट कर दिया है। रागादिक कैसे हैं मोह की उत्सुकता से अच्छे मालूम होते हैं, उन रोगों को नष्ट किया है। उन अपूर्व वैद्य को मैं नमस्कार करता हूं।

इस लिये आप लोग भली बात समझें कि वह पित्ताधिष्ठान से ग्रहणी कला आत्मा की इच्छा से आहार को ग्रहण करती है। तब इच्छा बिना भग. वान आहार ग्रहण कैसे करें।

अब शंका यह रहती है कि आहार ग्रहण नहीं करते तो वह पित्त जठरानल अग्नि रूप आहार बिना सब रसादि धातुओं को भस्म कर शरीर को नष्ट कर देगा तब शरीर की स्थिति कम से कम दो चार वर्ष साधारण केवली के और तीर्थंकर के सौ पचास वर्ष, उत्कृष्ट ८ वर्ष कुछ कम कोटि पूर्व तक देह की स्थिति कैसे रहे ?

उसका उत्तर सुनो मोह के अभाव से भगवान के इच्छा का अभाव है और शरीर में परमौदारिकता के कारण शरीर के औदारिक समस्त नोकर्मवर्गणाओं का रूपेणवत निर्मल परिणमन हो गया जिससे ही तो भगवान का चारों तरफ से मुख दीखने लगा और वह जठरानल रूप ईंधन को ग्रहण करने की इच्छा कराती थी वह इच्छा असाता वेदनीय और मोह के कारण से होती थी। इन दोनों के कारण से ही वह इच्छा होती थी सो मोहनीय के नाश से उन वेद-नीय कर्मरूप परमाणुओं का भी उदय असाता का साता रूप होने लगा।

और भी सुनो—

अंतराय कर्म के तथा मोह कर्म के नाश से और साता के उदय से भगवानको अंतरंगमें तो अनंतज्ञान सुखादि गुणों का लाभ हुआ और बाह्य में अनंत नोकर्म (तीन जाति के शरीर और छह पर्याप्ति रूप नोकर्म) वर्गणा रूप प्रशस्त आहार वर्गणाओंका आ-गमन है, जो उनके शरीर को स्पर्श कर चली आती है

और उनके स्पर्श से भगवान को शारीरिक बल प्राप्त होता है। वह उनके बाह्य अनंतलाभ और समवशरणादि बाह्य उपभोग उनके हुआ। हम आप कितना प्रशस्त पदार्थ खाते हैं और बल का धारण होता है, जो अनंतगुणा उन वर्गणाओं से होता है। वह पित्त अंत को ग्रहण कर रसादि धातुओंकी पुष्टि करता है उससे अनंतगुणी पुष्टि पित्त और सारे शरीर में पहुंचकर उन वर्गणाओं ने सारे शरीर को दीप्तिरूप कर दिया तब तो उनकी शरीर की प्रभा के मण्डल में प्राणियों के सात ७ भव दीखने लगे। हम आप रोटी दाल खाते हैं ये भी तो आहारिक वर्गणायें बनती हैं। आज इन बातों को पुष्ट करने के लिये अनेक उदाहरण आपके सामने हैं।

जो आदमी औषधि नहीं खाता तब इन्जेक्शन द्वारा पहुंचाते हैं, क्यों साहब! यह इन्जेक्शन शरीर को ताकत पहुंचाते हैं मान लेवें और नोकर्म वर्गणा रूप आहारवर्गणा के आहार में आपको इतराज होता है? आहार भगवान ने ६ प्रकार का बतलाया है—

श्री केवली भगवान के नोकर्माहार और नारकियों के कर्माहार, वृक्षादिकों के लेपाहार, कबूतर आदि के अंडों के ओजाहार और देवों के मानसिक, मनुष्य पशुओं के कवलाहार है। परन्तु सब आहार नोकर्म वर्गणा रूप ही तो है। औदारिक शरीर को बलाधान औदारिक वर्गणा, में है औदारिक तथा ६ पर्याप्ति रूप योग्य वर्गणा ही तो आहार वर्गणा है। सो आचार्य लिख ही रहे हैं। पर हमारे श्वेताम्बरीय भाई ऐसा विचार करते हैं कि—

हम रोटी दाल खाते हैं तो भगवान को भी खाना चाहिये। जैसे महादेव के उपासक जेठ मास में समझते हैं कि जैसे हमें गर्मी लगती है वैसे ही महादेव को भी लगती है। सो महादेव की पिंडी पर एक त्रिकुटी लगाकर एक घड़ा पानी से भरकर बीच में एक छेद कर रख देते हैं जो टप-टप होता रहता है। वही हमारे इन भाइयों के विचार हैं कि वे आहार नहीं लेंगे तो जीते कैसे रहेंगे? उन्हें मालूम नहीं कि ये आहार वर्गणा छत्तीस प्रकार के व्यञ्जनों से भी अधिक उस पित्त तक और पित्त की चोटी तक सब जगह बल-वीर्य-कांति को बढ़ाती हैं। जिससे भगवान की कांति से सूर्य-चंद्रमा का तेज छिपता है। इसे कोई गप्प समझे तो सुनो—

रेल के आसपास पटरी के नागफनी लगी रहती है, उसे छेदकर घर के दरवाजे पर टांगिये। वह बिना पानी बढ़ती फूलती रहती है और यह बताइये कि माता के पेट में ९ महीने तक बालक झिल्ली में लपेटा हुआ उल्टा टंगा रहता है। वहां उस का औदारिक शरीर कवलाहार के बिना कैसे बढ़ता है? कैसे पोषण पाता है? भोजन माता करती है उसी के रसादि सम्बन्ध से उसके शरीर का बलाधान होता है। पर कवलाहार तो नहीं करता। और एक उपोषण करने वाले को प्यास लगती है तो पानी बरस जाय तब बाहिरी पानी से प्यास जैसे बुझ जाती है वैसे ही वे नोकर्म वर्गणायें भी शरीर को स्थिर बनाये रखती हैं। इससे केवली भगवान के कवलाहार नहीं होता और उनके नीहार तो जन्म से ही नहीं होता। यह भी इससे सिद्ध होता है कि ९ मास तक टट्टी पेशाब नहीं करता। तब ये सब बातें न्यायसिद्ध हैं। जो कवलाहार बिना नोकर्माहार से ९ मास शरीर हृष्टपुष्ट रहता है। तो किसी के उम्रभर भी नोकर्माहार से शरीर रह सकता है। यह

एक अनुमान हुआ कि—

आयुपर्यंतं कवलाहारं विनैव केवलिशरीरावस्थितिः निराबाधा बलाधान-कारण-नोकर्म्माहारस्य तत्र-सत्वात् नवमासपर्यंतं गर्भस्थबालकवत् यथा नवमास-पर्यन्तं कवलाहार विनैव अधोमुखमूर्छितस्य शरीरस्थि-तिदर्शनात्। बलवीर्यपुष्टिदर्शनाच्च तद्वत्।

आप कहोगे कि बालक की माता के कवलाहार का सम्बन्ध रहने से 'तस्य बालकस्यापि कवलाहारस्य सत्वं' उस बालक के भी कवलाहार माना जाय। सो नहीं। वह तो उल्टा टंगा रहता है, भिल्ली में लिपटा रहता है। फिर भी तो कवलाहार औदा-रिक वर्गणा ही है। तब हमारी बात सिद्ध है कि दवाई मुख द्वारा उदर में पहुंचती है और इंजेक्सन द्वारा पहुंचती है। ऐसे ही बिना कवलाहार के नोकर्म आहार पहुंचता है। छह प्रकार के आहार में औदारिकादि ३ शरीर और ६ पर्याप्ति योग्य पुद्गल वर्गणा ही तो आहार है। उसके भिन्न २ प्रकार से पहुंचने से ६ भेद हैं। जब शरीर बलाधान की कारण आहारवर्गणा पहुंचती है, तब कोई शंका का स्थान नहीं रहता।

क्षुत्पिपासादि परीषहों का कथन इस प्रकार है—

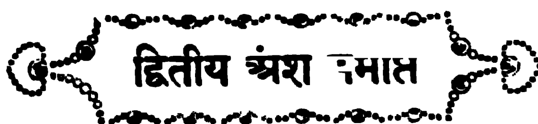
केवलिजिने क्षुधादिपरीषहाः एकादश न सन्ति वेदनीयस्य सहकारिमोहाभावात्।

अर्थात्—भगवान के ग्यारह क्षुधादि परीषह जो कि वेदनीयके उदय से कही हैं वे मोहके अभावसे नहीं होती और होती हैं, यह कथन उपचार से है। ध्यान की तरह। जैसे केवली के भावमोक्ष होने से भावमन नहीं रहा तो वहां ध्यान कैसा, पर वचन, काययोग है। इससे उपचार से ध्यान कहा है। वैसे ही वेदनीय की सत्ता रहनेसे परीषह कही है यदि असाताके उदयमें होती सो असाता रूप परिपाक वहां नहीं, मोह के अभाव से दुःखाभाव, उसके अभाव से असाता का अभाव तथा असाता रूप रस नहीं रहा। मोहके साथ इसका विपाक है। इसी कारण मोहके पहले वेदनीय है। अतः ११ परीषहें वहां उपचार से हैं वास्तव में नहीं हैं।

गोम्मटसार में स्पष्ट कहा है—

णट्ठा य रायदोसा इंदियणाणं च केवलम्हि जदो।
तेणदु सादासादजसुहदुःखं णत्थि इंदियजं ॥२७३
समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ सादसरूपेण परिणमदी ॥२७४
एदेण कारणेण दु सादस्सेव दु णिरंतरो उदओ।
तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि॥२७५

इस प्रकार स्त्री-मुक्ति और दिगम्बरलिंग तथा कवलाहार निषेध की सिद्धि आगम और युक्ति अनु-मान से सिद्ध है। हमारे प्रोफेसर साहब पण्डित हीरालाल जी को सन्तोष आना चाहिये।





परिशिष्ट

(ले०—पं० मक्खनलाल जी शास्त्री तर्कतीर्थ कलकत्ता)

वेद-वैषम्य की चर्चा पर मेरा कुछ वक्तव्य

कलकत्ता में श्री दिगम्बर जैन भवन के हाल में जो विद्वानों की प्रोफेसर हीरालाल जी से वेद-वैषम्य पर चर्चा हुई थी वहां पर मैं भी था। श्रीमान साहु शान्तिप्रसाद जी की अध्यक्षता में स्त्री-मुक्ति, केवली कवलाहार, वस्त्र सहित संयम इन सब को छोड़ प्रोफेसर जी ने पं० राजेन्द्रकुमार जी से यह कहा था कि यदि वेद-वैषम्य सिद्ध हो जाय तो मेरी सब शंकाओं का समाधान हो जायगा। इसी पर पं० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ से चर्चा हुई थी। मैं कुछ बातों का उल्लेख कर सामयिक मूल तत्व पर विवेचन करूंगा।

वहां पर आप जब बार-बार पूछ रहे थे कि भाववेद का कारण क्या है अर्थात भाववेद कौन कर्म के उदय से होता है और भाववेद के अनुसार ही द्रव्यवेद होता है ?

उत्तर में पं० राजेन्द्रकुमार जी ने कहा, यह कोई नियम नहीं। द्रव्यवेद तो पुद्गल वर्गणाओं का प्रचय है, सो स्वयमेव प्राकृतिक परिणमता है। जब इस विषय की विवेचना कुछ देर तक रही तो मैंने कागज पर कुछ लिख पं० राजेन्द्रकुमार जी को दिया कि श्री गोम्मटसार में इसका विषय लिखा है कि भाव वेद तो कषाय के उदय से और द्रव्यवेद नोकषाय के उदय का निमित्त और अङ्गोपाङ्गादि के उदय से होता है। और यह पत्र उठाकर श्री शान्तिप्रसाद जी से कहा कि इसमें लिखा है 'नोकषाय वेदनीय के उदय से भाववेद और आङ्गोपाङ्ग नामकर्म और निर्माण नामकर्म से द्रव्यवेद होता है।' फिर पं० राजेन्द्र-कुमार जी ने उसको साहु जी को समझाया तब साहु जी को यह विश्वास हुआ कि शास्त्र में तो पुरि-सिच्छि' इत्यादि गाथा में 'पायेण समा कहिं विसमा' इत्यादि कथन से वेद-वैषम्य स्वीकार किया है।

फिर प्रोफेसर जी ने यह कहा कि 'यह तो दिग-म्बराचार्य श्री नेमिचन्द्र आदि ने स्त्री-मुक्ति खण्डन करने के लिये ही वेद-वैषम्य स्वीकार किया है।

तब श्री पं० राजेन्द्रकुमार जी ने कहा कि फिर श्वेताम्बराचार्यों ने वेद-वैषम्य क्यों स्वीकार किया ?' इत्यादि विषय विवेचन हुआ।

इस विषय पर मुझे यह कहना है कि आप यह मानते हैं कि 'भाववेद भी एक पर्यायाश्रित एक पर्यायमें

एक ही आजन्म मरण पर्यंत एक ही रहता है। किन्तु श्री धवल शास्त्र में वेद कथन में 'तिरिक्खा तिवेदा' इत्यादि मूल सूत्र १०७ पेज ३४६ में टीका में श्री वीरसेन स्वामी ने यह लिखा है—

त्रयाणां वेदानां क्रमेणैव प्रवृत्ति नाक्रमेण पर्यायत्वात् कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदा आजन्मनः आमरणादुदयस्य सत्वात्।

इसका अर्थ यह है—कि तीनों वेदों की प्रवृत्ति क्रम से होती है अक्रम से नहीं होती पर्याय होने से। कषाय की तरह अन्तर्मुहूर्त स्थायी नहीं होते। जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त एक ही वेद का उदय रहता है। इसका अर्थ आप भाववेद ही लेकर लिखते हैं कि कषाय की तरह वेद अन्तर्मुहूर्त रहने वाले नहीं हैं। किन्तु जन्म से मरण पर्यन्त भाववेद एक ही रहता है।"

यदि उक्त वाक्य श्री वीरसेन आचार्य महाराजके भाववेद ही को बतलाते हैं तो फिर वे ही आचार्य भावानुगम में अपगतवेद के कथन में श्री धवलशास्त्र २०२ पृष्ठ, ४० वें सूत्रकी टीकामें ऐसा क्यों लिखते हैं

'एत्थ चोदगो भणदि

यहां पर कोई शङ्का करता है। (प्रश्नकर्ता) जोणिमेहणादीहि समण्णिदं सरीरं वेदो। योनि, मेहनादि सहित शरीर वेद है क्या? (ण तस्स विणासो अत्थि संजदाणं मरणप्पसंगा) उसका विनाश नहीं होता तो अपगत वेद कैसे होगा? यदि शरीर का नाश मान कर अपगतवेद नवमें गुणस्थान में माना जाय तो (संजदाणं मरणप्पसंगा) संयत मुनियों को मरण प्रसंग आवेगा। जब मुनि जीव नहीं रहे तो गुणस्थान कैसा? ण भाववेदविणासो वि अत्थि सरीरे अविणट्ठे तब्भावस्स विणासविरोहा) और न भाववेद ही का विनाश होता है। क्योंकि शरीर नष्ट नहीं होते, उसके भाववेदका विनाश होने का विरोध है। (तदो णावगद-वेदत्तं जुज्जदे इदि) तिस कारण तुम्हारा नवमें गुणस्थान में अपगतवेदपना बनता ही नहीं।

(एत्थ परिहारो उच्चदे) तब इसका परिहार उत्तर आचार्य कहते हैं—

(ण सरीर मित्थि पुरिसवेदो णामकम्म-जणिदस्स सरीरस्स मोहणीयत्तविरोहा) शरीर ही को पुरुषवेद नहीं है। क्योंकि नामकर्म-जनित शरीर को मोहनीयपने का विरोध है। अर्थात् शरीर नाम कर्म से होता है और भाववेद नोकषाय वेदजनित है, सो पुरुषादि शरीर मोह का कार्य नहीं। (ण मोहणीय-जणिदमवि सरीरं) न मोहनीय कर्म से शरीर उत्पन्न भया है।

जीवविवाइणो मोहणीयस्स पोग्गल-विवाइत्तविरोहा) जीव विपाकी मोहनीय प्रकृति को पुद्गल विपाकी नहीं मान सकते हैं। इससे (ण सरीर भावोवि वेदो) न शरीर का भाव ही वेद हो सकता है।

(तस्स तदोपुधभूदस्स अणुवलंभा) क्योंकि शरीर भाव को शरीर से जुदा नहीं कर सकते फिर अपगतवेद होगा कैसे? (तो परिसेसादो) परिशेष से यह सिद्ध भया कि—

मोहणीय-दव्वकम्मक्खंधो तज्जणिद जीवपरिणामो वा वेदो। मोह कर्म नोकषाय रूप द्रव्यस्कंध व उस कषाय से उत्पन्न आत्मा का परिणाम ही वेद है।

तत्थ तज्जणिदजीवपरिणामस्स वा परिणामेण सह कम्मक्खन्धस्स वा अभावेण अवगदवेदो होदित्ति। तब वहां पर नवम गुणस्थान में नोकषाय-जनित

जीव परिणाम का व उस परिणाम के साथ नोकषाय रूप वेद प्रकृति स्कन्ध का अभाव होने से अपगत-वेद होता है।

तब यह सिद्ध हुआ कि वेद नोकषाय-जनित भाववेद परिणाम कषाय रूप होने से अन्तर्मुहूर्त स्थायी ही होता है और सन्ततिधारा से आजन्म भी रह सकता है। एक परिणाम अन्तर्मुहूर्त ही अधिक से अधिक ठहर सकता है, आजन्म नहीं। अन्यथा 'अपगतवेद' हो ही नहीं सकता।

तेण रोग दोसोत्ति सिद्धं संमं सुगमं ।

इस लिये उपर्युक्त शङ्काओं का परिहार हो गया अपगत मानने में कोई दोष नहीं।

तब जन्म से लेकर मरणपर्यन्त भाववेद रहता है यह बात सिद्ध नहीं होती, क्योंकि शरीर रहते भी वेद नहीं रहता और न यह बात सिद्ध होती है कि नवम गुणस्थान तक एक ही वेद रहता है। क्योंकि नोकषाय वेद जनित परिणाम स्वयं कषाय है। इस से अन्तर्मुहूर्त-स्थायी ही अधिक से अधिक ठहर सकता है।

तथा १०७ वें ३३६ वें पेज की टीका का आशय यह है कि द्रव्यवेद (योनि मेहनादि) द्रव्यकर्म है और उनकी शक्ति सो ही भावकर्म भाववेदसे सम्बोधित है। सो ही आचार्य ने भी गोम्मटसार शास्त्र में कहा है।

पुग्गलपिण्डो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु

यानी—पुद्गल पिण्ड तो द्रव्यकर्म है और उस की शक्ति भावकर्म है।

तब यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यायु, मनुष्यगति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी औदारिक शरीराङ्गोपांग निर्माणादि बन्ध समयमें नोकषाय वेदनीयकी वेदप्रकृतियों में से किसी एक के उदय का निमित्त पाकर द्रव्यवेद रूपांगोपांग शरीरादि का बन्ध होता है उसीका उदय पाकर माता के गर्भाशय में प्रविष्ट हो जीवात्मा रज-वीर्य रूप पुद्गल आहार वर्गणाओं को ग्रहण कर निज शरीर, अङ्गोपांग, निर्माणादि करने में व्यापृत होता है। जैसे मकड़ी स्वयं जाला पूरकर फंस जाती है उसी प्रकार उन वर्गणाओंमें पड़ी हुई शक्ति भव के प्रथम समय से लगाकर मरणपर्यन्त पर्याय तक रहती है। इसी भाव शक्ति रूप भाववेद का और द्रव्यकर्म रूप द्रव्यवेद का कथन आजन्म मरण पर्यन्त किया है और हेतु 'पर्यायत्वात्' दिया है और कहा है—कषाय की तरह अन्तर्मुहूर्त-स्थायी नहीं है और जो नोकषाय वेद के उदय से भये चित्त परिणाम रूप वेद परिणाम सो तो अन्तर्मुहूर्त--स्थायी इसी कषाय से सिद्ध हैं। वेद रूप परिणाम को कषाय के उदय से हुआ बताया वह कषाय रूप स्वयं है। इसका परिवर्तन अन्तर्मुहूर्त स्थायी आचार्यों के वाक्य से ही सिद्ध है इसी से उन्होंने निष्कर्ष निचोड़ दिया कि परिशेषाद् इत्यादि ऊपर लिख आये हैं कि नोकषाय वेद प्रकृति जनित परिणाम भाववेद और नोकषायवेद प्रकृति पुद्गल स्कंध द्रव्य कर्म का सत्व नवमें गुणस्थान के सवेद भाग पर्यन्त तीनों का ही सत्व रहता है। उदय इन तीनों में से एक ही का होता है।

ये वेद रूप जीव चित्त के परिणाम अन्तर्मुहूर्त स्थायी होते हैं कषाय होने से। परन्तु सात्विक प्रकृति वाले द्रव्यपुरुष वेदी जीव के परिणाम पुरुष वेद ही होते हैं। अन्तर्मुहूर्त-स्थायी होने पर भी जब जब वेद परिणाम का उदय होगा तो पुरुषवेद का ही होगा। इस धारा से किसी के समपरिणाम

ही पाया जाय और किसी के नोकषायाध्यवसानों की प्रबलता से स्त्री नपुंसक नोकषायों का उदय होकर चित्त परिणाम की नपुंसक रूप विरूपता विषमता को धारण करे।

द्रव्य पुरुष कर्मभूमिज मनुष्य तिर्यञ्च के अशुभ अनुभाग के अधिक होने से और प्रशस्त कर्मों के हीन अनुभाग से स्त्री नपुंसक भाव होते हैं और प्रशस्त कर्मों का अनुभाग अधिक होने में पुरुष भाव होते हैं और ये तीनों प्रकार के वेद भाव द्रव्यपुरुष वेदी के अन्तरङ्ग कारण वेद का उदय और बाह्य कारण स्त्री आदि नोकर्म द्रव्य की प्राप्ति अप्राप्ति होते हैं। ये तो स्थूल बात रही।

पञ्चम गुणस्थान तक तो जीवके द्रव्य स्त्री द्रव्य-नपुंसक के सहकारी प्रशस्त कर्मों के अनुभाग में पुरुष भाव और अप्रशस्त कर्मों के अनुभाग में स्त्री-नपुंसक भाव और नपुंसकके स्त्रीभावादि भी क्वचित कदाचित होते हैं। पर अङ्गोपांगादि बन्ध समय में पुरुष मैथुनाभिलाप संज्ञाक्रांत जीव के स्त्रीद्रव्य वेद और उभय मैथुनाभिलाप संज्ञाक्रांत जीव के नपुंसक द्रव्यवेद और स्त्री मैथुनाभिलाप संज्ञाक्रांत जीव के पुरुष द्रव्यवेद बन्धता है। जिस जीव के स्त्री नपुंसक वेद बन्ध आता है उसके उदय से द्रव्यस्त्री वेद शरीरादि, नपुंसक द्रव्यवेद शरीरादि पर्याय धारण कर उस जीव के भाव पञ्चम गुणस्थान संयतासंयत से अधिक विशुद्ध होते नहीं। यह उसी द्रव्यकर्मकी आवशक्तिका कारणपना है, भाववेदपना है जो उपरि तन संयत गुणस्थानवर्ती परिणामों की विशुद्धता को नहीं होने देती।

जैसे जिस जीव के मनुष्यभव में कर्मभूमि के मनुष्य के मनुष्यायु का बन्ध हो जाय तो उसके व्रत परिणाम नहीं होते। क्योंकि मनुष्यभव में मनुष्यायु का बन्ध मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होता है और फिर सम्यक्त्व हो जाय तो भी वह भोग-भूमि का मनुष्य होगा। मनुष्यभव से कर्मभूमि का मनुष्य मिथ्यादृष्टि ही होता है और व्रतपरिणामों से नियम से देव होता है। इस लिये कर्मभूमि का मनुष्य मनुष्यायु का बन्ध कर व्रती श्रावक कभी नहीं होता, मुनि की तो कौन कहे।

इस बात को हमारे प्रेजुएट पण्डित मानेंगे नहीं क्योंकि ये तो शास्त्रीय बातें हैं आगमाश्रित हेतु हैं। परीक्षा प्रधानियों के समक्ष एक देश प्रत्यक्ष पूर्वक हेतु से साध्य सिद्ध करना चाहिये तो मैं उनके लिये प्रत्यक्ष उदाहरण देकर सिद्ध करता हूं।

जैसे कोई एक चोर एक माल की चोरी कर लावे तो जिस समय में उसने चोरी की है उसी समय उसने भय परमाणुओं का बन्ध कर लिया, उसके चोरी परिणाम से उसने आत्मा के प्रदेशोंपर भयरूप पुद्गल परमाणु पिण्ड लोहे को चुम्बक की तरह आकर्षित कर आत्मप्रदेशों पर अवस्थित कर लिया है। अब उसको उसी समय से भय हो गया कि कहीं पुलिस मेरी चोरी पकड़ न लेवे। जब तक वह माल उसके घर में रहेगा और निशान पहिचानी रहेगी उसका बाहिरी डर नहीं जा सकता और जब तक आत्मा के प्रदेशों के साथ भय परमाणुओं का प्रदेश बन्ध रहेगा, निर्जरेंगे नहीं तब तक उसके परिणामों की विशुद्धता और सुख न होगा।

इसी तरह पुरुष-मैथुनाभिलाष रूप संज्ञाक्रान्त स्त्रीवेद नोकषाय के उदय का निमित्त पाकर शरीरा-ङ्गादि के उदय से स्त्री पर्याय प्राप्त की और उभयाभि-लाषादि से नपुंसक हुआ। अब उसके परिणाम-

संयत मुनि की विशुद्धता को नहीं पहुंच सकते। मुनि पद धारण में असमर्थ है। अब उसके परिणामों की विशुद्धि नोकषाय भाववेद पुरुषभाव का उदय पञ्चम गुणस्थान तक ही उन्नति दिखा सकता है। वस्त्र परिग्रह से रहित नहीं हो सकती। पुरुष अपने भावों से शील खण्डित न करना चाहे तो कोई भी स्त्री पुरुष के शील को नहीं बिगाड़ सकती। परन्तु कोई दुष्ट पुरुष स्त्री के शील को बिगाड़ना चाहे तो स्त्री के शील को जबरन बिगाड़ देता है। पीछे चाहे कुछ हो। स्त्रीपर्याय स्त्रीत्व-स्वभाव में असमर्थ है।

यदि वह वस्त्रादि का अवलम्बन कर रक्षा करना चाहे तो महाव्रत लिये ऐसा कर नहीं सकती और भी अनेक बातें हैं जिन्हें फिर लिखेंगे।

इसमें द्रव्यपुरुष के ही इतनी विशुद्धता हो सकती है कि भावस्त्री भावनपुंसक परिणाम कुछ विकार करने पर भी नवमें गुणस्थान तक चढ़ा देवे और वहां तीसरे भाग में नपुंसकवेद, ५ वें भाग में स्त्री-भाव को भी नष्ट कर १४ गुणस्थान तक चढ़ती हुई विशुद्धता से मोक्ष प्राप्त करता है।

इसका निष्कर्ष यह निकला कि द्रव्य स्त्रीवेद, नपुंसक शरीर और उसकी भावशक्ति पञ्चम गुणस्थान तक, पर्याय तक एक ही द्रव्यभाव में रहती हैं नोकषायजनित भिन्न परिणाम कहीं सम, कहीं …चम गुणस्थान तक रहते हैं। अपगत नो- द्रव्यपुरुष विशुद्ध भाव शक्ति की विशुद्धता स्थान तक पहुंच सकता है।

यह भी सिद्ध हुआ कि नोकषाय भावरूप भाववेद) नवमें गुणस्थान तक ही रहता …न्त मरणपर्यन्त द्रव्यवेद शक्ति और उस की भावकर्म शक्ति पर्याय तक रहती है। इसको द्रव्यवेद ही कहना चाहिये और द्रव्यस्त्री, नपुंसकवेदी आत्मा के ५ गुणस्थान तक ही होता है। यह स्त्री नपुंसकवेद का अधिष्ठान ही आत्मा की विशुद्धता के ह्रास का कारण है। जिसको हमने प्रत्यक्ष दृष्टान्त से, हेतु से सिद्ध किया है, नोकषाय रूप भाववेद आजन्म मरण पर्यन्त सिद्ध न हुआ और न नवम गुणस्थान तक चिरस्थायी एक परिणाम सिद्ध हुआ क्यों कि स्त्री नपुंसक द्रव्यवेदी के परिणाम नवम तक पहुंचने तो नवम गुणस्थान तक एक ही परिणाम ठहरता। तब यह आया कि द्रव्यवेदी पुरुषके ही पलटन से तीनों परिणाम होते हैं और नवम गुणस्थान तक होते हैं तथा द्रव्य स्त्री नपुंसकवेदी के भी नोकषाय भाववेद परिणाम ५ गुणस्थान तक पलटन से तीनों होते हैं।

जैसे भोगी वाला गानों के भावपुरुष परिणाम। भाव स्थूल, सूक्ष्म ऋजु सूत्र नय से अन्तर्मुहूर्त या क्षण--स्थायी होते हैं और स्थूल ऋजु-सूत्रनय से सन्तान धारापेक्षया देवनारकी भोगभूमि के मनुष्य-तिर्यञ्चोंके भवपर्यन्त वर्तमान पर्याय को वर्तमान विषय मानकर मानते हैं परन्तु कर्मभूमि के मनुष्य के नहीं। कर्मभूमि के मनुष्य के मोक्ष जाने वाले के ६ नवमें गुणस्थान में ही नोकषाय भाव नष्ट हो जाते हैं। जैसा ऊपर लिख आये हैं और नारकियों का दुःखायतन शरीर है। इसमें स्त्री-पुरुष विषयाभिलाष सुख परिणाम नहीं और देवों के सुख सामग्री के सद्भाव में सन्तान धारा से स्त्री के स्त्रीभाव और पुरुष के पुरुषभाव ही रहते हैं और भोगभूमि में भी सुख पर्याप्त होने से द्रव्यभाव से सम ही वेद रहता है यह तो कर्मभूमि के मनुष्य तिर्यंचों के ही

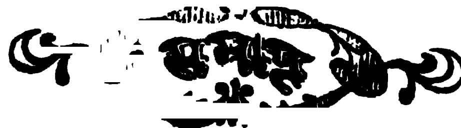
वेद पलटन नोकर्म द्रव्य की प्राप्ति अप्राप्ति से होता है स्त्री का नो कर्म द्रव्य पुरुष और पुरुष का नो कर्म स्त्री है इनके वियोगादि में भाववेद पलटते हैं।

जैसे एक के स्त्री न रही तो अनङ्ग क्रीडादि से विषय वासना पूरी करता है। ऐसे ही पुरुष के न रहते स्त्री करती है। नपुंसकों के परिणाम हिजड़ा लोगों में जाहिर ही हैं और तिर्यंचों में बैल-बैल में 'वृषं इच्छति वृषस्यति बलात्बद्धः गोगोविमपि कुचेष्टते' गौ गौ में, बैल बैल में, कुत्ता कुत्ता में इत्यादि कुचेष्टा करते हैं। ऐसा तिर्यंचों में दिखता है। संस्कार दृश्य है।

यह जो कहा जाता है कि पुरुष लिंग से मोक्ष होती है सो यह कथन इस अभिप्राय से है कि द्रव्य पुरुष के संहनन शक्ति विशेष होने से तपश्चरण की चर्या में वह जितना डट सकता है उतनी स्त्री नहीं। पुरुष की अपेक्षा स्त्री के परिणामों में कमजोरी अधिक मिलती है।

द्रव्यपुरुष को क्षपक श्रेणी में भी नपुंसक वेद के कर्म स्कंध की सत्ता के कारण नवमें गुणस्थान में ध्यानस्थ ([illegible]नपुंसकवेदत्व) साधु के कौन सी बात है जो नवमे गुणस्थान तक भी नपुंसक भाववेद का उदय कह दिया जहां क्षपक श्रेणी आरूढ़ परम योगी कर्म क्षपणा में लगे हुये के क्या स्त्री पुरुषाभिलाष संक्रांत भावों का सद्भाव हो सकता है। यदि ऐसे भाव हों तो ब्रह्मचर्य महाव्रत ही नहीं रह सकता जो ब्रह्म (शुद्ध आत्मा) में चर्या कर रहे हैं जहां बाह्य पदार्थों में दृष्टि और बुद्धि का संचार नहीं, ध्यान की धारा में अबुद्धि पूर्वक कार्य हो रहा है। जिनकी ध्यान की योग धारा में एकदम [illegible]कालम्बन शुद्धोपयोग स्वात्मस्थ लक्षण लक्षित स्वास्थ्य से स्वात्मोत्थ स्वास्थ्य से स्वस्थ हैं उनके इन विकृत परिणामों की क्या सम्भावना? जो एकदम कर्मों का नाश कर रहे हैं।

वहां नवमें गुणस्थान में कमजोर रूप किंचित वेदोदय ही केवल नपुंसकत्व का द्योतकपना है पर द्रव्यपुरुष वेद की भावशक्ति उस कमजोरी को हटा सहजोर परिणाम कर्मों का क्षय करता चला जाता है यही द्रव्य पुरुष के मोक्ष का कारणपना है।



उसक

(क्षमान्त)

. शरीरा-

उभयासि-

परिणाम-

विज्ञप्ति— दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण के तृतीय अंश में पूज्य त्यागीवर्ग (भट्टारक, [illegible] तथा विद्वानों के आरम्भिक लेख तथा सम्मतियां और पंचायतोंकी सम्मतियां प्रकाशित होंगे